भारतीय कृषि-अर्थव्यवस्था

(Economics of Agricultural Development in India)

लेखक

सुदर्शनकुमार कपूर

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्र भाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित, उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ में पाँच हिन्दी-भाषा प्रदेशों मे ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवाई है। यह हिन्दी में भारतीय कृषि-अर्थशास्त्र के सभी महत्वपूर्ण अगों पर बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते हुए अर्थशास्त्र, कृषिशास्त्र, कृषि प्रबंध आदि के विश्वविद्यालयीय छात्रो के लिये उपयोगी पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई है। हिन्दी में सभवतः इस विषय पर यह प्रथम पुस्तक है। इसमें लेखक ने विभिन्न स्रोतो से प्रामाणिक सांख्यिकीय सामग्री प्रस्तुत करते हुए भारतीय कृषि के समस्त आर्थिक पक्षो का विस्तृत विवेचन किया है।

आशा है यह पुस्तक उपर्युक्त विषयों के विद्यार्थियो के लिये तो लाभदायक होगी ही, कृषि तथा अर्थशास्त्र के विद्वानों और जिज्ञासुओं के लिये संदर्भ ग्रन्थ के रूप में भी पर्याप्त समादर प्राप्त कर सकेगी। इस पुस्तक की समीक्षा के लिए अकादमी श्री चैनसिंह बरला, व्याख्याता, अर्थशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार, एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

गोपीकृष्ण व्यास
निदेशक

प्राक्कथन

एक सुदृढ़ कृषि व्यवस्था अल्प-विकसित देशो मे तेजी सेबढ़ता रुया को भोजन ही प्रदान नही करती बल्कि एक ऐसा स्थिर आधार भी प्रस्तुत करत है जिस पर औद्योगिक अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। आर्थिक संवृद्धि के लिये इस प्रकार की प्रगति का विशेष महत्व है।

भारतीय आर्थिक विकास मे कृषि के योगदान से सम्बन्धित वाङ्मय (साहित्य) का अभाव बुरी तरह से अखरता है। सामान्यत. विकास अर्थशास्त्रियों का कृषि ज्ञान पर्याप्त नही होता, जबकि दूसरी ओर कृषि-अर्थशास्त्रियों के अध्ययन आंतर-क्षेत्रकीय विवेचनों तथा विश्लेषणों तक सीमित होते हैं। सवृद्धि प्रक्रम में कृषि का निर्धारणात्मक महत्त्व है, इसलिए अतर-क्षेत्रकीय संबधो की समस्याएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि आतर क्षेत्रकीय सम्बन्धो की। यह ग्रंथ इस अभाव को कम करने की दिशा मे ही एक प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी में अपने प्रकार की प्रथम रचना है और सभवत: भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था पर सदर्भ ग्रन्थ के रूप मे बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक मे जहाँ उत्पत्तियों तथा निविष्टियों मे सवृद्धि का विस्तृत विवेचन किया गया है, वहाँ उत्पत्ति-निविष्टि, निविष्टि-निविष्टि तथा अतर-क्षेत्रकीय संबंधों के विश्लेषणों का भी समावेश है। पुस्तक में कृषि विपणन, कृषि-कीमत, फार्म-परिमाप व भूमि-सुधार, कृषि बेरोज़गारी, पूँजी निर्माण, विज्ञान एवं अनुसधान सम्बन्धी समस्याओ की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। आशा है प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों को विभिन्न विश्लेषणों की न्यूनताओं तथा पुष्टताओं का विवेचन करने की ओर प्रेरित करेगी।

संदर्भ ग्रन्थ के साथ-साथ यह पुस्तक कृषि विकास के अध्यापकों तथा स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिये पाठ्य पुस्तक का भी काम करेगी। इस विषय पर कोई अच्छी पाठ्य पुस्तक उपलब्ध नही है और प्राय: पाठ्यक्रमों का पठन-पाठन विकीर्ण विक्रत्र-सामग्री के आधार पर ही किया जाता है। यह पुस्तक कृषि, अर्थशास्त्र, कृषि-अर्थशास्त्र, तथा कृषि-प्रबंध के स्नातक व स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो की आवश्यकताओ की पूर्ति करेगी। नीति-निर्माताओ और अधिकारियो को भी आर्थिक चिंतन के लिये पुस्तक म काफी सामग्री प्राप्त होगी।

भारत मे कृषि क्षेत्र मे तेज़ी से परिवर्तन आ रहे हैं। पुस्तक मे सर्वत्र वास्तविक आँकडो पर आधारित नवीनतम एवं अद्यतनोन विषय सामग्री को तर्क-सगत, सगठित तथा व्यावहारिक रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक की रचना मे मुझे अनेक कृषि अर्थशास्त्रियों तथा कृषि विज्ञान विशेषज्ञो का प्रोत्साहन, सहयोग तथा मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मैं कॉर्नेल विश्वविद्यालय, न्यूयार्क के कृषि अर्थशास्त्र विभाग के प्रो. जॉन डब्ल्यू मेल्लर का विशेष रूप मे आभारी हूँ जिनकी अनुकम्पा से मुझे कॉर्नेल विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित अनेक लेख, निबन्ध व शोधपत्र प्राप्त होते रहे हैं। पुस्तक के निर्माण मे भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् के उप महा निदेशक डॉ. जे. एस.

कंवर की सहायता भी मुझे प्राप्त हुई है। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य डॉ. बी. एस. मिन्हास, बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के डॉ. सी. एच. शाह, राजस्थान विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के प्रो. राजकृष्ण, कृषि मूल्य आयोग के संयुक्त निदेशक डॉ. पी. सी. बांसिल, यू एस एड के डॉ. बी. सेन व श्यामल राय तथा भारतीय सांख्यिकीय संस्थान के डॉ. आर. के. लाहिरी के लेखों व विचारों से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। मैं यू एस एड (USAID) दिल्ली के कृषि-अर्थशास्त्र विभाग के प्रमुख विल्लियम ई. हेन्ड्रेक्स तथा फोर्ड फाँडेशन के सूचना सलाहकार श्री मनी नायर का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे विषय सम्बंधी अनेक प्रतिवेदन व प्रपत्र उपलब्ध कराये। भारतीय खाद्य निगम, राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम, पेस्टीसाईड्ज ऐसोसियेशन, इण्डियन सोसायटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स के अधिकारियों ने भी मुझे पूरा सहयोग दिया है।

मैं पुस्तक के समीक्षक राजस्थान विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के डॉ. जी. एस बरला के प्रति श्रद्धापूर्ण कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनकी स्पष्ट टिप्पणियों, सहायक समालोचनाओं तथा मूल्यवान सुझावों ने पुस्तक को उपयोगी बनाने में मेरी बड़ी सहायता की है।

अन्त में मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के निदेशक तथा अधिकारियों का हृदय से आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा, सहयोग तथा सहानुभूति से यह रचना-कार्य पूर्ण हुआ है।

पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे त्रुटियों व अन्य दोषों से अवगत कराने का कष्ट करें। मैं उनके सुझावों व समालोचनाओं का सदैव स्वागत करूंगा।

जून, १९७४. सुदर्शनकुमार कपूर

विषय-सूची

अध्याय १

आर्थिक विकास तथा कृषि-नीति

(क) आर्थिक विकास में कृषि का योगदान

१.१ (1) आर्थिक विकास

वह अर्थव्यवस्था, जो वर्तमान जनसख्या को अधिक ऊँचे स्तर पर धारण करने हेतु अधिक पूँजी या अधिक श्रम या अधिक उपलब्ध प्राकृतिक साधनो के उपयोग की प्रचुर समावनाएँ उत्पन्न करती है या यदि प्रति व्यक्ति आय पहले ही काफी ऊँची हो तो बिना जीवन-स्तर को घटाए अधिक जनसख्या को धारण कर सकती है, अल्प विकसित अर्थव्यवस्था कहलाती है। सिद्धान्त वह देश अल्पविकसित माना जाता है जो प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के लिए या आय के वर्तमान उच्च स्तर पर ही और अधिक अर्थात् अतिरिक्त जनसंख्या को धारण करने के लिए प्रचुर संभावनाएँ रखता है। मुख्यत. अल्प विकास के मूल लक्षण निम्न बातो मे अभिलक्षित होते हैं :—

(१) निम्न जीवन-स्तर तथा निर्धनता का कुचक्र
(२) अल्प विकसित प्राकृतिक साधन
(३) जनाधिक्य तथा अधिक कृषीय-अनुपात
(४) पूँजी का अभाव
(५) उपादान-असंतुलन
(६) ग्रामीण क्षेत्रक की प्रधानता
(७) निर्वाहमात्री कृषि
(८) बेरोज़गारी तथा ग्राम्य अल्प रोज़गार
(९) निर्यात पर निर्भरता आदि-आदि।

अतः आर्थिक विकास वह प्रक्रम है जिसके द्वारा एक जनसंख्या अपने लिए अभीष्ट पदार्थ तथा सेवाएँ प्रदान करने की अपनी दक्षता को बढ़ाती है और इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन-स्तरों तथा सामान्य कल्याण में वृद्धि करती है। संक्षेप में, एक लम्बी अवधि तक अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के प्रक्रम को आर्थिक विकास कहते हैं। जन-संख्या के औसत जीवन स्तर को तभी बढाया जा सकता है जबकि पदार्थों तथा सेवाओ के कुल उत्पादन मे जनसंख्या की तुलना मे अधिक तेजी से विस्तार हो। अतः उच्च उत्पादिता आर्थिक विकास की आधारभूत अनिवार्यता है। लोगो के जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए भूमि, श्रम तथा अन्य संसाधनो के सदोहन तथा अधिक दक्ष उपयोग की आवश्यकता होती है और यही आर्थिक विकास का मुख्य कार्य है। जीवन-स्तरों मे वृद्धि से अभिप्राय है--

अधिक पौष्टिक आहार, बेहतर स्वास्थ्य व शिक्षा, बेहतर आवास, अधिक सुख सुविधाएँ व विश्राम, अधिक सम्पर्क तथा संचार सुविधाएँ इत्यादि।

उपरोक्त अध्ययन से हमे पता चलता है कि आर्थिक विकास के तीन मुख्य घटक हैं :

(१) **आर्थिक सवृद्धि**—आर्थिक सवृद्धि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे वृद्धि द्वारा व्यक्त की जाती है। सतत आर्थिक सवृद्धि अर्थात् प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे वृद्धि आर्थिक विकास नीति का मुख्य ध्येय है।

(२) **सामाजिक प्रगति**—सामाजिक प्रगति से अभिप्राय है ऐसा वातावरण तथा ऐसे अवसर प्रदान करना कि व्यक्ति अपनी योग्यताओ का विकास कर सके तथा देश के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन मे अच्छी प्रकार से भाग ले सके। इस उद्देश्य के लिए शिक्षा, आवास तथा स्वास्थ्य मे उन्नति जरूरी है। अर्थात् व्यक्तिगत गुणो तथा कौशल का इस प्रकार से विकास हो कि वे सामान्य कल्याण मे अपना भरपूर योगदान दे सके।

(३) **राजनैतिक स्थिरता**—आर्थिक सवृद्धि तथा सामाजिक प्रगति की दिशा मे सुव्यवस्थित परिवर्तन को राजनैतिक स्थिरता कहते हैं। अत सुव्यवस्थित आर्थिक संवृद्धि तथा सामाजिक प्रगति ही आर्थिक विकास के मुख्य ध्येय हैं।

(II) कृषि का महत्त्व

निम्न आय देशो मे, जहाँ अधिकाश लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं, कृषि का विकास उच्च आय-स्तर प्राप्त करने तथा अधिक तेज आर्थिक सवृद्धि मे सहायक होता है। इन देशो के आर्थिक विकास मे कृषि का विशेष महत्त्व है। कृषि जनसख्या के लिए केवल भोजन की आपूर्ति ही नही करती, बल्कि उद्योगो के लिए कच्चा माल भी जुटाती है। कृषि-उत्पादिता मे वृद्धि के फलस्वरूप ही अधिशेषो का अन्य क्षेत्रको मे निवेश हेतु अतरण सभव हो सकता है अर्थात् कृषि अन्य क्षेत्रो मे निवेश के लिए पूँजी प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह जन-शक्ति का भी स्रोत है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि क्षेत्रक पर केवल उत्पादन मे वृद्धि तथा आर्थिक सवृद्धि के प्रोत्साहन हेतु अन्य क्षेत्रको के विकास का ही उत्तरदायित्व नही निभाती बल्कि साथ-साथ यह कृषक तथा उसके परिवार के कल्याण मे भी योग देती है।

उत्पादन मे अदक्षता कृषि क्षेत्रक मे निम्न आय का मुख्य कारण है। उच्च उत्पादन-दक्षता ही आय-स्तर तथा जीवन के सामान्य स्तर मे वृद्धि ला सकती है। अनाज की आवश्यकता तथा कृषि उत्पादन मे दक्षता का अत्यधिक निम्न स्तर भूमि, श्रम तथा अन्य उपलब्ध संसाधनो के जुटाव तथा अधिक दक्ष उपयोग की माँग करते है। यह ध्यान रहे कि कृषि क्षेत्रक मे बढती हुई श्रम-शक्ति को खपाने की क्षमता सीमित ही होती है, इसलिए उद्योग तथा सेवाओ जैसे कृषीतर क्षेत्रको मे भी द्रुत विस्तार आवश्यक होता है। कृषि विकास का मुख्य आर्थिक ध्येय प्रति व्यक्ति आय वृद्धि में भरपूर योग देना है।

अल्प विकसित देशो मे कृषि को प्रमुख स्थान प्राप्त है और आर्थिक विकास तभी संभव है जब ग्रामीण लोगो की काफी संख्या कृषि को छोड जाए। इस फालतू जनसख्या को अधिक

उत्पादक कृषीतर रोजगार उपलब्ध कराने के लिए व्यापक औद्योगीकरण की आवश्यकता है। इससे जो लोग कृषि में रह जाएंगे, वे अपने फार्मों को अधिक दक्ष यंत्र-संचालित इकाइयों मे सगठित कर सकेंगे। परन्तु ये निष्कर्ष केवल दीर्घकालीन उद्देश्यों के संदर्भ में उपयुक्त हैं।

किसी भी अर्थव्यवस्था के दो मुख्य क्षेत्र हैं—कृषि तथा उद्योग। आर्थिक विकास के लिए इन दोनो क्षेत्रकों का विकास आवश्यक है। अतः कृषि तथा नगर उद्योग विकास के परस्पर सम्बन्धो का विवेचन हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी होगा।

१.२ कृषि तथा औद्योगिक विकास में परस्पर सम्बन्ध

(अ) कृषि-विकास का योगदान—अल्प विकसित देशो मे कृषि-विकास औद्योगिक विकास की पहली शर्त है। एक बद अर्थव्यवस्था मे कृषि उत्पादिता मे वृद्धि की दर अनाज की माँग मे वृद्धि की दर से अधिक होनी चाहिए। वर्धमान कृषि उत्पादिता औद्योगिक विकास को कई प्रकार से समर्थन देती है।

(१) कृषि उत्पादिता मे वृद्धि के फलस्वरूप काफी श्रम-शक्ति औद्योगिक क्षेत्र के लिए उपलब्ध हो जाती है और साथ ही कृषीतर क्षेत्र की बढती हुई खाद्य आवश्यकताओ को पूरा करना सभव होता है।

(२) कृषि-विकास से कृषि आय मे वृद्धि होगी जिससे औद्योगिक माल को खरीदने के लिए ग्राम्य क्रय-शक्ति बढेगी। ग्राम्य बचतों का औद्योगिक विकास हेतु निवेश किया जा सकता है।

(३) कृषि प्रगति के कारण औद्योगिक मजदूरों के लिए उचित व अनुकूल कीमतों पर अनाज का सभरण किया जा सकता है जिसके कारण उद्योगो से अधिक लाभ प्राप्त होगा।

खुली अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार की उपस्थिति मे कृषि-विकास का औद्योगिक विकास मे योगदान कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी देश के लिए अपनी खाद्य आवश्यकताओ के कुछ भाग को आयात करना अधिक लाभकारी होगा। अपेक्षाकृत अखाद्य उत्पादन का कुछ भाग निर्यात करना अधिक लाभदायक होगा क्योंकि इसके बदले मे अनाज का आयात किया जा सकता है। यहाँ भी बढती हुई उत्पादिता वांछनीय है क्योंकि इससे एक ओर औद्योगिक पूंजी के आयात के वित्तीयन के लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा की बचत होगी तथा दूसरी ओर बागान-कृषक द्विबद्ध कृषि अर्थव्यवस्था (ड्यूलेस्टिक एग्रीकल्चरल इकोनोमी) के एकीकरण को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। यदि कृषि उत्पादिता काफी अधिक हो तो फालतू अनाज का निर्यात कर भुगतान–सतुलन को अनुकूल बनाया जा सकता है और घरेलू औद्योगीकरण पर अनुकूल प्रभाव डाला जा सकता है। सक्षेप में कृषि विकास सामान्य आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। अर्थव्यवस्था की उत्कृष्ट अवस्था मे स्वधारित आर्थिक सवृद्धि में प्रवेश करने से पहले कृषि का विकास अनिवार्य है। इसके साथ-साथ यह कहना भी उचित होगा कि औद्योगिक विकास का भी कृषि-उत्पादन की वृद्धि मे भरपूर योगदान होता है।

(ब) **औद्योगिक विकास का योगदान**—जैसे ही अर्थव्यवस्था का औद्योगिक विकास होता है, वैसे-वैसे परिणामस्वरूप कृषि-प्रगति की दर भी तेज होती जाती है। ऐसा कई प्रकार से होता है :

(१) औद्योगीकरण से मजदूरी-वस्तुओं (वेज गुड्स) की मांग में वृद्धि होती है जिनमे अनाज मुख्य वस्तु है।

(२) औद्योगीकरण से कृषि पदार्थों के बाजार में विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप कृषि का निर्वाहमात्री क्षेत्रक नष्टप्रायः ही हो जाता है, नकदी फसलों के अधिक विशिष्ट व दक्ष आधार पर उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है, कृषि परिष्करण उद्योगों (एग्रीकल्चरल प्रोसेसिंग इन्डस्ट्रीज) का विकास होता है और ग्रामीण तथा नगरीय अर्थव्यवस्थाओं का एकीकरण होता है।

(३) औद्योगीकरण से कृषि श्रमिकों को अनेक प्रकार की उपभोग वस्तुएँ सुलभ कराई जाती हैं जिससे उनका आवश्यकता-स्तर बढ़ता है, फलस्वरूप अधिक उत्पादन प्रयास को बढ़ावा मिलता है।

(४) औद्योगिक विकास से नवीन व बेहतर निविष्टियों तथा उत्पादक वस्तुओं का निर्माण होता है जो कृषि-उत्पादिता मे प्रत्यक्ष रूप मे वृद्धि करती हैं। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि क्षेत्रक के अन्तर्गत अधिक दक्ष उपादान बाजार की सुविधा प्राप्त होती है।

(५) औद्योगीकरण से अधिक उत्पादक कृषीतर रोजगार अवसरों का निर्माण होता है जिनमे फालतू बेकार कृषि-श्रमशक्ति को खपाया जा सकता है। इससे कृषि में रहने वाले तथा छोड़ने वाले दोनो प्रकार के लोगों को लाभ होता है।

(६) यदि कृषि-श्रमिकों की काफी संख्या को उद्योग मे खपाया जा सके तो कृषि-क्षेत्र मे श्रम-शक्ति का अभाव हो जाएगा जिससे प्रत्यक्ष तथा आरोपित मजदूरी बढ़ जाती है। इस ऊँची मजदूरी को बनाए रखने के लिए कृषि-उत्पादिता मे वृद्धि करना अत्यावश्यक है। इसके लिए कृषि के आकार तथा पूँजी-श्रम अनुपात को बढ़ाने की आवश्यकता होगी। अतः औद्योगिक विकास कृषि के पुनर्गठन को प्रोत्साहन देता है।

(७) औद्योगीकरण से नवीन कौशल, पूँजी-निर्माण तथा तकनीकी नवक्रियाओं का प्रसार होगा तथा जन्म-दर घटेगी।

संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रक एक दूसरे के विकास मे योग देते हैं और दोनों ही समग्र आर्थिक संवृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं। परन्तु एक बात स्पष्ट है और उस पर कोई दो मत नही हैं और वह यह कि जबतक अल्पविकसित देश घरेलू उत्पादन द्वारा या आयात द्वारा एक विश्वसनीय अनाज अधिशेष प्राप्त नही कर लेता या बना नही लेता देश का आर्थिक विकास सम्भव नही है। अन्न की प्रचुरता आर्थिक विकास की आधारभूत शर्त है। अतः कृषि प्रधान अल्प विकसित देशो में कृषि का विकास आर्थिक विकास हेतु अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है।

यहाँ सार्वजनिक कृषि-नीति के लक्ष्यों का वर्णन करना उचित ही होगा।

१.३ कृषि-नीति के लक्ष्य

प्रत्येक आर्थिक नीति का, चाहे वह कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित हो या अन्य क्षेत्रो से, मुख्य उद्देश्य समुदाय के आर्थिक कल्याण मे सुधार करना होता है। आर्थिक कल्याण का मूल्यांकन दो प्रतिमानो के संदर्भ मे किया जा सकता है। ये प्रतिमान हैं–उत्पादन प्रतिमान तथा वितरण प्रतिमान। ये प्रतिमान कृषि-नीति के लक्ष्यो की पूर्ति के प्रतीक हैं। कृषि-नीति के निम्नलिखित लक्ष्य हैं।

(१) **अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य**—कृषि-नीति का मुख्य उद्देश्य सामाजिक उत्पाद (राष्ट्रीय आय) मे वृद्धि करना है, अर्थात् कृषि-नीति का प्रमुख आर्थिक लक्ष्य 'सामाजिक उत्पाद' का अधिकतमकरण है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-नीति ऐसी होनी चाहिए कि हम अपने ससाधनो का अधिकतम लाभ उठा सकें। अधिकतम सामाजिक उत्पाद प्राप्त करने के लिए उपादानो का आवंटन इस प्रकार से करना होगा कि सारी अर्थव्यवस्था मे उनके सीमात उत्पाद मूल्य समान हो। अधिकतम सामाजिक उत्पाद तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि एक विशेष प्रकार के श्रम, पूँजी अथवा श्रम-संसाधन के सीमात प्रतिफल समान हों। बेरोजगारी की विद्यमानता लक्ष्य की असफलता की द्योतक है। कृषि-नीति की सफलता या असफलता का इस बात से पता चलेगा कि इसके द्वारा सामाजिक उत्पाद मे वृद्धि होती है या कमी ? क्या संसाधनो के प्रतिफल बराबर हैं या उनमें बहुत अधिक अंतर है अर्थात् क्या कृषि-नीति से ससाधनों के आवंटन में सुधार होगा या बिगाड होगा ? कहने का अभिप्राय यह है कि वह कृषि-नीति सफल कहलाएगी जिसमे ससाधनो का आवटन इष्टतम हो।

सक्षेप मे अधिकतम सामाजिक उत्पाद प्राप्त करने के लिए ससाधनो का इष्टतम आवटन होना चाहिए। इस प्रतिमान को प्राप्त करने के लिए वर्तमान ससाधन-आवंटन मे सुधार करना जरूरी है। रेयनर शिकेले ने अपनी पुस्तक 'कृषि नीति : फार्म कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय कल्याण' (रेयनर शिकेले : एग्रीकल्चरल पॉलिसि, फार्म प्रोग्राम्म एण्ड नेशनल वैलफेयर, मैक्ग्रा हिल, १९५४) मे कृषि-नीति के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक कार्यक्रमो तथा उपायो की विस्तृत व्याख्या की है। संसाधन-आवटन मे सुधार लाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम व उपाय ये हैं : जल प्रबन्ध तथा सिंचाई, भू-संरक्षण, भूमि उद्धार, ग्रामीण मडलन, उर्वरको का उपयोग, कीट एवं रोग-नियंत्रण, भूमि उपयोग-आयोजन, कृषि उधार की व्यवस्था आदि-आदि।

एक ही उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय किए जा सकते हैं और किसी कार्यक्रम की सफलता की कोटि विशिष्ट कार्यक्रमो के चयन पर निर्भर करती है। यदि उपाय अनुपयुक्त हो, तो समग्र कार्यक्रम असफल हो सकता है चाहे लक्ष्य कितना ही अच्छा क्यो न हो। कृषि-विकास के संदर्भ में इन कार्यक्रमों तथा उपायो का विस्तृत अध्ययन पुस्तक के विभिन्न अध्यायो मे किया गया है।

(२) **इष्टतम आय वितरण का लक्ष्य**—अधिकतम सामाजिक उत्पाद के लक्ष्य के

अतिरिक्त कृषि-नीति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आर्थिक लक्ष्य आय का इष्टतम वितरण है। इसके बिना सामान्य आर्थिक कल्याण का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-नीति ऐसी होनी चाहिए कि सबको पेट भर रोटी मिले और इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को उसके प्रयासों, योग्यता तथा राष्ट्रीय आय में उसके योगदान के अनुरूप आय प्राप्त हो। अतः इस वितरण-प्रतिमान के दो रूप हैं—निर्वाह-प्रतिमान तथा योगदान-प्रतिमान। कृषि-नीति की सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि क्या इससे उन परिवारों की संख्या में कोई कमी आई है जो न्यूनतम जीवन–स्तर से भी नीचे रह रहे हैं ? क्या इस नीति में व्यक्ति द्वारा सामाजिक उत्पाद में योगदान के अवसरों में विस्तार हुआ है ? क्या यह नीति कृषक की वास्तविक उत्पादिता के अनुरूप पारिश्रमिक प्राप्त करने में सहायता कर रही है ?

इष्टतम आय-वितरण प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, कपड़ा, आवास, स्वास्थ्य-सुविधाओं तथा शिक्षा आदि का न्यूनतम जीवन-स्तर मिले तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयास तथा योग्यता के अनुसार इस निम्न स्तर से अधिक आय को प्राप्त कर सके।

इस उद्देश्य हेतु अनेक उपायों का सुझाव दिया जा सकता है। आरोही कराधान, सार्वजनिक निर्माण तथा स्वास्थ्य-कार्यक्रम, शिक्षा, न्यूनतम मजदूरी आय कुछ ऐसे कार्यक्रम हैं जो आय का उचित वितरण कर सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा अवसर की समानता सुनिश्चित करते हैं। आय-वितरण में सुधार करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय ये हैं—उत्पादन साधनों का सम्यक् वितरण, परिवार-फार्म का स्वामित्व, लगानदारी अधिकार, संकटकालीन ऋण व अनुदान, ऋण राहत, फार्म आवास, ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण स्वास्थ्य-सेवाएँ तथा सहकारी समितियाँ आदि आदि।

(३) इनके अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्य तथा कार्यक्रम ऐसे भी हैं जो सामान्य कृषि कल्याण को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। इनमें महत्त्वपूर्ण हैं—पूर्ण रोजगार, सामान्य मूल्य-स्तर का स्थिरीकरण, वर्धमान विदेशी व्यापार, विपणन-व्यवस्था, मूल्य समर्थन, फसल-बीमा तथा अन्य सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम, अनुसंधान तथा विस्तार आदि। ये कार्यक्रम दोनों प्रकार के मुख्य लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित ही होगा कि सामाजिक उत्पाद के अधिकतम-करण तथा इष्टतम आय-वितरण के लक्ष्य एक दूसरे के संपूरक तथा परस्पर संबंधित हैं। आय के पुनर्वितरण से निर्धनता कम होगी और जीवन-स्तर के बढ़ने तथा बेहतर भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा पूँजीमूलक संसाधनों के बेहतर आवंटन से श्रम की उत्पादिता बढ़ेगी और उत्पादन में वृद्धि होगी। आय-वितरण से उपभोक्ता की क्रय-शक्ति को व्यापक रूप में वितरित किया जा सकता है और इसे स्थिरता प्रदान की जा सकती है जिससे भावी अनिश्चितताएँ दूर होती हैं और सामाजिक उत्पाद में वृद्धि होती है। अतः आय-वितरण में सुधार लाने के उद्देश्य से अपनाई गई नीतियाँ पदार्थों व सेवाओं के प्रवाह में सामान्यतः अवरोधक नहीं हैं।

यह ध्यान रहे कि प्रत्येक कार्यक्रम व नीति का मुख्य उद्देश्य सामान्य आर्थिक कल्याण होना चाहिए और कार्यक्रमों की रचना करते समय यह उद्देश्य आँखो से ओझल नही होना चाहिए।

वास्तव में कृषि प्रधान अल्प विकसित देशों में कृषि-विकास की गति ही मुख्यतः समग्र अर्थव्यवस्था के विकास की गति को निश्चित करती है। आवश्यकता इस बात की है कि निवेश के एक बृहत् कार्यक्रम द्वारा कृषि-सवृद्धि की गति को तेज किया जाए, तभी अर्थ-व्यवस्था का सुनियोजित आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। अत कृषि-नीति के मुख्य लक्ष्य हैं:– (१) उत्पादन-दक्षता (२) आय-सुरक्षा अर्थात् कृषक की आय मे वृद्धि (३) आर्थिक स्थिरता व सामान्य कल्याण तथा (४) सामाजिक कल्याण मे उन्नति। संक्षेप मे, किसी अल्प विकसित देश के आर्थिक विकास में कृषि-नीति का योगदान वहाँ की आर्थिक प्रगति, आर्थिक स्थिरता, आर्थिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक न्याय मे होता है।

अत्यधिक जनसख्या वाले विभिन्न देशों मे कृषि की अपनी अपनी विशेष समस्याएँ होती हैं। इसलिए उन देशो मे कृषि-विकास हेतु अपनाई जाने वाली कृषि-नीतियाँ भी भिन्न-भिन्न होगी। इन नीतियो का सामान्यीकरण विकास के आर्थिक इतिहास के परिपेक्ष्य में ही किया जाता है। किसी देश के आर्थिक विकास को तेज करने के लिए कृषि-नीतियों के क्या विशिष्ट रूप हो, इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ की कृषीय अर्थव्यवस्था कैसी है अर्थात् वहाँ की अर्थव्यवस्था विकास की कौन-सी अवस्था मे है? भारत मे कृषि-विकास हेतु विशिष्ट कृषि नीतियो की रचना करने से पहले यहाँ की वर्तमान कृषि अर्थव्यवस्था का अध्ययन जरूरी है। शेष अध्याय में हम अपने देश की कृषीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख घटकों पर प्रकाश डालेंगे तथा सबधित समस्याओ का विश्लेषण करने का यत्न करेंगे ताकि उचित कृषि-नीतियों का निर्धारण किया जा सके।

(ख) भारत की कृषि-अर्थव्यवस्था

१.४ स्थिति व क्षेत्र

भारत संसार का सातवाँ सबसे बडा देश है। यह उत्तर मे हिमालय और बर्फ से ढके अन्य पर्वतो, दक्षिण मे हिन्द महासागर, पूर्व मे बंगाल की खाड़ी और पश्चिम मे अरब सागर से घिरा हुआ है। सारा का सारा देश भूमध्य रेखा के उत्तर मे लगभग ८°४' से ३७°६' अक्षाश रेखाओ तथा लगभग ६८°७'से ९७°२५' पूर्वी देशातर रेखाओं के बीच स्थित है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग ३२१४ किलोमीटर तथा पूर्व से पश्चिम तक चौडाई लगभग २९३३ किलोमीटर है। भारत का कुल क्षेत्र ३२,८०,४८३ वर्ग किलोमीटर (३२·८०करोड़ हैक्टर) है जिसका उपयोग निम्न प्रकार से होता है :

सारणी १.१ भारत में भूमि का उपयोग

क्षेत्र का वर्गीकरण	क्षेत्रफल (करोड़ हैक्टर में)
कुल क्षेत्र	३२.८०
(i) वन	६.२३
(ii) ऊसर तथा कृषीतर उपयोग में आने वाली भूमि	४.८१
(iii) चरागाह, वृक्षपुंज तथा कृष्य व्यर्थ भूमि	३.४६
(iv) परती भूमि	२ ०८
(v) कृष्य भूमि	१६.२२
(vi) फसल क्षेत्र (निवल)	१३.६१
(सकल)	१६.३५

स्रोत इण्डिया, १६७३

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि कृषि के अन्तर्गत अतिरिक्त भूमि का क्षेत्र अति सीमित है।

१.५ जलवायु

भारतीय मौसमविज्ञान विभाग ने देश की ऋतुओं को चार भागों में बांटा है : (१) शीत ऋतु (दिसम्बर से मार्च); (२) ग्रीष्म ऋतु (अप्रैल से मई); (३) वर्षा ऋतु (जून से सितम्बर) तथा (४) दक्षिणी-पश्चिमी मानसून की वापसी की ऋतु (अक्तूबर से नवम्बर)।

वर्षा के आधार पर भारत के चार मुख्य जलवायु-प्रदेश हैं :

(i) अत्यधिक वर्षा के क्षेत्र (२०००mm. से अधिक)

असम का सम्पूर्ण क्षेत्र, पश्चिमी घाटों के नीचे का पश्चिमी तट (उत्तर भारत में बम्बई से लेकर तिरुवनतपुरम् तक), हिमालय का तराई क्षेत्र, गंगा का डेल्टा।

(ii) पर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्र (१००० mm. से २००० mm.)

प्रायद्वीप के पूर्वी भाग की चौड़ी पट्टी जो उत्तर की ओर उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्र में और दक्षिण की ओर तटीय मैदानों में जा मिलती है।

(iii) कम वर्षा वाले क्षेत्र (५००mm से १०००mm.)

पंजाब के मैदानों से आरम्भ होकर विंध्य पर्वत के पार दक्षिण के पठार के पश्चिमी भाग तक फैला हुआ क्षेत्र।

(iv) बहुत कम नमी वाले क्षेत्र (शुष्क क्षेत्र : ५०० mm. से कम) -

कच्छ क्षेत्र तक फैला राजस्थान मरुस्थल और पश्चिम की ओर गिलगित तक फैला हुआ कश्मीर का ऊँचा लद्दाख पठार।

१ ६ जल संसाधन

(i) भूपृष्ठ जल—भारत के कुल जल संसाधनो का परिमाण १,६८,००० करोड घन मीटर है। इनमें से केवल ५६,००० करोड घन मीटर (लगभग ३३ प्रतिशत) का ही उपयोग किया जा सकता है। उपयोग मे लाए जा सकने वाले भूपृष्ठ जल से लगभग ६ करोड हैक्टर भूमि को सींचा जा सकता है।

मार्च, १९७३ के अंत तक सिंचाई की बड़ी, मझली तथा छोटी परियोजनाओं द्वारा लगभग २ ६ करोड हैक्टर भूमि को सींचने की ही व्यवस्था थी। इस प्रकार लगभग ३०,००० करोड घन मीटर जल को उपयोग मे लाना बाकी है।

(ii) भूमिगत जल—भारत मे लगभग २२,००० करोड घन मीटर भूमिगत जल का भी सिंचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है। परन्तु अभी तक इस उद्देश्य के लिए लगभग १२,००० करोड घन मीटर जल का ही मदोहन किया गया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भूपृष्ठ जल व भूमिगत जल द्वारा लगभग ८.२ करोड हैक्टर क्षेत्र की सिंचाई हो सकती है। परन्तु अभी तक लगभग ३ ८ करोड हैक्टर भूमि (नेट) को सींचने की व्यवस्था है जो कुल विभव का ४६ ३ प्रतिशत है। यह याद रखने योग्य है कि पिछले २० वर्षों में हम १५,००० करोड घन मीटर अतिरिक्त जल को ही सिंचाई के लिए उपयोग मे ला सके है। वर्तमान स्थिति यह है·

फसल क्षेत्र	करोड हैक्टर	सिंचित क्षेत्र	करोड हैक्टर	प्रतिशत
(निवल)	१३.९१	(निवल)	३.८	(२७ ४%)
(सकल)	१६.३५	(सकल)	४.५	(२७.५%)

जल-प्रबन्धन तथा सिंचाई की समस्या का विस्तृत अध्ययन अध्याय ३ मे किया गया है।

१.७ जनसंख्या व भू-जन अनुपात

१९५१ मे भारत की कुल जनसख्या ३६.०९ करोड थी जो १९६१ मे बढकर ४३.९१ करोड हो गई। १९५१ तथा १९६१ के बीच जनसख्या मे २१ ६४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९७१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या ५४.७९ करोड थी। १९६१–७१ की अवधि मे देश की जनसख्या मे २४.८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। जनसंख्या मे इस वृद्धि ने हाल के वर्षों मे देश के कृषि-ससाधनो तथा खाद्य-पूर्ति पर अत्यधिक दबाव डाला है। १९६१ की जनगणना के अनुसार ग्राम जनसख्या कुल जनसख्या की ८२ प्रतिशत थी। १९७१ मे देश की ५४ करोड ७९ लाख जनसख्या में से १० करोड ९१ लाख अर्थात् १९ ९ प्रतिशत लोग नगरो तथा कस्बो मे और शेष ४३ करोड ८८ लाख अर्थात् ८०.१ प्रतिशत लोग गाँवो में रहते थे। जनसख्या के आँकड़ो से पता चलता है कि १९२१ और १९७१ के बीच नगरीय जनसंख्या मे बराबर वृद्धि होती रही है।

१९७१ मे, ५४.७९ करोड़ की कुल जनसख्या मे से, श्रमजीवी संख्या २३.६० करोड़ अर्थात् ४३ प्रतिशत थी। कुल श्रमजीवी जनशक्ति के ७१.६२ प्रतिशत अर्थात् १६.९० करोड़ लोगो को कृषि द्वारा रोजगार प्राप्त होता है। कुल श्रमजीवी जनसंख्या मे कृषकों का

अनुपात ४३ ३४ प्रतिशत, कृषि श्रमिकों का अनुपात २६.३३ प्रतिशत है और केवल १.६५ प्रतिशत लोग पशुपालन, मछली पकड़ने का तथा बागानों व वनों मे काम करते हैं। श्रम शक्ति का केवल २८ ३८ प्रतिशत भाग कृषीतर क्षेत्रकों में रोज़गार पा रहा है। स्पष्ट है कि देश की श्रमजीवी शक्ति को रोज़गार प्रदान करने में कृषि का विशेष महत्त्व है।

भू-जन अनुपात—किसी भी देश मे भू-ससाधनो पर जनसख्या का दबाव प्रति व्यक्ति भू-ससाधनो के परिमाण मे व्यक्त किया जाता है। भारत मे भूमि पर जनसंख्या का दबाव इस प्रकार है·

कुल भूमि=३२८० करोड हैक्टर; प्रति व्यक्ति कुल भूमि=०.६ हैक्टर
कृषि भूमि=१८ ३० ,, ,, ; प्रति व्यक्ति कृषि भूमि=०.३३ ,,
कृष्य भूमि=१६.२२ ,, ,, , प्रति व्यक्ति कृष्य भूमि=० २६ ,,

रूस, कैनेडा व अमरीका मे प्रति व्यक्ति कृष्य भूमि क्रमश १ ०३, २ १२ तथा ०.८६ हैक्टर है। इससे स्पष्ट है कि देश के सीमित भूमि-ससाधनो पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव है। यहाँ यह बताना उचित होगा कि प्रति व्यक्ति अधिक भूमि पूर्ति ही आर्थिक संवृद्धि तथा प्रति व्यक्ति अधिक आय का कारण नही। इतना महत्त्व प्रति व्यक्ति कृष्य भूमि की पूर्ति का नही, जितना कि कृष्य क्षेत्र की प्रति इकाई द्वारा फसल उत्पादन की मात्रा का है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि यदि भूमि की उत्पादिता को बढ़ाया जा सके तो कम कृष्य क्षेत्र से भी अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। जापान तथा ताईवान इस तथ्य के सुन्दर उदाहरण हैं।

१.८ राष्ट्रीय आय व इसकी संवृद्धि

किसी देश के लोगो के जीवन-स्तर को आँकने के लिए प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का परिकलन किया जाता है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, उपादान लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद (नैट नेशनल प्रोडक्ट एट फैक्टर कॉस्ट) को जनसख्या द्वारा विभाजित करके प्राप्त की जाती है। १९६०–६१ मे निवल राष्ट्रीय उत्पाद (अर्थात् राष्ट्रीय आय) १३,३०८ करोड रुपये का था। उस समय देश की जनसख्या ४३·४ करोड़ थी। इस प्रकार १९६०–६१ मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३०६ ७ रुपये थी। १९७०–७१ में वास्तविक निवल राष्ट्रीय उत्पाद (अर्थात् १९६०–६१ की कीमतो पर) १८,७५५ करोड रुपये का था। इस प्रकार पिछले दस वर्षों मे वास्तविक राष्ट्रीय आय मे ४० ९३ प्रतिशत अर्थात् औसत ४ प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि हुई है। यह ध्यान रहे कि इस अवधि में देश की जनसख्या में प्रति वर्ष लगभग २ ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

१९६९–७० मे चालू कीमतो पर भारत की राष्ट्रीय आय ३१,१७४ करोड रुपये थी। इस प्रकार पिछले ९ वर्षों मे हमारी राष्ट्रीय आय मे १३४ ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है अर्थात् हमारी राष्ट्रीय आय दूनी से भी अधिक हो गई है। परन्तु यह वृद्धि वास्तविक नही है क्योंकि इस अवधि में वस्तुओं की कीमतो मे भी काफी अधिक वृद्धि हुई है। वास्तविक वृद्धि केवल ४१ प्रतिशत की है। शेष वृद्धि वस्तुओ की कीमतों मे वृद्धि के कारण ही हुई है और यह वृद्धि लोगों की आर्थिक दशा को सुधारने में योगदान नही देती। लोगो की आर्थिक दशा

में नेट सुधार को ज्ञात करने के लिए प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय (१९६०–६१ की कीमतों के सन्दर्भ में) उपयुक्त माप है। सारणी १·२ में चालू कीमतो तथा स्थिर (अर्थात् १९६०–६१ की) कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय के आँकडे दिए गए हैं जो विवेचनीय हैं।

सारणी १.२ चालू तथा स्थिर (१९६०–६१) कीमतों पर निवल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय आय

वर्ष	चालू कीमतो पर नेट राष्ट्रीय आय		१९६०–६१ की कीमतो पर नेट राष्ट्रीय आय			
	कुल	प्रति व्यक्ति	कुल	सूचकाक	प्रति व्यक्ति	सूचकाक
	करोड रुपये	रुपये	करोड रुपये	—	रुपये	
१९६०–६१	१३३०८	३०६ ७	१३३०८	१००·०	३०६·७	१००
१९६१–६२	१४०६३	३१६·७	१३७९५	१०३·७	३१०·७	१०१·३
१९६२–६३	१४८९१	३२५ ०	१४०६७	१०५ ७	३०८·८	१००·७
१९६३–६४	१७११९	३९० ०	१४८८९	१११ ९	३१९ २	१०४ १
१९६४–६५	२००८०	४२०·०	१५९४५	११९ ८	३३३·६	१०८ ८
१९६५–६६	२०५८६	४२० ५	१५०४५	११३ ९	३०७·३	१००·२
१९६६–६७	२३६४७	४७१·२	१५१७३	११४·०	३०२·४	९८·६
१९६७–६८	२७९२२	५४२·९	१६५२५	१२४·२	३२१ ३	१०४ ८
१९६८–६९	२८६७८	५५४·७	१७०५७	१२८ ३	३१९·९	१०४ ३
१९६९–७०	३११७४	५८९·३	१७९५५	१३५ १	३३४४	१०९
१९७०–७१	३३७७६	६१६·४	१८७५५	१४० ९	३४२·२	१११·५
१९७१–७२	३४४५०	६१४ १	१९२०१	१४३	३४२·४	१११·५

स्रोत : केन्द्रीय साख्यिकी सगठन (CSO)

सारणी १ २ से पता चलता है कि तीसरी पच वर्षीय योजना (अर्थात् १९६१–६६) की अवधि मे राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर इतनी कम रही है कि जनसख्या की २ ५ प्रतिशत की सवृद्धि दर ने इसे लगभग निष्फल बना दिया है। पिछले १० वर्षों (१९६१–१९७१) मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय ३०६ ७ रु० मे वढ़कर ३४२·२ रुपये हो गई और इस प्रकार इसमे औसत वार्षिक वृद्धि केवल मात्र १·१५ प्रतिशत की रही। यह अल्प दर भी १९६७–६८, तथा १९७०–७१ की अवधि के बीच हुई अच्छी फमलो के कारण संभव हो सकी है। भारत मे चालू कीमतो पर प्रति व्यक्ति आय ५९० रुपये है जबकि अमरीका, कैनेडा, इगलैंड, जापान तथा मिश्र मे प्रति व्यक्ति आय क्रमश: २३९९२ रु०, १८०५७ रु०, ११५३६ रु०, ६०१५ रु० तथा १२०२ रु० है। यह अल्प आय भी असमान रूप मे वितरित है। जनसख्या के निर्धनतम लोग औसत से बहुत कम आय प्राप्त करते हैं।

१९६९–७० के वर्ष में निवल वास्तविक राष्ट्रीय आय मे (अर्थात् १९६०–६१ की कीमतों पर) *कृषि क्षेत्रक का योगदान ७८४६ करोड रुपये था* जो कुल का ४३·७ प्रतिशत

था। चालू कीमतों पर कृषि क्षेत्रक से प्राप्त निवल राष्ट्रीय उत्पाद १५६०० करोड़ रुपये का था जो कुल का लगभग ५० प्रतिशत था।

भारत मे कृषि क्षेत्रक मे प्रति व्यक्ति वास्तविक ग्राय के आंकडे उपलब्ध नही हैं और न ही इनका अबतक परिकलन किया गया है। **विचित्र बात यह है कि सरकारी तथा निजी एजेन्सियां जो अधिकृत सूचना की स्रोत हैं, इस महत्त्वपूर्ण विषय पर मौन हैं।** लेखक ने इस धारणा के आधार पर कि भारत मे ७० प्रतिशत जनसंख्या अपने जीवन निर्वाह के लिए कृषि पर निर्भर है, प्रति व्यक्ति कृषि आय को निकालने का प्रयास किया है। क्योंकि प्रति व्यक्ति कृषि आय एक विशिष्ट धारणा पर आधारित है, इसलिए यदि इस विषय पर अधिकृत स्रोतों द्वारा नवीन सूचना सुलभ कराई जा सके तो उसका स्वागत होगा। इस काम का उत्तरदायित्व खाद्य व कृषि मन्त्रालय अथवा केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) को स्वय अपने ऊपर लेना चाहिए ताकि इस क्षेत्र मे सम्बन्धित आंकडे उपलब्ध कराए जा सकें।

उपरोक्त धारणा के आधार पर १९६०–६१ मे कृषि क्षेत्रक मे प्रति व्यक्ति आय २२५ रुपये थी जो १९६९–७० मे वास्तविक रूप मे घटकर २०६ रुपये हो गई। अतः १९६९–७० के वर्ष मे १९६०–६१ की कीमतो पर कृषि क्षेत्रक मे प्रति व्यक्ति औसत दैनिक आय केवल ५७ पैसे थी जबकि १९६०–६१ में यह लगभग ६२ पैसे थी। **यह विचित्र विरोधाभास है कि एक ऐसे समय में जबकि देश में तथाकथित 'हरित क्रान्ति' के आगमन का दावा किया जा रहा हो, कृषि क्षेत्रक में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे लगातार गिरावट हो।**

१९६०–६१ की तुलना मे कृषि क्षेत्रक मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय तथा प्रति व्यक्ति संवृद्धि (पर कैपिटा ग्रोथ) के आंकडे पिछले १० वर्षों मे इस क्षेत्र मे तथाकथित उपलब्धियों के लम्बे-चौड़े दावो से मेल नही खाते। हमारे अध्ययन की वर्तमान अवस्था मे हमें किसी परिणाम पर पहुँचने की जल्दबाजी नही करनी चाहिए और 'हरित क्रांति' के बारे में कोई भी राय बनाने से पूर्व अब तक अपनाई गई नीतियों तथा कृषि विकास-कार्य के पूरे क्षेत्र का परीक्षण तथा विश्लेषण करना आवश्यक है। परन्तु इसमें कोई संदेह नही कि यहां के लोगों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। भारत में निर्धनता की समस्या वास्तव मे अल्प राष्ट्रीय आय तथा इसके असमान वितरण की समस्या है। विकास की मंद गति तथा विकास के अल्प लाभो के असमान वितरण की समस्या है।

१.६ प्रति व्यक्ति निजी उपभोक्ता व्यय

प्रति व्यक्ति निजी उपभोक्ता व्यय लोगो के जीवन-स्तर को अधिक सार्थक तथा स्पष्ट माप है। यदि निवल देशीय उत्पाद में से निर्यात को घटाया जाए तथा आयात को जोड़ दिया जाए, तो हमें निवल देशीय व्यय (नेट डोमेस्टिक एक्सपैंडीचर) ज्ञात हो जाता है। इस राशि मे से निवल देशीय पूंजी-निर्माण तथा सरकारी उपभोग-व्यय (अर्थात् प्रशासन व समाज कल्याण पर होने वाले व्यय) को घटाने से निजी उपभोक्ता व्यय ज्ञात करने के लिए निजी उपभोक्ता-व्यय को जनसंख्या द्वारा भाग देना पड़ेगा।

निजी उपभोक्ता व्यय = निवल देशीय उत्पाद + आयात – निर्यात
— निवल देशीय पूंजी–निर्माण – सरकारी उपभोग व्यय

दांडेकर और रँथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉवर्टी इन इण्डिया' मे प्रति व्यक्ति निजी उपभोक्ता-व्यय का परिकलन किया है। १९६०-६१ में यह २७६ ३ रु० वार्षिक था जबकि १९६८-६९ में प्रतिव्यक्ति निजी उपभोक्ता-व्यय २८९.६ रु० था। इसी प्रकार पिछले आठ वर्षों में इसमे केवल आधा प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई है।

राष्ट्रीय सैंपल सर्वेक्षण (नेशनल सैम्पल सर्वे N. S. S.) के सोलहवें, सत्रहवें तथा अठारहवें चक्र मे ग्रामीण तथा नगरीय जनसख्याओ के लिए पृथक्-पृथक् उपभोक्ता व्यय के अनुमान प्राप्त किए गए हैं। ये अनुमान इन क्षेत्रो मे परिवारो की विभिन्न वस्तुओ की वास्तविक खपत पर आधारित हैं और इनके द्वारा व्यय-वितरण पर उपयोगी प्रकाश डालते हैं। सारणी १.३ मे उपभोक्ता-व्यय के स्वरूप को दर्शाया गया है :

सारणी १.३ उपभोक्ता-व्यय का स्वरूप

३० दिन मे विभिन्न वस्तुओ पर प्रति-व्यक्ति उपभोक्ता-व्यय (रुपयो मे)

मद	१६वा चक्र जुलाई, ६०—अगस्त, ६१		१७वा चक्र सितम्बर ६१—जुलाई ६२		१८वाँ चक्र फरवरी ६३-जनवरी ६४		१९६७—६८ (चालू कीमतों पर)	
	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय
खाद्यान्न	१४ ५८	१७ ९७	१४.९०	१८ ७३	१५ ६७	१९.६५	—	—
अखाद्य	६ ८९	११ ५५	६.७३	१२ ४७	६ ६४	१३.३१	—	—
कुल	२१.४७	२९.५२	२१ ६३	३१ २०	२२ ३१	३२ ९६	३३ ३०	४५ २०
वार्षिक व्यय	२६१	३५९	२६३	३८०	२७१	४०१	४०५	५५०

नोट (राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण आँकड़ो पर आधारित) ड्राफ्ट रिपोर्ट्स १३९, १४५, १६०

सारणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे कुल व्यय का लगभग ७० प्रतिशत खाद्य पदार्थों पर व्यय किया जाता है जबकि नगरीय क्षेत्रो मे कुल व्यय का लगभग ६० प्रतिशत खाद्य पदार्थों पर व्यय किया जाता है। सारणी से यह भी स्पष्ट है कि नगरीय जनसख्या का प्रति व्यक्ति उपभोक्ता-व्यय ग्रामीण जनसख्या की अपेक्षा ३५ से ५० प्रतिशत तक अधिक है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता पदार्थों तथा सेवाओ की कीमतें ग्रामीण क्षेत्रो की तुलना मे नगरीय क्षेत्रो में सामान्यत: ऊँची होती हैं।

राष्ट्रीय सैंपल सर्वेक्षण के अनुसार १९६०-६१ मे प्रति व्यक्ति ग्रामीण उपभोग २६१.२ रु० प्रति वर्ष था। लगभग दो तिहाई जनसख्या इस औसत से कम व्यय कर रही थी। लगभग ४० प्रतिशत ग्रामीण सख्या का व्यय प्रति व्यक्ति १५ रुपये प्रतिमास अर्थात् ५० पैसे प्रतिदिन से भी कम था। इसी प्रकार १९६०-६१ में नगरीय उपभोक्ता-व्यय ३५९.२ रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष था और लगभग दो-तिहाई जनसंख्या इस औसत से कम

व्यय कर रही थी। इससे यह स्पष्ट है कि देश में बहुत अधिक निर्धनता है। पिछले कुछ वर्षों मे निर्धनता के परिणाम तथा विस्तार से सम्बन्धित अनेक मात्रात्मक अध्ययन किए गए हैं जो इस समस्या की गम्भीरता पर प्रकाश डालते हैं।

भारत सरकार द्वारा १६६२ में नियुक्त एक अध्ययन-मण्डल ने इस बात पर विचार किया है कि राष्ट्रीय स्तर पर वाछनीय निम्नतम उपभोक्ता-व्यय क्या होना चाहिए। अध्ययन-मण्डल की यह सिफारिश थी कि प्रति व्यक्ति २० रुपये प्रति मास का उपभोक्ता-व्यय राष्ट्रीय निम्नतम स्तर माना जाए। यद्यपि इस निर्धारण तथा परिभाषा का आधार स्पष्ट नही है परन्तु इस सीमा के औचित्य की आलोचना भी नही की जा सकती। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य श्री बी. एस. मिन्हास ने २४० रु० प्रति वर्ष तथा २०० रुपये प्रति वर्ष निम्नतम व्यय के आधारों पर 'निर्धनता रेखा' मे भी नीचे निर्वाह करने वाली ग्रामीण जनसख्या के अनुमान लगाए हैं जो सारणी १.४ मे दिए गए हैं।

सारणी १.४ जीवन निर्वाह के निम्नतम स्तर से नीचे रहने वाले लोगों की सख्या तथा अनुपात : ग्रामीण भारत

वर्ष	२४० रु० प्रति वर्ष से कम (१६६०–६१ कीमतों पर)		२०० रु० प्रति वर्ष से कम (१६६०–६१ कीमतो पर)	
	%	करोडो मे	%	करोडो में
१६५६–५७	६५.०	२१.५	५२.४	१७.३
१६५७–५८	६३.२	२१.२	५०.२	१६.६
१६६०–६१	५६.४	२१.१	४६.०	१६.४
१६६१–६२	५६.४	२०.६	४३.६	१५.६
१६६३–६४	५७.८	२२.१	४४.२	१६.६
१६६४–६५	५१.६	२०.२	३६.३	१५.४
१६६७–६८	५०.६	२१.०	३७.१	१५.४

स्रोत : बी. एस. मिन्हास, रूरल डेवलपमेंट फोर वीकर-सैक्शन एक्सपीरियन्स एण्ड लैसन्स।

सारणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे निर्धनता काफी व्यापक है। लगभग २१ करोड लोग निम्नतम स्तर से भी नीचे दयनीय निर्धनता मे निर्वाह कर रहे हैं। उनकी दशा इतनी खराब है कि यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि मनुष्य इतने निम्न स्तर पर भी निर्वाह कर सकता है। यद्यपि पिछले २० वर्षों मे 'निर्धनता रेखा' से नीचे रहने वाले लोगों के अनुपात मे सहज तथा सतत ह्रास हुआ है परन्तु इस वर्ग के लोगो की परिशुद्ध संख्या मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। निर्धनता-रेखा से नीचे स्तर वाले लोगो की सख्या अच्छी फसल के समय कम हो जाती है जबकि अभफल कृषि के वर्षों मे इसमे तेजी से वृद्धि होती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि २०वर्षों के नियोजित आर्थिक विकास के बाद भी लगभग आधी ग्रामीण जनसंख्या अत्यन्त दयनीय निर्धनता की दशा में जीवन

बिता रही है। इनमें अधिकांश लोग भूमिहीन-श्रमिक परिवारों तथा लघु व सीमांत-कृषक परिवारों के हैं। हमें ऐसी नीतियां अपनानी होंगी जिनके द्वारा इन लोगों के जीवन-स्तर में स्थाई रूप से सुधार किया जा सके। अतः प्रथम आवश्यकता अर्थव्यवस्था की संवृद्धि-दर को तेजी से बढ़ाने की है।

१.१० कृषि-उत्पादन संवृद्धि

जैसे कि सारणी १.५ से स्पष्ट है, पिछले दस बारह वर्षों मे कृषि-उत्पादन की उपनति अनियमित सी रही है। पहले तीन वर्षों (१९६१-६४) मे उत्पादन मे अपेक्षाकृत गति-हीनता रही है। १९६४–६५ मे इसमे काफी वृद्धि हुई परन्तु १९६५–६६ तथा १९६६–६७ मे भयानक सूखे के कारण उत्पादन मे भारी गिरावट हुई है। १९६७–६८ से लेकर १९७०–७१ तक कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हुई है परन्तु १९७१–७२ तथा १९७२–७३ सूखे के वर्ष रहे हैं। १९६५–६६ व १९६६–६७ तथा पुनः १९७१–७२ तथा १९७२–७३ के असामान्य वर्षों के कारण पिछले बारह-तेरह वर्षों की अवधि के दौरान कृषि-उत्पादन की उपनति (ट्रेंड) का मापन सार्थक नही लगता। तो भी कुछ विशेष परिवर्तनों का उल्लेख करना उचित ही होगा।

सारणी १.५ खाद्यान्न उत्पादन, आयात तथा प्रति व्यक्ति खाद्य उपलब्धता

वर्ष	कृषि-उत्पादन (१९४९-५०=१००)	खाद्यान्न उत्पादन	आयात	प्रति व्यक्ति खाद्य उपलब्धता
	सूचकांक	करोड़ टन	करोड़ टन	ग्राम प्रतिदिन
१९६०–६१	१४२.२	८.२	०.५१	४६६.८
१९६१–६२	१४५.०	८.३	०.३५	—
१९६२–६३	१३८.०	७.८	०.३६	—
१९६३–६४	१४३.०	८.०	०.४६	—
१९६४–६५	१५९.४	८.९	०.६३	—
१९६५–६६	१३२.१	७.२	०.७५	४०२.०
१९६६–६७	१३१.६	७.४	१.०४	—
१९६७–६८	१६१.०	९.५	०.८७	४५२.८
१९६८–६९	१५८.७	९.४	०.५७	४३७.६
१९६९–७०	१६८.०	९.९	०.३९	—
१९७०–७१	१८३.०	१०.८	०.३६	—
१९७१–७२	१७६.०	१०.४	०.२०	—
१९७२–७३	१६९.०	१०.०	०.२०	—

स्रोत : इण्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ दसवां और बारहवां संस्करण।

खाद्यान्नों का कुल उत्पादन १९६०-६१ मे ८.२० करोड टन था जो १९७०-७१ में बढकर, १०.८० करोड टन हो गया। अतः इन दस वर्षों मे औसत संवृद्धि दर २.९ प्रतिशत रही परन्तु अगले ही दो वर्षों में उत्पादन मे कमी हुई। इस प्रकार १९७२-७३ में कुल खाद्यान्न उत्पादन १० करोड टन था जो १९६०-६१ की अपेक्षा केवल २२ प्रतिशत अधिक था जबकि इतने ही समय मे देश की जनसख्या मे लगभग ३० प्रतिशत वृद्धि हुई। स्पष्ट है कि जनसंख्या मे २.५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि ने घरेलू उत्पादन में होने वाली वृद्धि को पूर्णतया हड़प लिया। असामान्य तथा सूखे के वर्षों मे स्थिति और भी बिगड जाती है। इन परिस्थितियो मे खाद्यान्न आयात करने के सिवा और कोई विकल्प नही होता जिसके कारण सरकारी खजाने पर काफी बोझ पडता है। भारत ने पिछले बारह वर्षों मे लगभग ७ करोड टन अनाज का आयात किया है। यह ध्यान रहे कि कृषि पदार्थों के व्यापारिक आयात मे वृद्धि औद्योगीकरण हेतु पूजीगत माल का आयात करने के लिए सीमित विदेशी मुद्रा के उपयोग करने की आवश्यकता की विरोधी है और इस प्रकार औद्योगीकरण की प्रगति को मन्द करती है।

अनाज के भारी आयातो के बावजूद प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता (पर कैपिटा अवेलेबिलिटी ऑफ फूडग्रेन्स) १९६९ मे ४३७.६ ग्राम प्रति दिन थी जबकि १९६१ में यह मात्रा ४६९.८ ग्राम प्रति दिन थी। जनसख्या के निर्धनतम वर्ग इससे भी कम का उपभोग करते हैं। खुराक विशेषज्ञों के अनुसार अनाज का प्रति व्यक्ति न्यूनतम राशन ४७५ ग्राम प्रति दिन होना चाहिए। अत प्रति व्यक्ति आधार पर हमारी स्थिति गतिहीन ही नही रही, बल्कि अधिक बिगडी है। १९६०-६१ मे ग्रामीण जनसख्या के एक तिहाई तथा नगरीय जनसख्या के आधे भाग को भोजन-कैलोरीज की अपर्याप्त मात्रा प्राप्त हो रही थी। ऐसी स्थिति मे भारतीय श्रमजीवी अपनी दक्षता को कैसे बनाए रख सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-विकास निरपेक्ष रूप मे चाहे कितना ही प्रभावपूर्ण दिखाई दे, प्रति व्यक्ति अन्न उपलब्धता अत्यन्त प्रभावहीन रही है।

बागान फसलो—विशेषकर कॉफी और रबड़—के उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है परन्तु रेशेवाली फसलो तथा तिलहनो के उत्पादन मे गिरावट आई है। कृषि-उत्पादन मे १९ प्रतिशत की समग्र वृद्धि (१९६०-६१ मे १४२.२ से १९७२-७३ मे १६९) मे ७ प्रतिशत की वृद्धि क्षेत्रफल के विस्तार के कारण हुई है और शेष १२ प्रतिशत की वृद्धि उन्नत उपज (अर्थात् उत्पादकता मे वृद्धि) के कारण हुई है।

१.११ ग्रामीण क्षेत्रक में भू-जोतों का वितरण

जोत का क्षेत्रफल संभवतः कृषि-उत्पादन को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण उपादान है। अत. क्षेत्रफल के अनुसार भू-जोतो के सचालन तथा स्वामित्व के वितरण का अध्ययन उपयोगी होगा। भारत में जोतों की वितरण-व्यवस्था सारणी १०६ मे दर्शाई गई है।

(1) सारणी मे पता चलता है कि १८ प्रतिशत से भी अधिक सचालन जोतें ०.४० हैक्टर या एक एकड से कम की हैं। सारणी यह भी बताती है कि लगभग ३७ प्रतिशत परिवारो के पास या तो कोई भूमि नही है या उनकी जोते ०.४० हैक्टर से कम की हैं।

सारणी १.६. भारत मे क्षेत्रफल-वर्ग अनुसार जोतो का वितरण

क्रमांक	जोत का साईज हैक्टर	सचालन जोतें				निजी (स्वामित्व जोतें)			
		सख्या लाखो मे		कुल क्षेत्र लाख हैक्टर		सख्या लाखो मे		कुल क्षेत्र लाख हैक्टर	
१.	०.२० से कम	४८.३८	(९.७१)	४.६४	(०.३५)	१९०.०५	(२९.७०)	७.०१	(०.५४)
२.	०.२० से ०.४०	४२.५५	(८.५४)	१२.४५	(०.९४)	४५.७४	(७.१५)	१३.४८	(१.०५)
३.	०.४० से १.०१	१०७.७२	(२१.६२)	७२.८४	(५.५०)	११४.८४	(१७.९४)	७७.१५	(६.००)
४.	०.०१ से २.०२	१११.८१	(२२.४४)	१६२.२४	(१२.२५)	१०९.८४	(१७.१६)	१५९.४५	(१२.४०)
		३१०.४६	(६२.३१)	२५२.१७	(१९.०४)	४६०.४७	(७१.९५)	२५७.०९	(१९.९९)
५.	२.०२ से ३.०४	६१.५८	(१२.३६)	१४९.७९	(११.३१)	६०.०७	(९.३९)	१४८.८६	(११.५७)
६.	३.०४ से ४.०५	३४.७८	(६.९८)	११९.४७	(९.०२)	३३.१०	(५.१७)	११५.४०	(८.९७)
७.	४.०५ से ६.०७	३८.८१	(७.७९)	१८५.६९	(१४.०२)	३६.८५	(५.७६)	१७९.६९	(१३.९७)
८.	६.०७ से ८.०९	१८.४३	(३.७०)	१२५.८२	(९.५०)	१७.९३	(२.८०)	१२४.२७	(९.६६)
९.	८.०९ से १०.१२	११.११	(२.२३)	९६.६८	(७.३०)	१०.९४	(१.७१)	९७.७४	(७.६०)
		१६४.७१	(३३.०६)	६७७.४५	(५१.१५)	१५८.८९	(२४.८३)	६६५.९६	(५१.७७)
१०.	१०.१२ से १२.१४	६.६३	(१.३३)	७१.६५	(५.४१)	६.२२	(०.९७)	६८.५२	(५.३३)

११.	१२.१४ से २०.२३	११.२१	(२.२७)	१६५.६६	(१२.५१)	१०.०५	(१.५७)	१५१ ६०	(११.७८)
१२.	२०.२३ से अधिक	५.२३	(१.०३)	१५७.४८	(११.८६)	४.३७	(० ६८)	१४३.१७	(११.१३)
		२३.०७	(४ ६३)	३६४ ८२	(२६.८१)	२० ६४	(३ २२)	३६३ २६	(२८ २४)
	सर्व वर्ग	४६८ २४	(१०० ००)	१३२४.४४	(१०० ००)	६४० ००	(१०० ००)	१२८६ ३४	(१००)

नोट : कोष्ठकों मे सख्याएँ कुल का प्रतिशत हैं।

स्रोत . एन. एस एस रिपोर्ट न. १४४-१७वा राउण्ड सितम्बर, १९६१-जुलाई, १९६२.

लगभग ६२ प्रतिशत जोतें २·०२ हैक्टर (या ५ एकड़) से कम की इकाइयों में संचालित की जा रही थी। एक-तिहाई सचालन जोतो में से प्रत्येक का क्षेत्रफल २·०२ से १०·१२ हैक्टर (अर्थात् ५ से २५ एकड़) के बीच है जबकि १०·१२ हैक्टर (२५ एकड) से अधिक वाली संचालन जोतें कुल संख्या का ४·६३ प्रतिशत हैं।

(ii) हमारी कृषि अर्थव्यवस्था की एक अन्य चिन्ताजनक बात यह है कि ये लघु संचालन जोतें, जिनकी संख्या लगभग ६२ प्रतिशत है, अति-विखंडन (एक्सैसिव फ्रेगमैंन्टेशन) की समस्या से पीड़ित हैं जिसका प्रत्यक्ष परिणाम संसाधनो का अत्यधिक अपव्यय तथा बेकार जाना है। इस विखंडन का विस्तार सारणी १७ से जाना जा सकता है।

सारणी १७. भारत मे सचालन जोतों का विखडन

क्रमाक	जोत का क्षेत्रफल (हैक्टर)	खेतो (टुकडो) की सख्या	औसत खेत साईज (हैक्टर)
१.	०·२० तक	१·८७	·०५३ (०·१३ एकड़)
२.	०·२०—०·४०	३·०७	·०९७ (०·२४ एकड)
३.	०·४०—१·०१	४·४५	·१५ (०·३७ एकड)
४	१·०१—२·०२	६·०५	·२३५ (०·५८ एकड़)
५.	२·०२—३·०४	६·७६	·३५२ (०·८७ एकड)
६	३·०४—४·०६	७·६३	·४५ (१·१० एकड)

सोत अडेप्टेड फ्रॉम एन. एस एस. ड्राफ्ट रिपोर्ट स. १४०. सम आसपैक्ट्स आफ लैण्ड होल्डिंग्स इन रूरल एरियाज १७वा राउण्ड १९६१-६२ (अप्रकाशित)

उदाहरण के रूप मे ०·४०–१·०१ हैक्टर की वर्ग-श्रेणी मे प्रत्येक जोत मे औसत ४·३५ टुकडे हैं जिनमे से प्रत्येक का औसत आकार एक हैक्टर के सातवें भाग (एक एकड के एक तिहाई) से थोडा ही अधिक है। जोत के क्षेत्रफल के साथ-साथ खेनो की सख्या व इनका औसत क्षेत्रफल भी बढता है। यह विखडन प्रभावी कृषि आयोजन तथा कृषि-उत्पादिता-वृद्धि मे बहुत बड़ा अवरोध है।

(iii) हम सारणी का एक अन्य प्रकार से भी विश्लेषण कर सकते हैं। विभिन्न परिमाणो में भूमि के क्षेत्रफल के वितरण का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कुल भूमि का २० प्रतिशत से भी कम क्षेत्रफल २·०२ हैक्टर (या ५ एकड़) से कम की इकाइयो मे सचालित किया जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि ८० प्रतिशत क्षेत्रफल २·०२ हैक्टर (५ एकड) से अधिक की इकाइयो मे सचालित किया जा रहा है। इसमें से २० प्रतिशत क्षेत्रफल २·०२ हैक्टर मे ४·०५ हैक्टर की इकाइयो मे सचालित किया जा रहा है। ये वे जोतें हैं जो आर्थिक नही मानी जा सकती। यदि कृषि की वर्तमान तकनीक के अतर्गत ४·०५ हैक्टर (या १० एकड़) की जोत को आर्थिक मान लिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि कृषि भूमि का ६० प्रतिशत क्षेत्र आर्थिक इकाइयो मे जोता जा रहा है। यदि २०·२३ हैक्टर (५० एकड़) की जोत को संचालन की दृष्टि से अत्यधिक मान लिया जाए तो इस वर्ग में

कुल क्षेत्रफल का ११ प्रतिशत आता है। इसलिए यदि हम भूमि जोत की उच्चतम सीमा १२.१४ हैक्टर (३० एकड़) भी नियत करलें तो हमें कुल के १० प्रतिशत से अधिक क्षेत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा जिसका वितरण हमें अनार्थिक तथा अवसीमान्त इकाइयों वाले ७० प्रतिशत परिवारों में करना पड़ेगा। विभिन्न राज्यों में भूमि-वितरण का स्वरूप यही है।

१.१२ सारांश

उपरोक्त विवेचन से भारत की अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति संक्षेप में कुछ इस प्रकार से चित्रित की जा सकती है :

(i) भारत प्राकृतिक ससाधनों तथा जनशक्ति की दृष्टि से एक धनी देश है परन्तु इन ससाधनों का बहुत कम अन्वेषण किया गया है। उनके पूर्ण संदोहन तथा विवेक-पूर्ण आवंटन द्वारा उनके अधिक सघन उपयोग का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके अतिरिक्त नियमित आर्थिक संवृद्धि हेतु इन ससाधनों के संवर्धन की भी जरूरत है। उपलब्ध तथा अभीष्ट ससाधनों में अन्तर को पाटने के लिए सतत प्रयासों की आवश्यकता है।

(ii) भारत को एक विशाल जनसंख्या का पोषण करना है। जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। जबतक इसकी संवृद्धि-दर को रोका नहीं जाता और राष्ट्रीय अर्थव्य-वस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप एक उचित स्तर पर (मानलो १.२ प्रतिशत पर) स्थिर नहीं किया जाता, तबतक वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। जन संख्या की तेज संवृद्धि-दर लोगों की जीवन परिस्थितियों में सुधार करने के लिए किए जाने वाले सब प्रयासो को निष्फल बना रही है। व्यापक बेकारी, अल्प रोजगार, निर्धनता, निम्न जीवन-स्तर, खाद्यान्नों का निरन्तर अभाव, निम्न प्रति व्यक्ति आय, आवास-अभाव, अस्पतालों, बसों तथा गाड़ियों में अपार भीड़–सब इस बात के लक्षण हैं कि हम जनसंख्या-प्रस्फोट के कगार पर खड़े हैं। आवश्य-कता इस बात की है कि निश्चित दीर्घ अवधि तथा अल्प अवधि उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक राष्ट्रीय जनसंख्या-नीति की रचना की जाए। जितनी जल्दी सभव हो, जन्म-दर को ४१ प्रति हजार से कम करके २५ प्रति हजार करने के भरसक प्रयत्न किए जाने चाहिए। बेहतर तथा बढ रही चिकित्सा-सुविधाओं के कारण कम हो रही मृत्यु-दर के संदर्भ में ऐसा करना और भी अधिक जरूरी है।

(iii) भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान है। देश की आधी राष्ट्रीय आय कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं से प्राप्त होती है। देश के ७० प्रतिशत लोगों की आजीविका का यह मुख्य साधन है। इसके अतिरिक्त यह पटसन, सूती कपडा तथा चीनी उद्योग जैसे कुछ प्रमुख उद्योगो के लिए कच्चे माल की सप्लाई करती है। देश के निर्यात का एक बडा भाग (लगभग एक तिहाई) कृषि-पदार्थों से निर्मित है। इस प्रकार कृषि देश के लिए प्रचुर विदेशी मुद्रा कमाती है। कृषि वास्तव में औद्योगिक विस्तार के लिए पूंजी प्रदान करती है। अतः भारत की अर्थव्यवस्था

का विकास, काफी हद तक, कृषि के विकास पर निर्भर है।

(iv) भारत में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय संसार में निम्नतम में से है। कृषि पर निर्भर *लोगों की प्रति व्यक्ति आय और भी अधिक कम है। अधिकांश लोग 'निर्धनता-रेखा'* से काफ़ी नीचे स्तर पर निर्वाह कर रहे हैं। शेष इसके समीप भटक रहे हैं। परिस्थितियाँ इतनी विषम तथा दयनीय हैं कि विश्वास करना कठिन है। लाखों लोग अभावग्रस्तता का जीवन बिता रहे हैं। "७० प्रतिशत श्रमजीवी जनसंख्या आधी से भी कम राष्ट्रीय आय का उपार्जन करे"—यह बात कृषि श्रमजीवियों की उत्पादन-अदक्षता को ही बतलाती है।

(v) यद्यपि ७० प्रतिशत श्रमजीवी जनसंख्या कृषि का व्यवसाय करती है, परन्तु वह इतनी दक्ष नही कि अपने तथा शेष ३० प्रतिशत जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उपजा सके। परिणाम यह है कि भारत मे अल्प पोषाहार की स्थाई अवस्था है जो प्रतिदिन बिगड रही है। वे कठोर कुपोषण से पीडित हैं जो उनकी आर्थिक अदक्षता तथा मानव संसाधनो के भयावह अपव्यय के लिए उत्तरदायी है। वास्तव मे असंख्य लोग अर्ध-अकाल राशन पर गुजारा कर रहे हैं। हम उन्हे सभ्य जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी सप्लाई नही कर सके। इसलिए कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए भरसक प्रयास करने होंगे। साथ ही भूमिहीन कृषि-श्रमिको तथा सीमान्त कृषको के लिए कृषि क्षेत्रक से बाहर काफी विकल्प रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने होंगे। इसके लिए तेज़ औद्योगीकरण की आवश्यकता है। तेज आर्थिक विकास के लिए संरचनात्मक परिवर्तन जरूरी है।

(vi) भारत मे लगभग ४० प्रतिशत परिवार १·०१ हैक्टर से भी कम साईज के फार्मों का संचालन करते हैं। इनका क्षेत्र कुल क्षेत्रफल का ७ प्रतिशत है। दूसरी ओर केवल ४·६ प्रतिशत भूमि संचालक कुल क्षेत्रफल के ३० प्रतिशत क्षेत्र पर कृषि करते हैं। उनकी जोतो मे से प्रत्येक जोत १०·१२ हैक्टर से भी बडी है। इसमे संदेह नही कि लघु कृषको की एक बहुत बड़ी संख्या छोटे-छोटे फार्मों की एक बडी संख्या का संचालन करते हैं परन्तु अधिकाश भूमि (लगभग ८० प्रतिशत) अच्छे परिमाण की जोतो मे ही जोती जाती है। कुल भूमि का ५१ प्रतिशत क्षेत्र २·०१२ से १०·१२ हैक्टर (५–२५ एकड़) की फार्म इकाइयो मे विनरित है और किसी भी संगठनात्मक पुनर्वितरण में इन्हें छेड़ने की आवश्यकता नही। परन्तु यह इतना सरल नही। इसके लिए भी सस्थागत परिवर्तन (जैसे कि अनिवार्य चकबन्दी, सहकारी सेवा तथा सहकारी कृषि आदि) की आवश्यकता होगी। भारत मे फार्म छोटे नहीं हैं। हाँ, छोटे कृषकों की संख्या बहुत बडी है। **प्रश्न यह नहीं है कि उन ३७·७ प्रतिशत कृषकों से जो २·०२ हैक्टर से अधिक को फार्म इकाइयों में ८० प्रतिशत क्षेत्र का संचालन कर रहे हैं, कैसे निपटा जाए? बल्कि वास्तविक समस्या यह है कि उन ६२·३ प्रतिशत निर्धन तथा अव-सीमांत लघु कृषकों से कैसे निपटा जाए जो २·०२ हैक्टर से भी कम की इकाइयों में**

कुल क्षेत्रफल के केवल पांचवें भाग पर कृषि करते हैं। इस दिशा में अबतक अपनाये गये दृष्टिकोण पर गम्भीरता से पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। तर्क यह है कि १२·१४ हैक्टर से बडी इकाइयो मे २४·४ प्रतिशत भू-क्षेत्र पर कृषि करने वाले ३·३ प्रतिशत अल्पसख्यक कृषको से आसानी से निपटा जा सकता है। परन्तु निर्धन भूमिहीन श्रमिको तथा लघु कृषकों की बहुत बड़ी सख्या एक गम्भीर समस्या प्रस्तुत करती है जिसका समाधान सबसे पहले करना होगा। समाज के कमजोर तथा निर्धन वर्गों की स्थिति को सुधारने के लिए रचित नीतियो का मूल्याकन इसी तथ्य की दृष्टि से किया जाना चाहिए। हमे यह देखना होगा कि हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से निर्धन कृषक कहाँ तक लाभान्वित हुए हैं ? यदि स्थिति अन्यथा है तो इन नीतियों को अविलम्ब बदल देना चाहिए।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित ही होगा कि यदि सरकार सारी कृष्य भूमि का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय करले (जो असम्भव सा लगता है) और भूमि की गुणवत्ता व कृषि-जलवायु की स्थिति के अनुसार इसे जीवन-क्षम इकाइयो मे संगठित करले, तो भी सरकार ५५ प्रतिशत से अधिक कृषकों को भूमि पर नही खपा सकेगी। उस स्थिति मे भी ४५ प्रतिशत सचालकों को अन्य क्षेत्रो में भेजना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि भूमि पर जनसख्या का अत्यधिक दबाव है और भू-जन अनुपात में वृद्धि करने के लिए उपाय करने होगे। वर्तमान परिस्थितियों मे भू-क्षेत्र को नही बढाया जा सकता। इसलिए कृषि मे कम तथा और अधिक कम लोगों को ही काम मिलना चाहिए। इस सबका आशय यह है कि फालतू कृषि-श्रम को, चाहे उसके पास भूमि हो या न हो, कृषि-क्षेत्र से बाहर किसी अन्य क्षेत्र मे लगाने का तुरन्त प्रबन्ध किया जाना चाहिए। **कृषि के अनुपात का न्यूनीकरण किसी विकासशील देश की आर्थिक संवृद्धि की अनिवार्य शर्त है।** बेकार कृषि जनसख्या को अधिक उत्पादक कृषीतर रोजगार देने के लिए प्रचुर औद्योगीकरण आवश्यक है ताकि वे लोग जो कृषि मे रह जाएँ, अपने फार्मों का अधिक दक्ष तथा बडे पैमाने की यंत्रीकृत इकाइयो मे पुनर्गठन कर सके। हमे ऐसे उपाय करने चाहिए जिससे देश की आर्थिक संरचना मे कृषि के ७०:३० के वर्तमान अनुपात को कम करके ५०:५० या ४०:६० के अनुपात मे लाया जा सके। जितनी जल्दी ऐसा किया जा सकेगा उतना ही देश के आर्थिक विकास के लिए अच्छा होगा।

(vii) क्योंकि अतिरिक्त भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने का क्षेत्र सीमित है इसलिए कृषि-उत्पादन-दर मे वृद्धि करने के लिए आधुनिक टैक्नोलोजी तथा प्रसार-प्रविधियों द्वारा सघन कृषि के आधार पर एक नवीन व्यूह-रचना को अपनाना होगा। कृषि केवल जीवन का ढंग ही नही बल्कि यह एक उद्योग है जिसे व्यापारिक आधार पर संगठित किया जाना चाहिए।

भारत में कृषि-नीति के लक्ष्य

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत जैसे कम विकसित तथा अल्प-आय वाले देशो की आर्थिक संवृद्धि वहाँ के कृषि क्षेत्रक की निष्पादन-उन्नति पर निर्भर करती है। अतः अल्प आय वाले देशो मे कृषि पदार्थों के घरेलू उत्पादन मे काफी वृद्धि उनकी आर्थिक संवृद्धि की अनिवार्य शर्त है। वास्तव मे कृषि-उत्पादन विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए आरम्भिक चालू पूँजी है। आवश्यकता इस बात की है कि कृषि क्षेत्रक की उत्पादन दक्षता मे सुस्थायी वृद्धि (सस्टेन्ड इन्क्रीज) की जा सके। निर्धन वर्ग की अवस्था को बेहतर बनाने के लिए तथा आर्थिक सामाजिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए यह जरूरी है।

अतः अल्प आय वाले देशो मे कृषि-नीति के मूलभूत लक्ष्य इस प्रकार हैं:-

(i) **उत्पादन-दक्षता का लक्ष्य**—उत्पादन मे अदक्षता कृषि मे अल्प आय का मुख्य कारण है। कम विकसित देशो मे राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए कृषि-उत्पादिता में वृद्धि जरूरी है। इससे कृषि मे और अधिक उत्पादन के लिए या औद्योगिक संवृद्धि हेतु पूँजी-निवेश के लिए आर्थिक अधिशेष की प्राप्ति होगी तथा नगरीय जनसख्या की बढती हुई उपभोग आवश्यकताओ की पूर्ति हो सकेगी। उत्पादन-दक्षता मे वृद्धि से कृषीतर क्षेत्रकों मे उपयोग हेतु श्रम तथा अन्य ससाधनो की निर्मुक्ति संभव हो सकेगी। इससे ग्रामीणो की क्रय शक्ति में वृद्धि होगी, औद्योगिक माल के बाजारों का विस्तार होगा तथा राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे आवश्यक परिवर्तन लाने मे सहायता मिलेगी।

उत्पादन दक्षता में वृद्धि के लिए नवीन उत्पादक निविष्टियो (जैसे अधिक उपज देने वाले बीज, उर्वरक, कीटनाशी पदार्थ आदि) के अधिकाधिक उपयोग तथा प्रौद्योगिकीय नवक्रियाओ (टैक्नोलोजीकल इननोवेशन्स) के विस्तृत अनुप्रयोग की आवश्यकता होगी। उत्पादन दक्षता तथा इसमे वृद्धि हेतु आधुनिक कृषि-व्यूहरचना के प्रमुख तत्वों का विस्तृत विवेचन अगले छः अध्यायों (अध्याय २ से अध्याय ७) मे किया गया है।

(ii) **आय सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता का लक्ष्य**—कृषि क्षेत्रक की सफलता आर्थिक संवृद्धि में इसके योगदान की सीमा द्वारा निर्धारित होती है। कृषि क्षेत्रक दक्ष माना जाता है यदि यह स्थिरता सहित आर्थिक संवृद्धि सुनिश्चित कर सके। उच्च उत्पादन-दक्षता उच्च आय मे परिणत होनी चाहिए। तभी यह कृषकों की आर्थिक स्थिरता मे अपना योगदान दे सकेगी। अतः कृषक की अपनी आय को बढ़ाने की दक्षता व क्षमता ही उसे आर्थिक स्थिरता प्रदान कर सकती है। उत्पादन-दक्षता, आय-सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता निकटतः सम्बद्ध हैं। आर्थिक स्थिरता के लक्ष्य की प्राप्ति कृषकों की आर्थिक प्रेरणाओं (इकोनोमिक इन्सेंटिव्ज) की उपलब्धता पर निर्भर है। वास्तव में कृषकों की आय सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता कृषि कीमतों, कृषि उधार तथा कृषि के पैमाने आदि द्वारा प्रभावित होती है। कीमत समर्थन,

कृषि उधार, उन्नत कृषि विपणन तथा भूमि सुधार आदि आर्थिक प्रेरणाएँ कृषक की आय को बढाने तथा स्थिर करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इसका अध्ययन अध्याय ८, ९, १०, व ११ में किया गया है।

(iii) *समाज कल्याण का लक्ष्य*— *सामाजिक-कल्याण में सुधार कृषि-नीति का* सामाजिक ध्येय है। कृषि शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास, सामुदायिक कल्याण संबंधी कार्य, सड़कों में सुधार, ग्राम विद्युतीकरण तथा ग्राम गृह निर्माण आदि कार्यक्रम समाज-कल्याण को सुनिश्चित करते हैं। इनका उल्लेख पुस्तक मे संदर्भ अनुसार अनेक स्थानों पर किया गया है। विशिष्ट विषयों का अध्ययन अध्याय १२ व १३ में किया गया है।

कृषि-नीति का मुख्य ध्येय आर्थिक प्रगति, आर्थिक स्थिरता, आर्थिक न्याय तथा आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। सामान्यत. हम इस प्रकार की नीति के *आधार को खोजने तथा उसका विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। विशिष्टतः* 'भारतीय कृषि तथा इसके विकास का आर्थिक आधार' हमारे अध्ययन का मुख्य विषय होगा।

अध्याय २

उत्पादन दक्षता : कृषि-उत्पादिता

२.१ परिचय

किसी भी अल्पविकसित देश की आर्थिक सवृद्धि-दर को तेज करने के लिए वहाँ के कृषि क्षेत्रक का द्रुत विकास आवश्यक है । विकास के आरम्भिक चरणो में कृषि संवृद्धि की अल्प दर भी निरपेक्ष राष्ट्रीय आय मे भारी वृद्धि कर सकती है । एक विकासशील अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रक अपनी प्रगति के लिए, काफी हद तक, बाजार के वर्धमान विस्तार पर निर्भर होते है । और इस दिशा में कृषि का योगदान कम नही है । कृषि आय मे वृद्धि से कृषीतर तथा विनिर्मित पदार्थों (नान-एग्रीकल्चरल एन्ड मैन्युफैक्चर्ड गुड्स) के लिए भी विस्तृत बाजारों की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार अन्य क्षेत्रकों को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन प्राप्त होता है । इसलिए भारत जैसे देश मे कृषि-विकास ही आर्थिक विकास सम्बन्धी नीति का केन्द्रक होना चाहिए । अर्थव्यवस्था के द्रुत विकास के लिए यह आवश्यक है कि कृषि का विकास व्यापारिक आधार पर किया जाय तथा इसका प्रबन्ध भी अधिक दक्ष हो । **यह तभी सम्भव है जब उत्पादन के सब कारकों की उत्पादन-दक्षता में समग्र सुधार हो ।**

२.२ उत्पादन दक्षता

साधारणतः उत्पादन-दक्षता की सकल्पना का अध्ययन उद्योगो के प्रबन्ध के सम्बन्ध में किया जाता है । प्रबन्धन (मैनेजमैंट) तभी दक्ष माना जाता है जब यह उत्पादन के सब कारकों का पूर्ण उपयोग कर अधिकतम उत्पादन करने मे सक्षम हो ।

शाब्दिक रूप से 'दक्षता' विद्यमान ससाधनो से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के 'गुण' को कहते हैं । दक्षता में वृद्धि से कृषि-आय तथा सामान्य जीवन-स्तर मे वृद्धि होती है जो आर्थिक कल्याण मे उन्नति के द्योतक हैं । उत्पादन के एक कारक की उत्पादन दक्षता के लिए **उत्पादिता** शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

२.३ उत्पादिता

उत्पादन के किसी कारक की एक इकाई द्वारा किया गया उत्पादन उस कारक की उत्पादिता कहलाता है । कृषि में हम भूमि , श्रम, पूँजी तथा अन्य निविष्टि कारकों (इनपुट फैक्टर्स) की उत्पादिताओं का अध्ययन करते हैं ।

(क) उपरोक्त परिभाषा के अनुसार **भूमि की उत्पादिता प्रति इकाई क्षेत्रफल उपज** अर्थात् प्रति हैक्टर उपज द्वारा व्यक्त की जाती है ।

(ख) श्रम के संदर्भ में, उत्पादिता प्रति कृषि श्रमिक उपज या प्रति श्रम-घंटा उपज (ग्राउट पुट पर मैन ग्रॉर परमैन ग्रावर) है ।

(ग) पूँजी तथा अन्य निविष्टि कारकों के सम्बन्ध में उत्पादिता "उत्पत्ति-निविष्टि ग्रनुपात" (ग्राउट पुट इनपुट रेशियो) में व्यक्त की जाती है । इस अर्थ में यह सकल मानव प्रयासों का प्रतिफल है ।

२.४ भूमि की उत्पादिता

उत्पादिता अर्थात् प्रति हैक्टर उपज कुल उत्पादन तथा भूमि के बीच बदलते हुए संबंधों का वर्णन करती है ।

$$\text{फसल की उत्पादिता} = \frac{\text{कुल उपज}}{\text{फसल क्षेत्रफल}}$$

१९६०–६१ तथा १९७०–७१ वर्षों के लिए विभिन्न फसलों की प्रति हैक्टर उपज के आँकड़े सारणी २.१ में परिकलित किए गए हैं ।

सारणी २.१ भारत में प्रमुख फसलों की प्रति हैक्टर उपज

फसल	१९६०–६१ शस्य क्षेत्र (००० हैक्टर)	१९६०–६१ उपज (००० मी. टन)	१९६०–६१ उत्पादिता (कि. ग्रा. प्र. है.)	१९७०–७१ शस्य क्षेत्र (००० हैक्टर)	१९७०–७१ उपज (००० मी. टन)	१९७०–७१ उत्पादिता (कि. ग्रा. प्र. है)
चावल	३४१२८	३४५७३	१०१३	३७४३२	४२४४८	११३४
ज्वार	१८४१२	९८१४	५३३	१७४३५	८१८८	४७०
बाजरा	११४६९	३२८३	२८६	१२९०७	८०००	६२०
मक्का	४४०७	४०८०	९२६	५८३८	७४१३	१२७०
गेहूँ	१२९७७	१०९९७	८५७	१७८९२	२३२४७	१२९९
जौ	३२०५	२८१९	८८०	२५९७	२८६५	११०३
चना	९२७६	६२५०	६७४	७८०९	५२४७	६७२
गन्ना (गुड)	२४१५	११०००	४५५५	२६५७	१३१४४	४९४७
तम्बाकू	४१०	३०७	७४९	४१२	३४७	८४२

स्रोत : इन्डिया, १९६८, इन्डिया १९७३

उत्पादिता एक जटिल परन्तु महत्त्वपूर्ण संकल्पना है तथा किसी देश के कृषि क्षेत्रक के निष्पादन (परफॉर्मेंस) की सूचक है ।

भारत तथा अन्य देशों में विभिन्न फसलों की उत्पादिता का तुलनात्मक अध्ययन देश की कृषि की वर्तमान अवस्था को जानने में सहायक सिद्ध होगा और इस दिशा में प्रगति के लिए मार्गदर्शन कर सकता है ।

अन्तर-फसल उत्पादिता-तुलनाएँ उत्पादिता तथा शस्य-स्वरूप (क्रापिंग पैटर्न) के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करती हैं । इसी प्रकार अन्तर्राज्य उत्पादिता-तुलनाएँ अन्तर्राज्य आर्थिक स्तरों में विषमताओं को समझने व दूर करने में सहायक हो सकती हैं ।

(क) विभिन्न देशों में कृषि उत्पादिता की तुलना—सारणी २.२, जिसमें कुछ चुने हुए देशों की प्रमुख फसलो की प्रति हैक्टर उपज दी हुई है, स्वत. स्पष्ट है :

सारणी २.२ प्रमुख फसलों की प्रति हैक्टर उपज, १६६७ (कि. ग्राम में)

देश	धान	गेहूँ	मक्का	तम्बाकू	गन्ना
ब्राज़ील	१५८०			-६३०	४५६००
जापान	५७५०			२४३०	
मिस्र	४६६०	२४६०	३४३०		
इंगलैंड	—	४१८०			
अमरीका	५१००	१७४०	४६३०	२३००	६७८००
रूस	३१६०	११६०	२६३०	१४८०	
भारत*	१७०१	१२६६	१२७०	८४२	४६४७०

* १६७१ के आँकड़े स्रोत : F. A. O प्रोडक्शन ईयर बुक, १६६८

इस सारणी से स्पष्ट है कि हमारी प्रति हैक्टर उपज ससार में न्यूनतम मे से एक है। यह हमारी कृषि की अदक्षता तथा पिछड़ेपन का स्पष्ट प्रमाण है। न्यून उत्पादिता भारत के असख्य लोगो की निर्धनता का एक मात्र मुख्य कारण है।

सारणी २ २ से स्पष्ट है कि एक हैक्टर भूमि से हमारी धान की उपज अमरीका की अपेक्षा एक तिहाई तथा जापान की अपेक्षा एक तिहाई से भी कम है। हमारी गेहूँ की प्रति हैक्टर उपज मिस्र की उपज से आधी तथा इंगलैंड की उपज के एक तिहाई से भी कम है। भारत मे मक्का की उत्पादिता अमरीका मे मक्का की उत्पादिता का पाँचवाँ भाग है। अदक्षता हमारी आय के निम्न स्तर का मूल कारण है तथा निर्धनता के कुचक्र को जन्म देती है। अतः निर्धनता का कुचक्र कृषि-उत्पादन मे वृद्धि-करके ही समाप्त किया जा सकता है।

विभिन्न राष्ट्रीय निदर्शनों (नेशनल डिमान्स्ट्रेशन्स) से यह सिद्ध हो गया है कि एक हैक्टर भूमि से ६००० से ८००० कि० ग्राम तक धान प्राप्त करना सम्भव है। इसी प्रकार आवश्यक सिंचाई तथा आश्वासित वर्षा, निविष्टियो मे उचित निवेश तथा उचित प्रबन्धन द्वारा गेहूँ की उत्पादिता चार या पाँच गुना की जा सकती है।

(ख) उत्पादिता-संवृद्धि—एक अवधि के दौरान उत्पादिता-सवृद्धि व्यापक उपनति (जनरल ट्रैन्ड) को दर्शाती है तथा उस अवधि मे उत्पादन व क्षेत्रफल-सवृद्धि दरो से अपने संबंध को व्यक्त करती है। उत्पादिता-सवृद्धि के अध्ययन से ही हम यह जान सकते हैं कि हमारी कृषि सम्बन्धी योजनाएँ कितनी सफल रही हैं।

सारणी २.३ मे चुने हुए वर्गों के कृषि-उत्पादन, शस्य क्षेत्र तथा उत्पादिता के सूचकाक दिए गए हैं। हमने सरल माध्य द्वारा १६४६–५०—१६७०–७१ की अवधि के लिए संवृद्धि दरें परिकलित की हैं। सारणी से पता चलता है कि आयोजन के पहले पन्द्रह वर्षों मे उत्पादिता सवृद्धि-दर १ प्रतिशत से भी कम रही है। नकदी फसलो की स्थिति और भी

सारणी २.३ कृषि-उत्पादन, क्षेत्रफल तथा उत्पादिता के सूचकांक : सर्वभारत (कृषि वर्ष १९४९-५०=१००)

वर्ग	१९५०-५१	१९६५-६६	१९६८-६९	प्रतिशत वृद्धि		औसत संवृद्धि दर			
				१९५०-५१ १९६५-६६	१९६५-६६ १९६८-६९	१९५०-५१ १९६५-६६	१९६५-६६ १९६८-६९	१९६०-६१ १९६८-६९	१९४९-५० १९७०-७१
खाद्य फसलें (फुड ग्रेन्स)									
उत्पादन	९०.५	१२०.९	१५७.५	३३.६	३० ३	२.२	१०.१	१.८	२.८९
क्षेत्रफल	९७ ९	११४.५	१२१.८	१७ ०	६ ४	१.१	२.१	०.५	१.१३
उत्पादिता	९२.४	१०५.६	१२९ ३	१४ ३	२२.४	१.०	७ ५	१.३	१.७४
अखाद्य फसलें (नान फुड ग्रेन्स)									
उत्पादन	१०५ ९	१५४ ८	१६१.०	४६.२	४.०	३.१	१.३	०.७	३.०३
क्षेत्रफल	११०.८	१५२·५	१४६.९	३७.६	—३ ७	२.५	—१.२	०.५	१.८९
उत्पादिता	९५.६	१०१.५	१०९.६	६.२	८.०	०.४	२.७	०.२	१.१२
सर्व पण्य (ऑल कॉमोडिटीज)									
उत्पादन	९५.६	१३२.१	१५८.७	३८.२	२०.१	२.५	६.७	१.४	२.९३
क्षेत्रफल	९९.९	१२०.५	१२५.७	२०.७	४.३	१.५	१.४	०.५	१.२६
उत्पादिता	९५.७	१०९.६	१२६.३	१४.५	१५.२	१.०	५.१	०.९	१.६६

स्रोत : टेबिल्स ५.१२, ५.१३ एण्ड ५.१४ ऑफ "इण्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रिफ" (दसवाँ एडिशन) गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ।

शोचनीय रही है। यह बात देखने योग्य है कि १९६६-६९ के तीन वर्षों की आयोजनहीन अवधि मे उत्पादिता की संवृद्धि-दर काफी तेज रही है। १९६०-१९७० की अवधि मे भी उत्पादिता मे वृद्धि की दर १ प्रतिशत ही रही। पिछले बाईस वर्षों (१९४९ ५०—१९७०-७१) की अवधि के लिए उत्पादिता सवृद्धि-दर १ ६६ परिकलित की गई है। इसका अभिप्राय यह नही है कि इस क्षेत्र मे कोई विशेष उन्नति ही नही हुई है। देखा जाय तो पिछले इक्कीस वर्षों (१९५०-१९७१) मे कृषि-उत्पादन मे ८२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है परन्तु बढती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह पर्याप्त नही है।

उपरोक्त सारणी से यह भी स्पष्ट है कि कृषि-उत्पादन की सवृद्धि-दर, शस्य क्षेत्रफल तथा कृषि-उत्पादिता की संवृद्धि-दरों का योग है। अत. कृषि-उत्पादन मे वृद्धि फसल क्षेत्र मे विस्तार करने या भूमि की उत्पादिता को बढाने या दोनो उपायो को अपनाने से प्राप्त की जा सकती है।

(ग) अन्तर-फसल उत्पादिताओं की तुलना—*साधारणतः उत्पादिता एक भौतिक सकल्पना* है तथा प्रति हैक्टर उपज परिमाण (वाल्युम ऑफ यील्ड पर हैक्टेयर) द्वारा व्यक्त की जाती है। परन्तु जब हमे विभिन्न फसलो की उत्पादिताओ की तुलना करनी हो, तो यह माप सहायक सिद्ध नही होता क्योकि भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलो की कीमतें भी भिन्न होती हैं। ऐसी स्थिति मे हमे उपज-परिमाण का नकद मूल्य ज्ञात करना पडेगा। अत. अन्तर फसल उत्पादिताओ की तुलना हेतु उत्पादिताएँ प्रति हैक्टर उपज मूल्य (यील्ड वेल्यू पर हैक्टेयर) के रूप मे परिकलित की जाएँगी।

कहने का अभिप्राय यह है कि ऊँची कीमत वाली फसल की उत्पादिता कम कीमत वाली फसल की उत्पादिता से अधिक हो सकती है चाहे पहली फसल का प्रति हैक्टर उपज परिमाण दूसरी फसल के प्रति हैक्टर उपज परिमाण से कम ही क्यों न हो। परन्तु जब किसी फसल की कीमत तथा प्रति हैक्टर उपज का परिमाण दोनो ही अधिक हो तो उसकी उत्पादिता निश्चित रूप में अधिक है। सारणी २.४ देखें।

सिद्धान्ततः यदि एक हैक्टर भूमि से 'क' फसल की उपज का मूल्य उसी भूमि से 'ख' फसल की उपज के मूल्य से अधिक हो, तो उस क्षेत्र पर 'ख' फसल की बजाय 'क' फसल उपजानी चाहिए तथा 'ख' फसल का क्षेत्र अधिक उपज-मूल्य वाली फसल 'क' के उत्पादन के लिए उपयोग मे लाना चाहिए। सारणी २.४ के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शस्य-सम्बन्धी कारणो को छोड कर जौ अथवा चने की फसल उगाने का कोई कारण नही होना चाहिए जबकि उसी क्षेत्र को गेहूँ जो कि अपेक्षाकृत अधिक पैदावार वाली फसल है, के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। इसी प्रकार ज्वार तथा बाजरे की फसलें क्यों उगाई जावें जबकि उसी क्षेत्र पर मक्के के उत्पादन से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। वास्तव में बात यह है कि हमारा कृषक उत्पादिता तथा शस्य-स्वरूप (प्राडक्टिविटी एण्ड क्रॉपिंग पैटर्न) के बीच सबंध के प्रति उदासीन है। यह बड़ा आवश्यक है कि वर्तमान शस्य-स्वरूप में उचित परिवर्तन किया जाय ताकि कृषक अपने संसाधनों से अधिकतम लाभ उठा सके।

सारणी २४. प्रमुख फसलों की उत्पादिताएँ : सर्वभारत, १६७१.

	फसल	प्रति हैक्टर उपज क्विटल	समाहार कीमत रुपये प्रति क्विटल	उपज-मूल्य नकद रुपयों मे
(सावनी)	चावल	११.३४	८५	९६३.९०
	रागी	८.७०	५२	४५२.४०
	पटसन	११.७७	१८४	२१६५.६८
खरीफ	मक्का	१२.७०	५५	६९८.५०
	ज्वार	४.७०	५२	२४४.४०
	बाजरा	६ २०	५४	३३४.८०
रबी (आसाढ़ी)	गेहूं	१२.६६	७६	९८७.२४
	जौ	११.०३	७०	७७२.१०
	चना	६.७२	८६	५७७ ९२
खरीफ	तम्बाकू	८.४२	२४२*	२०३७.६४

* थोक कीमतें स्रोत : सारणी २.१ के आधार पर

परन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि शस्य-स्वरूप स्थानीय प्रवृत्तियों तथा अभिवृत्तियों द्वारा प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ हमारे नियन्त्रण से बाहर ऐसे तकनीकी तथा शस्य विज्ञान सबन्धी कारण हो सकते हैं जो शस्य-स्वरूप मे किसी भी परिवर्तन के विरुद्ध जाते हो। यह बात सर्वविदित है कि भारतीय कृषक खाद्य फसल के क्षेत्र को खाद्येतर (नॉन फ़ुड) तथा व्यापारिक फसलों के लिए उपयोग करने के पक्ष में नहीं है। इसी प्रकार शस्य-स्वरूप में परिवर्तन करने मे पूर्व शायद कृषि निविष्टियों के स्वरूप मे भी परिवर्तन करना पड़े जिसके लिए भारी वित्तीय निवेश की आवश्यकता हो। कुछ फसलें ऐसी भी होती हैं जिनमे अनाज उपज (ग्रेन यील्ड्स) का परिमाण तो कम होता है परन्तु डंठल भूसा की उपज अधिक होती है। निर्वाह मात्री खेती (सबसिस्टेंस फार्मिंग) के कारण, ज्वार तथा बाजरे जैसी फसलें सूखे इत्यादि के विरुद्ध अच्छा बीमा है। इन सीमाओ के होते हुए भी इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि हमारा शस्य-स्वरूप इष्टतम से काफी दूर है और जितनी जल्दी हो सके, इसमे आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

(घ) अन्तर-राज्य फसल उत्पादिताओं की तुलना—भारत में विभिन्न क्षेत्रो मे जलवायु तथा मृदवस्था आदि में काफी असमानता है, इसलिए विभिन्न राज्यों मे फसल-उत्पादिता में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। परन्तु जहाँ तक संभव हो, इन अन्तरो को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि विभिन्न राज्यों में फसल-

उत्पादिता मे अन्तर, अन्तर-राज्य आर्थिक स्तरों मे विषमताओ के लिए उत्तरदायी है तथा अन्तर-क्षेत्रीय विकास मे असंतुलनो को उत्पन्न करते हैं। सतुलित क्षेत्रीय विकास के लिए आवश्यक है कि फसल-उत्पादिताओ तथा उनके संवृद्धि-दरो मे अन्तर-राज्य विषमताओ को दूर किया जावे। उदाहरणतः मैसूर, तमिलनाडु तथा गुजरात मे १९५२-६५ की अवधि मे उत्पादिता की संवृद्धि-दरें उत्तर प्रदेश, केरल व मध्यप्रदेश की अपेक्षा तीन या चार गुनी रही है जबकि राजस्थान तथा आसाम जैसे प्रदेशों मे उत्पादिता की सवृद्धि-दर मे ह्रास हुआ है। यह स्थिति वाछनीय नही है।

सारणी २.५ राज्यवार सर्वफसल उत्पादिता-संवृद्धि की रैखिक दरें
(१९५२-५३ से १९६४-६५ की अवधि मे)
१९५२-५३ से १९५४-५५ का मध्यमान=१००)

राज्य	दर (प्रतिशत)	राज्य	दर (प्रतिशत)	राज्य	दर (प्रतिशत)
आन्ध्रप्रदेश	२ ७२	तमिलनाडु	३ ४६	मध्यप्रदेश	१.३०
आसाम (–)	०.०७	महाराष्ट्र	२.६२	राजस्थान	(–)०.०८
बिहार	२.३९	मैसूर	३.०३	उत्तर प्रदेश	१.०१
गुजरात	४ ५२	उडीसा	१ ७८	प० बगाल	१ ४१
केरल	१.००	पजाब	२.८६	सर्व भारत	१.९१

स्रोत कृषि मे संवृद्धि दरें (१९४९-५० से १९६४-६५)

अन्तर–राज्य उत्पादिताओ मे विषमताएँ उत्पादन-प्रविधियो तथा फार्म प्रबन्धन मे अन्तर के कारण भी हो सकती है तथा उर्वरकों, बीजों, कीट-नियत्रण व कृषि-विधियो के अनुप्रयोग मे अतरो के कारण भी। ये बातें ऐसी हैं जो मानव के नियन्त्रण में है और जिनमें आसानी से परिवर्तन किया जा सकता है।

सारणी २ ६ से स्पष्ट है कि

(i) तमिलनाडु, पंजाब, हरियाणा तथा मैसूर राज्यो मे चावल की प्रति हैक्टर उपज मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश से दुगुनी से भी अधिक है।

(ii) पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिम बंगाल मे गेहूँ की प्रति हैक्टर उपज मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा मैसूर की उपज से तीन से सात गुणा अधिक है।

(iii) मैसूर मे मक्का की प्रति हैक्टर उपज बिहार, मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र से तिगुनी है।

कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न राज्यों मे एक ही फसल की उत्पादिता मे बहुत अधिक अन्तर है और उचित उपाय प्रयोग में लाकर इन अन्तरों को कम किया जा सकता है।

परन्तु जब एक ही राज्य मे विभिन्न फसलों की उत्पादिताओं मे बहुत अधिक अन्तर हो, तो आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वहाँ के शस्य-स्वरूप मे विशेष रूप में परिवर्तन किया जाय।

सारणी २.६. प्रमुख फसलें : प्रति हैक्टर उपज, राज्यानुसार, १९७०-७१ (किलोग्राम मे)

क्र. स.	राज्य	चावल	ज्वार	बाजरा	मक्का	गेहूं	चना
१.	आन्ध्र प्रदेश	१३६६	३६३	४६७	१३३६	—	२८६
२.	आसाम	१००७	—	—	—	—	—
३.	बिहार	८६८	—	—	१०६३	६६६	६६२
४.	गुजरात	१२२३	३७३	८८४	१६१५	१६२८	८३०
५.	हरियाणा	१६८५	२७६	६३५	१११६	२०६३	७३६
६.	हिमाचल प्रदेश	११८१	—	—	१८५४	६२६	—
७.	जम्मू व कश्मीर	१७८८	—	—	१३६१	११६०	—
८.	केरल	१४५३	—	—	—	—	—
९.	मध्यप्रदेश	८४१	६३६	५२२	१०७५	७६०	५३५
१०.	महाराष्ट्र	१२२६	२७५	४०६	१०००	५११	२६८
११.	मेघालय	—	—	—	—	—	—
१२.	मैसूर	१६८४	७८०	५१८	३२०३	३१०	३८८
१३.	* नागालैंड	—	—	—	—	—	—
१४.	उडीसा	६६०	—	—	—	—	—
१५.	पंजाब	१७२५	—	११७१	१५१६	२२३६	८०७
१६.	राजस्थान	—	४८८	५२२	१२२६	१३२२	७३६
१७.	तमिलनाडु	१६७४	७३०	६५५	—	—	—
१८.	उत्तरप्रदेश	८१६	६५२	७७५	११८२	१२८६	७५६
१९.	पश्चिम बंगाल	१२३४	—	—	—	२१८८	८०७
२०.	सर्वभारत	११३४	४७०	६२०	१२७०	१२९९	६७२

स्रोत : इण्डिया, १९७३

उदाहरणार्थ गुजरात तथा हरियाणा मे ज्वार की प्रति हैक्टर उपज सर्वभारत औसत मे कम है, जबकि बाजरा की प्रति हैक्टर उपज सर्वभारत औसत से बहुत अधिक है। सरल तर्क यह है कि यदि सम्भव हो तो इन राज्यों के कुछ भागो मे ज्वार के लिए प्रयुक्त होने वाले क्षेत्र पर बाजरे का उत्पादन करना चाहिए। इसी प्रकार आंध्रप्रदेश मे ज्वार तथा बाजरा दोनो फसलो की प्रति हैक्टर उपज सर्वभारत औसत से कम है परन्तु मक्का की उत्पादिता सर्वभारत औसत से अधिक है। इसलिए मक्का की खेती और अधिक क्षेत्र पर होनी चाहिए ताकि कृषको को अधिक लाभ हो।

कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि को व्यापारिक आधार पर संगठित करने की आवश्यकता है और कृषको को कम लाभप्रद फसलो की बजाय अधिक लाभप्रद फसलों का उत्पादन करना चाहिए। कृषकों के लिए इस प्रकार के परिवर्तन की काफी संभावनाएँ हैं। ऐसा करने से वे अपनी भूमि से अधिक आय प्राप्त कर सकते हैं। एक उत्कृष्ट शस्य-स्वरूप

को निश्चित करने के लिए क्षेत्रीय अनुसंधान बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यहाँ यह कहना उचित ही है कि इस प्रकार के अनुसंधान के परिणाम काफी उत्साहजनक रहे है।

भारतीय फसल समय चक्र, १९६७ (इन्डियन क्रॉप कलेन्डर, १९६७) के अनुसार आंध्र-प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, मैसूर, पंजाब, राजस्थान, तामिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश राज्यों मे, 'ज्वार, बाजरा तथा मक्का' स्थानापन्न फसलें (सबस्टीट्यूटेबिल क्रॉप्स) मानी जाती हैं। इसी प्रकार गेहूँ, चना तथा जौ कम से कम बारह राज्यो में स्थानापन्न फसले हैं। अनेक राज्यो में चावल, रागी तथा पटसन भी स्थानापन्न फसलें हैं।

सारणी २.७ भारत में शस्य-स्वरूप पर रोचक प्रकाश डालती है।

सारणी २ ७ भारत मे शस्य-स्वरूप

		१९६०-६१		१९६८-६९	
		(००० हैक्टर)	प्रतिशत	(००० हैक्टर)	प्रतिशत
	कुल फसल क्षेत्र	१५२७७२	१००	१५६६०५	१००
	चावल	३४०५६	२२ ३	३६९६६	२३ ६
खरीफ	ज्वार	१८४२६	१२ १	१८७३१.२	१२.०
खरीफ	बाजरा	११४६९	७ ५	१२०५१.८	७ ७
	मक्का	४४०७	२ ९	५७१५.८	३.६
	गेहूँ	१२९३१	८ ५	१५९५८.१	१०.३
रबी	चना	९२७३	६.१	७१०५.५	४.६
	जौ	३२०५	२ १	२७५८.२	१.८
	गन्ना	२४१७	१ ६	२४६०.७	१.६

स्रोत इन्डियन एग्रीकलचर इन ब्रीफ १०वाँ ऐडिशन।

सारणी से स्पष्ट है कि खरीफ फसलो मे शस्य-स्वरूप मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। मक्का के क्षेत्रफल मे वृद्धि ज्वार अथवा बाजरा की उत्पादिता में न्यूनता के कारण नहीं हुई बल्कि अतिरिक्त भूमि की प्राप्ति के कारण हुई है। परन्तु रबी की फसलो के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता। गेहूँ के क्षेत्र मे वृद्धि शस्य-स्वरूप मे निश्चित परिवर्तन को दर्शाती है। यहाँ दूसरी ओर चना तथा जौ के क्षेत्र मे भारी कमी हुई है।

उत्पादिता एक जटिल सकल्पना है। अभी तक हमने उत्पादन लागत के पक्ष पर विचार नही किया। इसका विस्तृत अध्ययन अगले पृष्ठो मे किया जाएगा।

२.५ उत्पादिता बढाने के उपाय

'उत्पादिता मे वृद्धि कैसे हो' यह भारतीय कृषि की मूलभूत समस्या है। प्रति हैक्टर उपज बढ़ाने के लिए कृषि का आधुनिकीकरण तथा इस उद्देश्य हेतु तकनीकी सुधार लाना

आवश्यक है । अब भूमि ही मात्र प्रमुख उत्पादन साधन नही रहा तथा भूमि की उत्पादिता पूँजी लगाने की कुशलता तथा ज्ञान पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में ये अन्य कारको की गुणवत्ता तथा मात्रा में सुधारो पर भी निर्भर है । अतः कृषि उपज बढ़ाने के लिए एक सुबद्ध कार्यक्रम (इन्टिग्रेटेड प्रोग्राम) को अपनाना होगा । सुदृढ भूमि-रीतियाँ, बेहतर तथा दक्ष प्रबन्ध-प्रविधियाँ तथा अन्य निविष्टियो की अधिक मात्रा इस कार्यक्रम के अनिवार्य घटक होने चाहिएँ । क्योंकि खेतों के लिए अतिरिक्त भूमि जुटाने का क्षेत्र सीमित है, इसलिए उत्पादिता-वृद्धि का कार्यक्रम मुख्यतः गहन कृषि पर निर्भर होगा तथा निम्नलिखित मुख्य तत्त्वों से निर्मित होगा :—

(i) **ठीक फसल का चुनाव**—ऐसी फसल का उत्पादन करना चाहिये जो मिट्टी तथा स्थलाकृति के अनुरूप हो ।

(ii) **उचित कर्षण रीतियों का उपयोग**—अच्छी उपज प्राप्त करने के लिए उचित तैयारी, जल निकास-प्रबन्ध तथा उचित टैरेस इत्यादि बनाना भी आवश्यक है ।

(iii) **सिंचाई का प्रबन्ध**—कृषि की उन्नति के लिए उचित मात्रा मे तथा उचित समय पर जल-सम्भरण की व्यवस्था तथा सिंचाई की सुविधाएँ सुलभ कराना भी बहुत आवश्यक है।

(iv) यान्त्रिक शक्ति तथा कृषि मशीनरी का उपयोग

(v) उर्वरकों, पादप-पोषक पदार्थों तथा नाशक-जीव नियन्त्रण रसायनो का समयोचित अनुप्रयोग

(vi) अधिक पैदावार वाली किस्म के बीजो का उपयोग तथा

(vii) सामयिक बुवाई, कटाई तथा संग्रह अन्य उपाय हैं ।

सरकार का कर्त्तव्य है कि वह लघु कृषकों को ऋण सुविधाएँ उपलब्ध कराने का प्रबन्ध करे ताकि वे भी विकास कार्य से लाभान्वित हो । इस समय तक छोटे कृषक की उपेक्षा की गई है और उसकी अभी तक किसी हरी, नीली या पीली क्राति मे भेंट नहीं हुई है ।

२.६ कृषि-श्रम उत्पादिता

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि तथा गाँवो मे अत्यन्त निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रहे असख्य लोगो की आर्थिक दशा सुधारने के लिए विभिन्न कारकों की उत्पादन-दक्षता मे सुधार लाना अत्यावश्यक है । यद्यपि परम्परागत कृषि के ढाँचे में श्रम उत्पादन-वृद्धि को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है, फिर भी इसकी दशा बड़ी दयनीय है । भारत मे श्रम-उत्पादिता बहुत ही कम है । न्यून उत्पादिता, न्यून आय तथा फलस्वरूप न्यून बचत व निवेश अर्थव्यवस्था के विकास मे अवरोध हैं । समस्या का हल यही है कि उन असख्य लोगो की, जो कि अपनी आजीविका के लिए एक मात्र कृषि पर निर्भर हैं, उत्पादन-दक्षता को बढाया जाय ।

कृषि में श्रम-उत्पादिता, उत्पादिता तथा श्रम निविष्टि मे सम्बन्ध का अध्ययन करती है तथा प्रति इकाई श्रम के भौतिक उत्पादन द्वारा व्यक्त की जाती है अर्थात् यह प्रति श्रमिक पैदावार है ।

(क) प्रति व्यक्ति उत्पादिता किसी भी कृषि अर्थव्यवस्था की उन्नति या अवनति की परिचायक है। इसके मापन मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। उदाहरणतः कृषि में उचित प्रकार के आँकड़े प्राप्त करने की समस्या चिरस्थायी है। कहना न होगा कि भारत मे कृषि श्रम-शक्ति के अभिनव आँकड़े तत्काल उपलब्ध नहीं हैं। मूल सूचना को, जो किसी भी सुदृढ कार्यक्रम और योजना का आधार होती है, सुलभ कराने के लिए विस्तृत अनुसंधान की आवश्यकता है। यह कार्य स्वय सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिये।

श्रम-उत्पादिता प्रति कृषि श्रमिक उत्पादन को कहते हैं। निरपेक्षतः यह प्रति श्रमिक आय है।

$$\text{श्रम उत्पादिता} = \frac{\text{सकल कृषि आय}}{\text{श्रमिको की कुल सख्या}}$$

राष्ट्रीय आय के क्षेत्रकानुसार आँकडे उपलब्ध है। कृषि क्षेत्रक से उपादान लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद (नेट नेशनल प्रोडक्ट एट फैक्टर कॉस्ट) के आकल सकल कृषि आय के रूप मे माने जा सकते हैं। सारणी २·८ मे विभिन्न वर्षों की श्रम-उत्पादिता दिखाई गई है।

सारणी २·८ प्रति कृषि श्रमिक (कृषक) आय : भारत

(१९६०–६१ की कीमतों पर)

वर्ष	+निवल आतरिक उत्पाद	कृषि श्रमिको की सख्या*	प्रति कृषि श्रमिक आय
१	२	३	४
	(करोड रुपये)	(करोड़)	(रुपये)
१९६४–६५	७५४०	१४·२२	५३०
१९६५–६६	६४२१	१४·५६	४४१
१९६६–६७	६४११	१४·९२	४३०
१९६७–६८	७५६०	१५·२९	४९४
१९६८–६९	७४७७	१५·६७	४७७
१९६९–७०	७८४६	१६·०७	४५८

* मध्य वर्षीय आकल +स्रोत : CSO आँकड़े

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कृषि जनसख्या का जीवन-स्तर इसकी श्रम उत्पादिता द्वारा प्रभावित होता है। जितनी अधिक उत्पादिता होगी, उतनी ही अधिक कृषि-आय और कृषि-दक्षता भी। एक अवधि के दौरान श्रम उत्पादिता की तुलना करने के लिए हम प्रति व्यक्ति कृषि आय का प्रयोग करते हैं। भारत में प्रति व्यक्ति कृषि आय के आँकड़े भी परिकलित नहीं किए जाते। सारणी २·९ मे ऐसा प्रयास किया गया है। परिकलित

प्रति व्यक्ति कृषि आय इस धारणा पर आधारित है कि भारत के ७० प्रतिशत लोग अपनी जीविका के लिए कृषि पर आश्रित हैं।

$$\text{प्रति व्यक्ति कृषि आय} = \frac{\text{सकल कृषि आय}}{\text{कृषि जनसंख्या}}$$

सारणी २·६ कृषि आय प्रति व्यक्ति

वर्ष	जनसंख्या		+निवल आतरिक उत्पाद (कृषि)		प्रति व्यक्ति कृषि आय	
	कुल	कृषि	१९६०-६१ कीमत	चालू कीमत	१९६०-६१ कीमत	चालू कीमत
	(करोड़)		करोड़ रुपये			
१९६४–६५	४७·५५	३३·२६	७५४०	१०२१३	२२६	३०७
१९६५–६६	४८ ७०	३४ ०९	६४२१	९८४६	१८८	२८९
१९६६–६७	४९·८९	३४ ९२	६४११	११७५५	१८५	३३७
१९६७–६८	५१·१३	३५·७९	७५६०	१४९७३	२११	४१८
१९६८–६९	५२ ४१	३६·६९	७४७७	१४५३०	२०४	३९६
१९६९–७०	५३·७०	३७·५९	७८४६	१५६००	२०९	४१५

+ स्रोत : C.S O.

१९६४–६५ मे प्रति व्यक्ति वास्तविक कृषि आय (अर्थात् १९६०–६१ की कीमतो पर) २२६ रुपये थी जबकि १९६९–७० मे यह २०९ रुपये थी। आय के उपरोक्त आँकडे औसत आँकडे हैं। इसलिए लघु कृषको तथा भूमिहीन श्रमिको की आय इससे भी बहुत कम है। ग्रामीण भारत मे असन्तोष तथा निराशा के बढने का सम्भवत यही कारण है। इसके लिए ग्राम संस्थानक-संरचना को सुदृढ करना चाहिये।

(ख) कृषि तथा कृषीतर क्षेत्रकों मे श्रम-उत्पादिता के अन्तर इन क्षेत्रको मे प्रति व्यक्ति आय मे अन्तरो के रूप मे प्रकट होते हैं। आय-वितरण मे असमानताओं के कुप्रभाव की उपेक्षा नही की जा सकती। सारणी २ १० से यह स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों मे प्रति व्यक्ति कृषि आय, प्रति व्यक्ति कृषीतर आय के ३१.६ प्रतिशत से ३८·२ प्रतिशत के बीच रही है अर्थात् लगभग एक तिहाई रही है। प्रति व्यक्ति ग्राम आय तथा प्रति व्यक्ति नगरीय आय मे बहुत अधिक अन्तर है जो शीघ्र ही समाप्त होना चाहिए। कृषीतर क्षेत्रक मे अधिक आय के होने के कारण कृषि जनसंख्या का नगरो की ओर भागना स्वाभाविक ही है। परन्तु सोचने की बात यह है कि ऐसा करने के लिए क्या पर्याप्त कृषि-गतिशीलता विद्यमान है या क्या हमने कृषीतर क्षेत्रक मे फालतू ग्रामीणो को खपाने के लिए उचित तथा पर्याप्त अवसरों का प्रबन्ध कर लिया है?

(ग) एक श्रमिक की उत्पादन-दक्षता इस बात से भी आँकी जा सकती है कि वह कितने व्यक्तियों के लिए कृषि-उत्पादन कर सकता है अर्थात् कितने व्यक्तियों के

सारणी २·१० प्रति व्यक्ति कृषीतर आय (पर कैपिटा नॉन एग्रीकल्चरल इन्कम)
(१९६०–६१ कीमतों पर)

वर्ष	कृषीतर आय	कृषीतर जनसंख्या	प्रति व्यक्ति आय कृषीतर	प्रति व्यक्ति आय कृषि	प्रति व्यक्ति कृषि आय कृषीतर आय का प्रतिशत
	करोड़ रुपये	करोड़	रुपये	रुपये	प्रतिशत
१९६४–६५	८४४३	१४·२६	५९२	२२६	३८·२
१९६५–६६	८६२४	१४·६१	५९०	१८८	३२·९
१९६६–६७	८७६२	१४·९७	५८५	१८५	३१·६
१९६७–६८	८९६५	१५·३४	५८४	२११	३६·१
१९६८–६९	९३५३	१५·७२	५९५	२०४	३४·३
१९६९–७०	१०१०९	१६·११	६२७	२०९	३३·३

लिए कृषि-उत्पादन का समरण कर सकता है। अतः श्रम-उत्पादिता श्रमिक द्वारा कृषि उपज से समरित या समर्थित व्यक्तियों की सख्या द्वारा भी निर्धारित होती है। यह माप 'प्रति व्यक्ति समर्थन स्तर' (पर कैपिटा लेवल आफ सपोर्ट) की सकल्पना पर आधारित है जिसे निम्न प्रकार से ज्ञात किया जाता है।

$$\text{प्रति व्यक्ति समर्थन स्तर} = \frac{\text{कृषि उत्पादन} - \text{कृषि निर्यात} + \text{कृषि आयात}}{\text{कुल जनसख्या}}$$

$$\text{कुल श्रमिको द्वारा समर्थित (सभरित) कुल व्यक्ति} = \frac{\text{कृषि-उत्पादन}}{\text{प्रति व्यक्ति समर्थन स्तर}}$$

$$\text{प्रति श्रमिक द्वारा समरित व्यक्ति} = \frac{\text{कुल सभरित व्यक्ति}}{\text{कुल कृषि श्रमिको की सख्या}}$$

या

श्रमिक उत्पादिता

सारणी २.११ मे उपरोक्त कल्पनाओ पर आधारित प्रति श्रमिक उत्पादिता दी गई है।

अमरीका मे प्रति कृषि श्रमिक उत्पादिता भारत से लगभग तेरह गुणा अधिक है। वहां एक कृषक द्वारा लगभग इकतालीस व्यक्तियो को कृषि पदार्थों का सभरण किया जाता है।

श्रम अधिक उत्पादक तथा अधिक दक्ष माना जाता है यदि पहले से कम श्रमिक पहले से अधिक कृषि-उत्पादन करें। अतः प्रति हैक्टर उत्पादिता एवं कृषि-समृद्धि कृषि श्रमिकों की संख्या के व्युत्क्रमानुपाती (इन्वर्सली प्रोपोर्शनल) है। कृषि क्षेत्रक में जनसख्या का अपेक्षाकृत बडा भाग न्यून श्रम उत्पादिता का परिचायक है क्योंकि भूमि पर श्रमिकों का अत्यधिक दवाव उनको अदक्षता का मुख्य का कारण है। इसके विपरीत श्रम की उत्पादिता को भूमि पर जनसख्या के दवाव को घटाकर बढ़ाया जा सकता है। यह दवाव भू-जन

सारणी २·११ प्रति कृषि श्रमिक उत्पादिता (प्रति श्रमिक समर्थित व्यक्ति) : भारत

वर्ष	कृषि पण्यों का कुल मूल्य उत्पादन	निर्यात	आयात	समर्थन (२)-(३)+(४)	कुल जनसंख्या*	प्रति व्यक्ति समर्थन स्तर	कुल समर्थित व्यक्ति	कृषि श्रमिक संख्या	उत्पादिता
	करोड़ रु.	करोड़ रु.	करोड़ रु.	करोड़ रु.	करोड़	(५)÷(६)	(२)÷(७)	करोड़	(८)÷(९)
१९६४–६५	१०२९३	३६७	५००	१०३४६	४७·५५	२१७·६	४६·९४	१४·२२	३·३
१९६५–६६	९८४६	३३५	५३६	१००४७	४८·७०	२०६·३	४७·७३	१४·५६	३·२८
१९६६–६७	११७५५	४५८	९३०	१२२२७	४९·८६	२४५·१	४७·९६	१४·६२	३·२१
१९६७–६८	१४९७३	४९०	९३९	१५४२२	५१·१३	३०१·६	४९·६४	१५·२९	३·२५
१९६८–६९	१४५३०	५११	७६५	१४७८४	५२·४१	२८४	५१·१६	१५·६७	३·३

* मध्य वर्षीय आँकड़े

अनुपात (लैन्ड-मैन रेशियो) अर्थात् प्रति व्यक्ति कृषिगत क्षेत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है। भारत में भू-जन अनुपात इस प्रकार है :

सारणी २.१२ प्रति व्यक्ति बोया गया तथा फसल क्षेत्र : भारत
(१६६८–६६)

कुल जनसंख्या	निवल बोया गया क्षेत्र	कुल फसल क्षेत्र	प्रति व्यक्ति क्षेत्र बोया गया	फसल
५२.४१ करोड़	१३७६ लाख हैक्टर	१५६२ लाख हैक्टर	०.२६ हैक्टर	०.३० हैक्टर

रूस, अमरीका तथा मैक्सिको मे प्रति व्यक्ति कृषिगत क्षेत्र भारत की अपेक्षा सात से नौ गुना तक अधिक है परन्तु जापान मे प्रति व्यक्ति कृषिगत भूमि भारत मे प्रति व्यक्ति कृषिगत भूमि का पाँचवाँ भाग है।

२.७ श्रम उत्पादिता में वृद्धि के उपाय

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति दक्षता मे सुधार करने हेतु रचित कृषि-नीति के निम्न मुख्य लक्ष्य होने चाहियें।

(i) इसके लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि कृषि का उत्पादन बढ़ाया जाय। प्रति हैक्टर उपज उत्पादन-प्रक्रिया मे तकनीकी सुधारों तथा कृषि के मशीनीकरण द्वारा बढाई जा सकती है। भूमि-उत्पादिता के बढाने के उपायों का अध्ययन हम परिच्छेद २.५ में कर चुके है।

(ii) हमारी नीति का दूसरा लक्ष्य भूमि को जनसंख्या के अत्यधिक भार से मुक्त करना है। इसके लिए जहाँ यह आवश्यक है कि उत्पादन की एक निर्दिष्ट मात्रा को उपजाने के लिए श्रम की मात्रा को कम किया जाय, वहाँ दूसरी ओर कृषि जनसंख्या के एक बड़े भाग को अन्य व्यवसायो मे अ तरित करने की भी आवश्यकता है। श्रम उत्पादिता मशीनों तथा श्रम बचत उपस्करो के प्रयोग द्वारा बढाई जा सकती है। कृषि के यन्त्रीकरण (मशीनीकरण) के फलस्वरूप थोड़े से कृषि श्रमिको द्वारा सारे देश के लिए खाद्यान्न आदि उत्पन्न करना संभव होगा।

अन्य धधो मे जनसंख्या का हस्तांतरण कृषि के बाहर रोज़गार के ऊँचे स्तर तथा सुदृढ माँग पर निर्भर होगा। श्रम को कृषि क्षेत्र से बाहर कारखानो मे खपाने के लिए कृषीतर क्षेत्रक का बड़े पैमाने पर विस्तार करना पडेगा। कृषि के यंत्रीकरण तथा बड़े पैमाने पर औद्योगिक विस्तार से कृषीतर जनसंख्या मे तेजी से वृद्धि होगी।

परन्तु कृषि यंत्रीकरण तथा औद्योगिक प्रसार के लिए बहुत अधिक पूँजी की माँग होगी। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ मे पूँजी उत्पादन का दुर्लभतम साधन है। वास्तव में पूँजी-प्रवाह का अभाव ही कृषि क्षेत्रक में धीमी तकनीकी प्रगति के लिए उत्तरदायी है। दूसरी ओर श्रम का अति बाहुल्य है, इसलिए वांछनीय यही है कि ऐसी कृषि-प्रणाली का विकास किया जाय जिसमें श्रम-संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सके। श्रम अभि-

विन्यस्त (लेबर ओरिएन्टेड) तथा श्रम प्रधान सक्रियाओं में अधिक श्रम का उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार दोहरी व रिले फसलों (रिले क्रॉप्स) में भी अधिक श्रमिकों को काम दिया जा सकता है। संक्षेपतः थोड़ी पूंजी और बहुत अधिक परिमाण में मानव प्रयास उत्कृष्ट परिणाम प्राप्त कर सकते हैं तथा कृषि-उत्पादिता में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं।

२.८ प्रति श्रम-घंटा उत्पादिता

उत्पादिता की उपरोक्त परिभाषा का कृषि श्रमिकों द्वारा कृषि कार्य के लिए किये गये श्रम के परिमाण से कोई सम्बन्ध नहीं है और इस प्रकार यह दोषयुक्त है। उदाहरणार्थ *१९६१ की जनसंख्या के अनुसार प्रत्येक वह व्यक्ति (चाहे वह पुरुष, स्त्री या बालक हो)* जो प्रतिदिन एक घन्टे से अधिक खेती का काम करता था कृषि श्रमिक माना गया था। यह भी ध्यान रहे कि एक बालक या स्त्री उतना काम नहीं कर सकते जितना काम एक पुरुष कर सकता है क्योंकि उनकी कार्यकुशलता समान नहीं हो सकती। इस संदर्भ में अधिक सार्थक संकल्पना यह होगी कि श्रम के परिमाण की एक इकाई द्वारा किये गये उत्पादन को मापा जाय।

$$\text{अतः श्रम-उत्पादिता} = \frac{\text{कुल कृषि-उत्पादन}}{\text{कुल प्रयुक्त श्रम-परिमाण}}$$

श्रम का परिमाण श्रम की वह मात्रा है जो श्रम-शक्ति द्वारा एक अवधि के दौरान लगाई गई हो।

कृषि क्षेत्रक में कुल अनुप्रयुक्त श्रम के परिमाण के आकलन की समस्या काफ़ी जटिल है क्योंकि कृषि एक मौसमी व्यवसाय है। फलत. लोगों की एक बड़ी संख्या को पूरे वर्ष के लिए रोजगार प्राप्त नहीं होता। इसलिए श्रम के परिमाण को आँकने के लिए यह देखना होगा कि कृषि-श्रमशक्ति ने कृषि कार्य पर कुल कितना समय लगाया अर्थात् श्रम-परिमाण *श्रम-समय-विन्यास (लेबर टाईम डिस्पोज़ीशन) की संकल्पना पर आधारित होना चाहिए।* इसी प्रकार पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों द्वारा किये गये श्रम को एक समान मात्रकों (यूनीफार्म यूनिट्स) में व्यक्त किया जाना चाहिए। श्रम निविष्टि (लेबर इनपुट) के कुल घन्टों को परिकलित करते समय पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों की दक्षताओं में अन्तरों को ध्यान में रखना होगा। श्रम-परिमाण को श्रम घन्टों में मापा जा सकता है।

श्रम-घंटा (मैन आवर) श्रम का मानक मात्रक है तथा एक वयस्क पुरुष श्रमिक द्वारा एक घंटे में किये गये श्रम का परिमाण है। उदाहरणतः यदि एक स्त्री की कार्य-कुशलता *एक वयस्क पुरुष की कार्य-कुशलता के तीन चौथाई के समान हो तो उस स्त्री द्वारा एक घंटे में किया गया श्रम ५/६ श्रम घन्टे के समान है।* कई बार श्रम के परिमाण को श्रम वर्ष में भी मापा जाता है। प्रायः एक श्रम-दिन आठ श्रम-घण्टों के समान माना जाता है।

कृषि श्रम के परिमाण के अभिनव आँकड़े किसी भी स्रोत से उपलब्ध नहीं हैं। इस दिशा में किये गये कुछ प्रयत्न केवल सीमित उद्देश्यों को ही पूरा करते हैं। सारणी २.१३ में भारत में कृषि-कार्यों पर अनुप्रयुक्त श्रम श्रम-घण्टों में दिया गया है।

सारणी २.१३ कृषि उत्पादन में प्रयुक्त श्रम का आकलन

वर्ष	कृषि श्रम (करोड़ श्रम-घन्टों में)	सूचकांक (१९४९-५०=१००)
१९६४–६५	१७०६४	१४९·३
१९६५–६६	१७४७२	१५३·३
१९६६–६७	१७९०४	१५७·१
१९६७–६८	१८३४८	१६०·९
१९६८–६९	१८८०४	१६४ ९
१९६९–७०	१९२८४	१६९·१
१९७०–७१	१९७६४	१७३.४

सारणी २.१३ में हमने कृषि श्रम के सूचकांक परिकलित किए है। कृषि-उत्पादन (सर्व पण्य) के आंकड़े सूचकांकों के रूप में उपलब्ध हैं। श्रम-उत्पादिता उत्पादन सूचकांकों को श्रम सूचकांकों द्वारा विभाजित करके भी ज्ञात की जाती है। सारणी २.१४ प्रति श्रम-घटा उत्पादन दर्शाती है।

सारणी २.१४ प्रति श्रम घटा कृषि-उत्पादन : सूचकांक (१९४९-५०=१००)

वर्ष	कृषि उत्पादन (सर्व पण्य)*	लगाया गया श्रम (श्रम घन्टा)	प्रति श्रम घन्टा उत्पादन
१९६४–६५	१५९·४	१४९ ३	१०६·५
१९६५–६६	१३२ १	१५३ ३	८६·२
१९६६–६७	१३१·६	१५७·१	८३·८
१९६७–६८	१६१·०	१६०·९	१००·०
१९६८–६९	१५९·५	१६४ ९	९६·७
१९६९–७०	१७० ८	१६९·१	१०१·०
१९७०–७१	१८२·२	१७३ ४	१०५·१

* स्रोत. अर्थ-सांख्यिकी निदेशालय

सारणी से स्पष्ट है कि श्रम उत्पादिता अत्यन्त अनियमित है। इसलिए कृषि-उत्पादन में द्रुत वृद्धि के लिए श्रम को भरसक प्रयास करना होगा। श्रम को अधिक उत्पादक तथा अधिक दक्ष बनाने मे शिक्षा तथा प्रशिक्षण का बड़ा महत्त्व होता है।

२.९ शिक्षा एवं प्रसार

कृषि की उत्पादिता काफी हद तक मानव-प्रयास की गुणवत्ता (क्वालिटी ऑव ह्यूमन इफर्ट) द्वारा प्रभावित होती है। कृषक स्वयं ही फसलें उगाता है, पशुओं का पालन पोषण करता है, भोजन व तंतु उत्पन्न करता है तथा फार्म उपयोग सम्बन्धी निर्णय लेता है।

उसे बहुमुखी कार्य करने पडते हैं। वह एक ही समय में श्रमिक, व्यवस्थापक, लेखाकार, व्यापारी तथा सर्वोपरि सामाजिक प्राणी है। इसलिए कृषि को अधिक उत्पादक बनाने के लिए कृषक को ही नवीन विधियों और नव-क्रियाओं को सीखना व अपनाना होगा। ऊँची उत्पादक दरें समग्र उत्कृष्ट प्रबन्ध का परिणाम हैं। कृषि के आधुनिकीकरण के लिए कृषि श्रम को नवज्ञान व नव-कौशल का अर्जन करना होगा। इसीलिए श्रमिकों का शिक्षण व प्रशिक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा ही मानव प्रयास की गुणवत्ता को बढ़ाया जा सकता है; नव ज्ञान, कौशल व प्रविधियों का अर्जन किया जा सकता है और उत्पादक कार्य के लिए मानव क्षमता का विकास किया जा सकता है। भावी रोजगार तथा वैयक्तिक चयन-स्वातंत्र्य (इन्डिविज्युल फ्रीडम ऑव चॉइस) के विस्तार मे शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक है और मानव पूँजी में लगाए गए निवेश को तुच्छ नहीं समझना चाहिये। कृषकों को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए एक ऐसी व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है जिसमे लोक-सम्पर्क के सभी साधनों का विस्तृत उपयोग हो। इससे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे काफी वृद्धि होगी। शिक्षा तथा प्रशिक्षण के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी हैं जो मानव संसाधनों की गुणता को सुधारने तथा मानव क्षमताओं के विकास मे सहायक हैं। उदाहरणतः बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ, अधिक पौष्टिक भोजन व अच्छा आवास आदि कारक अधिक सामर्थ्य, सहनशक्ति, ओज तथा जीवन-शक्ति प्रदान करते हैं तथा जीवन-प्रत्याशा (लाइफ एक्सपैक्टेन्सी) को बढाते हैं। ये सब बातें मानव कारक को अधिक दक्ष तथा अधिक उत्पादक बनाती हैं।

२.१० संसाधन उत्पादिता : आर्थिक दक्षता

भूमि उत्पादन का दुर्लभ कारक है। श्रम अपेक्षाकृत बहुलता से उपलब्ध कारक है और इसका कुल निविष्टियों मे ३० से ५० प्रतिशत तक योगदान है। परन्तु इन दोनों प्रमुख कारकों का उपयोग उचित दक्षता के स्तर पर नहीं किया जा रहा। भूमि तथा श्रम का अदक्ष उपयोग न्यून उत्पादन एवं उत्पादिता के लिए जिम्मेदार है। अतः यह आवश्यक है कि कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हेतु भरसक प्रयत्न किए जाँय।

प्रश्न उठता है कि एक कृषक कितना उत्पादन करे? सरल उत्तर यह है कि एक कृषक को इतना उत्पादन अवश्य करना चाहिये जिससे

(१) उसे अपने लिए आवश्यक भोजन व कपड़ा मिल सके,

(२) *प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर सचालन-व्यय के लिए पर्याप्त गुंजायश हो सके,*

(३) अपने जीवन-स्तर में उन्नति के लिए तथा कृषि-सुधारों मे निवेश के लिए कुछ प्रयोज्य आय (डिस्पोजेबल इन्कम) प्राप्त हो सके।

इसके लिए संवृद्धि की ऊँची दर को बनाये रखना आवश्यक है। उत्पादन के सब कारकों की अधिकतम उत्पादन दक्षता के लिए एक सुबद्ध व्यूहरचना का विकास करना होगा तथा संसाधनों का इस प्रकार से उपयोग करना होगा जिससे इष्टतम आर्थिक दक्षता प्राप्त हो। पूँजी, आधुनिक निविष्टियों, प्रबन्धन, विपणन तथा वितरण आदि कारकों की आर्थिक दक्षता उत्पादन के मूल्य तथा निविष्टियों के मूल्य के बीच सम्बन्ध का वर्णन करती है।

कृषि-उत्पादिता वास्तव में संसाधनों की आर्थिक दक्षता है तथा उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात में व्यक्त की जाती है।

$$\text{उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात} = \frac{\text{कृषि—उत्पादन}}{\text{कुल निविष्टि}}$$

अतः उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात सब निविष्टियों में किये गये एक रुपये के निवेश का प्रतिफल है।

यदि उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात एक से कम हो, तो फार्म व्यवसाय घाटे में चल रहा माना जाता है। अतः इस अनुपात को बढ़ाने के लिए सब आवश्यक उपाय अपनाने की जरूरत है।

सारणी २.१५ में दिये गये उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात विभिन्न फार्म प्रबन्ध अध्ययनों से प्राप्त हुए हैं तथा विभिन्न क्षेत्रों में कृषि-दक्षता के सामान्य स्तर को दर्शाते हैं।

सारणी २.१५ उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात

क्षेत्र	सर्वेक्षण अवधि	प्रति हैक्टर कुल उत्पादन	कुल लागत (वास्तविक तथा आरोपित)	उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात
उत्तरप्रदेश	१९५४–५५—१९५६–५७	६०३	४८२	१.२६
	१९६६–६७	१४४१	११९६	१.२०
	१९६६–६७	२७५४	१५३९	१.७९
पंजाब	१९५४–५५—१९५६–५७	४०३	४०८	०.९८
प. बंगाल	१९५४–५५—१९५६–५७	५४६	४७२	१.१५
तमिलनाडु	१९५४–५५—१९५६–५७	३१९	२९२	१.०९
महाराष्ट्र	१९५५–५६—१९५६–५७	१५३	१४६	१.०५
	१९५५–५६—१९५६–५७	२१०	१६६	१.२७
आंध्रप्रदेश	१९५७–५८—१९५९–६०	९३२	९४४	०.९८
उड़ीसा	१९५७–५८—१९५९–६०	३०२	२६०	१.१६
बिहार	१९५७–५८—१९५९–६०	४३३	३३६	१.२९
मुंघेर	१९५७–५८—१९५९–६०	४७०	३९३	१.२०
	१९५७–५८—१९५९–६०	४५०	३३९	१.३३
	१९५७–५८—१९५९–६०	७८१	५६५	१.३८
हरियाणा	१९६१–६२—१९६३–६४	५७२	५३०	१.०८
मध्यप्रदेश	१९६२–६३—१९६४–६५	४३४	३५५	१.२२
राजस्थान	१९६२–६३—१९६४–६५	२३९	२७०	०.८९
केरल	१९६२–६३—१९६४–६५	९७३	९२५	१.०६
गुजरात	१९६६–६७	७८८	८१३	०.९७

स्रोत: टैबिल ४.४ इन्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ: १० वाँ एडीशन

कृषि-उत्पादिता को प्रति इकाई निविष्टि कृषि उपज के सूचकांकों द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। यह उत्पादन-दक्षता का अधिक शोधित माप है। इस विधि में कृषि-उत्पादन के सूचकाको को कुल निविष्टि के सूचकाको द्वारा विभाजित किया जाता है और इस प्रकार उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात सूचकाकों के रूप मे परिकलित किया जाता है। भारत मे उत्पादन-सूचकांक उपलब्ध हैं परन्तु कुल निविष्टि के सूचकांक उपलब्ध नहीं हैं। अमरीका में कृषि-उत्पादिता इसी विधि द्वारा परिकलित की जाती है।

उत्पादिता के अन्य मापो का अध्ययन करने मे पहले परम्परागत तथा आधुनिक कृषि मे अन्तर को समझ लेना जरूरी है।

२.११ परम्परागत तथा आधुनिक कृषि

जैसाकि शब्दो से विदित होता है, परम्परागत कृषि अधिकाश निविष्टियो के लिए परम्परा से प्राप्त ससाधनो पर निर्भर है अर्थात् निविष्टियो का अधिकाश उन ससाधनों से प्राप्त होता है जो परिवार के स्वामित्व मे हैं और जिन्हें खरीदना नही पडता। दूसरी ओर आधुनिक कृषि उर्वरक, अधिक पैदावार वाली किस्म के बीज, भाड़े के मानव श्रम (हायर्ड लेबर), कर्षण (ट्रैक्शन), सिंचाई तथा पादप रक्षण (प्लान्ट प्रोटेक्शन) पदार्थ आदि क्रीत निविष्टियों (परचेज्ड इनपुट्स) पर आश्रित हैं। वास्तव मे दूसरे वर्ग की निविष्टियो का कृषि क्षेत्रक के बाहर उत्पादन किया जाता है तथा उपयोग के लिए उन्हे खरीदना पडता है। दूसरी ओर पारिवारिक फार्म, पूँजी व श्रम जैसी परम्परागत निविष्टियाँ परिवार में से ही प्राप्त होती हैं और कृषक को उनके लिए फार्म के बाहर कुछ खर्च नही करना पड़ता। अतः फार्म मे क्रीत निविष्टियो तथा कुल निविष्टियो मे अनुपात उसके आधुनिकीकरण का सूचक है। सारणी २.१६ में दिए गए आँकडो के आधार पर आधुनिकीकरण की कोटि (डिग्री ऑव माडर्नाईजेशन) इस प्रकार ज्ञात की जा सकती है।

सारणी २.१६ आधुनिकीकरण की कोटि. 'आधुनिक तथा कुल निविष्टियों पर भूस्वामियो द्वारा संचालित फार्मों मे प्रति एकड व्यय': नाडियाद तालुका के सैम्पल फार्म: परिमाण अनुसार (रुपयो मे)

परिमाण वर्ग	आधुनिक निविष्टियाँ							
	उर्वरक	कीटनाशी	सिचाई	ट्रैक्टर	कुल	अन्य निविष्टियाँ	कुल	आधुनिकीकरण का सूचकाक
लघु	३२.०	० ३	५६.०	१३.०	१०४.३	१६६.७	३०४.०	०.३४
मध्यम	५१ ०	० ५	६०.०	१८.०	१५६.५	२५५ ५	४१५ ०	०.३८
बड़े फार्म	५६ ०	१.२	६७.०	१७ ०	१४४.२	२८६ ८	४३४.०	०.३१
सर्व	५३.०	०.८	७५ ०	१७.०	१४५.८	२६३.२	४०६.०	०.३६

स्रोत : अग्रो-इकोनोमिक रिसर्च सैन्टर, वल्लभ विद्या नगर, गुजरात।

कृषि पूर्णत. आधुनिक कही जायगी यदि उत्पादन-प्रक्रिया मे प्रयुक्त सभी निविष्टियों

को क्रय करना पड़े । इस परिभाषा के अनुसार यदि एक कृषक को परपरागत निविष्टियों के लिए भी खर्च करना पड़े अर्थात् यदि वह भूमि पट्टे पर ले तथा श्रमिकों को मजदूरी दे तो कृषि आधुनिक कहलाएगी चाहे वह आधुनिक वैज्ञानिक निविष्टियों तथा पूँजी उपस्करो का प्रयोग न भी करे ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि नवीन निविष्टियो तथा आधुनिक मशीनरी को खरीदने के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त हो तो क्या कृषि का पूर्ण आधुनिकीकरण सम्भव है ? उपरोक्त मापदड के अनुसार ऐसा सम्भव नही है । अधिक से अधिक हम आशिक आधुनिकीकरण ही प्राप्त कर सकते हैं । इसके निम्न कारण हैं ·

(i) नई टैक्नोलोजी जो नवीन निविष्टियों पर निर्मित है वही लागू हो सकती है जहाँ पर्याप्त मात्रा मे सामयिक जल की व्यवस्था सुनिश्चित हो अर्थात् यह सिंचित क्षेत्रों तक ही सीमित है । भारत में जल-ससाधनो द्वारा कुल ८.२ करोड़ हैक्टर भूमि की सिंचाई की जा सकती है जो कुल कृष्य भूमि (कल्टीवेबल लैंड) का ४२ २ प्रतिशत बनता है । इस अर्थ मे नवीन टैक्नोलोजी वहाँ अच्छी प्रकार से लागू नही की जा सकती जहाँ जल दुष्प्राप्य हो या नियत्रित तथा पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न हो । इस प्रकार कुल कृष्य भूमि के ५७.८ प्रतिशत भाग में जो वर्षा पर आश्रित है, कृषि परंपरागत ही रहेगी ।

(ii) भारत मे कृषि मुख्यत. परिवार-उद्यम है । परिवार अति प्रचुर श्रम शक्ति (सुपर एबन्डेन्ट लेबर फोर्स) का मुख्य स्रोत है । इस श्रम शक्ति के लिए कृषि से बाहर वैकल्पिक रोजगार के अवसर नही के बराबर हैं और इस प्रकार उसकी विकल्प लागत शून्य है । परिवार श्रम के एक बड़े भाग का उपयोग नही किया जा सकता । कृषि के आधुनिकीकरण तथा उत्पादन दक्षता मे वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि कृषीतर क्षेत्रक अर्थात् उद्योग और सेवाओ मे रोज़गार के अधिक अवसर प्रदान किये जाएँ ।

अतः कृषि के आधुनिकीकरण मे द्विधा यातायात (टू वे ट्रैफिक) सन्निहित है.

(क) विस्तारशील कृषीतर क्षेत्रक से आधुनिक निविष्टियो का अन्तर्वाह, (ख) कृषि क्षेत्रक से कृषीतर क्षेत्रक की ओर श्रम का बहिर्वाह ।

कहने का अभिप्राय यह है कि उद्योग का विकास तथा कृषि का रूपांतरण साथ साथ होने चाहिये । कृषि का कारक-बाज़ारो (फैक्टर मार्केट्स) द्वारा बृहत्तर अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण (इन्टीग्रेशन) कृषि के आधुनिकीकरण की मूल शर्त है । कृषि -उत्पादिता में वृद्धि के फलस्वरूप विक्रेय अधिशेष (मार्केटेबल सरप्लस) में वृद्धि होनी है तथा एकीकरण क प्रक्रिया को बल मिलता है ।

यहाँ निविष्टियों तथा फार्म उत्पादन व्यय के स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण उचित ही होगा । सामान्यतः कुछ निविष्टियाँ उत्पादक को अपने पास से ही प्राप्त होती हैं जैसे भूमि, पूँजी, परिवार-श्रम, खेत पर उत्पादित बीज, खाद तथा पशुओं का चारा इत्यादि-इत्यादि । इन मदों की लागतें वे अपने पास ही रखते हैं, इसलिए 'प्रतिधारित लागतें'(रिटेन्ड कॉस्ट)कहलाती हैं । दूसरी ओर जो लागतें फार्म के बाहर निविष्टियों के विक्रेताओं को देनी पड़ती हैं

'नकद वस्तु लागतें' (पेड आउट कॉस्ट) कहलाती हैं।

क्योंकि कृषि-उत्पादिता अर्थात् उत्पत्ति-निविष्टि-अनुपात वास्तविक आय तथा वास्तविक खर्च के आधार पर परिकलित की जाती है, इसलिए खेत पर उत्पादित चारे आदि मदों का मूल्य कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता। इसी प्रकार परिवार तथा विनिमय श्रम (या निःशुल्क श्रम), अपने खेत का बीज, चारा तथा खाद आदि निविष्टियों का मूल्य कृषि उत्पादन खर्चों से बाहर रखा जाता है तथा व्यय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

भारत में उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात से सम्बन्धित आंकड़ों को एकत्र करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किए गए हैं। सिवाय 'फार्म प्रबन्ध अध्ययन' (फार्म मैनेजमैंट स्टडीज) जैसे कादाचित्क तथा छुट पुट प्रयत्नों के, इस दिशा में कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किये गये। यह हमारी सांख्यिकीय सक्रियता का दुःखद निदर्शन है कि वर्षों तक महत्त्वपूर्ण समस्याओं से सम्बन्धित सब आंकड़े उपलब्ध न कराए जाय। इनके बिना सरकारी कृषि-नीतियों की जाँच करना कठिन है।

२.१२ कृषि-उत्पादिता: उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात

आर्थिक दक्षता में वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे उपाय अपनाये जायें जिनसे निविष्टियों पर खर्च हुए एक रुपये के बदले में अपेक्षाकृत अधिक उपज मिल सके। इससे ही संबधित एक और प्रश्न भी है कि 'इस एक रुपये से कौन-कौन सी और कितनी-कितनी निविष्टियाँ खरीदी जायें'? एक बात अनिवार्य है और वह यह कि **निविष्टि-कारकों का संयोजन इस प्रकार किया जावे कि लागत की प्रति इकाई के बदले में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन प्राप्त हो।**

कृषक की मुख्य समस्या यह है कि उसे अपने संसाधनों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी? उसे उन निविष्टियों (जो वह दूसरों से खरीदता है और जिनके लिए उसे नकद राशि देनी है), के लिए पूँजी का प्रबन्ध करना पड़ेगा। अतः उत्पादन-दक्षता काफी हद तक कृषि की परिवर्ती (प्रचालन) लागतों पर निर्भर होगी अर्थात् उस व्यय पर निर्भर होगी जो वह बीजों, उर्वरकों, खाद, भाड़े के श्रम, कर्षण, सिंचाई तथा पौध-रक्षण पदार्थों पर करता है। यही कारण है कि कृषक इस व्यय में किफायत करना चाहते हैं जो वे कृषि के बाहर निविष्टियों के विक्रेताओं को देते हैं तथा प्रतिधारित व्यय में किफायत नहीं करना चाहते। अधिक प्रतिफल देने वाली निविष्टियों का कृषि-अर्थव्यवस्था के विकास में विशेष महत्त्व है क्योंकि उनके उपयोग से ही उत्पत्ति-निविष्टि-अनुपात में वृद्धि होती है। इसीलिए उत्पत्ति-परिवर्ती व्यय-अनुपात, उत्पत्ति-निविष्टि-अनुपात की अपेक्षा दक्षता का बेहतर माप है।

कृषक का मुख्य उद्देश्य अधिक कृषि-उत्पादन करना है परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ऐसा किस लागत पर हो? उत्पादन-लागत में कमी आर्थिक दक्षता का महत्त्वपूर्ण अंश है। अतः कृषक को अधिकतम उत्पादन करने के लिए निविष्टियों का **'न्यूनतम लागत सम्मिश्रण' (लीस्ट कॉस्ट कॉम्बिनेशन ऑव इनपुट्स करना पड़ेगा)**। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता

है यदि खेती में नवीन लाभकारी प्रविधियों को अपनाया जाय और विभिन्न निविष्टियाँ न्यून रियायती कीमतों पर उपलब्ध हों । नई कृषि मशीनों तथा यत्रों का आविष्कार, अधिक पैदावार वाली किस्म के बीजों का विकास, पशुधन की नसल मे सुधार तथा नए ढगों का विकास, उत्पादन-दक्षता तथा उत्पत्ति-निविष्टि-अनुपात को बढ़ाने मे सहायता देते हैं ।

वर्तमान संदर्भ मे कृषि-उत्पादिता 'प्रति इकाई लागत उपज' द्वारा मापी जाती है । दूसरे शब्दो में यह एक रुपये के व्यय का प्रतिफल है । उत्पादिता तथा शस्य-स्वरूप के सबंध के प्रसंग मे हम कह सकते हैं कि यदि 'क' फसल के उत्पादन में निवेशित एक रुपये का प्रतिफल 'ख' फसल के उत्पादन मे निवेशित एक रुपये के प्रतिफल से अधिक हो तो संसाधनों का 'ख' फसल से हटा कर 'क' फसल उत्पादन मे लगा देना चाहिये ।

देखा जाय तो एक कृषक अपने कार्य से अधिकतम उपज प्राप्त करने की अपेक्षा अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहेगा । सो उसकी दृष्टि से प्रति इकाई लागत उपज की अपेक्षा प्रति इकाई लागत निवल लाभ फार्म-दक्षता का अधिक उपयुक्त माप है । अतः फार्म-दक्षता का अध्ययन कृषि संक्रियाओ (फार्म आपरेशन) की लाभकारिता (प्रोफिटेबिलिटी) के संदर्भ मे किया जाना चाहिये ।

निवल लाभ (नेट प्रॉफिट) = सकल आय − कुल लागत ।

$$\text{प्रति इकाई फार्म-दक्षता अर्थात् लाभकारिता} = \frac{\text{निवल आय}}{\text{कुल लागत}}$$

सारणी २.१७ मे, फार्म प्रबन्ध अध्ययनो के आधार पर उत्तर प्रदेश मे कृषि-व्यवसाय की लाभकारिता (प्रोफिटेबिलिटी) दी गई है ।

सारणी २.१७ प्रति हैक्टर आय तथा लागत: कृषि-व्यवसाय

जिला	सर्वेक्षण अवधि	सकल आय	कुल लागत	निवल लाभ	प्रति इकाई लागतलाभ
मेरठ, मुजफ्फरनगर*	१६५४-५५ से १६५६-५७	६०३	४७६	१२४	०.२६
मुजफ्फरनगर+	१६६६-६७ से १६६८-६६	२७५४	१५३६	१२१५	०.७६

+फसलें: गेहूँ, चने, गन्ना + फसलें: गेहूँ व गन्ना + लागत : नकद तथा आरोपित
* स्रोत : फार्म मैनेजमैन्ट स्टडीज रिपोर्ट, १६६६.

इस अवधि मे क्षेत्र का प्रति इकाई लागत लाभ तीन गुणा हो गया है ।

२.१३ लागत संरचना तथा फार्म व्यवसाय-आय

प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पाद का न्यूनतम लागत पर उत्पादन करना चाहता है । हम यह अध्ययन कर चुके हैं कि प्रत्येक कृषक उस खर्च में जो वह फार्म के बाहर निविष्टि-कारकों

के विक्रेताओं को नकद या जिन्स के रूप मे देता है, किफायत करने का प्रयत्न करता है। वह प्रतिधारित व्यय (कॉस्ट रिटेन्ड) की ओर ध्यान नही देता। इसलिए वह अपनी सकल आय में से परिवर्ती लागत (वेरियेबल कॉस्ट्स) निकाल कर जो उत्पादन का मूल्य बचेगा, उसे अधिकतम बनाने का प्रयत्न करेगा अर्थात् वह प्रति इकाई परिवर्ती व्यय से अधिकतम कृषि (फार्म) व्यवसाय-आय प्राप्त करना चाहेगा।

फार्म (कृषि) व्यवसाय आय = सकल आय – परिवर्ती लागतें।

$$\text{प्रति इकाई परिवर्ती लागत आय} = \frac{\text{कृषि व्यवसाय आय}}{\text{कुल परिवर्ती व्यय}}$$

(परिवर्ती लागतें वे व्यय हैं जो कृषक नकदी या जिन्स के रूप मे करता है)
सारणी २.१८ देखें।

सारणी २.१८ पजाब मे बडे फार्मों की लागत सरचना तथा लाभकारिता

(रुपयों में)

वर्ष	सकल आय	प्रति फार्म नकद व्यय बीज	उर्वरक	खाद	मजदूरी	अन्य	कुल नकद रुपये	फार्म व्यवसाय आय	प्रति इकाई परिवर्ती लागत कृषि व्यवसाय आय
१९६६–६७	१६३४०	५१५	११६०	२१५	२२९०	१६८०	५८६०	१०४८०	१·८
१९६७–६८	१७३४०	६४५	१७५०	३००	२९६०	२०४०	७६९५	९६४५	१·३

सारणी से स्पष्ट है कि फार्म-व्यवसाय की लाभकारिता मे कमी हुई है।

कृषि व्यवसाय-आय (फार्म बिजनस इन्कम) वह प्रतिफल है जो कृषक को बीज, खाद, उर्वरक, भाड़े के मानव श्रम, पशुश्रम, भू-राजस्व, सिंचाई तथा लगान आदि पर नकद या जिन्स के रूप मे किये गये व्यय को पूरा करने के उपरात प्राप्त होता है। फार्म व्यवसाय-आय कृषक के स्वामित्व वाले ससाधनो अर्थात् भूमि, श्रम तथा अचल पूँजी का कुल प्रतिफल है। क्योंकि इन संसाधनों के मूल्यों के आरोपण मे अनेक समस्याएँ होती हैं तथा व्यक्तिपरक मूल्याकन (सब्जेक्टिव इवेल्युएशन) करना पड़ता है इसलिए भारतीय परिस्थितियों में विभिन्न क्षेत्रों मे कृषि आय-स्तरों मे तुलना करने के लिए नेट (निवल) आय सार्थक संकल्पना नही है। ऐसा करने के लिए कृषि-व्यवसाय-आय अधिक सार्थक सकल्पना है।

इसलिए विभिन्न क्षेत्रों मे कृषि व्यवसाय दक्षताओं मे अन्तर का अध्ययन करने के लिए निवल आय–कुल लागत अनुपात (प्रति इकाई लागत लाभ) की अपेक्षा कृषि व्यवसाय-आय-नकद एव जिन्स व्यय अनुपात (अर्थात् प्रति इकाई परिवर्ती-लागत कृषि व्यवसाय आय) अधिक सार्थक माप है। सारणी २.१९ मे फार्म प्रबन्ध-अध्ययनो के आधार पर विभिन्न क्षेत्रो मे कृषि व्यवसाय आय–नकद जिन्स व्यय अनुपात दिए गए हैं।

धान की खेती से सबसे अधिक कृषि-व्यवसाय-आय तामिलनाडु से प्राप्त होती है जो सिंचित ऋतु I व सिंचित ऋतु II के लिए क्रमश. ३७३ रुपये प्रति हैक्टर तथा ४५१ रु०

सारणी २.१६ (क) धान की कृषि से प्रति हैक्टर प्रतिफल (रुपयों में)

१	२	३	४	५	६
क्षेत्र	फसल	सकल आय	नकद व जिन्स व्यय	कृषि व्यवसाय आय	अनुपात (५) : (४)
प. बंगाल	अमान	५२२.१	२५३.२	२६८.६	१.०६
	औस	४१३.६	१६८.४	२१५.२	१.०८
तामिलनाडु	सिंचित ऋतु I	८९२.०	५१८.६	३७३.१	०.७२
	,, ,, II	८५३.५	४०२.३	४५१.२	१.१२
आंध्र प्रदेश	,, ,, I	७५०.७	४२७.८	३२२.६	०.७५
	,, ,, II	७०७.८	४७२.१	२३५.७	०.५०
	असिंचित धान	३६२.४	२४३.३	१४६.१	०.६१
उडीसा	....	३०८.८	१५०.२	१५८.६	१.०६
बिहार	....	६६३.७	२९६.७	३६७.०	१.२३
मध्यप्रदेश	....	४०५.६	१५८.८	२४७.१	१.५६
केरल	....	८३०.९	६६४.२	१६६.७	०.२५

स्रोत फार्म मैनेजमेंट इन इण्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ फुड, अप्रैल, १९६६.

* प्रति इकाई परिवर्ती लागत कृषि व्यवसाय आय।

प्रति हैक्टर है। सबसे कम कृषि-व्यवसाय आय उड़ीसा से प्राप्त हुई जो १५८.६ रु० थी। यद्यपिकेरल में प्रति हैक्टर सकल आय (८३१ रु०) काफी ऊँची थी, कृषि-व्यवसाय-आय केवल १६७ रु० प्रति हैक्टर थी। इसका कारण नकद व जिन्स व्यय है जो केरल में दूसरे क्षेत्रों की तुलना मे सबसे अधिक है। ऊँची परिवर्ती लागत का मुख्य कारण यह है कि इस क्षेत्र में अधिकाश मानव-श्रम मजदूरी पर मिलता है। स्पष्ट है कि केरल मे कृषि-व्यवसाय-आय-नकद-व्यय-अनुपात दूसरे क्षेत्रो की अपेक्षा सबसे कम है। यह अनुपात मध्यप्रदेश के लिए सबसे अधिक है जहाँ एक रुपये के परिवर्ती व्यय के फलस्वरूप १.५६ रु० की कृषि-व्यवसाय-आय प्राप्त होती है।

सारणी २.१६ (ख) से स्पष्ट है कि उच्चतम प्रति हैक्टर कृषि-व्यवसाय-आय हरियाणा मे सिंचित गेहूँ से प्राप्त हुई। हरियाणा मे सिंचित गेहूँ फसल के लिए कृषि-व्यवसाय-आय-नकद जिन्स व्यय अनुपात २.४६ था जो भारत मे सिंचित गेहूँ के लिए सबसे अधिक था। राजस्थान में प्रति हैक्टर कृषि-व्यवसाय-आय १८८ रु० थी और प्रति इकाई नकद-जिन्स व्यय कृषि-व्यवसाय-आय केवल ०.५० थी अर्थात् हरियाणा की अपेक्षा पाँचवाँ भाग थी। जहाँ तक असिंचित गेहूँ की फसल से प्राप्त प्रतिफल का सम्बन्ध है यह हरियाणा क्षेत्र को छोड़कर सब क्षेत्रों में बहुत कम है। यह प्रतिफल सबसे कम उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र (नासिक) में है। अतः आय-व्यय-अनुपात हरियाणा मे अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा काफी अधिक है।

शस्य-स्वरूप की समस्या कृषि-व्यवसायकी लाभकारिता से सम्बन्धित है। प्रत्येक कृषक

सारणी २.१६ (ख) गेहूँ की कृषि से प्रति हैक्टर प्रतिफल (रुपयों में)

१	२		३	४	५	६
क्षेत्र	फसल		सकल आय	नकद व जिन्स व्यय	कृषि व्यवसाय आय	अनुपात* (५) : (४)
उत्तर प्रदेश	असिंचित	गेहूँ	२९३.५	२७८.७	१४८	.०५
	सिंचित	,,	५०६ ६	३४८.५	१५८ १	.४५
पंजाब	असिंचित	,,	१९५.८	१३४.२	६१.६	.४६
	सिंचित	,,	४२८.०	२४४ ०	१८४.०	.७५
हरियाणा+	असिंचित	,,	५६८.५	१५६.७	४११.८	२ ६३
	सिंचित	,,	६७७ ०	१९५ ६	४८१.४	२.४६
महाराष्ट्र	असिंचित	,,	१४६ ५	९७.१	४९ ४	० ५१
(अहमद नगर)	सिंचित	,,	२९२.९	१९९ १	९३ ८	०.५५
(नासिक)	असिंचित	,,	१००.३	८४.०	१६.३	०.१९
	सिंचित	,,	२९१ २	२१७.४	७३.७	०.३४
राजस्थान	सिंचित	,,	५६४ ५	३७६.६	१८७.९	०.५०

स्रोत फार्म मैनेजमेंट इन इण्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ फुड, अप्रैल, १९६६.

* प्रति इकाई परिवर्ती लागत कृषि व्यवसाय-आय   + सर्वेक्षण के समय पंजाब का भाग

उस फसल का उत्पादन करना चाहेगा जिसमे उसे लाभ की अपेक्षाकृत ऊँची दर प्राप्त हो। यदि 'क' फसल के उत्पादन मे प्राप्त प्रति इकाई परिवर्ती लागत कृषि व्यवसाय-आय 'ख' फसल की अपेक्षा अधिक हो तो कृषक अपने ससाधनो को 'क' फसल के उत्पादन मे लगाएगा।

हमारे वर्तमान अध्ययन के लिए अनेक जटिल सम्बन्धो का विश्लेषण करना पड़ेगा। विभिन्न आधुनिक तथा परम्परागत निविष्टि-कारकों के अतिरिक्त कृषि-उत्पादिता अथवा कृषि-व्यवसाय-आय जोतो के आकार, लागत-सरचना, कृषि-पण्यों की कीमतों, भूमि नीति तथा उधार सुविधाओ जैसे अनेक कारकों द्वारा प्रभावित होती हैं। इनका उल्लेख अन्य अध्यायो मे किया जाएगा।

अध्याय ३

जल प्रबन्धन तथा सिंचाई

३.१ परिचय

पादप वृद्धि के लिए उत्कृष्ट जल का सामयिक तथा उचित मात्रा मे समरण परमावश्यक है। पौधो को अकुरण, वृद्धि तथा फलन के दौरान अनेक प्रमुख समयो पर जल की आवश्यकता होती है तथा उत्कृष्ट बीज, उत्तम जुताई, उर्वरक उपयोग तथा पादप-रक्षण जैसे उपाय भी अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त नही कर सकते यदि समय पर जल की पर्याप्त

सारणी ३ १ १९७२ मे वर्षित क्षेत्रो मे वास्तविक तथा सामान्य वर्षा

वर्षा क्षेत्र	वार्षिक वर्षा		वृद्धि या न्यूनता
	वास्तविक	सामान्य	सामान्य का प्रतिशत
	mms. मे	mms मे	%
१. नागालैंड, मनीपुर, मिजोरम, त्रिपुरा	१४२८ १	२०८६ ४	—३२
२ उप हिमालयीन पश्चिमी बगाल	१८८३ २	२६७१ ६	—३०
३ बिहार (मैदानी क्षेत्र)	८४४ ६	१२५६.३	—३३
४. उत्तर प्रदेश (पूर्व)	७७७ ७	१११८ ४	—३०
५ राजस्थान, पश्चिम	२०२.८	३०७.२	—३४
६. राजस्थान, पूर्व	३९७ ३	७२१.८	—४५
७ मध्यप्रदेश, पश्चिम	८०५ १	१०७९ २	—२५
८ स्वराष्ट्र व कूच	२६५.५	५९८ ९	—५६
९. कोकण (गोवा समेत)	१७३६.४	२३२६.५	—२५
१० मध्य महाराष्ट्र	३३५.७	६८३ १	—५०
११. मराठवाडा	३९२.४	७८९ ७	—५०
१२. विदर्भ	६६०.६	११००.६	—४०
१३ तामिलनाडु (पाडीचेरी समेत)	१२१७.१	९५८.३	+२१
१४. केरल	२७३०.२	१५७६.३	+७३
१५. तिलंगाना	६५१.७	९५३ ५	—३३

स्रोत : विज्ञान तथा भू-भौतिकी का कार्यालय, पूना, १९७३. (महानिदेशक की स्वीकृति से)

मात्रा उपलब्ध न हो। जल पौधों का जीवन रक्त है तथा इसका काल-समंजन, इसकी मात्रा तथा समग्र गुणवत्ता कृषि-उत्पादिता के निर्धारण में शक्ति कारक हैं।

३.२ वर्षा तथा इसका वितरण

भारत में वर्षा जल-सभरण का मुख्य स्रोत है और जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, कृषक बुरी तरह प्रकृति की उदारता पर आश्रित हैं। वर्षा अत्यधिक अनिश्चित है तथा सारणी ३.१ में दिए गए वास्तविक एवं सामान्य वर्षा के आंकड़े इस कथन की सत्यता को भली भांति दर्शाते हैं।

सारणी से स्पष्ट है कि भारत में वर्षा केवल अत्यधिक अनिश्चित ही नहीं अपितु इसका वितरण भी बड़ा असमान है। उदाहरणार्थ पश्चिमी राजस्थान जो बहुत कम वर्षा वाला क्षेत्र है उसमें केवल २०.१ cm, वर्षा हुई जबकि सामान्यत: वार्षिक वर्षा ३०.७ cm. होती है। दूसरी ओर उप हिमालयीन पश्चिमी बंगाल में १८८ cm. वर्षा रेकार्ड की गई जबकि सामान्य वर्षा २६७ cm है। यह स्पष्ट है कि वर्षा की दृष्टि से १९७२–७३ का वर्ष अनुकूल नहीं था। देश के अधिकांश भागों में वास्तविक वर्षा सामान्य वर्षा की अपेक्षा ३० से ६० प्रतिशत तक कम हुई है। केवल खाड़ी द्वीपसमूह, तटीय आंध्रप्रदेश, रायलसीमा, तामिलनाडु, दक्षिणी कर्नाटक तथा केरल में वर्षा सामान्य से अधिक हुई है।

वास्तव में वर्षा की अनिश्चितताएँ तथा अपसामान्यताएँ भारत में कृषि के नियमित घटक हैं। प्रतिवर्ष देश का कोई न कोई भाग या तो सूखाग्रस्त (सामान्य से २० प्रतिशत कम वर्षा) होता है या बाढ़ों से पीड़ित होता है। सारणी से स्पष्ट है कि १९७२–७३ वर्ष में देश के अनेक भागों में भयंकर सूखा पड़ा है। यह ध्यान रहे कि जल का अभाव अंकुरण को रोकता है और पौधे को तेजी से बढ़ने नहीं देता। वर्षा की असफलता के कारण अकाल की सी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जिसके बड़े भयंकर परिणाम होते हैं। अत्यधिक वर्षा बाढ़ें लाती हैं, खड़ी फसलों को बहाकर ले जाती हैं, सार्वजनिक सुविधाओं को हानि पहुँचाती हैं, जान-माल को नष्ट करती हैं तथा देश की अर्थव्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्षा का अभाव अथवा अधिकता दोनों ही उत्कृष्ट कृषि के लिए ठीक नहीं।

सारणी ३.२ वर्षा का ऋतु-अनुसार वितरण

क्रमांक	वर्षा ऋतु	अवधि	वार्षिक वर्षा का प्रतिशत
१.	दक्षिण-पश्चिमी मानसून	जून-सितम्बर	७३.७
२.	मानसूनोत्तर	अक्टूबर-दिसम्बर	१३.३
३.	शीत ऋतु अथवा उत्तर-पूर्वी मानसून	जनवरी-फरवरी	२.६
४.	मानसून पूर्व	मार्च-मई	१०.४

स्रोत . सारणी २.४ संक्षिप्त भारतीय कृषि १० वां संस्करण

भारत में वर्षा की एक अन्य विशेषता यह है कि अधिकाश क्षेत्रो मे यह दक्षिण-पश्चिमी मानसून ऋतु की अल्पावधि मे सादित है तथा वर्ष के बृहतर भाग मे यह बहुत ही कम होती है। ऋतुवार वर्षा का वितरण उपरोक्त सारणी ३·२ मे दिखाया गया है। अत: कुल वार्षिक वर्षा के ७० प्रतिशत से भी अधिक वर्षा जून-सितम्बर के चार महीनों में होती है जबकि केवल एक चौथाइ वर्षा वर्ष के शेष भाग में होती है। विभिन्न अवधियो मे वर्षा का यह असमान वितरण समस्या को और भी अधिक विकट बना देता है। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्षा का नियन्त्रण, सग्रहण तथा वितरण सामयिक हो।

वर्षा की अनिश्चितता तथा अपमामान्यता से तात्पर्य केवल वर्षा की मात्रात्मक विभिन्नता या इसकी पूर्ण अनुपस्थिति से ही नहीं बल्कि इसके काल समंजन में विभिन्नताओ से भी है। सफल कृषि के लिए वर्षा कृषि की जल-आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिये जो तापमान, विकिरण, आपेक्षिक आर्द्रता, वात तथा मेटाबोली (उपापचयी) प्रक्रियाओं आदि पर निर्भर है। भारत मे वर्षा अत्यन्त अनियमित है। या तो यह बहुत जल्दी हो जाती है या बहुत देर से आती है और इस प्रकार बहुत से क्षेत्रो मे कृषि सक्रियाओ के समय-विभाग मे गडबड़ी हो जाती है।

उल्लेखनीय है कि राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पश्चिम गुजरात तथा देश के अनेक अन्य भागों में सूखे (सामान्य वर्षा से २० प्रतिशत कम) की प्रायिकता (प्रोबेबिलिटी) ·३३ है अर्थात् प्रत्येक तीन वर्षों मे से एक वर्ष मे सूखा पडने की सम्भावना है। सारणी ३.३ में सर्वभारत आधार पर विभिन्न वर्षों मे हुई वर्षा-परिमाण की तुलना की गई है। वर्षा की अनिश्चितता तथा अनियमितता स्पष्ट है।

सारणी ३.३ अनाज-उत्पादन हेतु वर्षा सूचकाक

वर्षा अवधि	सामान्य	१९६०-६१	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९
ग्रुप II दक्षिण- ,, पश्चिमी मानसून	१००	६४.१४	१०६.६१	६५.५८	८२.८३	१०६.५	८४.५०
,, II मानसूनोत्तर तथा शीत मानसून	१००	१७०.४७	५७.४६	४४.५३	४०.०७	१२३.४६	५६.४
सर्व कृषि भारत वर्ष	१००	१०१.६५	१०४.८०	७४.१०	८३.८३	१०३.००	८६.१४

स्रोत : सारणी ३, १९६८-६९ फोर्ड प्रेन्स प्रोडक्शन, 'मौसम का सापेक्षिक योगदान और नवीन औद्योगिकी' रैल्फ. डब्लू. कमिन्स।

सारणी ३.३ पर सरसरी तौर से नजर डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि १९६५-६७ अवधि तथा १९६८-६९ वर्ष वर्षा की दृष्टि से प्रतिकूल रहे हैं। १९६५-६६ तथा

१९६६–६७ में भयकर सूखा पड़ा है तथा वर्षा की कमी के कारण खाद्य-उत्पादन में बहुत अधिक कमी हुई है। १९६८–६९ में भी यही अवस्था रही और खाद्यान्न-उत्पादन १९६७–६८ के ९.५०५ करोड टन की अपेक्षा १९६८–६९ मे ९.४०१ करोड टन हो गया।

समस्या के उचित स्वरूप को समझने के लिए निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक है -

'सामान्य वर्षा' का अभिप्राय उस वर्षा से है जो **सामान्य मौसम परिस्थितियों** मे प्रत्याशित है अर्थात् जिसकी एक विशिष्ट अवधि में क्षेत्र द्वारा सामान्यत: प्राप्त होने की सम्भावना है। यह याद रखना चाहिये कि सामान्य वर्षा का अर्थ सामान्य परिस्थितियों मे अधिकतम कृषि-उत्पादन के लिए वर्षा की सामान्य आवश्यकता नहीं है।

भारत मे कृषीय उद्देश्यो के लिए वर्षा के वितरण का अध्ययन हम नेट कृषिगत क्षेत्र का वर्षण-परिमाणानुसार वर्गीकरण भी कर सकते हैं। सारणी ३.४ मे नेट बोये गए क्षेत्र को तीन वर्गों मे बाँटा गया है।

(१) अधिक वर्षा का क्षेत्र (११५० mms अथवा अधिक)
(२) मध्यम वर्षा का क्षेत्र (७५०mms से ११५०mms)
(३) न्यून वर्षा का क्षेत्र (७५० mms से कम वर्षा)

सारणी ३ ४ वर्षा अनुसार क्षेत्र का वर्गीकरण

वर्षा	उच्च वर्षा (११५० mms तथा अधिक)	मध्यम वर्षा (७५०–११५० mms)	न्यून वर्षा (७५० mmsसे कम)	कुल क्षेत्र
नेट बोया गया क्षेत्र (करोड हैक्टर मे)	४ १७ (३० २%)	४ ९३ (३५.७%)	४.७१ (३४ १%)	१३.८१ (१००%)

स्रोत सारणी २.६ संक्षिप्त भारतीय कृषि १०वां संस्करण, १९७०.

३.३ कृत्रिम सिचाई सुविधाओ के विकास की आवश्यकता

देश के १३ ८१ करोड हैक्टर कृषिगत क्षेत्र मे से लगभग ४ १७ करोड हैक्टर भूमि मे औसत ११५०mm. तथा अधिक वर्षा होती है। ४.९३ करोड हैक्टर क्षेत्र मे औसत ७५०mm से ११४९mm तक वार्षिक वर्षा होती है। लगभग ४.७१ करोड़ हैक्टर भूमि मे ७५० mm (७५ सम या ३०") से भी कम वर्षा होती है और इसका एक बड़ा भाग "शुष्क क्षेत्र" (ड्राई एरिया) कहलाता है। अत: इस निम्न वर्ग के क्षेत्र का कुछ भाग ऐसा है जो दीर्घस्थायी सूखाग्रस्त है। उच्च वर्षण क्षेत्रो (रीजनस ऑफ हाई प्रेसीपिटेशन) मे वर्षा का वितरण इतना असंतोषजनक है कि कुछ एक क्षेत्र 'शुष्क क्षेत्र' कहे जा सकते हैं। इन क्षेत्रों में फसल उत्पादन को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि कृत्रिम सिचाई सुविधाओं का विकास किया जाए तथा कृषि के लिए जल की नियमित प्राप्ति हो। सिंचाई **एक अनिवार्य प्राथमिक निविष्टि है और इसका विकास कृषि संवृद्धि के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।** देखना यह है कि जल की प्रत्येक बूंद का अधिकतम लाभ उठाया जाए। कृषक

को आवश्यक समय पर पर्याप्त मात्रा में जल की प्राप्ति होनी चाहिये ।

जहाँ तक अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों का सम्बन्ध है, ६० प्रतिशत से भी अधिक वर्षा मानसून ऋतु मे सांद्रित होती है और शीतकाल तथा पिछले महीनों मे प्राप्य आर्द्रता दुहरी या बहु-फसल के लिए पर्याप्त नही । अत: कृषि-उत्पादन मे वृद्धि तथा दुहरी व बहुफसलो के समर्थन हेतु संपूरक सिंचाई अत्यावश्यक है । दूसरी ओर विशेष जलाशों (पर्टिकुलर मोइस्चर कनटेंट्स) के अनुरूप उपयुक्त फसलों तथा शस्य-स्वरूपो के विकास के लिए अनुसंधान कार्य का प्रोत्साहन भी आवश्यक है । कृषि-रूपांतरण एक विशाल कार्य है और इसके लिए सतत प्रयासों की आवश्यकता है ।

जल जीवन का स्रोत है । परन्तु अनियन्त्रित जल जान-माल की काफी हानि कर सकता है । इसके अतिरिक्त बाढें, भू-क्षरण, लवणता एव जल क्लांति (सेम) उत्पन्न करती हैं तथा भूमि-उत्पादिता व जल की उत्कृष्टता को बुरी तरह से हानि पहुँचाती हैं । बाढ-सभावित क्षेत्र का अभी तक तथ्यात्मक सर्वेक्षण नही किया गया । परन्तु ऐसा अनुमान है कि भारत मे लगभग १.६ करोड हैक्टर क्षेत्रफल बाढ-सभावित है जिसमे से लगभग ६० लाख हैक्टर क्षेत्र प्रतिवर्ष बाढ से प्रभावित होता है । प्रतिवर्ष बाढ द्वारा प्रभावित होने वाला शस्य-क्षेत्र लगभग २० लाख हैक्टर है । आसाम, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा पश्चिम बगाल जैसे कुछ राज्यो में बाढ-समस्या ने विकट रूप धारण किया हुआ है तथा इन क्षेत्रो की बाढ के प्रकोप से रक्षा करने के लिए कडे उपायों का उपयोग करना चाहिये । इन उपायो मे बाँध, पुश्तों तथा जल निकासी नालियो का निर्माण तथा उन्हे सुदृढ करना, गाँवो को बाढ-स्तर से ऊपर उठाना, नगर-रक्षण-योजनाएँ तथा अन्य बाढ-नियन्त्रण कार्यक्रम मुख्य हैं ।

रोचक बात यह है कि एक सम (cm) वर्षा एक हैक्टर भूमि पर लगभग १०० टन जल फेंकती है । बहुत कम भूमियां इस सारे जल का अवशोषण कर सकती हैं । वर्षा सामान्यत: उस समय होती है जब भूमि कृषिगत होती है तथा अपरदन की बहुत अधिक संभावना होती है । जोर से गिरती वर्षा की बूँदें मृदा को ढीला करती हैं तथा इसको लघु कणो मे तोड देती हैं । जैसे ही भूमि संतृप्त होती है, पंक अपवाह (मडी रन ऑफ) आरम्भ हो जाता है । मृदा उन क्षेत्रों से बहती है जहाँ जैव पदार्थ तथा उर्वरक सांद्रित होते हैं । इस प्रकार जल का अनियन्त्रित प्रवाह अपने साथ लाखों टन उर्वर-मृदा बहा ले जाता है जिससे वर्तमान फसलो को भारी हानि होती है तथा आगामी फसलो के उपज-विभव (यील्ड पोटेन्सियल) में स्थायी कटौती हो जाती है । जल एक प्रमुख प्राकृतिक संसाधन है परन्तु इसके उचित नियन्त्रण तथा प्रबन्ध द्वारा ही इसका अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है । भारत मे कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि जल तथा मृदा-संसाधनों का पूर्ण विकास तथा उपयोग हो ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि देश में अनुमानित सिंचाई-विभव के ४५ प्रतिशत का ही अभी तक उपयोग हो पाया है । लगभग ४.२ करोड हैक्टर मीटर भूपृष्ठ तथा भूमिगत जल का सिंचाई हेतु दोहन करना अभी शेष हैं । विकसित होने पर ये संसाधन ४.५ करोड़ हैक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई कर सकेंगे । संक्षिप्ततः हमारा सकल सिंचाई-विभव लगभग ८.२ करोड़ हैक्टर भूमि की सिंचाई आवश्यकताओ को ही पूरा कर सकता है, जो कि

हमारी वर्तमान कृषिगत भूमि का केवल ६० प्रतिशत है। तब भी कुल कृषिगत भूमि का ४० प्रतिशत से अधिक भाग सिंचाई से वंचित रहेगा और भारतीय कृषक को इस क्षेत्र में अनिश्चित वर्षा की दया पर निर्भर रहना होगा। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि वास्तविक सिंचित क्षेत्र साधारणतः निर्मित विभव से कम होता है। सारणी ३.५ वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करती है।

सारणी ३.५ विभिन्न स्रोतों द्वारा सिंचित क्षेत्र

स्रोत	निवल सिंचित क्षेत्र (लाख हैक्टर में)
सरकारी नहरों द्वारा	१०२ ६७
निजी नहरों द्वारा	१०.६८
हौजों/तालाबों द्वारा	४५ ७०
कुओं द्वारा (नल कूपों सहित)	९४.७८
अन्य स्रोतों द्वारा	२०.७५
कुल (निवल) सिंचित क्षेत्र	२७४.७८ (२.७५ करोड हैक्टर)
निवल कृषिगत क्षेत्र	१३८१.०
कुल निवल कृषिगत क्षेत्र का प्रतिशत	२० प्रतिशत

स्रोत : सारणी २.८ संक्षिप्त भारतीय कृषि १०वाँ संस्करण

यह स्पष्ट है कि भारत में कृषिगत क्षेत्र का लगभग ८० प्रतिशत क्षेत्र सिंचित नहीं है तथा इस समय केवल २० प्रतिशत क्षेत्र के लिए ही सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इस लघु सिंचित क्षेत्र को भी पूर्ण जल संभरण सुनिश्चित नहीं है। यह भूलना नहीं चाहिए कि मुख्य सिंचाई तथा भूपृष्ठ जल सग्रह वर्षा पर निर्भर करता है तथा नलकूप (जो सबसे अधिक सुनिश्चित स्रोत माने जाते है) भी उस अवधि में जब तापमान अधिक होता है तथा वायु तेज होती है, नहरी क्षेत्र की सिंचाई-आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। मुक्त बहाव तथा खुली खाई वाहन (ग्रेविटी फ्लो एण्ड ओपिन डिच कनवेयेंस) जैसी रूढ सिंचाई रीतियों के अन्तर्गत निर्मुक्त जल (रिलीज्ड वाटर) की केवल आधी मात्रा ही पौधे तक पहुँचती है ऐसा निस्यदन (रिसने सीपेज) तथा वाष्पण में हानि अथवा जल के असंतोषजनक वितरण के कारण होता है। अपर्याप्त भूमि तैयारी, जल-अनुप्रयोग ज्ञान का अभाव, अपव्ययी निकासी प्रणाली आदि ही सिंचाई की अदक्षता के लिए उत्तरदायी हैं।

अतः दक्ष शस्य उत्पादन के लिए दक्ष जल-प्रबन्धन अत्यावश्यक है। सिंचन-विधियों को आधुनिक कृषि-विशेषतः इस क्षेत्र में अभिनव तकनीकी परिवर्तनों के संदर्भ में अभिविन्यस्त करने की आवश्यकता है। जल के उपयोग में अधिकतम दक्षता प्राप्त करने के लिए यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि जल की प्रत्येक बूँद का अधिकतम लाभ प्राप्त हो। वैज्ञानिक जल-प्रबन्धन में जल-संभरण, फसल आवश्यकताओं तथा जलवायु-संबंधी परिस्थितियों से संबंधित तथा समय-समजित, होना चाहिये।

३.४ फसलो के लिए जल की आवश्यकता

एक अच्छी फसल उपजाने मे कितने जल की आवश्यकता है ? फसल को कब तथा कितनी बार सिंचाई की जरूरत है ? आधुनिक तकनीकी परिवर्तनों ने जल की मांग को किस हद तक प्रभावित किया है और कौन-सी सिंचन-रीतियां अच्छी उपज प्राप्त कर सकती हैं ? कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जो दक्ष जल-प्रबन्धन से सम्बन्धित हैं। इनमे से कुछ सिंचाई-इंजीनियरिंग के घेरे मे आती है जबकि अन्य का उत्तरदायित्व शस्य-विज्ञानी या मृदा-विज्ञानी पर है। *आधुनिक कृषि मे भू-जल ससाधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए एक* कृषक को अनेक व्यावसायिकों के सचित ज्ञान तथा कौशल को प्राप्त करना होगा। अतः **कृषक का शिक्षण तथा प्रशिक्षण कृषि-उत्पादन के लिए अत्यन्त महत्त्व का है।** फसल की जल आवश्यकताएँ क्या हैं तथा उन्हे कैसे आंका जाय, ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनका समाधान इस क्षेत्र के विशेषज्ञो द्वारा ही हो सकता है। हमारे अध्ययन के लिए निम्न सक्षिप्त विवरण ही काफी है।

पिछले कुछ वर्षों मे, सिंचाई की सकल्पनाओ मे मूलज परिवर्तन हुए है। पहिले ऐसा विश्वास किया जाता था कि सिंचाई 'पौधों के लिए' होती है *परन्तु अब यह धारणा मान्य* नही है। यहां यह जानना रुचिकर होगा कि कुल जल-मांग का केवल एक प्रतिशत ही पौधो के वास्तविक मेटावोली (उपापचयी) प्रबंध (मेटाबोलिक प्रोसेस ऑफ प्लान्ट्स) मे उपयोग होता है। नवीन सकल्पना यह है कि सिंचाई जल-वायु तथा मृदा के लिए है, पौध कारक गौण महत्त्व के हैं। जल मुख्यत. वाष्पन तथा वाष्पोत्सर्जन (इवेपोट्रान्सपाइरेशन) के लिए होता है।

वाष्पोत्सर्जन अर्थात् जल का उपभुक्त उपयोग (कन्जम्पशन यूज ऑफ वाटर) मुख्यतः *जलवायु पर निर्भर है और तापमान, विकिरण, आपेक्षिक आर्द्रता, वात-वेग आदि* मौसम विज्ञान सम्बन्धी कारकों के समाकलित प्रभाव द्वारा प्रभावित होता है। इस वायुमंडलीय मांग को पूरा करने के लिए ही पौधो को जल की आवश्यकता होती है। जल की आवश्यकता कुछ अन्य विशिष्ट जरूरतो को पूरा करने के लिए भी होती है—जैसे भूमि की तैयारी, पौध लगाने तथा निक्षालन (लीचिंग) आदि के लिए। फसल के लिए जल की आवश्यकताएँ, मृदा की जल-धारण-क्षमता अर्थात् क्षेत्र सिंचन दक्षता (क्षमता) द्वारा भी प्रभावित होती हैं।

क्षेत्र सिंचन क्षमता (फील्ड इरीगेशन एफीसियेंसी) मूल क्षेत्र द्वारा सिंचत जल मात्रा तथा जल की अनुप्रयुक्त मात्रा के बीच अनुपात है तथा मृदा की रचना व प्रबन्ध स्तर तथा सिंचन-प्रणाली पर निर्भर है। सिंचाई आवश्यकताओ को निर्धारित करते समय कुल जल आवश्यकता मे से प्रभावी वर्षा तथा ओस से प्राप्य जल मात्रा घटानी पड़ती है।

$$\text{सिंचाई आवश्यकता} = \frac{\text{उपभुक्त उपयोग} + \text{विशिष्ट जरूरतों के लिए जल} - \text{प्रभावी वर्षा व ओस}}{\text{क्षेत्र सिंचन-क्षमता}}$$

नहर-प्रणाली के अन्तर्गत सिंचाई आवश्यकताओं को परिकल्पित करते समय भूमिगत ससाधनों द्वारा किया गया अंशदान कुल आवश्यक मात्रा मे से घटाना पड़ेगा।

(क) सिंचाई समय-समंजन—अच्छी उपज प्राप्त करने के लिए जहां जल की पर्याप्त

मात्रा का प्राप्य होना आवश्यक है वहाँ यह भी जरूरी है कि जल उचित समय पर उपलब्ध हो। अत. उत्तम निष्पादन (बेस्ट परफार्मेंस) के लिए जल की पर्याप्त मात्रा के साथ साथ सिंचाई समय-समजन भी अत्यावश्यक है। इस सम्बन्ध मे निम्न बातें ध्यान रखने योग्य हैं :

(i) फसल को उस समय सिंचाई की आवश्यकता होती है जब संचयी वाष्पन (क्यूमूलेटिव एवोपरेशन) एक विशेष बिन्दु पर पहुँच जाता है। इसके लिए मिट्टी के गुणों तथा फसल के मूल क्षेत्र को ध्यान मे रखा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मूल क्षेत्र (रूट जोन) मे मृदा आर्द्रता के शुष्क होने से बहुत पहले ही फसल की सिंचाई हो जानी चाहिये।

(ii) बलुई मृदा की क्षेत्र सिंचाई क्षमता मटियारी या दुमट मिट्टी की तुलना मे कम होती है तथा इसे बहुल (बार-बार) एवं कम गहरी सिंचाई की आवश्यकता होती है।

(iii) फसलो को जुताई, पुष्पन तथा फलन के समय काफी आर्द्रता की आवश्यकता होती है।

आनुभविक प्रमाण (इम्पीरिकल एवीडेन्स) से यह सिद्ध हो चुका है कि धान की स्थिति मे फसल का लगातार जलमग्न रहना आवश्यक नहीं। यदि सिंचाई ठीक समयो पर की जाए, तो उस जल के ३५ प्रतिशत से इतनी उपज प्राप्त की जा सकती है जिसकी लगातार जलमग्नता के लिए आवश्यकता होती है। फसल को सारा समय जलमग्न रखने की बजाय इसकी सिंचाई उस समय करनी चाहिये जब मृदा मे दरार पड़ना आरम्भ हो। इससे जल-दक्षता मे बहुत अधिक वृद्धि होती है। बचाए हुए जल को और अधिक भूमि की सिंचाई के लिये उपयोग मे लाया जा सकता है। इसलिए यदि सिंचाई ठीक समय पर हो और जल-प्रबन्ध उचित प्रकार से हो, तो जल के व्यर्थ व्यय (अप-व्यय) से बचा जा सकता है। नहरी पानी को आवधिक आवश्यकताओं के अनुसार छोडना चाहिये तथा आयोजको को इन विवरणों से परिचित होना चाहिये। जल के उपयोग मे मितव्ययता (किफायत) अत्यधिक जरूरी है।

(ख) **उच्च कृषि टैक्नोलोजी तथा जल की माँग**—भारत तथा अन्य देशों मे अभिनव प्रयोगो से यह विचार झूठ सिद्ध हो गया है कि कृषि टैक्नोलोजी (शिल्प विज्ञान) के उच्च स्तर के अन्तर्गत अधिक जल की आवश्यकता होती है। कृषि टैक्नोलोजी का उच्च स्तर (अर्थात् अधिक पैदावार वाली किस्म के बीजों, उर्वरको व कीट-नाशी पदार्थों का उपयोग तथा शस्य सम्बन्धी रीतियों का अनुप्रयोग) जल की दक्षता को बढाता है और सिंचाई जल की अपरिवर्तित मात्रा से अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। जल दक्षता प्रति इकाई जल परिमाण उपज है तथा किलोग्राम प्रति मिलीमीटर (कि० ग्रा०एम० एम०) में व्यक्त की जाती है।

साधारणत. लोगो का ऐसा विश्वास है कि कम उर्वरक वाली फसलो की अपेक्षा अधिक उर्वरक वाली फसलो को अधिक जल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार ऐसा विचार है कि अधिक पैदावार वाली किस्म के बीज अधिक पानी की माँग करते हैं। परन्तु आनु-

मविक प्रमाण इन धारणाओं के विरुद्ध हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि यदि जल-प्रबन्ध उचित तथा दक्ष हो तो आधुनिक निविष्टियों द्वारा जल की उसी मात्रा से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। यदि उर्वरक डालने के तुरन्त बाद सिंचाई की जाय तो यह अधिक प्रभावी होगी। अतः आवश्यकता अधिक जल की नही अपितु उर्वरक-अनुप्रयोग तथा सिंचाई के उचित आयोजन की है। अधिक पैदावार वाली किस्म के बीजो के लिए भी अतिरिक्त पानी की आवश्यकता नही है बल्कि जल-प्रबन्धन की दक्ष तकनीक की आवश्यकता है। अधिक पैदावार वाली किस्म की फसलें बोनी तथा अल्पावधि हैं। उनकी प्रतिदिन उत्पादक क्षमता (प्रोडेक्ट एफिसियेन्सी) काफी बढ़ जाती है। प्रतिदिन फसल-वर्धन के लिए आवश्यक जल की मात्रा पहले जितनी ही या कम रहेगी यद्यपि प्रति मिलीमीटर सिंचाई द्वारा उत्पादित अन्न का परिमाण पहले से अधिक होगा। अत जल-प्रबन्ध यथार्थ तथा वैज्ञानिक ढंग से होना चाहिये।

अतलः फसल की जल आवश्यकताओं का निर्धारण करते समय दुहरी तथा बहु फसलो की सभावनाओं तथा अवसरों की अनदेखी नही की जानी चाहिये।

(ग) भूमिगत जल विकास तथा भूपृष्ठ जल विकास कार्यक्रमों का समाकलन—हम अध्ययन कर चुके हैं कि सिंचन-जल दुर्लभ पदार्थ है। भूमि अपेक्षाकृत बहुत अधिक है और प्रमुख प्रायोजनाओं के अन्तर्गत नहरो द्वारा छोड़ा जाने वाला जल बहुत कम है। यहाँ तक कि कृष्य नहरी क्षेत्रो को भी सारा वर्ष सुनिश्चित जल पूर्ति प्राप्य नही, चाहे जल संभरण की अपर्याप्तता का कारण वर्षा का न होना हो या नहरो का आवधिक बन्द होना। उदाहरण के रूप मे बिहार मे कोसी परियोजना की नहरों को मलहरण (डेसटिलिंग) हेतु तीन महीने ग्रीष्म ऋतु मे और पुनः रबी के आरम्भ होने से पूर्व अक्टूबर मे बन्द करना पडता है। दशा को सुधारने के लिए भूमिगत जल सम्बन्धी कार्यक्रमो का इस प्रकार से विकास करना चाहिये कि भूपृष्ठ-जल के अभाव के समय नल-कूप चला कर नहरी सिंचाई की शेष पूर्ति या प्रतिस्थापन किया जा सके। इसी प्रकार अधिक भूपृष्ठ-वाह अथवा मानसून ऋतु मे भारी वर्षा के फलस्वरूप प्राप्त बाढ़ जल का उपयोग भूमि जलभरो (जलभृतों) की पूर्ति करने में किया जा सकता है तथा इन जलभरो से शुष्क ऋतु या सूखे के समय सिंचाई की जा सकती है।

सक्षिप्ततः भूमिगत जल विकास का भूपृष्ठ जल विकास के साथ समाकलन किया जाना चाहिये ताकि आवश्यकता के समय एक कार्यक्रम दूसरे का प्रतिस्थापन कर सके। नहरी क्षेत्र में नल कूपो को एक विशाल ग्रिड में लगाकर इस उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है। चौथी पंचवर्षीय योजना के अनुसार "सिंचाई सुविधाओं का द्रुत विस्तार शस्य प्रतिशतता (इन्ट्रसीटी आफ सोपिंग) को बढाने के लिए अनिवार्य है। इसके साथ-साथ जल-वितरण तथा प्रबन्धन की दक्षता मे सुधार लाने पर भी अधिक जोर देना चाहिये। भू-पृष्ठ तथा भूमिगत जल का समाकलित उपयोग, सचरण तथा वितरण मे हानियों को कम करना, तथा खेतों मे हानियो को घटाने के लिए बेहतर भूमि-तैयारी समस्या के कुछ एसे पहलू हैं जिनके समाधान की अत्यन्त आवश्यकता है।"

३.५ कृषि जल-प्रबन्धन

दक्ष फसल उत्पादन के लिए **भूमि में तथा सतह पर जल के नियन्त्रण तथा व्यवस्था को जल-प्रबन्धन कहते हैं।** दक्ष जल-प्रबन्धन मे फसलों को आवश्यक सुविधाएँ तथा जल इस प्रकार से सुलभ कराया जाता है जिसमें न तो फसलो को हानि हो और न ही भू-क्षरण या भूह्रास हो। पर्याप्ति तथा सामयिक जल-सम्भरण के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वर्षा या सिंचाई का फालतू जल खेत से निकाल दिया जाय। वर्षा का संचारण, सिंचाई, जल-निकास व हस्तातरण तथा बाढ-नियन्त्रण जल-प्रबन्धन कार्यक्रम के अनिवार्य तत्त्व हैं। अतः सिंचाई हेतु आधुनिक जल-प्रबन्धन, नहर-अतर्ग्रहण तथा खेतो पर जल के हस्तातरण, नियमन, मापन, वितरण तथा पर्याप्त एव सामयिक अनुप्रयोग पर निर्मित है तथा अधिकतम फसल उत्पादन और पानी की किफायत को सुनिश्चित करता है। वास्तव मे समरित सिंचाई जल के उपयोग मे किफायत आगामी विकास-कार्यों की आभ्यतरिक विशेषता (बिल्ट इन फीचर) होनी चाहिये। दक्ष जल-प्रबन्धन अत्यधिक निस्यदन (रिसने सीपेज), दोषपूर्ण वितरण या जल-निकास के कारण होने वाली हानियो या अपव्यय को कम करता है और साथ-साथ पर्याप्त मात्रा मे उत्कृष्ट जल का सभरण करता है ताकि भूमि से अधिकतम लाभ उठाया जा सके। अगले पृष्ठो मे हम जल-प्रबन्धन से सम्बन्धित कुछ विशेष समस्याओं का वर्णन करेगे।

(क) *स्थलरूपण तथा प्रवणन*—भूपृष्ठीय अनियमितताएँ ऊँचे-नीचे (ऊबड-खाबड) स्थल तथा अधिक सीधी ढाले, सब सिंचाई की समस्याओ को बढाती हैं। जब भूमि समतल न हो तो सिंचाई लागतें अधिक होती हैं और उपज कम होती है। निचले क्षेत्रो मे बहुत अधिक जल इकट्ठा हो जाता है और पौधो को डुबो देता है। ऊँचे स्थलो पर पौधा को पर्याप्त जल प्राप्त नही होता और उनकी वृद्धि रुक जाती है। इसके अतिरिक्त पृष्ठीय अनियमितताएँ कृषि-क्रियाओ की कार्य-कुशलता मे अवरोध डालती है। गीले स्थल पौधो की वृद्धि तथा परिपक्वता को मद करते है। व्यर्थ जल प्राय क्षारो को सचित करता है जब जल मृदा को सतृप्त करता है तो वायु का बाहर निष्कासन होता है और वात-प्रवाह उत्पन्न होता है जो लाभकारी मृदा जीवाणुओ को मार डालता है। सक्षिप्तत स्थलीय व्याप्ति (स्पोटी कवरेज) अधिक से अधिक स्थलीय उपज ही दे सकती है। अत एक समान व्याप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ऊँचे स्थलो को काटा जाय तथा निचले स्थलो को भर दिया जाय। जब भूमि का उचित रूपण होता है तो प्रत्येक पौधे को एक समान आर्द्रता प्राप्त होती है और फसल एक समान बढती और पकती है।

अत स्थलरूपण भूमि का वह पुनर्वितरण है जो भूपृष्ठीय जल के नियत्रण या निष्कासन की सहायता के लिए किया जाता है। भूमि-रूपण से भारी वर्षा की स्थिति मे जल का प्राकृतिक निकास होता है और कम वर्षा की स्थिति मे भूमि की जल सचायक क्षमता (वाटर स्टोरेज कैपेसिटी) मे सुधार होता है और इस प्रकार फसलों को लाभ होना है।

यथातथ ढलान के अनुरूप भूमि का पुन रूपण सिंचाई जल के लाभकारी उपयोग के लिए जरूरी है। भू-रूपण यान्त्रिक दक्षता मे वृद्धि करता है और भू-ढलान के ठीक होने की

स्थिति में श्रम आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं ।

अधिक उपज प्राप्त करने के लिए आर्द्रता को लेने वाली झाड़ियों को नष्ट कर देना चाहिये तथा कठोर भू-पटल को खोल देना चाहिये ताकि मृदा जल का अवशोषण तथा संचय कर सके। एक समान जल वितरण के लिए चिकनी मंद ढाल का होना आवश्यक है। भू-रूपण तथा प्रवणन स्थलीय अनियमिनताओं को दूर करते हैं तथा अधिक अथवा कम सिंचाई को निरस्त करते हैं। परन्तु उत्तम परिणाम प्राप्त करने के लिए भूमि रूपण के साथ-साथ उचित जुताई, उत्कृष्ट रोपण तथा जल का विश्वस्त अनुप्रयोग आवश्यक है।

(ख) **जल-निकास तथा जल-विन्यास**—यह बड़ा आवश्यक है कि वर्षा या सिंचाई से फालतू भूपृष्ठ जल को सुरक्षित रूप से ठिकाने लगाया जाए या क्षेत्र से हटा दिया जाए, नहीं तो यह मृदा का क्षरण करेगा, फसलों को हानि पहुँचाएगा अथवा क्षारता तथा लवणता को उत्पन्न करेगा। अवशिष्ट जल (टेल वाटर) अप-व्ययित या व्यर्थ जल की निशानी है। जल-निकास तथा विन्यास का आयोजन जल-प्रबन्धन का अनिवार्य तत्त्व है। फालतू जल को खेतों से निकाल कर नालियों के पीछे ताल-तलैयों मे संचित कर लेना चाहिये ताकि बाद मे उपयोग में लाया जा सके। ऐसे जलाशयों से शुष्क ऋतुओं में खेतों के लिए विश्वस्त जल-संभरण की व्यवस्था की जा सकती है। ऐसे जलाशय अग्नि-सुरक्षा तथा मन बहलाने के स्थलों के रूप में भी उपयोगी है (चित्र २)। इन सुविधाओं का आयोजन स्थल-रूपण के साथ-साथ किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में टैरेस प्रणाली ढलान को कम करती है। अतिरिक्त जल टैरेस के सिरों की ओर बहता है जहाँ से यह वनस्पति-सुरक्षित या घासवाली जल-नालिकाओं मे प्रवाहित किया जाता है और खेत से निकाल दिया जाता है। भू-क्षरण नियन्त्रण के अतिरिक्त ये जलमार्ग सूखे घास के अच्छे स्रोत है। टैरेसें मृदाह्रास को कम करती है और अधिक गहन कृषि प्रणाली को बढावा देती हैं।

साधारण नियम यह है कि जल-निकास के सुधार में भूमि के मूल्य अथवा सिंचाई एव जल-निकास के मूल्य के दुगुने के बराबर धनराशि को सफलता से निवेशित किया जा सकता है।

(ग) **जल-निस्सरण तथा जल-वितरण**—यह ध्यान देने योग्य बात है कि वाष्पोत्सर्जन मे उपयोग होने वाला जल ही फसल को उत्पन्न करता है। अन्य सब लोप या हानि, चाहे वह रिसने के कारण हो या खेतों मे जल-निस्सरण के फलस्वरूप, अवाञ्छनीय हैं और उनसे बचा जाना चाहिये। यह बड़ा आवश्यक है कि जल का उपयोग दक्षता से किया जाय तथा फार्म-स्तर पर जल के वितरण का प्रबन्ध प्रभावपूर्ण ढंग से हो।

जल अनुप्रयोग की वर्तमान प्रणाली अर्थात् खुली खाइयों तथा नालियों द्वारा जल ले जाने की मुक्त जल प्रणाली (ग्रेविटी सिस्टम) अपव्ययी ही नहीं, बल्कि इसकी अनेक सीमाएँ भी हैं। उदाहरणार्थ उन खेतों तक नालियों द्वारा पानी पहुँचाना सम्भव नहीं है जो जल स्रोत के स्तर से ऊँचे हैं। नालियाँ और बंध लगभग दस प्रतिशत भूमि ले लेते हैं जो अन्यथा कृषि के लिए उपयोग में लाई जा सकती है। ये जल मार्ग प्रायः कच्चे होते हैं, फलत हानियों को रोका नहीं जा सकता। उनका अनुरक्षण खर्चीला है तथा वे कई रुकावटें

उत्पन्न करते हैं। इन कमियों पर काबू पाने के लिए तथा हानियों को कम करने के लिए सिंचाई जल को खुली नालियों की बजाय दबे हुए नलो या पाइप लाइनों द्वारा पहुँचाया जाना चाहिये।

जल के अभाव, जल-ससाधनो के प्रतिकूल वितरण तथा उनके अल्प उन्नयन (लो एलीवेशन) आदि के कारण आधुनिक सिंचन-रीतियों को अपनाना आवश्यक हो गया है। भूमि में जल का यथार्थ नियंत्रण बडा महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में यथार्थ जल-नियंत्रण (प्रिसाइज वाटर कन्ट्रोल) सिंचाई-प्रबन्ध में एक नई कला है। खेत में सब पौधों के लिए सिंचाई जल का नियंत्रण कृषि उपज में काफी वृद्धि कर सकता है और इस प्रकार, भूमि श्रम तथा जल की बढ़ती हुई लागतों के संदर्भ में उच्च सिंचाई प्रतिफलों की कुंजी है। पृष्ठीय विधियाँ जैसे बन्द थाले, सीमांत पट्टियाँ, खूडे, नालियाँ, द्वार वाली पाइप नालियाँ तथा छिडकाव यत्र आदि भूमि पर जल के दक्ष अनुप्रयोग को सुनिश्चित करती हैं।

सुवाह्य (पोर्टेबिल पाइप लाइन) जल की बचत करते हैं तथा सिंचाई को आसान तथा कम खर्चीला बनाते हैं। एलूमीनियम मिश्रधातु के बने हुए ये नल कठोर, मजबूत तथा हल्के होते हैं। इन्हे एक खेत से दूसरे खेत मे बडी आसानी से ले जाया जा सकता है और किसी भी स्थल को जल दिया जा सकता है। इस प्रकार एक छोटी पाइप से ही सारे खेत की प्रभावपूर्ण ढंग से सिंचाई की जा सकती है। नल-प्रयोग से लवणों द्वारा भूमि का बिगाड, निस्यदन तथा अति-सिंचाई (ओवर इरीगेशन) आदि दोष उत्पन्न नही होते। जल स्रोतो से ऊपर के तल के खेतो की भी सिंचाई की जा सकती है। समायोज्य सिंचन-द्वारों से फिट किए हुए नल खेत मे जल का सम वितरण कर सकते हैं। ये द्वार हाथ द्वारा 'पूर्ण बन्द' या 'पूर्ण खुले' की स्थिति मे फिट किए जा सकते हैं। द्वारों द्वारा खूडों तथा थालों मे पानी दिया जा सकता है। द्वार वाले नलो के प्रयोग से श्रम की बचत होती है। ये नल परिवर्त्य बल युग्मो (फ्लेक्सिबल कपल्स) से युग्मित किए जा सकते हैं।

सिंचाई-विधि का चयन करते समय भूमि, फसल तथा फार्म की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिये। पिछले कुछ वर्षों मे इस्राईल, अमरीका तथा युरूप में छिडकाव-सिंचाई (स्प्रिंकलर्स इरीगेशन) ने वहाँ के कृषि-विकास मे काफी सहायता की है। इस प्रणाली मे जल को पम्प किया जाता है तथा नालियो मे से दाब के अन्तर्गत ऊपर उठाया जाता है। नलो मे पूर्वनिर्धारित स्थानों पर छिडकाव यंत्र फिट किए होते हैं चित्र ४। यह विधि बलुई, ढालू, उथली, उबड-खाबड भूमि या उन भूमियो के लिए जहाँ निस्यदन (सीपेज) अधिक होता है और हल्की सिंचाई की आवश्यकता है, बडी उपयुक्त है। वास्तव मे इस विधि ने सिंचन-प्रणाली मे एक क्रांति ला दी है। इससे न तो जल व्यर्थ जाता है, न जलाक्रांति (सेम) या लवणता उत्पन्न होती है। यह बेहतर अंकुरण, अधिक तेज और समान वर्धन तथा अधिक उपज मे सहायक है। छिड़काव सिंचाई-प्रणाली द्वारा किसी भी फसल पर उर्वरकों तथा फार्म रसायनों का दक्ष तथा प्रभावपूर्ण अनुप्रयोग किया जा सकता है। इस विधि में एक सरल नियन्त्रण द्वारा उर्वरक साधित्र (फर्टीलाइजर एप्लीकेटर) को छिडकाव नल से जोडा जाता है तथा इसमे एक दाब ताल का प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली द्वारा उर्वरको की बचत होती है और तुरन्त अनुक्रिया होती है। ये तंत्र किराया-खरीद

योजनाओं (हायर परचेज स्कीम्स) द्वारा सुलभ करवाए जा सकते हैं। सिंचन-पद्धति तभी लाभकारी तथा सफल हो सकती है जब यह कृषक तथा फार्म की आवश्यकताओं के अनुरूप ढली हो।

३.६ शुष्क क्षेत्रों मे जल-प्रबन्धन

उन क्षेत्रो मे जहाँ न विश्वस्त सिंचाई की व्यवस्था है और न ही पर्याप्त वर्षा होती है, जल-प्रबन्धन का विशेष महत्त्व है। शुष्क क्षेत्रों मे प्राकृतिक वर्षा जल का एक मात्र स्रोत है और मुख्य उद्देश्य इसका अधिक से अधिक सदोहन करना, सधारण करना तथा सबसे अच्छे तरीके से उपयोग करना है। अनिश्चित व न्यून वर्षा वाले क्षेत्र 'शुष्क क्षेत्र' कहलाते है तथा शुष्क खेती (ड्राई फार्मिंग) वह पद्धति है जिसमें उत्तम मृदा-जल प्रबन्धन तथा मृदा-आर्द्रता के दक्ष उपयोग द्वारा न्यून वर्षा वाले क्षेत्रों में कृषि फसलें उपजाई जाती हैं।

अपर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्रों में कृषि उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि विशिष्ट नमी की मात्रा के अनुकूल उपयुक्त शस्यों तथा शस्य-स्वरूपों के विकास हेतु अनुसन्धान किया जाए। कहने का अभिप्राय यह है कि शुष्क क्षेत्रो मे समग्र कार्यक्रम मृदा, जलवायु, स्थलाकृति अथवा वर्षा-स्वरूपो के अनुरूप ढालना पडेगा। यहाँ आर्द्रता का संधारण एव सरक्षण जल-प्रबन्धन कार्यक्रम का अनिवार्य अश होगा। इस सदर्भ मे निम्न सुझाव उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं :—

(i) यदि वर्षा होने से पहले भूमि को जुती हुई अथवा कृष्ट अवस्था (कल्टीवेटेड कन्डीशन) मे छोड दिया जाए तो अतः स्पदन (इनफिल्ट्रेशन) सुगम हो जाता है।

(ii) वर्षा का जलाशय बना कर या पलवारो व प्रतिबन्धो मे प्रेरित अत स्पदन (इन्ड्यूस्ड इनफिल्ट्रेशन) द्वारा अथवा घासपात हटाकर सरक्षण या सधारण किया जा सकता है।

(iii) अनुकूल मौसमो मे साफ सुथरी जुताई तथा जल-प्रसार द्वारा आर्द्रता-सरक्षण सम्भव है।

(iv) तालो तथा अन्य जल पृष्ठों से वाष्पन को कम करने के लिए कदम उठाए जाए ताकि वाष्पन हानियाँ न्यूनतम हो।

यह ध्यान रखने योग्य है कि शुष्क क्षेत्रो मे लघु सिंचाई, सिंचाई का एक मात्र साधन है और इसके विकास को उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इन क्षेत्रों मे भूमिगत जल-ससाधनों के सर्वेक्षण, अन्वेषण तथा विकास करने की आवश्यकता है ताकि अधिक से अधिक क्षेत्र पर कृषि की जा सकें।

जल-सधारण की समस्या के साथ ही भू-क्षरण या भू-अपरदन की समस्या भी बद्ध है। आधुनिक फार्म-प्रबन्धन मे क्षरण को रोकने, फसलों के उपयोग के लिए, आर्द्रता धारण के लिए तथा भूमि की उर्वरता बनाए रखने के लिए भूमि-रक्षण अत्यावश्यक है। सम्मोच कृषि (कनटूर फार्मिंग), भूमि संरक्षी तथा पट्टीदार खेती, पशुचरण तथा चरागाहें बनाना, वृक्षारोपण, ताल निर्माण, टैरेस–रचना, पथान्तर निर्माण (डाइवर्सन कन्सट्रक्शन), खुली तथा टाइल दार नालियाँ, भूमि-समतलन तथा जल-प्रबन्धन ऐसी महत्त्वपूर्ण रीतियाँ हैं जो जल-सधारण के कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रयोग मे लाई जाती हैं। नदी घाटी वाह क्षेत्रों के

लिए भी भू-सरक्षण कार्यक्रमो की आवश्यकता है। वाह क्षेत्रो मे से मल तथा अवसाद (तलछट) का अत्यधिक बहाव-सचायक जलाशयों की जीवनावधि को कम करता है। जलाशयो, नदियो तथा तालो का अवसादन चिन्ता का विषय है और वाह क्षेत्र मे भू-क्षरण के कारणों को दूर करने के लिए उचित उपाय अपनाने की आवश्यकता है।

३.७ सिंचाई विकास-कार्य की प्रगति

देश मे औसत वार्षिक नदी प्रवाह की दृष्टि से कुल भूपृष्ठ जल-ससाधन १,६८,००० करोड घन मीटर हैं जिनमे से केवल ५६,००० करोड घनमीटर (३३ ३ प्रतिशत) का ही उपयोग किया जा सकता है। उपयोग्य भूपृष्ठ जल से लगभग ६ करोड हैक्टर भूमि को सीचा जा सकता है। मार्च १९७४ के अन्त तक सिचाई की बडी, मझली और छोटी परियोजनाओ द्वारा ३ २ करोड हैक्टर भूमि को सीचने की ही व्यवस्था हो सकी है। इस प्रकार लगभग २६,००० करोड घन मीटर जल को उपयोग मे लाना बाकी है।

अनुमान है कि लगभग २२,००० करोड घनमीटर भूमिगत जल (ग्राउंड वाटर) का भी सिचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है परन्तु अभी तक इस उद्देश्य के लिए १३,००० करोड घनमीटर जल का ही सदोहन किया गया है।

उपरोक्त विवेचन मे यह स्पष्ट है कि भूपृष्ठ तथा भूमिगत जल द्वारा लगभग ८ २ करोड हैक्टर क्षेत्र की सिचाई की जा सकती है परन्तु अभी तक लगभग ४.५ करोड हैक्टर भूमि को सीचने की ही व्यवस्था है जो कुल विभव का ५४.९ प्रतिशत है। इस दिशा मे पिछली चार पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे हुई प्रगति का विवरण इस प्रकार है।

(क) *पहली पचवर्षीय योजना में सिचाई*—*पहली पचवर्षीय योजना* के आरम्भ होने से पूर्व अर्थात् १९५०–५१ के अन्त मे भूपृष्ठ जल से केवल ९७ लाख हैक्टर भूमि को सीचा जा सकता था (जो कुल क्षमता (विभव) का १६ प्रतिशत है) तथा भूमिगत जल से कुल सिचित क्षेत्र १२९ लाख हैक्टर था जो कुल विभव का ५९ प्रतिशत था। इस प्रकार १९५०–५१ के अन्त में २२६ लाख हैक्टर की सिचाई के लिए जल-संसाधनो का सदोहन किया जा चुका था जो कि चरम लक्ष्य (अल्टीमेट टारजेट) का २७.६ प्रतिशत था।

देश के जल तथा भू-ससाधनो का सुबद्ध विकास इसकी अर्थव्यवस्था के लिए मूलभूत महत्व रखता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्मित कार्यक्रमो को उच्च प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिये। प्रथम योजना मे इस बात पर जोर दिया गया था कि जल-ससाधनो के उपयोग की योजना राष्ट्रीय आधार पर बनाई जानी चाहिये।

पहली पच वर्षीय योजना सिंचित क्षेत्र को पद्रह या बीस वर्ष मे दुगुना करने की दीर्घावधि योजना की पृष्ठभूमि मे बनाई गई थी। इसलिए सिचाई-कार्यक्रम मे बडी तथा लघु सिचाई स्कीमों में उचित सतुलन रखने की आवश्यकता को अनुभव किया गया क्योंकि ये स्कीमे कार्य तथा गुणो मे एक दूसरे की पूरक है। प्रत्येक क्षेत्र मे उसी प्रकार की स्कीम चालू करनी चाहिये जिसके लिए क्षेत्र मे उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। यहां बडी, मध्यम तथा लघु सिचाई स्कीमों मे अन्तर को समझ लेना चाहिये। पहली योजना की अवधि मे जिन योजनाओं की लागत का अनुमान १० लाख रुपये से कम था, वे लघु सिंचाई स्कीमें मानी गई

थी। चौथी योजना के आरम्भ मे लघु सिंचाई की सीमा १५ लाख रुपये थी जो अब मैदानी इलाको मे २५ लाख रुपये तथा पहाड़ी इलाकों में ३० लाख रुपये है। पहली योजना के दौरान १० लाख से ५ करोड रुपये तक लागत वाली स्कीमे मध्यम स्कीमे तथा ५ करोड़ रुपये से ऊपर लागत वाली स्कीमे बडी स्कीमे मानी गई हैं।

बडी तथा लघु सिंचाई कार्यों के अपने अपने सापेक्ष लाभ हैं। बडी स्कीमें अतिरिक्त नदी जल का उपयोग करती हैं, जो अन्यथा व्यर्थ जाता है। वे विस्तृत क्षेत्र को लाभ पहुँचाती हैं, अभाव के वर्षों में निश्चित सरक्षण प्रदान करती हैं और प्राय. बहुत से उद्देश्यो की पूर्ति हेतु डिजाइन की जा सकती हैं। लघु सिंचाई स्कीमों को कम परिव्यय की आवश्यकता होती है, वे शीघ्र फल देती हैं तथा स्थानीय ससाधनों की सहायता से शीघ्रता से कार्यान्वित की जा सकती हैं परन्तु वे सीमित सरक्षण प्रदान करती हैं तथा उन्हे ध्यानपूर्वक अनुरक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक है कि सिंचाई कार्यों को ठीक अवस्था मे रखने की जिम्मेदारी इनसे लाभ उठाने वालो पर हो।

बड़ी तथा मध्यम सिंचाई स्कीमें—पहली योजना में कुल २६७ बडी व मध्यम परियोजनाएँ चालू की गईं जिनमे से १७ पर प्रत्येक पर ५ करोड रुपये से भी अधिक राशि के व्यय का अनुमान था, ५० परियोजनाओं पर प्रत्येक के लिए १ करोड़ से ५ करोड़ रुपये तक का परिव्यय तथा शेष २०० परियोजनाएँ १ करोड रुपये से कम लागत वाली थीं। बड़ी तथा मध्यम सिंचाई स्कीमो पर कुल ४२० करोड़ रुपये व्यय किए गए। इन स्कीमों द्वारा २५ लाख हैक्टर सिंचाई विभव का निर्माण हुआ।

छोटी सिंचाई स्कीमे—छोटी सिंचाई स्कीमों पर ६० करोड़ रुपये व्यय किए गए जिसके फलस्वरूप ७ लाख हैक्टर विभव का निर्माण हुआ।

इस प्रकार १९५५-५६ के अंत तक कुल निर्मित सिंचाई विभव २·५८ करोड़ हैक्टर अर्थात् चरम लक्ष्य का ३१ प्रतिशत था।

पहली योजना के समय भाखड़ा नांगल, दामोदर घाटी योजना, हीराकुड, तुंगभद्रा, काकरपारा, मयूराक्षी और कोसी आदि बहूद्देश्यीय बड़ी परियोजनाओं पर कार्य शुरू हो चुका था और उनमे से कुछ से लाभ भी प्राप्त होने लगे थे।

(ख) **दूसरी पंचवर्षीय योजना में सिंचाई**—दूसरी योजना की अवधि में बडी तथा मध्यम स्कीमों पर ३७२ करोड रुपये व्यय किए गए जिनमें २०२ करोड़ रुपये चालू स्कीमों पर तथा १७० रुपये नई स्कीमों पर व्यय किए गए। सिंचित क्षेत्र मे २२ लाख हैक्टर की वृद्धि हुई। योजना की अवधि में १९५ बडी तथा मध्यम स्कीमे चलाई गईं जिनमे से १७ बडी परियोजनाएँ थी। यहां यह उल्लेख उचित ही है कि ये इन परियोजनाओं पर विभिन्न चरणों मे कार्य होता है तथा अनेक परियोजनाओं को पूरा होने मे १५ से २० साल तक लग जाते हैं। निर्माण से पूर्व सर्वेक्षण तथा खोज बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। पहली दो योजनाओ मे स्कीमो के आकार का ब्यौरा सारणी ३.६ मे दिया हुआ है।

दूसरी योजना की अवधि मे इन स्कीमों द्वारा २२ लाख हैक्टर सिंचाई विभव का निर्माण हुआ।

लघु सिंचाई स्कीमो पर ६५ करोड़ रुपये व्यय किए गए तथा १६ लाख हैक्टर सिंचाई

सारणी ३.६ : पहली दो योजनाओ मे स्कीमों का आकार व उनकी संख्या

अनुमानित लागत	परियोजनाओ की सख्या		कुल
	पहली योजना	दूसरी योजना	
३० करोड रुपये से अधिक	७	—	७
१० करोड रु. तथा ३० करोड रु. के बीच	६	१०	१६
५ करोड ,, तथा १० ,, ,, ,,	४	७	११
१ ,, तथा ५ ,, ,, ,,	५०	३५	८५
१ करोड रुपये से कम	२००	१४३	३४३
कुल	२६७	१९५	४६२
कुल अनुमानित लागत (करोड़ रुपये)	७२०	३८०	११००
संशोधित लागत	७६०	६१०	१४००

स्रोत दूसरी तथा तीसरी पचवर्षीय-योजनाएँ

विभव का निर्माण हुआ । इस प्रकार दूसरी योजना के अंत मे कुल विभव निर्माण २.९२ करोड हैक्टर था ।

(ग) तीसरी योजना में सिंचाई—इन परियोजनाओ मे भारी निवेश किया जाता है । इसलिए इनसे कम से कम समय मे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना बडा आवश्यक है । यह भी देखना जरूरी होता है कि इन परियोजनाओ से होने वाले लाभ जलाक्रान्ति या अपर्याप्त जल-निकास के कारण होने वाले भूमिह्रास द्वारा कम न हो । इसलिए तीसरी योजना मे निम्न प्रकारो की स्कीमो पर बल दिया गया ।

(i) कृषको के खेतो तक अर्थात् खेत नालियो समेत दूसरी योजना की चालू स्कीमो की पूर्ति ।

(ii) जल-निकास तथा जलाक्रान्तिरोधी स्कीमे

तथा (iii) मध्यम सिंचाई परियोजनाएँ ।

तीसरी योजना में बडी तथा मध्यम स्कीमो पर ५८० करोड रुपये व्यय किये गये जिनमे से लगभग ४२० करोड रुपये चालू स्कीमो पर तथा १६० करोड रुपये नई परियोजनाओ पर लगाए गये । नई परियोजनाओ मे ६५ मध्यम स्कीमे तथा पजाब मे व्यास नदी पर संग्रह स्कीमें तथा पडौसी राज्यो की विभिन्न बहु उद्देश्यीय परियोजनाओं के सिंचाई घटकों सम्बन्धी स्कीमे सम्मिलित थी । व्यास नदी परियोजना भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए सिन्धु नदी करार, १९६० के फलस्वरूप बनाई गई । तीसरी योजना मे बडी तथा मध्यम स्कीमो द्वारा २२ लाख हैक्टर सिंचाई विभव का निर्माण हुआ । पहली तीन योजनाओं में बड़ी तथा मध्यम स्कीमो पर होने वाले कुल व्यय का आवंटन इस प्रकार था ।

सारणी ३७ : व्यय का आवंटन

(करोड़ रुपयों में)

अवधि	कुल लागत	व्यय (योजनानुसार)				१९६५-६६
		पहली योजना से पहले	पहली	दूसरी	तीसरी	के बाद होने वाला व्यय
पहली योजना की स्कीमें	७६०	८०	३४०	२०२	१२०	४८
दूसरी योजना की स्कीमें	६१०	—	—	१७०	३००	१४०
तीसरी योजना की स्कीमें	३६४	—	—	—	१६०	२०४
कुल	१७६४	८०	३४०	३७२	५८०	३९२

लघु सिंचाई स्कीमों पर २७० करोड़ रुपये व्यय किए गए तथा इन स्कीमों द्वारा १९ लाख हैक्टर सिंचाई विभव निर्मित हुआ। १९६५-६६ के अंत में सिंचाई क्षमता ३.३३ करोड़ हैक्टर थी जो चरम विभव का ४०.६ प्रतिशत था।

(घ) १९६६-६९ की अवधि में सिंचाई-विकास—वैसे तो चौथी पचवर्षीय योजना का आरम्भ तीसरी पचवर्षीय योजना की समाप्ति पर १९६६ मे ही हो जाना चाहिये था। परन्तु तीसरी योजना की अवधि अनेक दृष्टियों से बड़ी असाधारण रही। सन् १९६२ में चीन से और १९६५ मे पाकिस्तान से हुए संघर्षों के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडा। सन् १९६५–६६ और १९६६-६७ के अत्यधिक कठोर और भयंकर सूखे से कृषि-उत्पादन में भारी कमी हुई। जून १९६६ में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा जिससे समस्या और भी जटिल हो गई। अतः अगले कुछ वर्ष पुन.समजन (रीएडजस्टमैंट) के थे। चौथी पचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप देने मे अन्य दूसरे कारणों से भी विलम्ब हुआ। १९६६–६७, १९६७–६८ तथा १९६८–६९ के लिए वार्षिक योजनाएँ बनाई गईं।

१९६६–६९ की अवधि मे सिंचाई की बड़ी तथा मध्यम स्कीमों पर लगभग ४१४ करोड रुपये का व्यय किया गया। लघु सिंचाई कार्यों पर ३१४. करोड़ रुपये व्यय किए गए। इन वर्षों मे बड़ी तथा मध्यम सिंचाई योजनाओं के अन्तर्गत २० लाख हैक्टर सिंचाई विभव निर्मित किया गया तथा १९६८-६९ के अंत तक कुल सिंचाई-विभव १८६ करोड हैक्टर था। छोटी सिंचाई स्कीमो से ४० लाख हैक्टर और भूमि में सिंचाई के होने का अनुमान था। चालू सिंचाई-कार्यों में हुए ह्रास को निकालने के बाद २३ लाख हैक्टर और भूमि मे सिंचाई होने लगी है। इस प्रकार १९६६-६९ की अवधि में बड़ी, मध्यम तथा लघु सिंचाई योजनाओं द्वारा ४३ लाख हैक्टर सिंचाई-विभव का निर्माण हुआ है। १९६८-६९ के अंत तक कुल सिंचाई विभव ३.७६ करोड हैक्टर था। और इसमे बडी एवं मध्यम योजनाओं का योगदान लघु सिंचाई योजनाओं के योगदान के लगभग बराबर ही था।

१९६६-६९ की अवधि में, लघु सिंचाई के क्षेत्र मे दो दिशाओं मे उल्लेखनीय प्रगति हुई

है। पहली बात यह है कि नलकूपो तथा पंप सैटो पर जो विश्वस्त सिंचाई की सुविधा प्रदान करते हैं, अधिक बल दिया गया है। तीसरी योजना के अंत में कुल ६४००० निजी नलकूप तथा ५,५०,००० पप सैट थे। १९६६-६९ में १६०००० नलकूप और लग गए तथा पंपों की संख्या में ७००,००० की वृद्धि हो गई। इनमें से ५००,००० पंप सैट बिजली से चलाए जाने वाले थे। दूसरी उल्लेखनीय बात का सबध गैर सरकारी नलकूप लगाने तथा सिंचाई सुविधाएँ देने के लिए सस्थागत संसाधनों व वित्त के जुटाने के साथ है। तीसरी योजना मे सस्थागत क्षेत्र द्वारा कुल १०० करोड रुपये लगाए गए जबकि १९६६-६९ मे कृषि-उद्योग निगम (एग्रो-इन्डस्ट्रीज कॉरपोरेशन), भूमि विकास बैंक (लैंड डेवलपमैंट बैंक) तथा कृषि पुनर्वित्त निगम (एग्रीकल्चर रिफाइनेंस कॉरपोरेशन) जैसी सस्थागत एजेन्सियो द्वारा उपरोक्त उद्देश्यो के लिए २०० करोड रुपये से अधिक की राशि सुलभ कराई गई।

(घ) **चौथी पंचवर्षीय योजना में सिंचाई**—पिछली योजनाओ की तरह ही चौथी योजनाओं मे भी सिंचाई-योजनाओं को बहुत महत्त्व दिया गया है। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ मे पडे सूखो ने सिंचाई सुविधाओ के तेजी से विस्तार के प्रति लोगो को और भी जागरूक कर दिया था। इसके अतिरिक्त नए बीजो तथा उर्वरकों से सघन खेती का लाभ भी तभी उठाया जा सकता है जब सिंचाई का पक्का प्रबन्ध हो। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए सिंचाई-कार्यक्रम को योजना मे उच्च प्राथमिकता दी गई।

सिंचाई के सबन्ध मे योजना के कुछ लक्ष्य ये थे :

(i) भूपृष्ठ तथा भूमिगत जल-संसाधनो का सुबद्ध उपयोग एव दक्ष प्रबन्ध

(ii) बड़ी, मध्यम तथा लघु सिंचाई योजनाओ का यथासंभव विस्तार करना विशेषकर उन क्षेत्रो में जिनमे आश्वासित वर्षा तथा सिंचाई-साधनों की अपेक्षाकृत कमी है।

(iii) कुओं तथा नलकूपो को शक्तिचालित करने हेतु ग्राम विद्युतीकरण स्कीमो के साथ लघु सिंचाई कार्यक्रमो को जोडना। ग्राम विद्युतीकरण के विकास के सूचक पप सैटो को शक्तिचालित करना होगा, न कि गांवो मे बिजली लगाना।

(iv) सिंचाई-विभव तथा उसके उपयोग के बीच की समय-पश्चता (टाइम लेग) को और अधिक कम करना।

मुख्य उद्देश्य यही था कि सिंचाई सुविधा प्राप्त भूमियों से अधिकाधिक उत्पादन प्राप्त किया जाय।

सिंचाई संबधी परिव्यय तथा लाभ—पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओ मे लगभग ५५० बडी तथा मध्यम स्कीमें हाथ मे ली गई जिनमे से ७३ बड़ी परियोजनाएँ थी। १९६५-६६ के अत तक लगभग ३०० स्कीमे पूरी हो चुकी थी। शेष पर काम चालू था। चौथी योजना मे सिंचाई की बड़ी, मध्यम तथा लघु स्कीमो पर कुल १४७० करोड रुपये व्यय होने का अनुमान था जिसमे से ४२ करोड रुपये की राशि अनुसधान एवं खोज के लिए रखी गई।

(क) **बड़ी तथा मध्यम स्कीमें**—सभी चालू मध्यम स्कीमों को चौथी योजना की अवधि मे पूरा किया जाएगा। बड़ी परियोजनाएँ जिन पर अब तक काफ़ी खर्च हो चुका है बहुत सी पूरी हो जाएँगी या उनसे लाभ पहुँचना शुरू हो जाएगा। अन्य बड़ी स्कीमें

निर्माण के विभिन्न चरणों में होगी और उनमे से कुछ स्कीमे पाँचवी योजना के प्रथम वर्ष से लाभ पहुँचाना आरम्भ कर देंगी।

बडी तथा मध्यम स्कीमो पर ९५३.८ करोड रुपये के व्यय की व्यवस्था रखी गई है—७७१ ४ करोड़ रुपये चालू स्कीमो के लिए, १४०.४ करोड रुपये नई स्कीमों के लिए तथा ४२ करोड रुपये अनुसधान तथा खोज के लिए।

चौथी योजना मे लगभग ४८ लाख हैक्टर सिंचाई-विभव का निर्माण किया जाएगा जिनमे से ४७ लाख हैक्टर चालू स्कीमों से तथा १ लाख हैक्टर विभव नई स्कीमो से निर्मित किया जाएगा। उपयोग लगभग ३९ लाख हैक्टर होगा। इस प्रकार योजना के अत तक बड़ी तथा मध्यम योजनाओं द्वारा निर्मित कुल सिंचाई-विभव २ ३३ करोड हैक्टर हो जाएगा।

(ख) लघु सिंचाई स्कीमें—कृषि क्षेत्र मे लघु सिंचाई कार्यों पर ५१५.७ करोड रुपये के परिव्यय का अनुमान है—५०१.५ करोड रुपये राज्यो मे, ६.२ करोड रुपये सघ शासित क्षेत्रो में और ८ करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा।

सरकारी क्षेत्र के परिव्यय का अधिकाश भाग राज्य सरकारों, पंचायती राज्य सस्थाओं *अथवा अन्य प्राधिकरणों द्वारा सामुदायिक निर्माण-कार्यों पर खर्च किये जाने की व्यवस्था* है। इन कार्यों मे जलाशय, नलकूप, नदी पंपिंग-परियोजनाएँ तथा नदियो के मार्ग बदलने की योजनाएँ शामिल हैं जिनमे उन छोटे किसानों को लाभ पहुँचेगा जो अपने लिए सिंचाई की व्यवस्था नही कर सकते। लगभग ६० करोड रुपये छोटे किसानो को आर्थिक सहायता तथा तकावी देने के लिए रखे गए। वाणिज्यिक बैंकों सहित सस्थागत क्षेत्र द्वारा लघु सिंचाई पर लगभग ६५० करोड़ रुपये लगाए गए और कृषको द्वारा अपने ही साधनो द्वारा लगभग ३०० रुपये करोड की पूँजी लगाई गई।

ग्राम-विद्युतीकरण के लिए ४४४ ६९ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गई। क्योंकि ग्राम-विद्युतीकरण की प्रगति का मापदड गावो मे बिजली लगाने की वजाय पप सैटो को शक्तिचालित करना होगा। इसलिए पप सैटो तथा नलकूपो को बिजली देने का पुरजोर कार्यक्रम बनाया गया जिसके अन्तर्गत १२ लाख ५० हजार पप सैटों तथा नल कूपो को शक्ति-चालित किया जाएगा।

सरकारी क्षेत्र मे ग्रामीण विद्युतीकरण निगम (रूरल इलेक्ट्रिफिकेशन कॉरपोरेशन) स्थापित करने के लिए १५० करोड रुपये के परिव्यय की व्यवस्था की गई जिसमे केन्द्र ४५ करोड़ रुपये की धनराशि लगाएगा। यह निगम विशेषत. कम विकसित क्षेत्रो मे सिंचाई-पंप सैटो को बिजली से चलाने के लिए राज्य विद्युत् बोर्डों को ऋण देगा। इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण विद्युत् सहकारी सस्थाओं को गठित करने की भी योजना है जिन्हे *ग्रामीण विद्युत् निगम द्वारा ऋण दिया जाएगा। निगम द्वारा ऋण दी जाने वाली* राशि से लगभग ५००,००० पप सैटो को बिजली मिलेगी।

योजना मे लघु सिंचाई स्कीमो से ४८ लाख हैक्टर और भूमि मे सिंचाई होने का अनुमान है। चालू सिंचाई कार्यों मे हुए ह्रास को निकालने के बाद शुद्ध ३२ लाख हैक्टर और भूमि मे सिंचाई होने लगेगी। इसके अतिरिक्त २४ लाख हैक्टर पूर्व सिंचित क्षेत्र मे सिंचाई को अधिक सुनिश्चित बनाया जाएगा।

विभिन्न योजनावधियों के दौरान सिचाई के विकास से सम्बन्धित कुल व्यय तथा सिंचाई की प्रगति सारणी ३·८ में दर्शायी गई है ।

सारणी ३·८　विभिन्न योजनाओं के दौरान सिंचाई के विकास पर व्यय तथा सिंचाई विभव का विकास

अवधि	व्यय (करोड़ रुपये)			निर्मित विभव (लाख हैक्टर)			संचयी विभव
	बड़ी तथा मध्यम स्कीमें	लघु स्कीमें	कुल	बड़ी तथा मध्यम सिंचाई	लघु सिंचाई	कुल	
आयोजनापूर्व	....	....	....	९७	१२९	२२६	—
पहली योजना (१९५१–५६)	४२०	९०	५१०	२५	७	३२	२५८
दूसरी योजना (१९५६–६१)	३७२	९५	४६७	२२	१२	३४	२९२
तीसरी योजना (१९६१–६६)	५८०	२७०	८५०	२२	१९	४१	३३३
वार्षिक योजनाओं के दौरान (१९६६–६९)	४१४	३१४	७२८	२०	२३	४३	३७६
चौथी योजना (१९६९–७४)	९५४	५१६	१४७०	४७	३२	७९	४५५
१९५१-७४	२७४०	१२८५	४०२५	१३६	९३	२२९	
चौथी योजना के अन्त में कुल निर्मित विभव				२३३	२२२	४५५	←

अभी तक लघु सिंचाई स्कीमों के अन्तर्गत निर्मित २२२ लाख हैक्टर सिंचाई विभव में से भूमिगत जल द्वारा १३० लाख हैक्टर तथा भूपृष्ठीय जल से ९२ लाख हैक्टर की सिंचाई हो सकेगी । आशा है कि सिंचाई हेतु शेष जल-संसाधनों का विकास लगभग २० वर्षों में पूरा हो जाएगा । यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है पिछले २३ वर्षों की योजनावधि में सिंचाई-विभव लगभग दुगुना हो गया है राज्यानुसार सिंचाई-विभव इस प्रकार है ।

२३३ लाख हैक्टर के निर्मित सिंचाई विभव में से आजकल २०९ लाख हैक्टर क्षेत्र में ही सिंचाई की जा रही है और इस प्रकार २४ लाख हैक्टर विभव का उपयोग करना शेष है ।

पाँचवी योजना में सिंचाई के लिए २६८१ करोड़ रुपये के परिव्यय का अनुमान है ।

३·८ आयकट (नहरी क्षेत्र) विकास

बड़ी बड़ी सिंचाई परियोजनाएँ पिछले कुछ वर्षों में कृषि-उत्पादन स्तरों में हुई वृद्धि का मुख्य साधन रही हैं । भारत में इस समय लगभग १·८ करोड़ हैक्टर क्षेत्र बड़ी या मध्यम

सारणी ३.९ : राज्यानुसार सिंचाई-विभव

(१९७३–७४ के अन्त तक) (लाख हैक्टर)

क्र. राज्य	बडी तथा मध्यम	लघु	कुल
१. आन्ध्र प्रदेश	३०.५	२१.०	५१.५
२. आसाम	१ ५	४.५	६.०
३. बिहार	२८.५	१७ ०	४५.५
४ गुजरात	९.०	१२.०	२१ ०
५. हरियाणा	१०.०	५ ०	१५.०
६ जम्मू व कश्मीर	०.८	०.६	१.४
७. केरल	५ ०	२.७	७ ७
८. मध्य प्रदेश	१२ ५	८.६	२१.१
९. महाराष्ट्र	१० ५	१४ ५	२५.०
१०. मैसूर	८ ०	८.०	१६.०
११. नागालैंड	—	—	—
१२. उडीसा	१४.५	८.०	२२.५
१३. पजाब	२२ ५	१४ ५	३७.०
१४. राजस्थान	१२.५	१६.५	२९.०
१५. तामिलनाडु	१५ ०	२१.०	३६.०
१६ उत्तर प्रदेश	४०.०	६२.१	१०२ १
१७ पश्चिमी बगाल	१२.५	७.५	२० ०
कुल	२३३ ३	२२३.५	४५६.८

स्रोत : चतुर्थ पचवर्षीय योजना

सिंचाई-परियोजनाओ से लाभान्वित हो रहा है। इन परियोजनाओं पर काफी बडी राशि इस उद्देश्य हेतु व्यय की जाती है कि सिंचाई के लाभ अधिक से अधिक क्षेत्र तथा अधिक से अधिक कृषकों तक पहुँचाये जा सकें। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की अवधि मे बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओ पर लगभग ९५४ करोड़ रुपये के कुल परिव्यय का अनुमान था जिसके फलस्वरूप लगभग ४७ लाख हैक्टर सिंचाई-विभव का निर्माण हुआ। सिंचाई-विभव के निर्माण तथा उपयोग का विवरण सारणी ३.१० में दिया गया है।

सारणी ३ १० बडी तथा मध्यम सिंचाई-स्कीमों से लाभ लाख हैक्टर (कुल)

	चरम सिंचाई	आयोजना से पूर्व की स्कीमे	१९६८–६९	१९७३–७४
विभव	४५६	९७	१८६	२३३
उपयोग	४५६	९६	१७०	२०९

स्रोत : चौथी पचवर्षीय योजना

बड़ी नदी घाटी परियोजनाएँ बहुत अधिक सिंचाई-विभव निर्मित करती हैं। यह बहुत जरूरी है कि परियोजना के निर्माण के साथ-साथ परियोजना के अन्तर्गत आने वाली नदी या नहरी क्षेत्र का भी विकास किया जाए ताकि विभव की उत्पत्ति के साथ ही सिंचाई-सुविधाओं का उपयोग भी हो सके। निर्मित विभव के प्रभावी उपयोग में विलम्ब बहुमूल्य संसाधनों का अत्यन्त अपव्यय है तथा कृषि-विकास की गति को धीमा करता है।

सिंचाई राज्य विषय है और इस पर सारा परिव्यय राज्य की योजनाओं के अन्तर्गत ही समायोजित करना होता है। सामान्य धारणा यह है कि विभव के निर्मित होने के तुरन्त बाद सिंचाई का विकास स्वतः हो जाएगा। परन्तु सामान्यत. ऐसा देखा गया है कि विभव के निर्माण के बाद उसके प्रभावी उपयोग में लगभग पाँच या छह वर्ष का समय लग जाता है। जल के प्राप्त होने तथा उसके सिंचाई हेतु वास्तविक उपयोग के समयों में पश्चता (लैग) इन क्षेत्रों की मुख्य समस्या है। इस समय-पश्चता को न्यूनतम कर देना चाहिये। इन क्षेत्रों के कृषि-विकास का कार्य परियोजना निर्माण-कार्य के साथ ही आरम्भ होना चाहिए और दोनों कार्यक्रमों के अधिकारियों के बीच निकट सम्बन्ध होना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो नदी क्षेत्रों का विकास परियोजना की समग्र स्कीम तथा डिजाइन का भाग होना चाहिये ताकि निवेशों से पूर्ण लाभ उठाया जा सके।

सिंचाई-सुविधाओं के निर्माण के साथ ही उनके उपयोग के लिए क्षेत्रों को तैयार करने हेतु मृदा, स्थलाकृति, शस्य-स्वरूपों तथा सिंचाई सुविधाओं के अनुरूप नालियों तथा निकास-नालियों का जाल निर्माण करना जरूरी है। फार्म पर सिंचाई सुविधाओं की उपयुक्त डिजाइन तैयार करते समय भू-समतलन तथा भू-रूपण के साथ-साथ भूमिगत तथा भूपृष्ठीय जल-निकास की आवश्यकताओं, भूक्षरण नियन्त्रण तथा बाढ़ जल व तलछट (अवसादन) के बाह्य स्रोतों से बचाव का भी ध्यान रखना होगा। यह काम स्थानीय प्रशासन या जल-उपभोक्ताओं की संस्था द्वारा स्थानीय स्तर पर किया जा सकता है। इस उद्देश्य के लिए उधार तथा तकनीकी सलाह सरकार द्वारा दी जानी चाहिये।

आयकट (अर्थात् क्षेत्र) विकास कार्यक्रम में बीज, उर्वरक (खाद), उपस्कर, पदार्थ तथा उधार के संभरण जैसी सुबद्ध सेवाओं को उपलब्ध कराने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। तुंगभद्रा, नागार्जुन सागर, कोसी तथा राजस्थान नहर-परियोजनाओं के अन्तर्गत कुछ चुने हुए नहरी क्षेत्रों में आयकट विकास स्कीमों पर कार्य किया जा रहा है और इस दिशा में उत्साहजनक प्रगति हुई है। सड़क, भण्डारगृह तथा विपणन (कॉम्प्लैक्स) जैसी सहायक सुविधाओं का निर्माण केन्द्रीय क्षेत्रक की स्कीमों में किया जा रहा है। इन उपायों द्वारा विभव-निर्माण तथा उसके उपयोग में अन्तराल को कम करने में सहायता मिलेगी।

३.९ सिंचाई-दरों का निर्धारण

जल-दरों का निर्धारण एक जटिल समस्या है और इसका समाधान वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिये। सरल तर्क यह है कि सिंचाई जल के उपयोग की दरें ऐसी होनी चाहियें जो इसको उपलब्ध कराने की लागतों को पूरा करें ताकि सिंचाई-प्रणाली घाटे पर कार्य न करे जैसी कि भारत में वर्तमान स्थिति है। फिर भी विकास के आरम्भिक चरणों में ये प्रणालियाँ घाटे पर ही चलेंगी क्योंकि निर्माणाधीन बड़ी परियोजनाओं पर निवेश का ब्याज

खर्च काफी होता है तथा उसकी अनुरक्षण तथा संचालन-लागतें भी अधिक होती हैं। उदाहरणार्थ परियोजना मूल्यांकन संगठन (प्रोजेक्ट इवेल्यूएशन ऑरगनाइजेशन) ने अनुमान लगाया है कि तुंगभद्रा-परियोजना के निर्माण के लिए प्रति एकड़ वार्षिक तुल्यमान लागत (एनूअल इक्विवॉलेन्ट कॉस्ट पर एकर) ४६.५७ रुपये है जबकि 'बारह मासी', 'आर्द्र' तथा 'हल्की' सिंचाई के लिए प्रभार दरें क्रमशः ३२ रु०, १६ रु० तथा ८ रु० प्रति एकड़ हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत मे सिंचाई-दरें बहुत अधिक आनुतोषिक (आर्थिक सहायता प्राप्त सब्सीडाइज्ड) हैं जिनके कारण सरकारी खजाने को भारी घाटा हो रहा है। चालू वार्षिक घाटा लगभग ८१ करोड़ रुपये का है।

सारणी ३.११ वाणिज्यिक सिंचाई कार्यों तथा बहुमुखी नदी घाटी-परियोजनाओं के सिंचाई भागो पर हानि का अनुमान

(१९६८-६९) करोड रुपयो मे

वाणिज्यिक सिंचाई				बहुमुखी नदी घाटी-परियोजनाएँ				
प्राप्ति	कार्यकारी व्यय	ब्याज	हानि	प्राप्ति	कार्यकारी व्यय	ब्याज	हानि	कुल हानि
३८.७	३३.४६	५३ ८०	४८.५३	७.९१	९.३९	३० ९५	३२ ४३	८०.९६

स्रोत चौथी पचवर्षीय योजना (प्रारूप)

प्रश्न उठता है कि जहाँ तक जल-दरो का सम्बन्ध है, आर्थिक सहायता या उपदान (सब्सीडाइजेशन आर सबसिडी) कहाँ तक उचित है। यह याद रखना चाहिये कि सिंचाई-सुविधाएँ केवल नहरी क्षेत्रो या सिंचाई-प्रणाली के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रो के लोगो तक ही सीमित हैं। अत. उचित यही है कि इन्ही लोगो को इनकी कीमतें देनी चाहिये तथा शेष समुदाय पर इसका भार नही पड़ना चाहिये। सरकार की ओर से किसी निविष्टि के समर्थन मे आर्थिक सहायता के उपदान का औचित्य तभी है यदि निविष्टि की उत्पादिता कम हो तथा सरकार इस समर्थन द्वारा उस निविष्टि का उपयोग बढाना चाहती हो। परन्तु ऐसी नीति के विपक्ष मे कहा जा सकता है कि कीमतो का इस प्रकार न्यूनीकरण अनुसंधान द्वारा उत्पादिता बढाने के आधारभूत उद्देश्य को ओझल कर देता है। इसके साथ-साथ न्यून उत्पादिता वाली कृषि, जिसमे अधिक कीमतो वाली निविष्टियों का उपयोग हो, आर्थिक रूपातरण मे कोई बड़ा योगदान नहीं देती। इसलिए सारा प्रयत्न उत्पादिता को बढाने की ओर होना चाहिये। हाँ, यदि निविष्टियो का उत्पादन अधिक कार्यकुशलता से किया जा सके, तो उनकी कीमतें कम कर देनी चाहिये। कृषक आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए तथा इस नीति को उचित ठहराने के लिए निविष्टियो के प्रतिफल का अव-प्राक्कलन (अन्डर एस्टीमेशन) करते हैं। दूसरी ओर नीति-निर्धारकों द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त निविष्टियों से प्राप्त होने वाले प्रतिफलो का अधि-प्राक्कलन (ओवर एस्टीमेशन) हो सकता है जिसका परिणाम यह होगा कि कृषि को दुर्लभ ससाधनो की अत्यधिक मात्रा देनी पड़ेगी।

यद्यपि कृषि उपज की कीमतें बढ़ गई हैं और पिछले कुछ वर्षों में कृषक सिंचित क्षेत्रो से अधिक लाभ प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु जल-दरों मे सम्मेय या सदृश वृद्धि (कमेन्सुरेट

इन्कीज़) नहीं हुई है। हमारे विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जल-दरों में उपरिमुखी संशोधन की आवश्यकता है जिससे मूल्यह्रास-प्रभार पूरा करने के साथ-साथ पूंजी पर भी कुछ ब्याज प्राप्त हो सके। सिंचाई-सेवाओं तथा अन्य सुविधाओं की कीमतें उनकी सीमांत लागतों के बराबर निर्धारित की जानी चाहिये। इससे कृषकों को सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं का पूर्ण उपयोग करने में प्रोत्साहन मिलेगा।

दूसरा मत यह है कि जल-दरें, कृषक को जल के उपयोग से प्राप्त अतिरिक्त निवल के उपयुक्त प्रतिशत के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिये या जल दर सिंचित फसल से प्राप्त कुल प्रतिफल की उचित प्रतिशत होनी चाहिये। इसके लिए सिंचाई के विभिन्न साधनों से भिन्न-भिन्न फार्मों तथा भिन्न-भिन्न फसलों के लिए जल के सीमांत प्रतिफलों (मार्जिनल रिटर्नस) का परिकलन करना पड़ेगा। यह ध्यान रखने योग्य है कि जल की समान मात्रा से भिन्न-भिन्न फसलों या भिन्न-भिन्न फार्मों से भिन्न-भिन्न निवल प्रतिफल प्राप्त होंगे क्योंकि भिन्न-भिन्न फसलों के भिन्न-भिन्न अभिलक्षण होते हैं।'

जल से सीमांत प्रतिफल—विशिष्ट निविष्टियों के सीमांत प्रतिफल उत्पादन तथा निविष्टियों के कुल मूल्यों के बीच फलनिक सम्बन्धों (फक्शनल रिलेशनशिप) को ज्ञातकर परिकलित किए जा सकते हैं। जल के साथ प्रति हैक्टर कुल प्रतिफल का सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए कुछ प्रयास किए गए हैं। अतिरिक्त निवल हितलाभ के आवश्यक आंकड़े लगातार इकट्ठे किए जाने चाहिये तथा विभिन्न फसलों के लिए जल के सीमांत फतिफल ज्ञात करने के उपरांत जल दरों का प्रत्येक पांच या सात वर्षों में संशोधन करना चाहिये।

१९६६–६७ में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'कुओं द्वारा सिंचाई' से सम्बन्धित एक अध्ययन से यह पता चला है कि प्रति हैक्टर कुल प्रतिफल में विचरण का २६ प्रतिशत अनुप्रयुक्त जल के परिमाण तथा संगत पूरक निविष्टियों के कारण हुआ है। सम्बन्ध से ज्ञात होता है कि एक घन मीटर अतिरिक्त जल तथा संपूरक निविष्टियों के फलस्वरूप कुल प्रतिफल में ०·१६ रु० की वृद्धि हुई। जल की लागत तथा उसके सीमांत उत्पाद-आय में अनुपात सारणी ३·१२ में दिखाए गए हैं।

सारणी ३·१२ अलीगढ़ जिले के १४१ फार्मों में जल की लागत तथा सीमांत उत्पाद आय में अनुपात (१९६६–६७)

सिंचाई का साधन	जल के लिए सीमांत उत्पाद-आय (प्रति घन मीटर)	प्रति घनमीटर जल की लागत	सीमांत उत्पाद-आय तथा लागत में अनुपात
	रुपये	रुपये	
सरकारी नल कूप	·०६	·०३३	२·१
निजी नल कूप	·०६६	·०२२	४.१
रहट	·०३१	·०७५	२:५

स्रोत : टी० बी० मूर्ति 'जिला अलीगढ़, भारत में कूप-सिंचाई का तुलनात्मक अध्ययन' प्रासंगिक पत्र सं० २६.
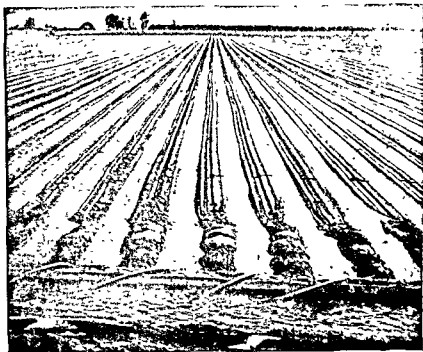
चित्र 1

यथार्थतम जल नियंत्रण : सिंचाई प्रबन्ध मे नवीन कला है'
(लारसो एवं ट्रूम्रो के सौजन्यत)
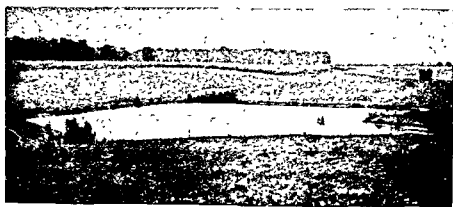
चित्र 2

ऐसे जलाशय 'शुष्क ऋतु में सिंचाई' अग्नि सुरक्षा तथा मन बहलाने के लिये उपयोग मे लाये जा सकते है।
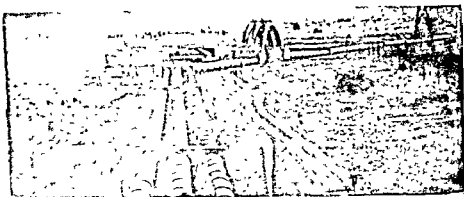
चित्र 3

A pipeline of the Artashat irrigation system in Armenia

(रूस मे सिचाई के लिए पाईपलाईनों का प्रयोग)
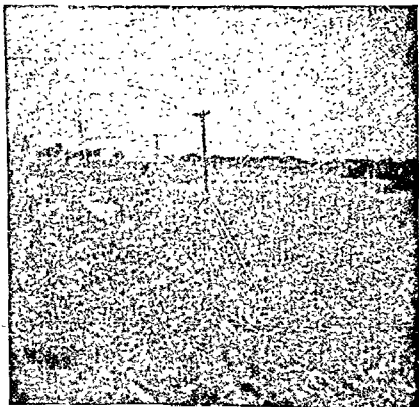
चित्र 4

छिड़काव सिचाई (Sprinkler's Irrigation)

सारणी मे स्पष्ट है कि निजी नल-कूपों के फार्मों पर जल के लिए गुणाक अधिकतम है ग्रपि वे प्रति हैक्टर जल की अधिकतम मात्रा उपयोग मे लाते हैं। इससे पता चलता है कि ल के उत्कृष्ट काल-समंजन तथा नियन्त्रण व अन्य निविष्टियों के प्रचुर उपयोग से प्रतिफल ो जल के उच्च स्तरीय उपयोग पर भी बनाए रखा जा सकता है। निजी नल-कूप कम र्मों पर जल प्रदान करते हैं तथा जल-निविष्टि के उच्च स्तर उपयोग के प्रति शस्य अनु- क्या (क्रॉप रैसपोन्सिवनैस) के आधार पर जल-दरों का उपरिमुखी संशोधन उचित ठहराया जा कता है। इसी प्रकार से सरकारी नल-कूपो द्वारा जल-दरो का थोड़ा-सा उपरिमुखी संशोधन नुचित नहीं होगा। वर्षा, जल आवश्यकता, उपज तथा उपज-मूल्य जैसे कारको को ध्यान रखकर विभिन्न फसलो के लिए जल-दरें भी भिन्न-भिन्न निर्धारित की जानी चाहिये।

जबलपुर जिले से सम्बन्धित एक अन्य अध्ययन मे (श्री वी. पी शुक्ला : एन इकोनो- मक एनालिसिस फॉर फार्म रिसोर्स यूज़, १९६७-६८) सिंचित परम्परागत फार्मों मे सीमांत त्पाद-आय ९७·९३ रुपये थी जबकि सिंचित उन्नत फार्मों मे यह १७२·७१ रुपये थी। सका यह अर्थ है कि परम्परागत कृषक (ट्रेडीशनल फार्मर्स) प्रति एकड़ जल-सिंचाई के लए ९७·९३ रुपये व्यय कर सकते थे। इसी प्रकार प्रगतिशील कृषक १७२·७१ रुपये तक कृषि-सिंचाई पर व्यय कर सकते थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उन्नत फार्मों से परम्परा- त फार्मों की अपेक्षा सिंचाई का प्रतिफल ७६ प्रतिशत अधिक है।

नवीन अध्ययनो से पता चलता है कि सिंचाई-दरें न तो किसी विशेष प्रणाली की ागतो पर आधारित हैं और न ही उनसे प्राप्त लाभों पर, जिससे राज्य को भारी हानि हो ही है। साधारणत सिंचाई-दर फसल तथा सिंचित क्षेत्रफल के अनुसार परिवर्तित होती ! । यह प्रयुक्त जल के परिमाण तथा यह कितनी बार सप्लाई किया गया है, को ध्यान में खकर निर्धारित नही की जाती। जल-प्रभार जल मात्रा के आधार पर निर्धारित होना चाहिये। इससे सिंचाई-जल का अपव्यय न्यूनतम तथा उपयोग इष्टतम होगा। इसके अति- रिक्त सरकार को काफी आय प्राप्त होगी।

आयोजको ने विद्युत् तथा डीज़ल पम्पो द्वारा सचालित लिफ्ट सिंचाई स्कीमों के लिए द्वि भागीय या द्वि अंशीय प्रशुल्क (टू पार्ट टेरिफ) की सिफारिश की है। द्वि भागीय प्रशुल्क क्षेत्रफल के आधार पर नियत प्रभार तथा उपयोग की गई जल की मात्रा तथा सिंचाई की गिनती के आधार पर अतिरिक्त प्रभार दो अंशो से निर्मित है। इसी प्रकार विद्युत् बोर्ड भी वर्तमान प्रशुल्क दरो मे वृद्धि पर विचार कर सकते हैं। उस दशा मे प्रशुल्क, अश्वशक्ति (हॉर्स पावर) के आधार पर नियत प्रभार तथा उपयुक्त ऊर्जा पर अतिरिक्त प्रभार दो अंशों से निर्मित होगा। इससे नलकूप स्वामियों को साथ वाले कृषको को जल बेचने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होगा और नल कूपो के विभवों का बेहतर उपयोग हो सकेगा तथा बिना किसी अतिरिक्त सार्वजनिक निवेश के कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होगी।

अध्याय ४

उर्वरकों का उपयोग

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि कृषिगत क्षेत्र मे विस्तार या भूमि की उत्पादिता मे वृद्धि करके अथवा दोनो उपायो को अपना कर ही की जा सकती है। क्योकि कृषि-हेतु अतिरिक्त प्राप्य क्षेत्र सीमित है, इसलिए अधिक कृषि-उत्पादन सघन तथा बहुफसल कृषि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए निविष्टियो तथा रीतियो के नवीन मिश्रण की आवश्यकता होगी।

हम जानते है कि प्रत्येक फसल के साथ भूमि की उर्वरता घटती जाती है। फसले नाईट्रोजन, फासफोरस तथा पोटाश जैसे आवश्यक पोषक तत्त्व जडों द्वारा प्राप्त करती हैं और इस प्रकार भूमि मे इन तत्त्वो की कमी हो जाती है। सारणी ४ १ मे भिन्न-भिन्न फसलों के फलस्वरूप भूमि मे विभिन्न तत्त्वो की होने वाली न्यूनता दर्शायी गई है।

सारणी ४.१ विभिन्न फसलो द्वारा भूमि से पादप पोषक पदार्थों का अपनयन (रिमूवल ऑफ प्लान्ट न्यूट्रीयेंट्स फ्रॉम सोइल बाइ डिफरेन्ट क्रॉप्स)

फसल	उपज (कि. ग्रा प्रति हैक्टर)	पोषक तत्त्वों के अपनयन की मात्रा (कि. ग्रा. प्रति हैक्टर)		
		नाईट्रोजन (N)	फासफोरस (P_2O_5)	पोटाश (K_2O)
चावल	२८००	३७	१३	६
गेहूँ	२२४०	३५	२२	११
गन्ना	६०३१७	८५	६०	१६०
कपास (लिंट)	१०४	२७	२०	८७
पटसन	११२०-१६८०	११२-२८०	११२-१२३	१६८-२२४

भूमि की उर्वरता को बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि समय समय पर उपरोक्त तत्त्वो की कमी को पूरा किया जाए। यह कमी अकेले गोबर या कम्पोस्ट खाद से पूरी नहीं की जा सकती। इसके अनेक कारण हैं। खाद की प्राप्ति पशु-संख्या अथवा जलवायु एवं मृदावस्था पर निर्भर है। खादो के अनेक वैकल्पिक उपयोग हैं। इनमे पोषक तत्त्वों की प्रतिशतता अति न्यून है और वे पौधों या भूमि की पोषण आवश्यकतओ को पूरा नही कर सकती। उदाहरणार्थ गोबर जो सबसे बढ़िया खाद मानी जाती है, मे नाईट्रोजन की मात्रा ७ प्रतिशत से भी कम है। इसी प्रकार फासफोरस तथा पोटाश की अधिकतम प्रतिशतता क्रमश: ५ प्रतिशत तथा २ प्रतिशत है। यही कारण है कि रासायनिक उर्वरकों (केमिकल फर्टीलाइजर) के उपयोग पर अधिक बल दिया जाता है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि *मृदा-उर्वरता को बनाए रखने के लिए तथा पौधों को* पर्याप्त पोषक तत्त्व देने के लिए उर्वरकों का सामयिक अनुप्रयोग जरूरी है। अतः उर्वरक *उपज मे द्रुत वृद्धि लाने मे बहुत सहायक हैं तथा कृषि-विकास* में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। उर्वरकों की पूर्ति मे विस्तार उत्पादन-दर बढाने हेतु नवीन व्यूहरचना का महत्त्वपूर्ण अंश है। *नए बीज, पादप रक्षण-पदार्थ, फार्म मशीनरी तथा बेहतर जल-प्रबन्धन व सिंचाई-सुविधाएँ* इस व्यूहरचना के अन्य मुख्य घटक हैं। वास्तव मे आधुनिक तकनीकी रीतियाँ तथा निविष्टियाँ अपनी *कार्य-कुशलता* के लिए पादप-पोषक तत्त्वो के विस्तृत उपयोग पर निर्भर हैं। उर्वरको के संतुलित उपयोग से अन्य निविष्टियों की दक्षता मे वृद्धि होती है तथा प्रति हैक्टर उत्पादन बढता है।

कृषि विकास की प्रक्रिया मे उर्वरको का महत्त्व इस तथ्य से ज्ञात होता है कि उनके उपयोग की उत्पादन-अनुक्रिया काफी अधिक है। यदि विभिन्न निविष्टियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों और सबन्धित आवश्यकताएँ तथा सुदृढ भूमि-प्रबन्धन-रीतियाँ व सेवाएँ प्राप्त हो तो प्रत्येक किलोग्राम उर्वरक के उपयोग के फलस्वरूप २८ से ४५ किलोग्राम अतिरिक्त खाद्यान्न की उपज होगी। इससे सिद्ध होता है कि विकास तथा उर्वरक उपयोग मे निकट संबध है।

उर्वरक केवल सिंचित क्षेत्र मे ही उत्पादन को नही बढाते बल्कि बारानी क्षेत्रो (ड्राई एरिया : वर्षाधीन क्षेत्रो) मे भी कृषि-विकास के कार्य मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं। जबलपुर (म. प्रदेश), हजारीबाग (बिहार), कोरापुट (उडीसा), मयूरभंज (उडीसा), अम्बाला (हरियाणा), होश्यारपुर (पंजाब), गया (बिहार), ग्वालियर (म. प्रदेश), धारवार (मैसूर), जयपुर (राजस्थान) जिलो मे बारानी क्षेत्रो मे चावल, गेहूँ, ज्वार, मक्का, बाजरा पर कृषकों के खेतों पर किए गए साधारण उर्वरक-प्रत्यक्षणो के परिणाम काफी उत्साहजनक रहे हैं। इन बारानी क्षेत्रो मे 'सर्वभारत समन्वित शस्य सबधी प्रयोग योजना' के अधीन किए गए प्रयोगों मे उर्वरकों के प्रति विभिन्न फसलो की अनुक्रियाओ का अध्ययन किया गया है। देखे चित्र १ इनमे से कुछ एक अनुक्रियाओ को सारणी ४.२ मे दिया गया है।

सारणी ४.२ बारानी क्षेत्रो में कृषको के खेतों पर N, P, K के लिए फसलों की उपज (१९७१-७२) (कि. ग्रा. प्रति हैक्टर)

फसल	चावल (बाला)	गेहूं (C-३०६)	ज्वार (CSH-१) खरीफ	ज्वार M_3 ५-१ रबी	बाजरा (HB-३)
उर्वरक की मात्रा	(जबलपुर)	होश्यारपुर	(धारवार)	धारवार	जयपुर
O	१०३९	१३६४	१४१८	१४४९	६६१
$N_{५०}$	१८८०	२२३०	२६४९	१९१५	१४४४
$N_{५०}P_{२५}$	२३६५	२६८७	३३७१	२१९७	१६३६
$N_{५०}P_{२५}K_{२५}$	२५१३	२८४५	३४९२	२२९१	१८५५

स्रोत : संक्षिप्त वार्षिक प्रतिवेदन १९७१–७२, अखिल भारतीय समन्वित शस्य विज्ञान सम्बन्धी प्रयोग स्कीम, आई सी ए आर, नई दिल्ली, १९७३.

उपरोक्त प्रयोगों के परिणामो के आधार पर हम कह सकते हैं कि अनेक क्षेत्रों मे विभिन्न फसलो की अनुक्रियाएँ सार्थक है और बारानी क्षेत्रों में भी उर्वरक उपयोग की काफ़ी संभावनाएँ हैं।

४.२ उर्वरकों का उपयोग

उर्वरकों का उपयोग किसी भी देश के आर्थिक विकास के स्तर का एक मात्र सर्वोत्तम सूचक है। उच्चस्तरीय विकसित देशो मे कृषि-उत्पादन का बहुत बड़ा भाग रासायनिक उर्वरको की देन है। विभिन्न देशो में उर्वरको का उपभोग-स्वरूप (कन्जम्पशन पैटर्न) सारणी ४.३ मे दिया गया है।

सारणी ४.३ रासायनिक उर्वरकों का उपभोग (१९७०–७१)

देश	उपभोग कि. ग्रा. प्रति हैक्टर	उर्वरकों का उपभोग अनुपात नाईट्रोजन (N)	फास्फेट (P)	पोटाश (K)
बेल्जियम	३०२	१००	८९	११०
फिनलैंड	१७१	१००	१०४	८१
पू. जर्मनी	२४१	१००	८२	१२०
अमरीका	७१	१००	६०	५३
जापान	३३०	१००	७५	७६
ताइवान	२९५	१००	२८	३९
द. कोरिया	२४१	१००	३५	२३
फिलिपाईन	२२	१००	५८	३२
भारत	१४.६	१००	३४	१६

सारणी ४.३ से स्पष्ट है कि विकसित देशों की तुलना में भारत मे वर्तमान प्रति हैक्टर उर्वरक-उपभोग बहुत ही कम है तथा उर्वरक-उपभोग मे वृद्धि को प्रोत्साहन देने की अति आवश्यकता है। सारणी से यह भी स्पष्ट है कि हमारे देश मे N, P तथा K (नाईट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश) का उपयोग बहुत असंतुलित है। फार्म जांचो से इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि इष्टतम कृषि-उपज प्राप्त करने के लिए उर्वरको का संतुलित उपयोग नितात आवश्यक है। भूमि की उर्वरता को बनाए रखने के लिए फसलो के उत्पादन के फलस्वरूप मृदा के विभिन्न तत्त्वो मे होने वाली कमी को पूरा करना आवश्यक है अर्थात् भूमि की उर्वरता तभी बनाए रखी जा सकती है यदि कम होने वाले सभी पादप-पोषक पदार्थों की पूर्ति की जाए। केवल मात्र एक पदार्थ (जैसे नाईट्रोजन) की कमी को पूरा करना ही काफी नहीं है। पादप पोषक पदार्थों का विलग उपयोग (आइसोलेटेड यूज) फसल एवं मृदा दोनो के लिए हानिकारक है। खाद्यान्नों मे आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उर्वरकों का उचित तथा सतुलित उपयोग होना जरूरी है। सारणी ४.१ तथा सारणी ४.२ का अवलोकन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि हमारे देश मे फास्फेट तथा पोटाश उर्वरको का

उपयोग नाईट्रोजन उर्वरकों की अपेक्षा बहुत ही कम है और उत्पादन-दक्षता में वृद्धि के लिए इस असंतुलन को शीघ्रातिशीघ्र दूर करना चाहिये।

पिछले कुछ वर्षों में उर्वरकों का उपभोग इस प्रकार रहा है।

सारणी ४.४ भारत में उर्वरको का उपभोग

वर्ष	उपभोग (लाख टन)				कुल फसल क्षेत्र	उपभोग
	N	P	K	कुल	लाख हैक्टर	कि. ग्राम प्रति हैक्टर
१९५०–५१	०.५६	०.१४	०.०८	०.८१	१३१९	०.६१
१९५५–५६	१.३०	०.२२	०.१३	१.६५	१४७३	१.१२
१९६०–६१	२.१२	०.७०	०.२०	३.०२	१५२७	१.९८
१९६५–६६	५.४१	१.५६	०.७८	७.७५	१५५३	४.९९
१९६८–६९	१२.२२	३.८२	१.७०	१७.७४	१५५.४	११.४२
१९६९–७०	१३.९७	४.३४	१.७४	२०.०५	१५८.०	१२.६९
१९७०–७१	१५.२९	५.३४	२.५९	२३.२२	१५९.२	१४.६

स्रोत : सारणी १०.१० और १०.१२ से संक्षिप्त भारतीय कृषि दसवां एवं बारहवाँ संस्करण

सारणी ४.४ से पता चलता है कि पिछले इक्कीस वर्षों में (१९५०–५१ तथा १९७०–७१ के बीच) उर्वरको का उपभोग पच्चीस गुणा बढ़ गया है अर्थात् ८१ हजार टन से २३ लाख टन हो गया। परन्तु १४ कि० ग्राम प्रति हैक्टर का यह वर्तमान उर्वरक उपयोग ससार में न्यूनतम में से है।

समस्या का दूसरा पक्ष यह है कि नाइट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश इत्यादि पोषक पदार्थों का घरेलू उत्पादन कुल उपभोग के ५० प्रतिशत से भी कम है और उर्वरक-वितरण तथा उपभोग को बढावा देने के लिए करोड़ो रुपयो के रासायनिक उर्वरको का दूसरे देशो से आयात करना पडता है। सारणी ४.५ स्वत स्पष्ट है :

सारणी ४.५ रासायनिक उर्वरको का उत्पादन तथा उपभोग

(लाख टन मे)

वर्ष	उत्पादन				उपभोग	उपभोग का
	n	P_2O_5	k_2o	कुल		प्रतिशत
१९६७-६८	३.७	२.०	.०१	५.७१	१६.०५	३६%
१९६८-६९	५.५	२.१	.०२	७.६८	१७.७४	४३%
१९६९-७०	७.२	२.२	.०२	९.४२	२०.०५	४७%
१९७०-७१	९.३	२.३	.०२	११.६२	२३.२२	५०%

स्रोत सारणी १० ६ सक्षिप्त भारतीय कृषि 'दसवां संस्करण और चतुर्थ योजना मध्यावधि मूल्यांकन

विभिन्न एजेंसियो तथा अन्वेषकों ने कृषि-उत्पादन के लक्ष्यो को पूरा करने के लिए आवश्यकता पर आधारित (नीड बेस्ड) उर्वरक-उपयोग के लक्ष्यों को निर्धारित किया है तथा

उर्वरक-उपयोग में द्रुत वृद्धि दर की सिफारिश की है। परन्तु ये अन्वेषण कृषकों की वास्तविक माँग पर अधिक प्रकाश नहीं डालते और न ही इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि माँग में वाछित वृद्धि के लक्ष्य को पूरा करने के लिए क्या नीति होनी चाहिये। भारत में उर्वरक-उपयोग के लक्ष्य सारणी ४·६ में दिए गए हैं।

सारणी ४.६ विभिन्न अन्वेषकों द्वारा सुझाये गये उर्वरक-उपयोग की आवश्यकता पर आधारित लक्ष्य (लाख टनो में)

एजेंसी/अन्वेषक	लक्ष्य का सदर्भ वर्ष	N	P_2O_5	K_2O	कुल
यू. एस. ए. आई. डी (USAID)	१९७०-७१	२६.९	१३.४	६.७	४७.०
होल्स्ट (Holst)	१९७१ (उच्च)	२५.०	११ ०	६ ०	४२.०
	(निम्न)	१९.६	८.८	४.३	३२.७
उर्वरक समिति	१९७०-७१	२४.०	१०.०	७.७	४१.७
ब्राऊन	१९७०-७१	२०.८	१०.३	—	३१.१*
खाद्य एव कृषि मत्रालय	१९७३-७४	३७.३	१७.४	११ १	६५ ८
फर्टिलाइज़र एसोसिएशन (भारत)	१९७३-७४	३८.०	१९ ०	९.०	६६.०
यू एस. ए आई. डी	१९७५-७६	४३ ७	२१ ८	१०.९	७६.४
होस्ट	१९७६	३८.८	१९ ६	९.७	६८.१
ब्राऊन	१९७५-७६ (उच्च)	४४ ३	२२.२	—	६६ ५*
	(निम्न)	२९.१	१४.६	—	४३.७

स्रोत : उपरोक्त * उर्वरको के लिए प्रभावी माग

यद्यपि विभिन्न एजेंसियों तथा अन्वेषको द्वारा सुझाये गये लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु हमारे विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पिछले कुछ वर्षों मे कृषक उर्वरको का उपयोग करने मे हिचकिचाता रहा है। यहाँ तक कि अनेक क्षेत्रो मे कृषक अधिक पैदावार वाली किस्मो (जिनकी उर्वरक के अधिक उपयोग के प्रति अनुक्रिया बहुत अधिक होती है) के लिए भी सिफारिश की गई मात्रा से कम उर्वरक उपयोग मे लाते रहे हैं। उर्वरकों के आयात के फलस्वरूप पिछले कुछ वर्षों मे पूर्ति माँग से अधिक रही है। कम उपयोग के कारण कुछ पदार्थों का स्टाक इकट्ठा होता रहा है और अनेक स्थानो पर उर्वरकों की बहुलता रही है। यह स्थिति चिन्ताजनक है और अधिक देर तक नहीं रहनी चाहिये।

सारणी ४·७ मे नाईट्रोजन उर्वरकों के जमा माल (बैक लोग) का भण्डार दर्शाया गया है।

स्पष्ट है कि कृषकों की उर्वरको की प्रभावी माँग केवल पूर्ति से ही कम नही रही अपितु न्यूनतम लक्ष्यो से भी कम रही है। इस असफलता के अनेक कारण हैं। ऋण-सुविधाओं का अभाव, अनुपयुक्त वितरण-प्रबन्ध, सहकारी क्षेत्रक की कमज़ोरी तथा ऊँची लागत–उर्वरकों की प्रभावी माँग की उत्पत्ति के सदमन कारक (इनहीबिटिंग फेक्टर्स) हैं।

सारणी ४.७ नाईट्रोजन उर्वरको का उत्पादन, आयात तथा उपभोग

(लाख टनों में)

वर्ष	उत्पादन	आयात	कुलपूर्ति	उपभोग	बचा माल	कुल जमा माल
१९६०-६१	१.१	१.७	२८	२.१	+०.७	०७
१९६१-६२	१.५	१४	२.९	२१	+०८	१.५
१९६२-६३	१.८	२.५	४३	२.४	+१.९	३.४
१९६३-६४	२२	२.३	४५	३१	+१.४	४.८
१९६४-६५	२.४	२.१	४.५	४.०	+०५	५.३
१९६५-६६	२.३	३.१	५.४	५.४	+०	५३
१९६६-६७	३१	६०	९१	८६	+०५	५.८
१९६७-६८	३.७	८.७	१२४	१०.७	+१.७	७.५
१९६८-६९	५५	८.४	१३.९	१२२	+१७	९२
१९६९-७०	७२	६७	१३९	१४०	—०१	९.१

स्रोत सारणी १०.८, सा० १०.९ तथा सा० १०.१० संक्षिप्त भारतीय कृषि १० वां संस्करण

इन्हे जल्दी से जल्दी ठीक किया जाना चाहिये। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में कृषि-संवृद्धि तथा आर्थिक विकास के प्रोत्साहन के लिए निविष्टि-अनुप्रयोग को बढाना अत्यावश्यक है। उर्वरक-अनुप्रयोग को बढाने के लिए पूरा प्रयास होना चाहिये। यह तभी संभव है यदि कृषक की उर्वरको के लिए मांग में सतत वृद्धि हो।

४·३ उर्वरक उपयोग अर्थशास्त्र

कृषक की उर्वरको की मांग उसके इस निर्णय पर आधारित होती है कि क्या वह उर्वरक उपयोग करे तथा कितना उर्वरक उपयोग करे ? कृषक उर्वरक का अनुप्रयोग तभी करेगा जब वह यह महसूस करे कि ऐसा करना लाभकारी होगा। संक्षेप में उसकी मांग उर्वरक उपयोग से प्राप्त निवल प्रतिफल द्वारा निर्धारित होगी। यदि प्रतिफल काफी तथा निश्चित होगे तो वह उर्वरक उपयोग करने का निर्णय लेगा और इसके लिए प्रभावी माग उत्पन्न करेगा। जितना अधिक प्रतिफल होगा, उतनी ही अधिक उर्वरक की अनुप्रयोग-दर भी होगी।

उर्वरक-उपयोग का प्रतिफल उर्वरक की भौतिक उत्पादिता (अर्थात् उर्वरक उत्पादन फलन) तथा फसल-कीमत व उर्वरक-लागत के बीच सम्बन्ध (अर्थात् निविष्टि–उत्पत्ति कीमत अनुपात) द्वारा निर्धारित होता है। उत्पादन-फलन (अथवा उर्वरक उपयोग के प्रति फसल की उपज अनुक्रिया) फसल–उर्वरक उत्पादन–अनुपात में व्यक्त किया जाता है। उर्वरक–उपयोग से लाभ तथा उसकी अनुप्रयोग-दर फसल–उर्वरक उत्पादन–अनुपात तथा फसल-उर्वरक कीमत-अनुपात द्वारा प्रभावित होते हैं। अतः कृषक के प्रतिफल निम्न बातो पर निर्भर हैं।

(१) उर्वरक उत्पादन फलन अर्थात् उर्वरक-उपयोग के प्रति फसल की उपज अनुक्रिया (यील्ड रेसपोन्स ऑफ क्रॉप टू फर्टीलाईजर यूज)।

(२) फसल की कीमत।

(३) उर्वरक की लागत।

सारणी ४·८ में नाइट्रोजन की विभिन्न मात्राओं के उपयोग के फलस्वरूप चावल की औसत अनुक्रिया दी गई है।

सारणी ४·८ नाईट्रोजन की विभिन्न मात्राओं के लिए रबी की २७ किस्मों की औसत अनुक्रिया (केन्द्रीय चावल-अनुसंधान-संस्थान, कटक १९६९)

नाईट्रोजन मात्रा कि०ग्रा० प्रति हैक्टर	नाईट्रोजन के बिना उपज	N अनुप्रयोग पर औसत उपज	N के प्रति अनुक्रिया	फसल-उर्वरक-उत्पादन-अनुपात
०	२५६८	—	—	—
५०	२५६८	४८६१	२२९३	४५.९
१००	२५६८	६०९५	३५२७	३५.३
१५०	२५६८	६७७८	४२१०	२८.१
२००	२५६८	६६१५	४०४७	२०.२
औसत	२५६८	५३८३	२८१५	२८.२

स्रोत डा० जे० एस० कनवर 'रिलेशनशिप आफ एग्रीकल्चरल सिस्टम्स टु इकोलोजिकल जोन्स इन इण्डिया।'

उर्वरक पर प्रति रुपया निवेश प्रतिफल उर्वरक के अनुप्रयोग से प्राप्त अतिरिक्त उपज के मूल्य (अर्थात् उर्वरक उपयोग से प्राप्त कुल लाभ) को अनुप्रयुक्त उर्वरक की लागत द्वारा विभाजित करके परिकलित किया जा सकता है।

$$\text{प्रति रुपया निवेश प्रतिफल} = \frac{\text{उर्वरक उपयोग से प्राप्त कुल लाभ}}{\text{उर्वरक की लागत}}$$

$$= \frac{\text{उर्वरक से अतिरिक्त उपज} \times \text{फसल की कीमत}}{\text{उर्वरक की मात्रा} \times \text{उर्वरक की कीमत}}$$

$$= \frac{Y_f \times C_p}{F_d \times f_p}$$

$$= \frac{Yf}{F_d} \div \frac{f_p}{C_p}$$

$$= \frac{\text{उर्वरक से अतिरिक्त उपज}}{\text{उर्वरक की मात्रा}} \div \frac{\text{उर्वरक की कीमत}}{\text{फसल की कीमत}}$$

$$= \frac{\text{फसल-उर्वरक उत्पादन अनुपात}}{\text{उर्वरक-फसल कीमत अनुपात}}$$

उर्वरक उपयोग के अर्थशास्त्र को सारणी ४·९ से भलीभांति समझा जा सकता है।

सारणी ४·६ अधिक पैदावार वाली गेहूँ की किस्मों पर उर्वरक उपयोग प्रतिफल

राज्य	उर्वरक मात्रा (N) कि० ग्रा० प्रति हैक्टर	औसत फसल-उर्वरक उत्पादन अनुपात	औसत उर्वरक-फसल कीमत अनुपात	प्रति रुपया निवेश प्रतिफल (उर्वरक औसत मात्रा पर)
उत्तर प्रदेश	५६.०६	२२ ३०:१	३.४६:१	६.३८
पजाब	४२.१४	२४ ६६·१	४ ०४.१	६.०६
मध्य प्रदेश	—	१८ ६७:१	४ ४०:१	४.३१
बिहार	२५.१२	८.६४:१	३ १६:१	२.८२

स्रोत श्यामल राव 'फर्टिलाइजर अप्लिकेशन ऑन एच वाइ वी (इ पी डब्लू दिसम्बर २६, १९७०) पी इ ओ अध्ययन पर आधारित (१९६८-६६)

सारणी ४.६ से स्पष्ट है कि उर्वरको पर **प्रति रुपया निवेश प्रतिफल** केवल फसल-उर्वरक-उत्पादन-अनुपात द्वारा ही प्रभावित नही होता बल्कि उर्वरक-फसल कीमत-अनुपात पर भी निर्भर है। उदाहरणतः उत्तर प्रदेश मे पजाब की अपेक्षा उपज-अनुक्रिया कम है परन्तु *उर्वरक पर प्रति रुपया निवेश-प्रतिफल उत्तर प्रदेश मे पजाब से अधिक है* क्योंकि उत्तर प्रदेश मे कीमत-अनुपात पजाब की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। अत. अनुकूल कीमत-अनुपात तथा अधिक उपज-अनुक्रिया (हायर यील्ड रेसपोन) दोनो के कारण ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होगा और कृषकों को उर्वरक की अधिक मात्रा उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। अतः उर्वरक-अनुप्रयोग की दर मे वृद्धि करने के लिए निम्न उपाय आवश्यक हैं :—

(१) *उर्वरक-फसल कीमत अनुपात को कम किया जाय*

या (२) फसल-उर्वरक उत्पादन अनुपात को बढ़ाया जाए

या (३) उपरोक्त दोनो शर्तें पूरी की जाएँ।

उर्वरक-फसल कीमत अनुपात को कम करने के लिए या तो उर्वरक की कीमत कम करनी पड़ेगी या फसल की कीमत बढानी पड़ेगी। उर्वरक की प्रति इकाई लागत इसकी पूर्ति को बढाकर घटाई जा सकती है। इसके लिए उर्वरक-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करनी पडेगी, बडे पैमाने की किफायतो का लाभ उठाना होगा तथा बेहतर वितरण-सुविधाओं का *प्रबन्ध करना पड़ेगा। सरकार आर्थिक सहायता तथा* अनुदान दे कर उर्वरको को कम कीमत पर बिकवा सकती है और इस प्रकार कृषकों को उर्वरक रियायती कीमतो पर प्राप्त हो सकेगा। परन्तु इस नीति से उर्वरक-उत्पादन पर कुप्रभाव पड सकता है। इसके अतिरिक्त इस नीति मे सरकारी खज़ाने पर अनावश्यक तथा हानिकारक बोझ पड़ेगा। इसलिए समस्या का समाधान घरेलू पूर्ति को बढाने मे ही निहित है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र मे सरकारी नीतियाँ उत्पादन-अभिविन्यस्त (प्रोडक्शन ओरिएन्टेड) होनी चाहिये तथा आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण कार्य में निजी क्षेत्रक के सहयोग को पूरा लाभ उठाना चाहिये। *निजी क्षेत्रक की उपेक्षा उस दिशा मे उचित नहीं ठहराई जा सकती*, जब सरकारी क्षेत्रक आवश्यक उत्पादन करने मे सक्षम न हो। निजी क्षेत्रक को यह शिकायत है "कि सरकारी नीति प्रति-उत्पादन आधारित है तथा निजी क्षेत्रक के और उन कारखानों

को भी जो उर्वरक उत्पादन मे काफी दक्ष सिद्ध हुए है, विस्तार करने की स्वीकृति नही दी जा रही ।"

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कृषक कृषि मे अतिरिक्त निवेश करने के लिए तैयार नही होगा जबतक उसे यह विश्वास न हो कि इस निवेश के फलस्वरूप होने वाले अतिरिक्त कृषि-उत्पादन मे उसे उचित आय प्राप्त हो सकेगी। अधिक उत्पादन से कीमतें कम होने की सम्भावना होती है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए जरूरी है कि काफी देर पहले फसलो की उचित समाहार-कीमतें (प्रोक्योरमैन्ट प्राइसेज) नियत कर दी जावें। इसके लिए दक्ष-क्रय व्यवस्था तथा समाहृत उत्पादन के निकास के लिए उद्यत निकास-सगठन की आवश्यकता होगी।

उर्वरको की दक्षता अर्थात् उर्वरको की उपज-अनुक्रिया, बीज की किस्म, मौसम, कृषि तथा शस्य सम्बन्धी रीतियों, पादप-घनत्व, जल-प्रबन्धन तथा अन्य विशिष्ट कारको द्वारा प्रभावित होती है। इसीलिए अनुसन्धान तथा शिक्षा का बहुत महत्व है। क्षेत्र-प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि यदि गेहूँ पर नाइट्रोजन के कुछ भाग का पर्ण-उर्वरण किया जाए तो अधिक लाभकारी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रमबद्ध अनुसन्धान (सिस्टेमेटिक रिसर्च) उत्पादन की सम्भावनाओ मे उन्नति लाता है। फसल-उर्वरक उत्पादन-अनुपात को बढाने के लिए विभिन्न स्थानीय परिस्थितियो के उपयुक्त (या अनुरूप) उन्नत बीजों की नई किस्मो का विकास करना पड़ेगा तथा विस्तृत अनुसन्धान पर आधारित नवीन विधियो तथा रीतियो को अपनाना पड़ेगा। तभी वर्तमान ससाधनो की उत्पादिता मे वृद्धि की जा सकेगी। इस उद्देश्य हेतु प्रयोग तथा अनुसधान केन्द्रों का देश मे जाल बिछाना पडेगा।

प्रत्येक कृषक किसी विशेष समय पर प्रचलित तकनीकी एवं कीमत सम्बन्धी परिस्थितियो के अन्तर्गत हुए उर्वरक अनुप्रयोग से अधिकतम प्रतिफल प्राप्त करना चाहेगा। इसके लिए इष्टतम दर पर उर्वरण की आवश्यकता होगी। सिद्धातत उर्वरक-उपयोग का प्रतिफल अधिकतम होगा यदि इसका सीमात उत्पादन इसकी लागत के बराबर हो। अत उर्वरण की इष्टतम दर वह दर है जिससे उर्वरक की अन्तिम इकाई का प्रतिफल उसकी लागत के बराबर होता है। यदि उपज अनुक्रिया का मूल्य, फसल की कीमत तथा उर्वरक की लागत ज्ञात हों, तो अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए कृषक उर्वरक की इष्टतम मात्रा की (अर्थात् संतुलन स्तर पर) माँग करेगा। ये इष्टतम मात्राएँ कृषक-फार्मों तथा अनुसधान-केन्द्रों पर किए गए प्रयोगो से प्राप्त आँकडो के द्विघाती अनुक्रियाफलनो (समीकरणो) तथा उपादान-उत्पाद कीमत सम्बन्धो (फेक्टर प्रोडक्ट प्राइस रिलेशनशिप) पर आधारित होते है। अत. विभिन्न अनुक्रिया-समीकरणों व विभिन्न उपादान-उत्पाद कीमत-सम्बन्धों के लिए इष्टतम दरे भी भिन्न-भिन्न होती हैं। यही कारण है कि विभिन्न राज्यो के लिए भिन्न-भिन्न मात्राओ की सिफारिश की गई है आनुभविक प्रमाणो मे यह पता चलता है कि उन्नत किस्मो की स्थिति में भी वास्तविक अनुप्रयोग सिफारिश की गई या इष्टतम मात्रा से बहुत कम रहा है। कई राज्यो मे यह उपयोग एक-तिहाई से भी कम रहा है।

सारणी ४.१० गेहूँ उत्पन्न करने वाले राज्यों में उर्वरक उपयोग

राज्य	नाईट्रोजन की इष्टतम मात्रा (डोज) कि० ग्रा० प्रति हैक्टर	वास्तविक N अनुप्रयोग कि०ग्रा०/हैक्टर
उत्तर प्रदेश	१३५	५६
पंजाब	१२७	४२
मध्य प्रदेश	१४३	उपलब्ध नहीं
बिहार	९१	२५

स्रोत फर्टिलाईजर अप्लिकेशन ऑन एव वाइ वी. (ई.पी.डब्ल्यू. दिसम्बर, २६, १९७०)

उर्वरकों की इष्टतम तथा उपभोग दरों में अन्तर के कारणों का हम अगले परिच्छेद में अध्ययन करेंगे।

४.४ कृषक की प्रभावी माँग

उर्वरक उपयोग की इष्टतम दरें उपज-अनुक्रिया, फसल-कीमत तथा उर्वरक की लागत के परिशुद्ध अनुमानों के आधार पर निकाली जाती है। परन्तु उर्वरक-अनुप्रयोग के समय, चाहे ऐसा मूल खाद देने के लिए किया जाए (बेसल ड्रेसिंग) अथवा फसल में खाद बिखेरने (टोप ड्रेसिंग) के लिए किया जाए, कृषक को ऋतु तथा बाजार की अनिश्चितताओं के कारण उपज-अनुक्रिया या फसल की कीमत का निश्चित रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। उस समय वह केवल उर्वरक की लागत ही जानता है। अत उसकी प्रभावी माँग उसके द्वारा प्रत्याशित उपज अनुक्रिया तथा फसल की प्रत्याशित कीमत पर आधारित होगी। यदि कृषक का उपज-अनुक्रिया के बारे में व्यक्तिनिष्ठ अनुमान कम होगा या फसल का अपेक्षित मूल्य उचित नहीं होगा, तो उर्वरक की माँग भी कम होगी।

एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के आरम्भिक चरणों में प्रभावी माँग इष्टतम दरों में बहुत ही कम होगी क्योंकि केवल अत्यधिक साहसी तथा उद्यमी कृषक ही उर्वरकों का अनुप्रयोग करेंगे। तदनन्तर जब दूसरे कृषकों को भी उर्वरकों के अनुप्रयोग के लाभों का ज्ञान हो जाएगा तो प्रभावी माँग की सतुलन स्तर की ओर वृद्धि होने में प्रवृत्ति होगी। आरम्भ में प्रभावी माँग तेजी से बढेगी और बाद में धीरे-धीरे। इस उद्देश्य के लिए यह आवश्यक है कि कृषकों के खेतों तथा अनुसंधान-केन्द्रों पर बडे पैमाने पर (व्यापक) प्रयोगों तथा निदर्शनों का प्रबन्ध किया जाए। कृषकों को उर्वरक उपयोग में उचित शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने की भी आवश्यकता है। उर्वरक-सवर्धन कार्यक्रम समग्र कृषि विकास कार्यक्रम का मुख्य घटक होना चाहिये। सिंचाई तथा उन्नत बीज जैसी पूरक निविष्टियाँ प्रतिफल को बढाती हैं और इस प्रकार अधिक उर्वरक-उपयोग करने के लिए कृषकों को प्रेरणा देती हैं।

४.५ उर्वरक-उपभोग की अल्प-दर के कारण

उपरोक्त विश्लेषण से उर्वरक के अनुप्रयोग की इष्टतम तथा प्रेक्षित मात्राओं में विसंगति

के कारण स्पष्ट हो जाते हैं । उर्वरक उपभोग की अल्प-दर का निम्न में से कोई भी कारण हो सकता है ।

(१) कृषक द्वारा सफल उर्वरक-उत्पादन-फलनों का न्यून व्यक्तिनिष्ठ अनुमान उर्वरक उपयोग की दर की कमी का कारण होता है ।

(२) यदि कृषकों द्वारा उत्पादित फसलों पर उर्वरक-अनुप्रयोग की अनुक्रिया हल्की होगी तो भी वे उर्वरकों का उपयोग नहीं करेंगे ।

(३) कम सीमांत प्रतिफल भी उर्वरक के उपयोग की अल्प-दर के लिए जिम्मेदार है ।

(४) पूर्ति में कमी, अनुपयुक्त वितरण अथवा वित्त तथा उधार के अभाव के कारण उर्वरकों की अप्राप्ति उनके इष्टतम दर पर अनुप्रयोग में कठिनाइयां खड़ी करती है ।

(५) दोषपूर्ण कृषि-व्यवस्था (जैसे प्रतिकूल पट्टे की शर्तें) उर्वरकों में निवेश में सहायक नहीं होती ।

(६) इसी प्रकार यदि कृषकों को उर्वरक के उपयोग के लिए आवश्यक उचित मात्रा या अनुपात का पर्याप्त ज्ञान नहीं होगा तो भी पूरा लाभ नहीं उठा सकेंगे । कई बार बहुत अधिक मात्रा में उपयोग लाभ की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध हो सकता है ।

उर्वरक अनुप्रयोग की दर को बढ़ाने के लिए उपरोक्त दोषों को दूर करना होगा । इसके लिए बड़े संरचनात्मक परिवर्तन करने होंगे तथा उपयुक्त शस्य-स्वरूप अपनाने पड़ेंगे।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उच्चतम दक्षता प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि संतुलित पोषक तत्त्वों का इष्टतम दरों पर उपयोग किया जाए । भूमि पर उर्वरक-अनुप्रयोग की उपयुक्त मात्रा का अनुमान लगाने के लिए मृदा में उपलब्ध तत्त्वों के विभिन्न परिमाणों को ध्यान में रखना होगा । इसके लिए मृदा नमूनों (सोइल सेम्पिल्स) की जाँच करनी पड़ेगी । मृदा नमूनों का परीक्षण संतुलन के पुनःस्थापन हेतु विभिन्न उर्वरकों के उचित परिमाणों का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक है । मृदा-परीक्षण-प्रयोगशालाएँ उपलब्ध रासायनिक उर्वरकों के आर्थिक तथा दक्ष उपयोग में महत्त्वपूर्ण योग दे सकती हैं । भारत में मृदा-परीक्षण-प्रयोगशालाएँ प्रति वर्ष ७ लाख नमूनों की जाँच कर सकती हैं ।

४.६ सूक्ष्म पोषक तत्त्वों का उपयोग

उर्वरकों के साथ साथ सूक्ष्म पोषक तत्त्वों का उपयोग इस दिशा में नवीन तकनीकी परिवर्तन है । अनेक क्षेत्रों में जस्त (जिंक), मैंगनीज, लोहा, मौलिब्डेनम तथा बोरन जैसे सूक्ष्म तत्त्वों (माइनर एलीमेंट) की कमी ने व्यापक समस्या का रूप धारण कर लिया है । कुछ क्षेत्रों में सूक्ष्म पोषक तत्त्वों का उपयोग उपज को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकता है । भारत में कुछ केन्द्रों पर चाँवल, गेहूँ तथा ज्वार पर किए गए प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनकी सूक्ष्म पोषक तत्त्वों के प्रति अनुक्रिया पर्याप्त है क्योंकि कई परिस्थितियों में ये तत्त्व भूमि की उर्वरता को काफी बढ़ाते हैं । कई मॉडल केन्द्रों पर इन सूक्ष्म पोषक तत्त्वों के अनुप्रयोग से प्राप्त अतिरिक्त उपज ३२०० कि० ग्राम प्रति हैक्टर तक पहुँचा है । निकट

भविष्य मे निर्विष्ट के रूप मे सूक्ष्म तत्त्वों का महत्त्व सारणी ४.११ तथा सारणी ४.१२ मे स्पष्ट है ।

सारणी ४.११ चावल पर जस्त अनुप्रयोग का प्रभाव (उत्तर प्रदेश तराई क्षेत्र)
(क्षेत्र प्रयोग–१९७०)

अभिक्रिया (जिंक सल्फेट) कि. ग्रा. प्रति हैक्टर	पौध ऊँचाई (से. मी.)	प्रति पिंडलक पौधो का शुष्क भार (ग्राम)	उपज प्रति हैक्टर (क्विटल)	
			अनाज	भूसा
नियन्त्रण	७३.१	३९ १	४२.३	१०२.०
२५ कि. ग्रा. पर्ण छिडकाव	८८.७	४८ ८	६१ ०	१०१ ४
२५ ,, ,, मृदा-अनुप्रयोग	९३ ६	४८ ८	६३ ४	१११.५
५० ,, ,, ,,	९७ ०	५३ २	६४ ४	१११ ९
१०० ,, ,, ,,	९१.१	५४.०	६८.५	१२१ ३
२०० ,, ,, ,,	९६.०	५४ २	७४ ८	१२२ २
१५० ,, ,, नर्सरी मे	९९ ८	४१.१	६१ २	११६.५

उत्तर प्रदेश पन्त नगर कृषि विश्वविद्यालय मे किये गये शोध पर आधारित, १९७०

सारणी ४ ११ से स्पष्ट है कि जस्त अनुप्रयोग की चाहे कोई सी भी विधि अपनाई जावे (पर्ण-छिडकाव, मृदा-अनुप्रयोग अथवा नर्सरी मे) , पौध ऊँचाई,प्रति पिंडलक पौधो का भार तथा अनाज की प्रति हैक्टर उपज मे वृद्धि होती है । मृदा मे अनुप्रयुक्त जस्त सल्फेट पर्ण-छिडकाव की तुलना मे बेहतर है क्योकि प्रयोगो से यह सिद्ध हो गया है कि मृदा-अनुप्रयोग के फलस्वरूप अनाज तथा भूसा की उपज अपेक्षाकृत अधिक होती है ।

सर्वभारत समन्वित शस्य सबधी प्रयोग योजना (आल इन्डिया कोआर्डिनेटेड एग्रोनोमिक एक्सपेरीमैंट स्कीम) के अधीन १९६९-७० में १९ केन्द्रों मे गेहूँ पर सूक्ष्म पोषक तत्त्वो का अनुप्रयोग किया गया । अधिकतर अनुक्रियाएं अनुकूल थी । परिणाम सारणी ४ १२ मे दिए गए हैं । सारणी स्वतः स्पष्ट है ।

सारणी ४ १२ मैंगेनीज तथा जस्त के प्रति गेहूँ की अनुक्रिया
(कि ग्रा प्रति हैक्टर) (१९६९-७० रबी)

केन्द्र	नियन्त्रणउपज	प्राप्त उपज			उपज अनुक्रिया		
		NPk	NPk+Mn	NPk+Zn	NPk	Mn	Zn
वाराणसी	१३६८	२६४३	३१६१	३१३७	१२७५	५१८	४९४
कयूलिया फार्म	२५६८	५११२	६५४३	६३६२	२५४४	१४३१	१२५०
पोवए खेड़ा	१४००	३९०८	४३०८	४१५८	२५०८	४००	२५०
तालाब टिल्लू	३२२५	५७७८	६१३७	६६८७	२५५३	३५९	९०९

स्रोत सक्षिप्त वार्षिक प्रतिवेदन १९६९-७० नई दिल्ली

सूक्ष्म तत्वों की न्यूनता वाले क्षेत्रों मे, सूक्ष्म पोषक तत्वों के अनुप्रयोग से मक्का तथा ज्वार की प्रति हेक्टर उपज मे भी वृद्धि की जा सकती है परन्तु बाजरा तथा मूंगफली की फसलों के लिए इनका अनुप्रयोग अनुकूल सिद्ध नही हुआ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्पादन मे वृद्धि के लिए जहाँ नाईट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश इत्यादि उर्वरकों का उपयोग अत्यावश्यक है वहाँ जस्त, मैगनीज, बोरन तथा जिप्सम जैसे सूक्ष्म तत्त्वों का उपयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नही।

४ ७ उर्वरक उत्पादन की संभावनाएँ

सारणी ४ ४ तथा ४ ५ से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि देश मे उर्वरकों और अन्य रसायनों की भारी कमी है। हमारा वर्तमान उत्पादन हमारी आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। पिछले २० वर्षों से देश मे नाईट्रोजन और फास्फेट दोनो प्रकार के उर्वरकों का उत्पादन किया जा रहा है। स्वतन्त्रता के फौरन बाद सार्वजनिक क्षेत्र मे सिन्दरी का उर्वरक कारखाना खड़ा किया गया था। परन्तु बाद मे हमारे स्वावलम्बन के प्रयत्न ढीले पड गए और उर्वरकों के उत्पादन को वांछित प्राथमिकता नही मिली। आज स्थिति यह है कि देश मे पर्याप्त उर्वरक उपलब्ध नही हैं। चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे योजना के अन्त मे रासायनिक खादों की अनुमानित माँग इस प्रकार रखी गई थी : नाइट्रोजन ३७ लाख मीट्रिक टन, फास्फेटी १८ लाख मीट्रिक टन और पोटाशी ११ लाख मीट्रिक टन अर्थात् कुल ६६ लाख टन। जैसे कि सारणी ४ ५ से ज्ञात होता है १९७३-७४ के लिए आवश्यकता के आधार पर उर्वरक-उपयोग का ६६ लाख टन का लक्ष्य सुझाया गया था। योजना को अन्तिम रूप देते समय इन अनुमानों को संशोधित कर दिया गया तथा योजना मे ३२ लाख टन नाइट्रोजनी, १४ लाख टन फास्फेटी और ९ लाख टन पोटासी उर्वरक की खपत का लक्ष्य रखा गया। योजना मे आवश्यकता को पूरा करने के लिए सार्वजनिक, निजी तथा सहकारी क्षेत्रकों मे उत्पादन-क्षमता के निर्माण की भी व्यवस्था करदी गई है परन्तु वर्तमान अनुमान के अनुसार १९७३-७४ के अन्त तक केवल १६ लाख टन नाइट्रोजनी तथा ४ लाख ५० हजार टन फास्फेटी उर्वरक के उत्पादन की संभावना है जो कुल क्षमता के आधे से भी कम है। अत यह आवश्यक है कि देश मे उर्वरकों का उत्पादन बढ़ाने के लिए वर्तमान कारखानों की उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए कदम उठाए जाएँ तथा नए कारखानों की स्थापना की जाए। उर्वरक-संयन्त्रों की क्षमता से कम उत्पादन के मुख्य कारण ये हैं : (क) कच्चे माल अर्थात् जिप्सम और गैस का अभाव (ख) यन्त्रों की खराबी (ग) श्रम-विवाद (घ) बिजली की कमी आदि। निर्धारित क्षमता से कम उत्पादन होने के कारण देश को प्रति वर्ष लगभग १०० करोड़ रुपये से भी ऊपर के उर्वरक बाहर से आयात करने पड रहे हैं।

पाँचवीं योजना के दृष्टिकोण-पत्र के अनुसार १९७८-७९ मे नाइट्रोजन के प्रस्तावित उत्पादन का अनुमान ३९ लाख मीट्रिक टन और फास्फेटी उर्वरक का उत्पादन अनुमान ११ लाख ७५ हजार मीट्रिक टन है अर्थात् १९७८-७९ मे उर्वरकों का उत्पादन १९७३-७४ की अपेक्षा ढाई गुना हो जाएगा। पाँचवीं योजना के ये अनुमान सम्भवतः पिछले वर्षों मे उर्वरकों

के न्यून उपभोग को ध्यान मे रख कर निर्धारित किये गये हैं। वैसे भी ऐसा दिखाई देता है कि सारणी ४.५ मे सुझाये गये कुछ लक्ष्यो को बढ़ा-चढा कर प्रस्तुत किया गया है। परन्तु एक बात साफ है कि हमारा उत्पादन बहुत ही कम है और हमारे कृषक भी उर्वरकों का उपयुक्त मात्रा मे उपभोग नही कर रहे हैं, चाहे उसका कारण कुछ भी हो। कुछ भी हो उर्वरक संयत्रों का विस्तार समय की माँग है।

भारत के उर्वरक सघ के अनुमानों के अनुसार १९७८-७९ तक उर्वरकों के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए हमे देश मे ९५ लाख टन नाइट्रोजन फास्फेट उर्वरको का उत्पादन करना होगा। इसके लिए हमे इस उद्योग में १७०० करोड़ रुपये की पूँजी लगानी होगी जिसमे से ६०० करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा मे होंगे। अन्यथा हमे प्रति वर्ष ३०० करोड रुपये के उर्वरक आयात करने होंगे।

अभी हाल मे ही कुछ उर्वरक योजनाओं को स्वीकृति दी गई है। जापान की तोयो इन्जीनियरिंग कॉरपोरेशन ने इन्जीनियरिंग इण्डिया लिमिटेड के सहयोग से भारत मे पाँच उर्वरक कारखाने लगाने की पेशकश की है। आशा है इस संबध मे जापान से आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। इन कारखानो मे चार सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा एक निजी क्षेत्र मे होगा।

अध्याय ५

उन्नत तथा अधिक उपज देने वाले बीजों का उपयोग

५.१ परिचय

अल्पविकसित देशो में भूमि एक दुर्लभ उपादान है जबकि श्रम का वहाँ बाहुल्य है। ऐसी दशा मे कृषि प्रौद्योगिकी (एग्रीकल्चरल टेक्नॉलोजी), कृषि-उत्पादन की प्रमुख निविष्टि बन जाती है और विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी, विकास मे स्थायी एव सतत वृद्धि बनाए रखने के महत्त्वपूर्ण यन्त्र समझे जाने लगते हैं। अतः ऐसी परिस्थितियो मे कृषि तथा ग्राम अर्थव्यवस्था का वैज्ञानिक रूपांतरण मुख्यतः उन निविष्टियो के उपयोग तथा विकास पर निर्भर होगा जिनकी उपज-समर्थता (यील्ड पोटेंशियल) बहुत अधिक है। इसके लिए कृषि के क्षेत्र में विस्तृत अनुसधान की आवश्यकता है।

अभी हाल ही मे कृषि के क्षेत्र में जो मुख्य परिवर्तन घटित हुआ है और जिसका उद्देश्य कृषि-उत्पादिता मे द्रुत प्रस्फोट प्राप्त करना है, वह नव विकसित अधिक उपज देने वाले बीजों का उपयोग तथा मक्का व ज्वार-बाजरा की संकरण तकनीक का श्रीगणेश है। पिछले वर्षों मे विभिन्न फसलो के कई प्रकार के 'अधिक उपज देने वाले बीज' उपयोग मे लाए जाने लगे हैं जैसे धान मे *TN१*, *IR8*, पदमा, जया, तथा हंसा, गेहू मे *PV१८* सोनोरा ६४, RR२१, WI३३४, WI ३६४, ज्वार मे CSH–१, १CSH–२, सकर मक्का मे गंगा सफेद, हिमालय B१२३, बाजरा में HB१, PHB१ आदि-आदि।

इन किस्मो ने, अपनी अत्यधिक अनुकूलनशीलता, उच्च उपज-समर्थता, उर्वरण के प्रति अनुकूल अनुक्रिया, प्रकाश-अग्राहिता व असवेदिता (फ़ोटो इनसेंसिविटी), बौनी पौध ऊँचाई, दृढ भूसे तथा टिके रहने की विशेषता के कारण, फसलो की उपज बढाने की नवीन संभावनाओ को जन्म दिया है। उत्पादन टैक्नॉलोजी के अन्य घटको (जैसे उर्वरक तथा कीटनाशी पदार्थों का उपयोग, सुनियन्त्रित जल-प्रबन्धन, भू-तैयारी, बेहतर घासपात नियन्त्रण व अन्य नवीन रीतियो) की संगति मे ये किस्में देश को निकट भविष्य मे ही अन्न-पूर्ति मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए उत्कृष्ट अवसर प्रदान करती हैं।

समन्वित शस्य सबंधी कार्यक्रम (कोऑर्डीनेटेड एग्रोनोमिक स्कीम) के अधीन किये गये प्रयोगो से यह प्रमाणित हो चुका है कि नवीन अधिक उपज देने वाली फसले साधारण स्थानीय किस्मो की अपेक्षा अधिक उत्पादक हैं। इन प्रयोगों मे दोनो प्रकार की किस्मो मे एक समान शस्य सबधी उपादानो का उपयोग किया गया था। विभिन्न जिलो मे विभिन्न फसलों पर किये गये प्रयोगो के परिणाम सारणी ५.१ मे दिए गए है :

सारणी ५.१ (क) विभिन्न ज़िलो मे सिंचित फसलो की उपज

(क्विटल प्रति हैक्टर)

फसल	गेहूँ		गेहूँ		धान		धान		ज्वार	
जिला	करनाल		अलीगढ		सहरसा		कुआम्वेट्टर		निज़ामाबाद	
किस्म	स्थानीय	PV१८	स्थानीय	सोनोरा-६४	स्थानीय	TN१	स्थानीय	IR८	स्थानीय	CSH१
बिना उर्वरक	२०.१०	३०.८६	१७.७३	२०.७४	१४.४३	१७.३६	२६.०४	४४.३६	२१.७५	२७.६६
N १२०	३१.२७	४६ ६३	२४.४६	३६.०२	२२.३८	२७.६४	३६.०८	५३.६६	२६.१३	३२.६३
N १२० P ६०	३६.७१	५६.४०	२८.०२	४३.०३	२८.५०	३७.५४	४०.६५	५६.५२	३१.२१	३६.६८
N १२० P ६० K ३०	४२.४५	५३.१४	३०.६७	४६.५८	३३.२४	४५.४०	३५.६८	५७.६६	३०.१५	४५.८७

सारणी ५.१ (क) से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि स्थानीय किस्मों की औसत उपज सामान्यतः अधिक उपज देने वाली किस्मो से कम है। कई अवस्थाओ में दूसरे प्रकार के बीजो से प्राप्त फसल पहली किस्मो की अपेक्षा डेढ़ गुना से भी अधिक है। दूसरी बात यह है कि दोनो किस्मों मे जब उर्वरक का उपयोग नही किया गया था तो अंतर बहुत अधिक नही था परन्तु उर्वरको की आवश्यक मात्राओ के उपयोग करने के बाद अन्तर काफी अधिक हो गया। सारणी ५.१ (ख) स्वतः स्पष्ट है।

सारणी ५.१ (ख) स्थानीय तथा अधिक पैदावार वाली किस्मों की उपज में अन्तर

(क्विटल प्रति हैक्टर)

जिला	फसल	बिना उर्वरक अनुप्रयोग	N१२०	N१२० P६०	N१२० P६० K३०
करनाल	गेहूँ	१०.७६	१८.३६	१६ ६६	१० ६६
अलीगढ	गेहूँ	३.०१	११.५६	१५.०१	१५.६१
सहरसा	धान	२.६३	५.५६	६.०४	१२.१६
कुम्राम्बेटूर	धान	१८.३२	१७.५८	१८.८७	२१.६८
निजामाबाद	ज्वार	६.२४	६.८०	८.७७	१५.७२

सारणी ५.१ (क) व (ख) से यह भी स्पष्ट होता है कि दोनों किस्मो की उर्वरको के प्रति अनुक्रियाएँ काफी अच्छी हैं, परन्तु अधिक उपज देने वाली किस्मों की अनुक्रियाएँ अधिक उत्साहजनक तथा सगत हैं। वास्तव में अधिक उपज देने वाली किस्मो की पूर्ण समर्थता तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि जल, उर्वरक तथा कीटनाशी पदार्थ आदि निविष्टियो का भी सुनियन्त्रित तथा संतुलित मात्राओं में अनुप्रयोग किया जाए।

५.२ अधिक उपज देने वाले किस्मों की लाभदायकता

योजना आयोग के 'कार्यक्रम मूल्याकन सगठन' ने १९६८-६९ रबी (आषाढ़ी) तथा खरीफ (सावनी) की अ. उ. कि. फसलों के मूल्याकन-अध्ययन किए हैं और इन अध्ययनों के परिणामो के आधार पर परम्परागत फसलो के स्थान पर अ. उ. कि. की फसलो के उगाने के फलस्वरूप प्राप्त अतिरिक्त लाभों का अनुमान लगाया है जो कि सारणी ५.२ मे दिखाए गए हैं।

सारणी ५.२ अधिक उपज देने वाली किस्मों से प्राप्त अतिरिक्त निवल लाभ

फसल	प्रति हैक्टर लाभ (रुपये)		अतिरिक्त निवल लाभ
	परम्परागत	अ. उ. कि. HYV.	रुपये प्रति हैक्टर
धान	४७३ ८५	८५१.५०	३७७ ६५
गेहूँ	७७२.५०	१५५६.६०	७८४.१०

* स्रोत : कार्यक्रम मूल्याकन सगठन अध्ययनो पर आधारित।

सारणी से स्पष्ट है कि अ. उ. किस्मों के कारण कृषकों की आय काफी बढ़ायी जा सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि टैक्नॉलोजी मे क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। अतः अधिक उपज देने वाले बीजों की खेती कृषि विकास की नवीन व्यूह-रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही कारण है कि पिछले छ: सात वर्षों मे अ. उ किस्मो के क्षेत्र मे काफी तेजी से वृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप हुई खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि को ही 'हरित क्रांति' का नाम दिया जा रहा है। देखा जाए तो 'अ. उ. किस्मों' की कृषि तथा 'हरित क्रांति' पर्यायवाची शब्द बन गये है।

५.३ 'हरित क्रांति' की प्रगति

पिछले पाँच छ: वर्षों मे अनाज के उत्पादन मे, विशेषतः गेहूँ के उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है। १९६५-६६ मे गेहूँ का कुल उत्पादन १०४ लाख टन था जो १९७१-७२ मे बढकर २६० लाख टन हो गया। इस प्रकार ६ वर्षों के अन्दर गेहूँ के उत्पादन में ढाई गुना वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण अधिक उपज देने वाले बीजो का बड़े पैमाने पर विकास तथा उपयोग है। इसके अतिरिक्त आधुनिक निविष्टियो (जैसे उर्वरकों तथा कीटनाशी पदार्थों आदि) तथा रीतियों का अनुप्रयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है जिसके कारण कृषि-उत्पादन मे द्रुत वृद्धि की सभावनाएँ बहुत बढ गई हैं। १९६९-७०, १९७०-७१ तथा १९७१-७२ के रेकार्ड उत्पादन के बाद अधिकारी लोग कहने लग गए है कि देश मे 'हरित क्रांति' का पदार्पण हो चुका है। 'हरित क्राति' से उनका अभिप्राय विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी पर आधारित 'बीज-उर्वरक उपयोग' की उस नवीन व्यूहरचना से है जो खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का एक मात्र साधन समझी जाती है। वास्तव मे अ. उ. किस्मों के अधीन कृषि क्षेत्र ही 'हरित क्रांति' की प्रगति का उपयुक्त मापदंड माना जाने लगा है।

पिछले कुछ वर्षों मे अधिक उपज देने वाली किस्मो का पर्याप्त प्रचार किया गया है और इनके अधीन क्षेत्र मे काफी वृद्धि हुई है। १९६६-६७ मे केवल १९ लाख हैक्टर भूमि मे अधिक उपज देने वाली फसलें बोई गई थीं परन्तु अब ये किस्मे १ करोड ९० लाख हैक्टर भूमि अर्थात् १० गुने अधिक क्षेत्र में बोई जाती हैं। १९७३-७४ के अन्त तक २ करोड ५० लाख हैक्टर भूमि मे अधिक उपज देने वाली फसलें बोए जाने का लक्ष्य है। चौथी योजना के आरम्भ मे अर्थात् १९६८-६९ में खाद्यान्न का उत्पादन ९ करोड ४० लाख टन था। आशा है कि यदि मौसम ने साथ दिया तो १९७३-७४ में यह उत्पादन ११ करोड़ ५० लाख टन हो जाएगा। चौथी योजना मे यह लक्ष्य १२ करोड २९ लाख टन था, परन्तु १९७१-७२ तथा १९७२-७३ मे देश के कुछ भागो मे सूखा पड़ने के कारण यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। आशा है कि अतिरिक्त उत्पादन का दो तिहाई भाग अधिक उपज देने वाली फसलो से प्राप्त होगा। विभिन्न राज्यों मे अधिक उपज देने वाली किस्मो से सम्बन्धित कार्यक्रम की प्रगति सारणी ५.३ से स्पष्ट है।

सारणी ५.३ से स्पष्ट है कि अधिक उपज वाली किस्मों का कार्यक्रम मुख्यत: उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा मे सकेन्द्रित है, क्योकि इन राज्यों मे गेहूँ की बुआई सिंचित क्षेत्र में होती है और गेहूँ की अ. उ. किस्में सिंचाई-सुविधाओं की उपस्थिति में बहुत सफल

सारणी ५.३ राज्यवार 'अधिक उपज देने वाली फसलों' का क्षेत्र तथा प्रतिशत सिंचित क्षेत्र

राज्य	अधिक उपज देने वाली फसलों का क्षेत्र*		+सिंचित क्षेत्र (फसल क्षेत्र का प्रतिशत) १९६६-६७		कुल शस्य क्षेत्र
	१९६८-६९	१९७३-७४	गेहूँ	चावल	१९६६-६७
	लाख हैक्टर	लाख हैक्टर	प्रतिशत	प्रतिशत	लाख हैक्टर
आंध्र प्रदेश	२९	३०.४	२१.४	९२.१	८०
आसाम	०.६	१.७	—	३३.६	२०
बिहार	५१	१२.६	—	२९.५	६९
गुजरात	४.१	१५.०	६६.४	१७.९	४५
हरियाणा	३.२	११.९	६८.६	७१.९	२४
केरल	१.४	४.८	—	—	८
मध्यप्रदेश	२२	६.६	१०.४	१३.८	११०
तामिलनाडु	७.२	२०.९	१३.०	९२.५	४६
महाराष्ट्र	९.४	३२.३	—	१८.५	१०६
मैसूर	२९	९.२	—	—	६१
उड़ीसा	१.५	७.१	—	२०.८	४५
पंजाब	८९	१८.२	७२.१	८५.६	२६
राजस्थान	३.०	१०.०	—	२४.१	८४
उत्तरप्रदेश	२७.४	३२.२	५९.१	१७९	१४२
पश्चिमी बंगाल	३४	१४.५	—	२८.२	४८
	८३२	२२७४			

* जम्मू व कश्मीर तथा संघीय क्षेत्रों को छोड़कर।

+ स्रोत : (१) संक्षिप्त भारतीय कृषि १० वाँ संस्करण (सारणी २.१३)

(२) मिनिस्ट्री ऑफ फुड एण्ड एग्रीकल्चर, सी. डी. एण्ड कोऑपरेशन।

सिद्ध हुई हैं। १९६८-६९ मे अधिक उपज वाली फसलों के क्षेत्रफल का लगभग आधा भाग इन्हीं तीन राज्यों में था परन्तु १९७३-७४ में इस योजना के अधीन कुल क्षेत्रफल का केवल ३० प्रतिशत ही इन तीनों राज्यों मे *स्थित होगा। विभिन्न राज्यों मे क्षेत्र के वितरण* में परिवर्तन स्वाभाविक है परन्तु उनमे इस कार्यक्रम के अधीन आने वाले क्षेत्रों के अनुपातों में असमताएँ बनी रहेंगी। आसाम, मध्यप्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा आदि राज्यों मे जहाँ मुख्यत: चावल की फसल होती है वहां भी इस फसल के अधीन सिंचाई क्षेत्र काफ़ी कम है (१३% से ३५% तक) *जिसके कारण इन राज्यों में इस कार्यक्रम की गति धीमी ही रहेगी* और इसका क्षेत्र सीमित ही रहेगा। यहाँ पिछले कुछ वर्षों मे इस कार्यक्रम की फसल अनुसार प्रगति का अध्ययन उचित ही होगा।

सारणी ५.४ अधिक उपज देने वाली किस्मों का शस्य-स्वरूप
(लाख हैक्टर मे)

फसल	१९६६–६७ वास्तविक	१९६७–६८ वास्तविक	१९६८ ६९ वास्तविक	१९६९–७० वास्तविक	१९७३–७४ अनुमानित
धान	८.८	१८.०	२७ ०	३२.०	१०१.०
मक्का	२.१	३.०	४.०	८.०	१२.०
ज्वार	१.९	६.०	७.०	१६.०	३२.०
बाजरा	० ६	४.०	७.०	१२ ०	२८.०
गेहूँ	५.३	२९.०	४८.०	४६.०	७७.०
कुल अ. उ. कि. का क्षेत्र	१८.७	६० ०	९३.०	११४ ०	२५०.०
कुल अनाज क्षेत्र	९४२	९८७	९९२	१०१५	१०५०
अनाज क्षेत्र का प्रतिशत	२%	६.७%	९.४%	११.२%	२३.८%

स्रोत सारणी १०.६ पर आधारित सक्षिप्त भारतीय कृषि १० वां सरकरण।

जबसे यह कार्यक्रम अपनाया गया है, गेहूँ की उपज अत्यन्त प्रभावशाली रही है। १९६८–६९ मे गेहूँ की कुल उपज १ करोड ८७ लाख टन थी जो १९७०–७१ मे २ करोड़ ३५ लाख टन हो गई। इसी अवधि मे चावल की उपज ३ करोड़ ९८ लाख टन से ४ करोड़ २६ लाख टन हुई।

सारणी ५ ४ से स्पष्ट है कि अ. उ. किस्मो के चावल का क्षेत्र अपेक्षाकृत गेहूँ के क्षेत्र से बहुत कम है। ज्ञातव्य है कि चावल, भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण खाद्यान्न है तथा कुल उत्पादन का लगभग ४० प्रतिशत भाग है। अत. भारत को खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए चावल के उत्पादन मे प्रस्फोट हेतु भरसक प्रयास करने होंगे। सम्भवत: इसी उद्देश्य के लिए अ उ. किस्मो के चावल के क्षेत्र को चौथी योजना के पिछले चार वर्षों में तिगुना करने का अनुमान है। चावल तथा गेहूँ स्थानापन्न फसले नही हैं, परन्तु इन फसलों की लाभकारिता का विश्लेषण करने से यह पता लग जावेगा कि गेहूँ की फसल उगाना अधिक लाभकारी है। सारणी ५ ५ देखें :

सारणी ५ ५ अ. उ. किस्मों के धान व गेहूँ की कृषि की लाभकारिता (१९६८–६९)

फसल	औसत उपज (क्विटल प्रति हैक्टर)	भाव* (रु. प्रति क्विं)	मूल्य रु. प्रति हैक्टर	कुल व्यय रु. प्रति हैक्टर	लाभ रु. प्रति हैक्टर
धान	३८.०	५०.७५	१९२८.५०	१०७७.००	८५१.५०
गेहूँ	२७.८	७६.००	२११२.८०	५५६.२०	१५५६.६०

* १९६८–६९ के समाहार भाव (प्रोक्यौरमेंट प्राइसेज)। धान के लिए आंध्र प्रदेश तामिलनाडु व उत्तर प्रदेश की औसत उपज ली गई है। स्रेत्र आॅन पी ई ओ स्टडीज (१९६७–६८, १९६८–६९)

सारणी ५.५ से स्पष्ट है कि

(१) धान की प्रति हैक्टर औसत उपज गेहूँ की प्रति हैक्टर उपज से अधिक है।

(२) परन्तु धान की *निर्धारित समाहार कीमत* गेहूँ की कीमत से बहुत कम है और इस प्रकार गेहूँ की खेती करने वाले कृषक अच्छी स्थिति मे हैं।

(३) धान के लिए निर्धारित समाहार भाव (अर्थात् ५० रु. ७५ पैसे) इसके थोक बाजार भाव से (जो लगभग ७० रु. प्रति क्विंटल था) बहुत कम है। समाहार कीमतों का न्यून नियतन धान उत्पादकों को हतोत्साहित करता है।

(४) अ. उ. किस्मो के धान की कृषि लागत अ. उ गेहूँ की अपेक्षा लगभग दूनी है। धान के लिए 'पौध-संरक्षण' पर प्रति हैक्टर व्यय बहुत अधिक है। यहाँ तक कि कई राज्यो मे यह गेहूँ की अपेक्षा ८० गुना अधिक है। अ. उ. कि धान के लिए श्रम तथा उर्वरण के अधिक सघन उपयोग की आवश्यकता होती है, इसलिए धान की खेती मे श्रम तथा उर्वरको पर भी प्रति हैक्टर व्यय बहुत अधिक होता है।

अ. उ. कि. धान की कीडो तथा बीमारियो की प्रभाववश्यता, धीमा परिपक्वन, अनाज की निकृष्टता, अपर्याप्त जल सुविधाएँ, छोटी जोतें, प्रेरक कीमतों तथा विपणन सुविधाओं का अभाव तथा कृषि की ऊँची लागत व निम्न निवल लाभ, अ. उ. कि. धान की धीमी प्रगति के कुछ बड़े-बडे कारण हैं। समस्या का समाधान इसी मे है कि अनुकूल लागत-*कीमत-उपज-सम्बन्ध उपलब्ध हो। इसके लिए यह जरूरी है कि अ. उ. कि. धान की कृषि* की लाभदायकता को बढाया जाए। इसके लिए उत्कृष्ट अनाज देने वाली नई किस्मो का विकास करना पड़ेगा तथा निविष्टियो की दक्षता मे वृद्धि लाने के उपाय करने होगे। अधिक लाभ कृपको को इस कार्यक्रम को अपनाने में प्रेरक सिद्ध होते हैं।

५.४ हरित क्रांति मे बड़े तथा छोटे कृषकों की सहभागिता

पिछले कुछ वर्षों मे यह अनुभव किया गया है कि अधिक उपज देने वाली किस्मों के अपनाने से बड़े तथा छोटे कृषकों की आय की विषमता में वृद्धि हुई है तथा छोटे कृषकों का इस कार्यक्रम मे भाग बडे कृषकों की तुलना मे कम रहा है। अ. उ. देने वाली किस्मो का कार्यक्रम बडे कृषको के अधिक अनुकूल है क्योकि उनके पास इस कार्यक्रम को अपनाने के लिए आवश्यक ससाधन तथा सुविधाएँ उपलब्ध हैं। छोटे कृषकों में जोखिम तथा अनिश्चितता सहन करने की क्षमता नही होती। अपर्याप्त संसाधन, ऋण-सुविधाओं का अभाव, अज्ञानता, निविष्टियों की अप्राप्यता आदि के कारण छोटे कृषक शुरु-शुरु मे इस कार्य क्रम में भाग नही ले सके। परन्तु अब बडे तथा छोटे दोनो प्रकार के कृषकों की इस कार्यक्रम मे सहभागिता काफी उत्साहवर्धक रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि छोटे कृषक अ. उ. किस्मों तथा नवीन टैक्नॉलोजी को अपनाने मे बड़े कृषको से पीछे नही रहे हैं।

जहाँ तक नवीन व्यूहरचना अथवा टैक्नॉलोजी का सम्बन्ध है, वे कृषि के पैमाने के प्रति उदासीन हैं क्योकि अधिक उत्पादन के लिए बहुत बड़ी जोतो का होना अत्यावश्यक नहीं है। वास्तव मे देखा जाए तो नवीन टैक्नॉलोजी श्रम-प्रधान है और छोटे कृषक अधिक सघन खेती करने के लिए अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में हैं। नई फसलें व्यक्तिगत देख-रेख तथा

प्रबन्ध की माँग करती हैं और छोटे कृषक अपनी फसलों की अधिक अच्छी प्रकार से देख-भाल कर सकते हैं। इसलिए छोटे पैमाने के खेत श्रम-प्रधान नई किस्मों के लिए अधिक उपयुक्त हैं और इस *कार्यक्रम को बहुत से छोटे कृषकों ने भी अपना लिया है।*

एक और बात ध्यान रखने योग्य है कि अधिक उपज देने वाली किस्मों का उपयोग सिंचित क्षेत्रों तक सीमित है और सिंचित क्षेत्र का अनुपात बड़े पैमाने की जोतों की अपेक्षा छोटी जोतों में अधिक है जैसेकि सारणी ५.६ से स्पष्ट है।

सारणी ५.६ विभिन्न मापों की जोतों में सिंचित क्षेत्र का वितरण

क्र०	फार्म-वर्ग (हैक्टर)	फार्म औसत क्षेत्र (हैक्टर)	औसत सिंचित क्षेत्र (हैक्टर)	सिंचित क्षेत्र तथा औसत साइज में अनुपात
I	०—० ४	.१८५	.१६५	८९%
II	०.४—२.०२	१ ०७	०.६७५	६३%
III	२ ०—४.०५	२.७८	१.५०३	५४%
IV	४ ०५–६.०७	४ ७२	२.१२	४६%
V	६.०७–१०.१२	७.५	२.९८	३९%
VI	१० १२–२० २३	१३ २८	३ ९८	२९%
VII	२०.२३ से अधिक	३०	६ ७३	२२%

स्रोत · (N.S S.) के १६ वें एवं १७ वें चक्र के आँकड़ो पर आधारित।

सारणी में प्रथम वर्ग अर्थात् सबसे छोटे फार्मों का साइज ०—० ४ हैक्टर के बीच में है। प्रत्येक फार्म का औसत क्षेत्र ० १८५ हैक्टर है जिसमे से औसत सिंचित क्षेत्र ०.१६५ हैक्टर है अर्थात् ८९% क्षेत्र सिंचित है। इसी प्रकार दूसरे वर्ग (०.४—२·०२ हैक्टर) में ६३% क्षेत्र सिंचित है। वर्ग VII अर्थात् सबसे बड़े फार्मों में केवल २२% क्षेत्र सिंचित है। इसलिए अधिक प्रतिशत सिंचित क्षेत्र होने के कारण छोटे कृषक बड़े कृषकों की अपेक्षा अधिक लाभदायक स्थिति में हैं और उनके लिए 'हरित क्रांति' बेहतर सम्भावनाएँ प्रदान करती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि विभिन्न वर्गों के खेतों में निरपेक्ष आय में अन्तरों में काफी अधिक वृद्धि होगी अर्थात् बड़े फार्मों की निरपेक्ष आय हरित क्रांति के कारण काफी बढ़ जाएगी परन्तु टैक्नॉलोजी से प्राप्त होने वाले सापेक्ष लाभ छोटे कृषकों की स्थिति में अधिक होंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि छोटे कृषकों को आवश्यक निविष्टियाँ तथा सुविधाएँ प्राप्य हों तो उनकी प्रति फार्म आय में प्रतिशत वृद्धि अधिकतम होगी। अधुनातन अध्ययन इस कथन की पुष्टि करते हैं। वास्तव में छोटा *या बड़ा* फार्म कौन-सा है, यह बात टैक्नॉलोजी से सम्बन्धित है और अधिक उपज देने वाली किस्मों का कार्यक्रम जीवनक्षम फार्म (वाइएबिल फार्म) के साइज को कम करने में सहायक हो सकता है।

५.५ कृषि-श्रम की माँग पर अधिक उपज दने वाली किस्मों के कार्यक्रम का प्रभाव

अ. उ. कि. कार्यक्रम द्वारा केवल अनाज-उत्पादन मे ही वृद्धि नही होती, कृषि-श्रम की माँग मे भी वृद्धि होती है। अभिनव अध्ययनो मे यह सिद्ध हो गया है कि इस कार्यक्रम के फलस्वरूप कृषि-श्रम के लिए अतिरिक्त माँग उत्पन्न होती है तथा यह कार्यक्रम कृषि श्रमिको मे बेकारी को कम करने मे बडा सहायक है और इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था इससे लाभान्वित हो सकती है। यह अनुमान है कि १९६८-६९ के दौरान धान तथा गेहूँ की फसलो से सम्बन्धित अ. उ. कि. प्रोग्राम मे लगभग ३२ करोड ४६ लाख श्रम दिनों के अतिरिक्त श्रम का उपयोग किया गया।

सारणी ५ ७ अ उ. कि. कार्यक्रम के कारण कृषि-श्रम की माँग मे अनुमानित वृद्धि (१९६८-६९)

फसल	प्रति हैक्टर श्रम प्रयोग अ उ. कि.	परम्परागत* (औसत)	श्रम प्रयोग में वृद्धि	अ. उ. कि. कार्यक्रम के अधीन क्षेत्र	श्रम की माँग मे वृद्धि
	(श्रम दिवस)		श्रम दिवस	लाख हैक्टर	करोड श्रम दिवस
धान	१६१	७५	८६	२६	२२.३६
गेहूँ	४५	२४	२१	४८	१०.०८
कुल	—	—	—	७४	३२.४४

स्रोत फार्म मैनेजमेंट इन इण्डिया अर्थशास्त्र एव सांख्यिकी निदेशालय, १९६६

सारणी ५.७ मे *अनुमानित कृषि-श्रम* की अतिरिक्त कृषि माँग *'फार्म प्रबन्ध-अध्ययनों'* के अनुमानों पर आधारित है, परन्तु सघन क्षेत्र विकास-कार्यक्रम के चालू होने से कृषको ने सघन कृषि की विधियो को अपनाना शुरु कर दिया है जिसके कारण श्रम की माँग में और अधिक वृद्धि की सम्भावनाएँ बढ गई हैं। १९६८-६९ में अ. उ. किस्मो के कार्यक्रम के फलस्वरूप कृषि श्रम की माँग मे कुल वृद्धि इस प्रकार है।

सारणी ५ ८ अ. उ. किस्मो की कृषि मे उपयुक्त अतिरिक्त भाडे के श्रम का अनुमान (श्रम की माँग मे वृद्धि)

फसल	करोड श्रम दिवस
धान	१५.२१
मक्का	०.७७
बाजरा	०.७८
ज्वार	६.६६
गेहूँ	२१.१८
कुल	४४ ६०

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अ.उ.कि. कार्यक्रम के कारण उत्तरप्रदेश मे कुल बेकार श्रम दिवसो (टोटल अनऐम्प्लायड लेबर डेज) मे ४० प्रतिशत की कमी हुई जबकि उसी वर्ष पजाब मे यह कमी २५ प्रतिशत की थी। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश मे काम की कमी के कारण उत्पन्न बेकार श्रम दिन अ.उ.कि.कार्यक्रम द्वारा पूर्णतया नियोजित (एब्जोर्व) कर लिए गए। पजाब मे नियोजित बेकार श्रम ५० प्रतिशत था। अतः अ. उ. कि. कार्यक्रम कृषि श्रमिको मे बेरोजगारी को कम करने के उत्कृष्ट अवसर प्रदान करता है। परन्तु निकट भविष्य में बेरोजगारी मे कमी की सभावना बहुत सीमित है। १९७३-७४ तक लगभग २ करोड़ ५०लाख हैक्टर क्षेत्र इस कार्यक्रम के अधीन लाया जाएगा और इसके फलस्वरूप उत्पन्न श्रम माँग कुल उपलब्ध बेकार-शक्ति का क्षुद्र भाग ही नियोजित कर सकेगी। यह भी याद रखना होगा कि पिछले कुछ वर्षों मे बेकार श्रम शक्ति मे वृद्धि हुई है जो जनसख्या मे वृद्धि के साथ स्वाभाविक ही है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि भारत मे कृषि श्रम की माँग मौसमी है और हरित क्राति मे व्यस्ततम समय में श्रम की समस्या और भी विकट हो जाएगी।

५.६ हरित क्राति के विस्तार की सीमाएँ

पिछले पृष्ठो मे हमने तथाकथित 'हरित क्राति' की प्रगति तथा अधिक उपज देने वाले बीजों के उपयोग के आय-वितरण तथा कृषि-श्रम की माँग पर' प्रभावो का अध्ययन किया है। परन्तु यदि कृषि-उत्पादन के पिछले दो तीन वर्षो के आँकड़े देखे जाएँ तो हरित क्राति के समर्थको के दावों पर सदेह होने लगता है। 'हरित क्राति कितनी हरी है ?'—इसकी विवेचना हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी रहेगी। साथ ही, हम इस बात का विश्लेषण भी करेंगे कि हरित क्राति कही जाने वाली क्राति के विस्तार की सीमा क्या है और इसके मार्ग मे कौन-से अवरोध है।

देखा जाए तो क्राति कृषि मे नही हुई बल्कि कृषि-विज्ञान के क्षेत्र मे हुई है। वास्तव में विज्ञान में यह क्रातिकारी परिवर्तन कुछ विशेष फसलो के अधिक उपज देने वाले बीजो के रूप मे परिणत हुआ है। इन सकर बीजो के उपयोग ने कृषि उत्पादन मे वृद्धि की नवीन सभावनाएँ प्रदान की है। परन्तु कृषि-उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि केवल कुछ विशेष फसलों तक ही सीमित रही है।

ज्ञातव्य है कि भारत की जनसख्या मे प्रतिवर्ष लगभग २.३ प्रतिशत की वृद्धि हो रही है। यदि कृषि के उत्पादन मे भी इसी दर से वृद्धि हो तो प्रति व्यक्ति उत्पादन मे कोई अतर नही आता। परन्तु यदि उत्पादन में इस दर से कम वृद्धि हो तो स्थिति चिन्ताजनक हो जाए। इसलिए परिवर्तन को सतोषजनक तभी माना जा सकता है यदि उत्पादन मे वृद्धि इस दर से कही अधिक हो। उत्पादन की दृष्टि से १९६४–६५ तथा १९७०–७१ दोनों ही वर्ष अनुकूल रहे हैं और इसी अवधि के दौरान भारत मे सकर बीजो का उपयोग होने लगा है।

१९६४-६५ से १९७०-७१ के ६ वर्षों की अवधि में गेहूँ, बाजरा, मक्की की फसलों के उत्पादन मे वार्षिक सवृद्धि-दर क्रमशः ११.२, ९.९ तथा ७.६ प्रतिशत रही है जबकि जो,

रागी तथा चावल मे यह दर क्रमशः २ २, १.४ तथा १.२ प्रतिशत रही है। ये तीनों दरें जनसख्या मे वृद्धि की २.३ प्रतिशत वार्षिक की दर से कम है, इसलिए जौ, रागी तथा चावल की फसलो का प्रति व्यक्ति उत्पादन कम होता चला आ रहा है। ज्वार, दालो, तिलहन तथा कपास की फसलो के उत्पादन मे पिछले ६ वर्षों मे वृद्धि होने की बजाय कमी हुई है।

उपरोक्त आँकडो से स्पष्ट है कि अभी तक केवल गेहूँ, बाजरा तथा मक्की की फसलो में ही हरित क्राति का पदार्पण हुआ है। परन्तु यह ध्यान रहे कि ये फसलें कुल कृष्य क्षेत्र के २०-२१ प्रतिशत भाग मे ही उगाई जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हरित क्राति समस्त कृषि क्षेत्र के पाँचवे भाग तक ही सीमित रही है और ४/५ भाग इससे अछूता ही रहा है।

चावल हमारे देश की मुख्य खुराक है और यह कृषि-क्षेत्र के लगभग २२-२३ प्रतिशत भाग मे बोया जाता है। जौ तथा रागी समेत यह क्षेत्र २५ प्रतिशत से भी ऊपर हो जाता है। जबतक चावल के उत्पादन मे आश्चर्यजनक वृद्धि नहीं होती, तबतक यह नही कहा जा सकता कि भारत मे हरित क्राति हुई है। अत इन फसलों मे हरित क्रांति की शुरुआत नही हुई। जहाँ तक कपास, तिलहन तथा दालों का प्रश्न है, इनका उत्पादन इतना कम हुआ है कि इनका आयात करना पडा है। इनका क्षेत्र लगभग २५ प्रतिशत है। इस क्षेत्र मे क्राति की बजाय प्रति-क्राति हुई है। सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि समग्र रूप में हरित क्राति अभी नही हुई। अभी तक यह केवल २०-२१ प्रतिशत क्षेत्र तक ही सीमित है। अनुसंधान व शोध द्वारा इसका विस्तार किया जा सकता है। साथ ही, इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि नवीन प्रौद्योगिकीय परिवर्तन क्रातिकारी हैं और उत्पादन में प्रचुर वृद्धि की शक्य सभावनाएँ प्रदान करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि तकनीकी प्रगति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न इन सभावनाओ को वास्तविकता मे कैसे बदला जाए? वे कौन-सी कठिनाइयाँ व अवरोध हैं जो हरित क्राति की गति को धीमा कर रहे है और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

जैसाकि बताया जा चुका है, हरित क्राति गेहूँ, मक्का तथा बाजरे की फसलो मे ही दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन फसलो के सकर बीज उपलब्ध हैं। इसलिए कठिनाइयो का विहगावलोकन करते समय पहला अवरोध अन्य फसलो के लिए बीजो की अनुपलब्धता है। प्रत्येक प्रदेश की जलवायु, भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा सिंचाई-सुविधाएँ भिन्न-भिन्न है। उनके अनुरूप बीजो का विकास ही कृषि-उत्पादन मे वृद्धि कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि एक क्षेत्र में सफलता से बोये जाने वाले बीज दूसरे क्षेत्र मे भी सफल हो। अनुसंधान के अन्य क्षेत्रो मे अन्तरण की सीमा होती है। अभी तक हमारे कृषि वैज्ञानिक न तो सब फसलो के लिए उपयुक्त बीजो का विकास कर पाए हैं और न ही उनके द्वारा विकसित बीज सब क्षेत्रों के लिए उपयुक्त हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे कृषि-वैज्ञानिको को उचित आर्थिक सहायता, सत्ता की स्वायत्तता तथा प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त नही है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसंधान कार्य मे मनुष्य-निर्मित अवरोधो को दूर किया जाए। विभिन्न क्षेत्रो और विभिन्न फसलो के लिए नवीन बीजों का विकास ही कृषि उत्पादन की सभावनाओ को बढ़ा सकता है। इसके लिए अनुसंधान को यथोचित

प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

अधिक उपज देने वाले बीजों की पूरी समर्थता का लाभ तभी उठाया जा सकता है यदि इनके उपयोग के साथ-साथ उचित मात्रा मे उर्वरक उपलब्ध कराए जा सके। उर्वरकों के महत्त्व का विस्तृत विवेचन अध्याय ४ में किया जा चुका है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि हमारा उर्वरको का उत्पादन व उपभोग अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है। हमारा कुल वार्षिक उत्पादन १५ लाख टन है। १९७८-७९ तक ९५ लाख टन के उर्वरक उपयोग के आधारित लक्ष्य को पूरा करने के लिए लगभग १७०० करोड रुपये के उत्पादन-निवेश की आवश्यकता होगी। पूरे देश मे हरित क्रांति के दर्शन करने के लिए कम से कम १५० लाख टन उर्वरको का उत्पादन करना पड़ेगा जिसके लिए लगभग ५००० करोड रुपये की वित्तीय व्यवस्था करनी पडेगी।

हम यह भी बता चुके हैं कि अधिक उपज वाले बीजों से पूर्ण समर्थता प्राप्त करने के लिए पानी की सप्लाई अत्यावश्यक है। यही कारण है कि यह क्रांति सिंचित क्षेत्र तक सीमित रही है। सिंचाई सुविधाओं की अनुपस्थिति मे हरित क्रांति की कल्पना भी नही की जा सकती। जल-प्रबन्धन व सिंचाई से सबंधित विस्तृत अध्ययन तीसरे अध्याय मे किया जा चुका है। यहाँ इतना कहना काफी है कि देश मे इस समय कुल फसल क्षेत्र के २७ ५ प्रतिशत भाग मे सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अभी तक हम अपने सिंचाई-विभव के ५५ प्रतिशत का ही सदोहन कर सके हैं। यदि हम अपने पूरे विभव का सदोहन भी कर लें तो सिंचित क्षेत्र कुल फसल क्षेत्र के ६० प्रतिशत से अधिक नही होगा यद्यपि अगले ३०-४० वर्षो मे ऐसा होने की आशा अति धूमिल है। कहने का अभिप्राय यह है कि आने वाले वर्षों में हरित क्रांति का विस्तार फसल क्षेत्र के एक तिहाई तक सीमित रहेगा।

हम अ. उ. कि के बीजों के कृषि-श्रम की माँग पर प्रभाव का अध्ययन कर चुके हैं। यह देखा गया है कि इन बीजो के उपयोग मे श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन बीजो के उपयोग के साथ-साथ कृषि-रीतियो मे भी परिवर्तन करना पडेगा। इनके लिए जुलाई-बुआई के तरीको मे भी परिवर्तन करना पड़ेगा और भरपूर फसल प्राप्त करने के लिए अधिक परिश्रम करना पडेगा। अधिक उपज देने वाले बीजो, दक्ष जल-प्रबन्ध व उर्वरको के सतुलित उपयोग से जहाँ उत्पादन मे बृद्धि होती है वहाँ ये सुधार खरपतवार, नाशकजीव और रोगो मे वृद्धि तथा विकास की परिस्थितियों को भी जन्म देते हैं। इन नाशक जीवो तथा रोगो पर भी नियत्रण करने की आवश्यकता है। पौध-सरक्षण संबंधी विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।

हम पिछले एक परिच्छेद मे यह बता चुके हैं कि हरित क्रांति का लाभ केवल बडे-बड़े कृषकों को प्राप्त हुआ है और इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे आय तथा धन की असमानताओं मे वृद्धि हुई है। देश मे कृषि क्षेत्र मे अधिकांश संख्या छोटे कृषको की है जो निर्धनता तथा अन्य अनेक अभावो के कारण इस क्रांति का लाभ नही उठा सके, यद्यपि उनकी कृषीय परिस्थितियाँ इसके अनुकूल हैं। इसलिए जबतक छोटे कृषकों को इन नव क्रियाओं तथा नवीन निविष्टियों का लाभ नही पहुँचता, तबतक यह नही कहा जा सकता कि देश में हरित क्रांति हो चुकी है। हरित क्रांति लघु कृषक के आंगन मे भी दिखाई देनी चाहिये।

इसके लिए अनुसधान एव विस्तार कार्य की आवश्यकता है। लघु कृषकों को ये निविष्टियाँ सस्ते उधार पर उपलब्ध करानी होगी। उन्हें उत्पादन का उचित दाम दिलाना होगा और प्रगति के लिए आधारिक सरचना का निर्माण करना होगा। जबतक इन अवरोधो को दूर नही किया जाएगा, हरित क्राति तेज गति से आगे नही बढ पाएगी। परन्तु हमारे वर्तमान अध्ययन के सदर्भ मे सबसे आवश्यक बात यह है कि कृषकों को बढ़िया और प्रामाणिक बीज उपलब्ध कराए जाएँ। इस बात का अध्ययन हम अगले परिच्छेद मे कर रहे हैं।

५.७ उन्नत बीजो के उपयोग का कार्यक्रम

अधिक उपज देने वाली किस्मो के उपयोग का कार्यक्रम १९६५-६६ मे आरम्भ किया गया। अधिक उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि उन्नत तथा बढिया बीजो का उपयोग किया जाए। साधारणत. भारतीय कृषक अपनी फसल में से ही अनाज बचा कर बीज के रूप मे उपयोग करता है तथा बीज की गुणवत्ता की ओर ध्यान नही देता। इसलिए जबतक सारे कृष्य क्षेत्र मे अधिक उपज देने वाले बीजो का प्रबन्ध नही हो जाता, तबतक यह प्रयत्न होना चाहिए कि अधिक से अधिक क्षेत्र मे उन्नत तथा बढिया बीज बोए जाएँ। यह क्षेत्र अ उ. किस्मों के क्षेत्र से पृथक् होगा।

उन्नत बीजो के उपयोग का कार्यक्रम प्रथम पचवर्षीय योजना मे आरम्भ हुआ। प्रथम योजना मे लगभग १६ लाख हैक्टर मे उन्नत बीज बोये गये जबकि दूसरी योजना मे ऐसा क्षेत्र लगभग २ करोड हैक्टर हो गया। तीसरी योजना मे उन्नत बीजो के उपयोग के क्षेत्र का लक्ष्य ८ करोड २६ लाख हैक्टर था, परन्तु केवल ४ करोड ८६ लाख हैक्टर मे ही उन्नत बीज बोये जा सके। चौथी पचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ७ करोड़ २० लाख हैक्टर भूमि मे उन्नत बीज बोये जाने का विचार है। इसमे से २ करोड ५० लाख हैक्टर मे अधिक उपज देने वाले बीज बोये जाएँगे। १ करोड ५० लाख हैक्टर में एक से अधिक फसलें उगाई जाएँगी और निश्चित वर्षा वाले क्षेत्रो मे ८० लाख हैक्टर मे और बारानी खेती वाले इलाको मे २ करोड ४० लाख हैक्टर मे ये बीज बोए जाएगें। इसके लिए यह आवश्यक है कि

(१) उत्पादन के लिए बीज की निरन्तर सप्लाई हो,

(२) उन्नत बीज उगाने की पर्याप्त व्यवस्था की जाए

(३) बीजो को तैयार करने और गोदामो मे रखने का प्रबन्ध किया जाय, तथा

(४) बीजों का प्रमाणीकरण हो।

अनुमान है कि चौथी योजना के अन्त तक २ करोड ५० लाख हैक्टर क्षेत्र मे अ. उ किस्मों के बीज बोने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए निम्न बीज परिमाणों की आवश्यकता होगी :—

धान	२ ५०	लाख टन
गेहूँ	४ ८०	लाख टन
मक्का	० ४८	लाख टन
ज्वार	०.४०	लाख टन

न आने के कारण ये बीज किसी काम के नहीं रहते तथा प्रत्येक वर्ष ऐसे बीजों को रद्द करना पडता है जिसके कारण काफी हानि होती है। इसलिए ऐसे प्रयास किए जा रहे हैं जिससे इन बीजों का, विशेषकर उन पड़ौसी देशों को जहां कृषि जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियां भारत समान हैं, निर्यात किया जा सके। मक्का, ज्वार तथा वनस्पतियों के बीजो की थोडी-सी मात्रा श्री लका, मलेशिया तथा घाना को तथा गेहूँ के बीज पहले ही डेनमार्क को निर्यात किए जा चुके हैं। निजी क्षेत्र के बीज उद्योग ने भी लगभग ३७५ टन बीज नेपाल को भेजे हैं।

वितरण प्रणाली का भी विस्तार करने का प्रस्ताव है। इस सम्बन्ध मे सहकारी समितियो द्वारा १९७३-७४ मे ५० करोड रुपये के बीज वितरित किए जाएँगे।

५.८ बीज अर्थतन्त्र

देश मे बीज विकास की सफलता या असफलता अनाज-उत्पादन व बीज-उत्पादन के अर्थतन्त्र तथा उनकी सापेक्ष कीमत-संरचना पर निर्भर है। यथार्थ लागत-विश्लेषण पर आधारित वास्तविक कीमत-नीति बीज-उद्योग के विकास को तेज़ कर सकती है। अध्ययनो से पता चला है कि वाणिज्यिक अनाज उपजाने की तुलना मे बीज उपजाने से अधिक आय प्राप्त होती है तथा बीज-उत्पादक को अनाज उत्पादन की अपेक्षा काफी बढोती प्राप्त होती है। राष्ट्रीय बीज निगम द्वारा किए गए एक अध्ययन मे मक्का के बीज तथा वाणिज्यिक अनाज की कृषि लागतो की तुलना की गई है तथा बीज उगाने मे प्राप्त होने वाली बढोती का अनुमान लगाया गया है। विवरण सारणी ५.९ में दिया गया है। प्रतिफल का अनुमान लगाते समय बीज की समाहार कीमत (प्रोक्योरमेंट प्राइस) जो कि १८५ रु० प्रति क्विटल थी, का प्रयोग किया गया है। प्रमाणित बीज की बाज़ारी कीमत अनेक कारको, जैसे बीज की कुल माँग, अन्य फार्म निविष्टियो की कीमत तथा ऋण की उपलब्धता आदि द्वारा प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त बाज़ारी कीमतो को अनेक लागतो जैसे गोदाम-भाड़ा, परिवहन-व्यय, ससाधन (प्रोसेसिंग) तथा पैकिंग-खर्च, प्रशासनिक उपरि प्रभार, पूँजी पर ब्याज, प्रचार व्यय तथा विक्रेताओं की कमीशन आदि को पूरा करना होता है। अत: बीजों की विक्रय कीमते उनकी समाहार-कीमतों से ६० से १२५ प्रतिशत अधिक होती हैं। जैसे शुरु मे *कल्यान सोना* गेहूँ के बीज की विक्रय कीमत २५० रु० प्रति क्विटल थी जबकि समाहार कीमत १२५ रु० प्रति क्विटल थी।

विक्रय-मूल्य को उचित स्तर पर लाने के लिए बीज-उत्पादन, संसाधन, भंडारण तथा वितरण के विभिन्न चरणो की लागतो को कम करना बडा आवश्यक है। उद्देश्य यह है कि उच्च कोटि के बीज उचित दामो पर तथा पर्याप्त मात्रा मे अधिक से अधिक कृषकों को ठीक समय तथा स्थान पर उपलब्ध कराए जाएँ। साथ ही साथ, इन बीजो की माँग मे वृद्धि बनाए रखना भी बड़ा जरूरी है ताकि बीज उद्योग का ठीक विकास हो सके।

देखने मे अधिक उपज देने वाली किस्म के बीज तथा साधारण स्थानीय किस्म के बीज मे कोई विशेष फर्क नहीं जान पड़ता। इसलिए धोखे की काफ़ी संभावनाएँ हो सकती हैं।

सारणी ५ ६ मक्का के बीजो तथा अनाज का अर्थतन्त्र

मद	उत्पादन लागत (रुपये प्रति एकड़)	
	बीज	वाणिज्यिक अनाज
लागतें		
भूमि की तैयारी	६०	६०
उर्वरक तथा श्रम	२००	२००
बीज	८५	२१
बुवाई	३०	३०
निरीक्षण फीस	३५	—
पौध सरक्षण	४०	४०
सिंचाई	४०	४०
अवांछित पौधा निष्कामन	५०	—
खरपतवार नियंत्रण	४०	४०
देखभाल	२०	२०
कटाई/परिवहन	४५	३०
कडा छिलका उतारना (केवल नर)	५	२०
सफाई (परिष्करण)		
(२५ रु प्रति क्विटल ७ क्विटल के लिए)	१७५	—
प्रमाणीकरण (पदार्थ)	७२	—
कुल लागत	६२७	५३१

प्राप्ति :

	बीज	वाणिज्यिक अनाज
(१) बीज ७ क्विटल १८५/–प्र. क्विटल	१२९५=००	अनाज १४ क्वि, दर ६०/– प्रति क्विटल=८४०=००
(२) नर लाईन २½ क्विटल दर ५०/–	१२५=००	—
(३) छोटा बीज	५०=००	
कुल	१४७०=००	८४०=००
लागत	६२७=००	५३१=००
निवल प्रतिफल प्रति एकड़	५४३=००	३०९=००

बढ़ोती =५४३—३०९=२३४ रु. प्रति एकड़

स्रोत ए. जी. लॉ, जी. मग एण्ड चेट्टी सीड मार्केटिंग यू. एस., ए. नई दिल्ली

कुछ व्यापारी नकली बीजो का व्यापार करते हैं और ऐसे अप्रमाणित, असंसाधित तथा निम्नस्तरीय (घटिया) बीज बेचते हैं जो ९७ प्रतिशत विशुद्धता की निर्धारित सीमा से घटिया होते हैं। यह अ. उ. कि. कार्यक्रम के रास्ते मे सबसे बड़ी रुकावट है। इसलिए यथार्थ उत्पादन-नियंत्रण तथा कड़ा निरीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। बीज की विशुद्धता को

बनाए रखने के लिए बीजो का प्रमाणीकरण तथा उनकी कोटि की जाँच इस कार्यक्रम के मुख्य अंग हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सरकार ने बीज एक्ट, १९६८ पास किया है। इसके अनुसार अनेक राज्यो मे बीज प्रमाणीकरण एजेंसियाँ तथा बीज-परीक्षण-प्रयोग शालाएँ स्थापित की गई हैं। अधिकतम राज्यों में राष्ट्रीय बीज निगम को प्रमाणीकरण तथा सवर्द्धन एजेंसी के रूप मे अधिसूचित किया गया है। यह बड़ा आवश्यक है कि बीज नियम की धाराओ को दृढता से लागू किया जाए तथा अप्रमाणित बीजों की बिक्री तत्काल बन्द करा दी जाए। निजी क्षेत्र के उत्पादक इस कार्य मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं यदि उनमे स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन प्राप्त हो। तिस पर भी आरम्भिक चरणो मे राज्य द्वारा दृढ निरीक्षण जरूरी है। बीज-पुनर्निरीक्षण समिति (सीड रिव्यू कमेटी) ने वर्तमान बीज-उत्पादन तथा वितरण प्रबन्धो की जांच पड़ताल की है और अनेक दोषो को बताया है। मुख्य दोष उत्कृष्ट प्रजनक बीजो की अनुपलब्धता, पर्याप्त सिंचाई का अभाव तथा बीज फार्मों पर उपयुक्त ससाधन तथा भडार की सुविधाओ की कमी हैं। ससाधन तथा भडारण के लिए बीज ससाधन उपस्करो के विकास तथा निर्माण की आवश्यकता होगी। बीज शोधित्र (सीड क्लीनर), ड्रायर, एलिवेटर, शैलर (छिल्का उतारने वाला यन्त्र), आर्द्र मीटर तथा बोरी बन्द करने वाले यन्त्र देश मे ही बनाने की आवश्यकता है। ऋण प्रत्येक आर्थिक गतिविधि की जान है और यह बीज-उत्पादन तथा वितरण की स्थिति मे भी सत्य है।

अधिक उपज देने वाली किस्मो के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के लिए यह भी जरूरी है कि इन किस्मो की अधिक उपज-समर्थता, रोग-प्रतिरोधता तथा अल्पावधि आदि विशिष्ट गुणो को कृषको के अपने प्लाटो पर या प्रयोग केन्द्रों मे किए गए वास्तविक निदर्शनो द्वारा प्रदर्शित किया जाए। अ. उ. कि. कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए प्रसार एव विस्तार कार्य महत्त्वपूर्ण है।

अध्याय ६

पौध–संरक्षण

६.१ परिचय

पिछले अध्यायों में हम कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने वाली नवीन अ.उ. किस्मो तथा अन्य नवक्रियाओं के आर्थिक महत्त्व का अध्ययन कर चुके है । हम यह देख चुके हैं कि अधिक उपज देने वाले बीजों, दक्ष जल-प्रबन्ध तथा उर्वरको के सतुलित उपयोग के कारण उत्पादन मे काफी वृद्धि होती है । साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यही सुधार खरपतवार, नाशक जीव तथा रोगो मे वृद्धि तथा विकास की परिस्थितियो को भी जन्म देते हैं और इस प्रकार उत्पादन मे अस्थायित्व लाने तथा उन्हे क्षति पहुँचाने के लिए भी जिम्मेदार हैं । अच्छी प्रकार से उर्वरित तथा सिंचित व उत्कृष्ट बीज से उगाया गया रसदार पौधा नाशक-जीवो तथा अगमारी के प्रभाववश्य होती है तथा इसे सरक्षण की आवश्यकता होती है । अधिक उपज देने वाली विदेशी किस्मो की पौध मे विकास के दौरान तथा कटाई के बाद, विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म वनस्पतियो (माइक्रोफ्लोरा), कीटों *तथा रोगो के आक्रमण से उत्पीड़ित होने की सभावना काफी होती है ।* इसलिए आधुनिक निविष्टियो से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन नाशक जीवो तथा रोगो पर नियत्रण किया जाए जो फसलो को क्षति पहुँचाते हैं । उपज के सरक्षण तथा स्थायित्व मे पौध-सरक्षण-उपायो का विशेष महत्त्व है । अतः पौध-सरक्षण कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हेतु निर्मित किसी भी व्यूहरचना का आवश्यक घटक होना चाहिए। तभी रसायन विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी मे हुई प्रगति का लाभ उठाया जा सकेगा ।

नाशक जीव तथा रोग बुआई से लेकर कटाई तक प्रत्येक क्षेत्रीय फसल को क्षति पहुँचा सकते हैं । उनके आक्रमण के कारण अनेक बोये गये बीजो का अकुरण तक नही होता । उनका आक्रमण उत्तरजीवित (सरवाईविंग)पौधो को कमजोर बना देता है जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त फसल गुणवत्ता, मात्रा तथा फल की दृष्टि से निकृष्ट होती है । दूसरी ओर खरपतवार और शाक पौधो को दिए गए जल तथा पोषक पदार्थों को स्वय ले लेते हैं और इन तत्त्वो की न्यूनता होने के कारण उत्पादन भी कम होता है । गोदामी नाशक जीवो तथा चूहो के कारण हमें प्रतिवर्ष लगभग २५ लाख टन खाद्यान्नो से हाथ धोना पड़ता है । कच्चे अनुमानो के अनुसार कीड़े, पौध-रोग तथा घासपात भारत मे वार्षिक अन्न-उत्पादन का लगभग २० प्रतिशत नष्ट कर देते हैं । परिमाण मे वार्षिक हानि लगभग १ करोड़ ८० लाख टन की है जिसका मूल्य लगभग १००० करोड़ रुपये है । वह देश जो अन्न-उत्पादन मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करने हेतु जी तोड़ प्रयत्न कर रहा हो, इतनी बड़ी हानि नही

उठा सकता। यह बात ध्यान देने योग्य है कि औसत मानसून वाले वर्ष मे हमारा अन्न-उत्पादन हमारी आवश्यकताओ से केवल १० प्रतिशत कम होता है। इस कमी को पूरा करने के लिए ८० या ६० लाख टन अनाज का आयात करना पड़ती है जिसके लिए प्रतिवर्ष ५०० करोड रुपये खर्च करने पडते हैं। *यदि हम अपनी फसलो को कीडो तथा रोगों से बचा* सकें तथा इनके द्वारा नष्ट होने वाली फसल को प्राप्त कर सकें तो केवल आयात पर व्यय होने वाली विदेशी मुद्रा को ही नही बचा सकेंगे, बल्कि हमारे पास निर्यात के लिए फालतू अनाज भी हो जाएगा। अत पौध-सरक्षण हमारी योजना का अत्यावश्यक अग होना चाहिये।

आनुभविक प्रमाणो से पता चलता है कि पौध-सरक्षण-उपाय उपज बढ़ाने मे वास्तविक रूप मे सहायक सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ खरपतवार तथा शाक के विनाश से फसलो को अधिक पोषक तत्त्व तथा अधिक जल की प्राप्ति होगी जिसके कारण उपज भी अधिक होगी। इसी प्रकार नाशक जीवो तथा रोगो के उन्मूलन के फलस्वरूप पौधों का स्वस्थ विकास होगा और इस प्रकार कृषक भरपूर फसल प्राप्त कर सकेगा। अधिक उपज वाली किस्मों के प्रोग्राम से सबधित मूल्याकन रिपोर्ट पर आधारित सारणी ६ १ पौध-सरक्षण उपायो के महत्त्व पर प्रकाश डालती है।

सारणी ६.१ कृषि मे उन्नत रीतियो के परिणामस्वरूप प्राप्त औसत उपज

(क्विटल प्रति हैक्टर)

ऋतु	फसल	राज्य	उन्नत रीतियो से प्राप्त औसत उपज*			
			ख घ	ख ग घ	क ख घ	क ख ग घ
१	२	३	४	५	६	७
रबी १६६८	चावल	तमिलनाडु	२८ ७१	३६ ६१	२०.५६	४३.०७
रबी १६६८	चावल	तमिलनाडु	२८.५६	३६ ६८	२०.८६	४५.०२
रबी १६६८	चावल	तमिलनाडु	३२.२५	३६.०८	—	—
रबी १६६८	गेहूँ	पजाब	२५ ६०	३५ ६१	१७ १५	२३.६६
रबी १६६८	गेहूँ	पजाब	२६.४७	३५.६१	१७.१५	१६ ६२
रबी १६६८	ज्वार	महाराष्ट्र	—	—	५.५६	१२.६०
रबी १६६८	ज्वार	महाराष्ट्र	—	—	१६ ३१	२०.७८

* उन्नत रीतियाँ : क—बीज उपचार; ख—रासायनिक उर्वरको का अनुप्रयोग;
ग—निरोधी पौध सरक्षण उपाय; घ—अन्त: शस्यकर्षण क्रियाएँ (निराई-गुडाई)

सारणी ६.१ मे कॉलम (४) व (५) तथा कॉलम (६) व (७) के उपज अन्तर स्वतः स्पष्ट हैं। यह रिपोर्ट इस तथ्य की पुष्टि करती है कि कीटनाशक दवाइयो का सामयिक अनुप्रयोग उपज मे वृद्धि करता है और कुछ परिस्थितियो मे यह वृद्धि १०० प्रतिशत तक भी होती है। सारणी से स्पष्ट है कि उन लोगो को जो दूसरी अन्य रीतियो के साथ साथ निरोधी पौध-रक्षण उपाय भी करते हैं, उन लोगो की अपेक्षा जो ये उपाय नही अपनाते, अच्छी फसल प्राप्त होती है।

संक्षेप में, पौध-संरक्षण उपाय अन्न-उत्पादन में वृद्धि हेतु प्रयासों के संपूरक हैं। अन्न में आत्मनिर्भरता उपज बढ़ाने तथा बचाने वाली निविष्टियों के संयुक्त अनुप्रयोग द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए कीटनाशक पदार्थों का महत्व है। समय रहते ही यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि कहीं हमारी बड़ी कठिनाई से उपजाई फसल को कीड़े न चट कर जाएँ। भारत में लगभग २४० करोड़ चूहे हैं। यह देखना जरूरी है कि ये कृन्तक प्राणी कहीं अनाज को ले जाकर इसका अपने बिलों में भंडार न कर लें वर्ना सिंचाई स्कीमों, उर्वरक कारखानों तथा अनुसंधान में निवेशित इतनी बड़ी धनराशि व्यर्थ ही जाएगी और उसका कोई लाभ नहीं होगा।

यद्यपि अनुसंधान, उर्वरक तथा सिंचाई उपज में वृद्धि करते हैं परन्तु इनसे प्राप्त लाभों को पौध-संरक्षण द्वारा ही बचा कर रखा जा सकता है। प्रभावी पौध-संरक्षण कृषक के उत्पादन में स्थायित्व लाने के लिए जरूरी है।

पौध-संरक्षण की सुबद्ध नियंत्रण-प्रक्रिया निम्न उपायों से विरचित है —

(क) कर्षण नियंत्रण (कल्चरल कन्ट्रोल) व रीतियों का प्रयोग जैसे फसलों का हेर-फेर आदि,

(ख) भौतिक तथा यान्त्रिक नियंत्रण (फिज़ीकल एण्ड मैकेनिकल कन्ट्रोल) जैसे चूहों का उन्मूलन, जाली से पकड़ना अथवा भोजन व फलों का प्रलोभन देकर उन्हें फांसना, तथा परजीवियों व परभक्षियों का उपयोग (बिल्लियों द्वारा);

(ग) जैव नियंत्रण (बाइलोजिकल कन्ट्रोल) जैसे कीट प्रतिरोधी किस्म के बीजों का विकास

तथा (घ) रासायनिक नियंत्रण (केमिकल कन्ट्रोल) अर्थात् फसलों पर रसायनों (अर्थात् नाशकजीव नाशी पदार्थों) का छिड़काव आदि।

इस अध्याय में हमारा अध्ययन नाशकजीव नाशी रसायनों के उपयोग से संबंधित है।

६.२ नाशक-जीव-नाशी पदार्थों का वर्गीकरण

नाशकजीवनाशी पदार्थ वे रसायन हैं जो पौधों की परिरक्षा करते हैं। कीटनाशी पदार्थों के रूप में वे पौधों को लगने वाले कीड़ों को नष्ट करते हैं। शाकनाशी खरपतवार को समाप्त करते हैं पौधों को रोगग्रस्त करने वाले जीवाणुओं तथा फंगस के संक्रमण को रोकने के लिए प्रयोग किए जाने वाले रसायनों को फंगसनाशी कहते हैं। फसलों को क्षति पहुँचाने वाले चूहों को मारने के लिए कृन्तकनाशी पदार्थों का उपयोग किया जाता है। नेमाटोडनाशी रसायनों द्वारा मिट्टी में सर्पमीन आदि कीड़ों का नियंत्रण किया जाता है। ये सब कृषीय नाशकजीव नाशी पदार्थ हैं और पौध-संरक्षण हेतु उपयोग में लाए जाते हैं।

६.३. नाशक जीवनाशी रसायनों का उत्पादन तथा उपभोग

भारत में पौध-संरक्षण अर्थशास्त्र, जीवनाशी रसायनों की लाभकारिता तथा इनकी मांग को निर्धारित करने वाले उपादान आदि विषयों पर बहुत कम आनुभविक अध्ययन हुआ है। इन विषयों का विश्लेषण करने से पूर्व इन रसायनों के उत्पादन तथा उपभोग के स्वरूप व

आकार को समझ लेना उपयुक्त ही होगा। सारणी ६.२ मे, भारत मे जीवनाशी उद्योग (पेस्टिसाइड इण्डस्ट्री) की अनुमतिप्राप्त क्षमता (लाइसेन्स्ड कैपेसिटी) तथा उत्पादन मे सवृद्धि को दर्शाया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मूल्य मे भारत में हमारी चालू वार्षिक आवश्यकता के केवल ६० प्रतिशत का उत्पादन किया जाता है। शेष ४० प्रतिशत का आयात करना पड़ता है जिस पर प्रतिवर्ष ४ करोड़ रुपये की राशि व्यय करनी पड़ती है।

सारणी ६.२ जीवनाशी पदार्थों की अनुमतिप्राप्त क्षमता तथा उत्पादन (टनों मे)
(लाइसैंस्ड कैंपेसिटी एण्ड प्रोडक्शन)

वर्ष	अनुमतिप्राप्त क्षमता	उत्पादन
१९६०	९१०८	७४४२
१९६१	१८७२१	८९८४
१९६२	१९९३९	८५९१
१९६३	२६०६०	९५७३
१९६४	२९९६०	१०८६३
१९६५	३५१४१	१२६७०
१९६६	३७९००	१४१३७
१९६७	५११२८	१५३६५
१९६८	५३०३३	१६०७८
१९६९	६३०१४	१८६४७
१९७०	६९९१४	२६०००

स्रोत : पेस्टिसाइड असोसिएशन ऑफ इण्डिया, "पेस्टिसाइड्स प्रोडक्शन एण्ड कन्जम्पशन।"

यद्यपि उद्योग की अनुमति-प्राप्त क्षमता ६०००० टन है परन्तु उद्योग की प्रतिष्ठापित क्षमता (इन्स्टाल्ड कैपेसिटी) लगभग ४०००० टन है। वास्तविक उत्पादन प्रतिष्ठापित क्षमता का ६५ प्रतिशत बनता है। क्षमता से कम उत्पादन का कारण सम्भवतः यह है कि हमारा उपभोग उत्पादन के अनुरूप नही है। चौथी पचवर्षीय योजना के अन्त में लगभग ८ करोड हैक्टर भूमि मे पौधों की रक्षा के उपाय किए जाने का प्रस्ताव है। इसके लिए बीज का उपचार किया जाएगा, खरपतवार को नष्ट किया जाएगा और बुवाई के बाद पौधों मे रोगों की रोकथाम की व्यवस्था की जाएगी। उपचारित बीज २ करोड़ ६० लाख हैक्टर मे बोए जाएंगे। एक करोड हैक्टर मे चूहों को नष्ट करने के लिए कार्रवाई की जाएगी। अनुमान है कि इस कार्यक्रम के लिए ६८००० टन जीवनाशी रसायनो की आवश्यकता होगी।

सारणी ६.२ से स्पष्ट है कि भारत मे जीवनाशी पदार्थों के उद्योग का पर्याप्त विकास हो चुका है और इनका शक्य उत्पादन (पोटेन्शियल प्रोडक्शन) मामूली आयात की सहायता से हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने मे सक्षम है। यह बात अलग है कि उपयोग के लिए वाछनीय पदार्थ उपयुक्त मात्रा मे प्राप्य न भी हो।

देश में जीवनाशी पदार्थों का वास्तविक उपयोग बहुत कम है और इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। लवन पूर्व तथा लवनोत्तर (प्री-हारवेस्ट एण्ड पोस्ट हारवेस्ट) हानियों को कम करने के लिए इन पदार्थों के लक्ष्य-स्तर तथा वास्तविक उपभोग-स्तर में अन्तर को कम करना बड़ा आवश्यक है। उपभोग के आँकड़े सारणी ६.३ में दिए गए है।

सारणी ६.३ नाशक जीवनाशी पदार्थों का उपभोग (टनों मे)

वर्ष	तकनीकी ग्रेड पदार्थों का कुल उपयोग
१९६०–६१	८६२२
१९६१–६२	१०३०४
१९६२–६३	९८९०
१९६३–६४	११०३०
१९६४–६५	१२०६५
१९६५–६६	१४६३०
१९६६–६७	१७१३७
१९६७–६८	२०९००
१९६८–६९	२८२००*

* प्रत्याशित

स्रोत : पेस्टिसाइड्स असोसियेशन ऑफ इण्डिया "रिपोर्टस् फॉर पेस्टिसाइड्स् एण्ड प्लान्ट प्रोटेक्शन" नई दिल्ली, १९६८.

भारत मे नाशकजीव नाशी पदार्थो के उपयोग के आकार का विश्लेषण करते समय प्रति हैक्टर कुल फसल क्षेत्र तथा प्रति हैक्टर सरक्षित क्षेत्र में इन रसायनों के उपभोग को परिकलित करने की आवश्यकता होगी। ऐसा करने से हम अपने उपभोग की अन्य विकसित देशों के साथ तुलना कर सकते हैं।

सारणी ६.४. नीशकजीव नाशी पदार्थों का उपभोग (प्रति हैक्टर फसल क्षेत्र व प्रति हैक्टर सरक्षित क्षेत्र)

(ग्रामो मे)

वर्ष	जीवनाशी पदार्थों का उपयोग (टनो में)	कुल फसल क्षेत्र (लाख हैक्टरो में)	कुल सरक्षित क्षेत्र	उपभोग (ग्रामों मे) प्रति हैक्टर (फसल क्षेत्र)	प्रति हैक्टर (सरक्षित क्षेत्र)
१९६०–६१	८६२२	१५२७	६५	५६	१३२६
१९६५–६६	१४६३०	१५५३	१६६	९४	८८१
१९६८–६९	२८२००	१५५४	४००	१८१	७०५

स्रोत ; सक्षिप्त भारतीय कृषि '१० वाँ संस्करण की सारणी १०.२ पर आधारित।

सारणी से स्पष्ट है कि पिछले १० वर्षों में जीवनाशी पदार्थों का उपभोग तिगुने से भी अधिक बढ़ गया है परन्तु १८१ ग्राम प्रति हैक्टर का उपयोग संसार में सबसे कम में से एक है। जापान, युरोप तथा अमरीका में यह उपयोग क्रमशः १०७६०, १८७० तथा १४८० ग्राम प्रति हैक्टर है। जीवनाशी पदार्थों के उपभोग से सम्बन्धित तुलनात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि भारत में इन पदार्थों पर प्रति हैक्टर औसत खर्च २ रु. १५ पैसे है जबकि अमरीका तथा जापान में यह व्यय क्रमशः ३५ रुपये तथा ११० रुपये प्रति हैक्टर है।

ज्ञातव्य है कि सघन कृषि जिला कार्यक्रम (IADP प्रारम्भ १९६०–६१) तथा सघन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम (IAAD : प्रारम्भ १९६४–६५) का मुख्य उद्देश्य सघन खेती को बढ़ावा देना था तथा ये कार्यक्रम नई कृषि-व्यूहरचना के प्रारम्भिक चरण थे, परन्तु इन कार्यक्रमों का कार्य परम्परागत किस्मों की फसलों तक सीमित था। अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों को १९६६ में अपनाया जाने लगा। इस समग्र व्यूहरचना का मुख्य उद्देश्य कृषि-विकास के लिए नवीन सम्भावनाओं को उत्पन्न करना था। प्रश्न उठता है कि हमारा जीवनाशी पदार्थों का उपयोग-आकार (पैस्टिसाइड्स यूज पैटर्न) उपरोक्त लक्ष्यों के कहाँ तक अनुरूप है और क्या इन कार्यक्रमों में जीवनाशी पदार्थों के उपयोग को उचित स्थान दिया गया है ?

सारणी ६.४ से पता चलता है कि सघन कृषि जिला कार्यक्रम (स.कृ.जि. का), सघन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम (स.कृ.क्षे.का), अधिक उपज देने वाली किस्मों के कार्यक्रम (अ उ कि.का.) तथा कृषि-उत्पादन हेतु विज्ञान व टैक्नॉलोजी पर आधारित नवीन व्यूहरचना में जीवनाशी पदार्थों के उपयोग को उपयुक्त महत्त्व नहीं दिया गया। पिछले वर्षों में प्रति हैक्टर (सरक्षित क्षेत्र) उपयोग १३२६ ग्राम से कम होकर ७०५ ग्राम प्रति हैक्टर हो गया है जो आधे से थोड़ा ही अधिक है।

हम यह बता चुके हैं कि अधिक उपज देने वाली किस्मों के विकास, सिंचाई-सुविधाओं के उपयोग में विस्तार तथा उर्वरकों की सप्लाई में प्रसार के फलस्वरूप फसलों पर कीटों तथा रोगों की प्रभाववश्यता बढ़ गई है और यह बड़ा जरूरी है कि नाशक जीवों तथा रोगों की फसलों द्वारा बढ़ती हुई इस ग्रहणशीलता (सुग्राह्यता) पर काबू पाने के लिए जीवनाशी पदार्थों के उपयोग को भी अनुरूप मात्रा में बढ़ाया जाए। कम से कम विभिन्न निविष्टियों के उपभोग-अनुपातों को तो बनाए रखना ही चाहिए। सारणी ६ ५ देखें।

सारणी ६.५ जीवनाशी पदार्थों-उर्वरकों का उपभोग-अनुपात

(१)	(२)	(३)	(४)
वर्ष	उर्वरकों का उपभोग (टनों में)	जीवनाशी रसायनों का उपभोग (टनों में)	जीवनाशी-उर्वरक-अनुपात (३)–(२)
१९६०–६१	३०२,०००	८६२२	·०२८
१९६५–६६	७७५,०००	१४६३०	.०१९
१९६८–६९	१७७४,०००	२८२००	.०१६

स्रोत : 'संक्षिप्त भारतीय कृषि' १० वाँ संस्करण की सारणी १०.५ पर आधारित।

१९६०–६१ में प्रत्येक किलोग्राम पोषक-पदार्थ के पीछे २८ ग्राम जीवनाशी पदार्थ उपयोग मे लाए जा रहे थे जबकि १९६६ में प्रत्येक किलोग्राम उर्वरक के साथ केवल १६ ग्राम जीवनाशी पदार्थों का उपयोग किया जा रहा था। अन्य निविष्टियों से इष्टतम फल प्राप्त करने के लिए १९६१ के सतुलन को पुनःस्थापन करने की आवश्यकता है। पौध-सरक्षण कृषि आधुनिकीकरण का अभिन्न भाग है परन्तु जीवनाशी पदार्थों का उपयोग उस समय तक बढ़ाया नहीं जा सकता जबतक कृषक, कीड़ों तथा रोगो से होने वाली आर्थिक हानि को अनुभव नही करता और इस हानि को रोकने मे पौध-सरक्षण के महत्त्वपूर्ण योगदान के प्रति जागरूक नही है।

पिछले कुछ वर्षों में पौध-सरक्षण-प्रोग्राम मे हम रोग-रोधक दृष्टिकोण (प्रोफिलेक्टिक अप्रोच) अपनाते रहे हैं। जीवनाशी पदार्थों का अनुप्रयोग सरकारी उपदान (सबसीडी) की सहायता से पूर्वोपाय के रूप मे किया जाता रहा है चाहे नाशक जीवों के आक्रमण का भय न भी हो और बिना यह जाने हुए कि उनकी जरूरत है भी या नहीं, ऐसा होता रहा है। वास्तव मे हमारे दृष्टिकोण मे आर्थिक गम्भीरता का अभाव रहा है। पौध-सरक्षण-समस्याएँ इतनी सरल व साधारण नही हैं जितनी जान पडती हैं। ये समस्याएँ भिन्न-भिन्न ऋतु, भिन्न-भिन्न फसलो तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्र के लिए भिन्न-भिन्न हैं। अत: ऋतु, फसल तथा क्षेत्र के अनुसार इन समस्याओं के अभिनिर्धारण (आइडेंटीफिकेशन) की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त रोगरोधक दृष्टिकोण दीर्घकालीन आधार पर अधिक खर्चीला है और न्यून लाभ वाली वार्षिक फसलो के कारण इसे अपनाया नही जा सकता। रोग-रोधक उपाय उसी स्थिति में लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं जब फसलों को रोगो के आक्रमण का लगातार भय हो। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रसायनो का अनावश्यक उपयोग वातावरण-प्रदूषण तथा अन्य विकट समस्याओं को उत्पन्न करता है जो कम चिन्ता की बात नही है।

६.४ जीवनाशी रसायन उपयोग अर्थशास्त्र

यह एक साधारण आर्थिक कथन है कि लाभ, लागत से अधिक होना चाहिये। इसलिए जीवनाशी पदार्थ-अनुप्रयोग-कार्यक्रम का मूल्याकन भी निविष्टि-प्रतिफल अनुपात (इनपुट रिटर्न रेशो) या लागत-लाभ (अर्थात् लागत निवर्त क्षति) (कोस्ट डेमेज एवर्टेड रेशो) अनुपात द्वारा ही करना होगा।

सामान्यत: कृषक जीवनाशी पदार्थों का उपयोग करने की ओर प्रवृत्त नही होगे जब तक उन्हे यह पूर्ण विश्वास न हो जाए कि ऐसा करना लाभप्रद है। अत: रसायनो को उपयोग करने का निर्णय उनके उपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले प्रतिफल तथा लाभ पर निर्भर होगा। जीवनाशी रसायन उपज बचाऊ (यील्ड सेविंग) निविष्टियाँ हैं तथा इनसे प्राप्य प्रतिफल उनकी लागत के ऊपर फसल को उस मात्रा के मूल्य से आंका जाएगा जो इनके उपयोग के परिणामस्वरूप बचाया जाएगा।

जीवनाशी पदार्थ उपयोग से लाभ=बचाई गई फसल का मूल्य (निवर्त-क्षति)
—जीवनाशी पदार्थों पर व्यय

लागत-लाभ दृष्टिकोण के अनुसार कृषक जीवनाशी पदार्थों का उपयोग करेगा यदि निवर्त-हानि अर्थात् बचाई हुई फसल का मूल्य उनकी लागत से अधिक हो। अब बचायी हुई फसल का मूल्य उसकी मात्रा तथा कीमत द्वारा निर्धारित होता है।

फसल की वह मात्रा जो क्षति से बचायी जा सकती है निम्न बातों पर निर्भर है:

(१) नाशकजीवो के आक्रमण द्वारा किस सीमा तक फसल के प्रभावित होने की सम्भावना है अर्थात् आक्रमण की प्रकृति व स्वरूप क्या है तथा यह आक्रमण कितना तीव्र है?

(२) जीवनाशी पदार्थ कितने प्रभावी हैं अर्थात् ये पदार्थ नाशक जीवो के आक्रमण के विरुद्ध किस सीमा तक प्रभावी हैं?

(३) यदि नाशक जीवो का आक्रमण न होता तो कितनी उपज होती।

दूसरी ओर जीवनाशी पदार्थों की अनुप्रयोग-लागत इन बातो पर निर्भर है:

(१) किस प्रकार का तथा कितना जीवनाशी पदार्थ प्रयोग किया गया है?

(२) अनुप्रयुक्त पदार्थ की कीमत क्या है?

तथा (३) उनके अनुप्रयोग की कौन-सी विधि अपनाई गई है?

कहने का अभिप्राय यह है कि कृषक का यह निर्णय कि आया वह जीवनाशी पदार्थों का उपयोग करे या न करे, कौन-सा और कितना पदार्थ उपयोग करे इस बात पर निर्भर है कि इनके उपयोग करने की स्थिति मे उसे कितना जोखिम उठाना पड़ेगा। अतः यह निर्णय नाशक जीवो के आक्रमण की तीव्रता तथा प्रभाव, आक्रमण के न होने पर फसल की उपज, फसल की कीमत तथा जीवनाशी पदार्थों की लागत द्वारा निर्धारित होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृपक की जीवनाशी पदार्थों की माँग उन्ही नियमो द्वारा निर्धारित होती है जिनका उल्लेख हमने उर्वरको की माँग के सम्बन्ध में किया था। अन्तर केवल इतना है कि उर्वरक उपज-बढ़ाऊ निविष्टियाँ हैं जबकि जीवनाशी पदार्थ उपज-बचाऊ निविष्टियाँ हैं। दोनो को बाजार से खरीदना पडता है।

वास्तव मे कृपक जीवनाशी पदार्थों के अनुप्रयोग से होने वाले परिशुद्ध प्रतिफल को ज्ञात नही कर सकता। निश्चित रूप मे तो वह यह भी नही कह सकता कि आया उसकी फसल नाशकजीवो द्वारा प्रभावित होगी या नही? बाजार तथा मौसम की अनिश्चितताओ के कारण वह फसल की उपज या उसकी ठीक कीमत भी नहीं जानता। अधिक से अधिक वह इन पदार्थों से प्रत्याशित प्रतिफल का अन्दाजा ही लगा सकता है। इसलिए उसकी माँग फसल की कीमत व उपज-प्रत्याशाओं (प्राइस एण्ड यील्ड एक्सपेक्टेशन) पर निर्भर है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उच्च मूल्य वाली फसलो के लिए, जो तीव्र नाशकजीवो के आक्रमण के प्रभाववश्य हैं, जीवनाशी पदार्थों की माँग कम मूल्य वाली फसलो जिन पर प्रभाव अधिक तीव्र नही होता, की अपेक्षा अधिक है। दूसरी ओर अ उ. किस्मों के विकास, उर्वरको के अधिक अनुप्रयोग तथा फसलो को उगाने से सम्बन्धित कर्पण परिवर्तनों (जैसे बोने के समय मे परिवर्तन, फसलों का हेर-फेर) से अधिक उपज की सम्भावनाएँ ही नही बढी परन्तु इन नवक्रियाओ ने नाशकजीवो की तीव्रता तथा उनके आक्रमणापात (इनसीडेन्स ऑफ अटेक) को भी प्रभावित किया है जिसके कारण इन पदार्थों की माँग मे

वृद्धि हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-टैक्नॉलोजी के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित समस्याओं तथा उनके कुप्रभावों का निदान भी साथ हो जाना चाहिये, तभी इन नवक्रियाओं का पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकेगा। उदाहरणार्थ, वर्तमान स्थिति में हमें पौध-रोगों तथा नाशकजीवों व कीड़ों का पता लगाना पड़ेगा, उनकी उपस्थिति, वितरण तथा रोगों की तीव्रता आदि समस्याओं का निर्धारण करना पडेगा ताकि नियन्त्रण-उपायों का अधिक बुद्धिमत्ता से प्रयोग किया जा सके। केवलमात्र रोग-रोधक उपाय पर्याप्त नहीं है। इसका अर्थ यह है कि विस्तार तथा अनुसंधान-कार्य का इस दिशा में विशेष महत्त्व है।

६.५ शिक्षा तथा विस्तार का कार्य का महत्त्व

जीवनाशी पदार्थों के बारे में एक रोचक तथ्य यह है कि उनकी शक्ति अधिक समय तक नहीं रहती। कीड़े व जीवों में उनके लिए प्रतिरोध का विकास हो जाता है और वे पदार्थ जो कभी बहुत प्रभावी होते थे, इस प्रतिरोध के कारण प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार कई कीड़े समय बीतने पर हानिकारक सिद्ध होते हैं। इसलिए नवीन अधिक सुरक्षित तथा अधिक प्रभावी व हमारी परिस्थितियों के उपयुक्त दवाइयों का विकास करने के लिए लगातार अनुसधान की आवश्यकता है। जहाँतक समव हो पौध-सरक्षण-विधियों के स्थानीयकरण के प्रयास किए जाने चाहियें।

नाशकजीव-नाशी पदार्थों को लोकप्रिय बनाने के लिए खेतों में निदर्शनों तथा सवर्धन-प्रयासों की आवश्यकता है। यह जरूरी है कि कृषक यह स्वयं देख सके कि कम लागत पर जीवनाशी पदार्थ फसलों को बचाने में कितने प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। इन पदार्थों को ठीक तथा सुरक्षित प्रकार से उपयोग करने का प्रशिक्षण देना भी जरूरी है ताकि कृषक द्वारा उनका दुरुपयोग न हो। इसके लिए समाचार पत्र, रेडियो तथा प्रकाशित पुस्तकों की सहायता लेनी पडेगी। सरकार एजेंसियाँ, कृषि विश्वविद्यालय तथा प्रशिक्षण केन्द्र इस सबध में तकनीकी सलाह दे सकते हैं। इसके लिए स्थानीय ऋण-सुविधाओं तथा सुदृढ एव विशाल वितरण व्यवस्था का होना भी जरूरी है। यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि कृषकों को ये पदार्थ उचित मात्रा मे उचित समय पर तथा उचित दाम पर उपलब्ध हों। यह कार्य वितरकों, उप-वितरकों, परचून दुकानदारों तथा सहकारी समितियों द्वारा किया जा सकता है।

६.६ पौध-संरक्षण तथा सरकारी सहायता

पिछले कुछ वर्षों तक पौध-सरक्षण का कार्य एक उपदान प्रणाली (अन्डर ए सिस्टम ऑफ सबसिडी) के अधीन मुख्यतः सरकारी एजेंसियों तथा सहकारी समितियों द्वारा ही होता रहा है। इसके लिए प्रत्येक राज्य में एक विशेष संस्थान की स्थापना आवश्यक है जो कि कृषकों के खेतों पर रसायनों के छिड़काव व झाड़ने (प्रकीर्णन) का काम कर सके। भारत सरकार ने कीट-नियन्त्रण, तथा जीवनाशी रसायनों के समाहरण मे तकनीकी सहायता देने के लिए पौध-सरक्षण, निरोधायन एवं भण्डारण-निदेशालय (डाइरेक्टोरेट ऑफ प्लाण्ट प्रोटक्शन, क्वारेन्टाइन एण्ड स्टोरेज) की स्थापना की है। यह निदेशालय क्षेत्रीय केन्द्रों

द्वारा इस कार्य को करता है तथा वितरण-उपस्करों की भी व्यवस्था करता है। अकस्मात् नाशक जीवन आक्रमण की स्थिति में अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अतः महामारी पड़ने पर केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे मुफ्त (निःशुल्क) या उपदान के रूप में छिड़काव का प्रबन्ध करे। अति न्यून आयतन आकाशी छिड़काव (अल्ट्रा-लो वोल्यूम ऐरियल स्प्रेयिंग) कीट-नियन्त्रण की सबसे प्रभावी तथा सस्ती विधि है। भारत में इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। १९६८-६९ में भारत के पास २१ कृषि वायुयान थे। १९६९-७० में यह सख्या ६९ हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी से ६० लाख डालर का ऋण लिया गया है जिसमे इस उद्देश्य के लिए ३५ हैलीकॉप्टर तथा ४७ जहाज खरीदे जाएँगे। चौथी योजना के अन्त तक २४ लाख हैक्टर भूमि पर आकाशी छिड़काव का प्रबन्ध हो जाएगा। त्रिकारी कृषि वायुयान जिन्हे 'उडन ट्रैक्टर' भी कहते हैं, उर्वरक छिड़कने तथा झाड़ने के काम मे भी लाए जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों मे जीवनाशी उपस्करो के उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। हाथ तथा शक्ति से चलने वाले विभिन्न प्रकार के फुहारो तथा प्रकीर्णको का देशी कच्चे माल तथा घटको से निर्माण किया जा रहा है। शक्ति चालित हल्का छिड़काव यन्त्र जिसे 'झोला-फुहारा' कहा जाता है काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस फुहारे का एक परिवर्तित रूप बनाया गया है, जो उर्वरको को छिड़कने के काम मे लाया जा रहा है।

९ ७ नाशक जीवनाशी पदार्थ तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य

पौध-संरक्षण कार्यक्रम के लागू करने मे भी काफी जोखिम व सकट है। बहुत से जीवनाशी पदार्थ जो कृषि-उत्पादन के लिए बहुत जरूरी हैं, विषैले होते हैं। इनमे से कुछ रसायन काफी लम्बे समय तक मिट्टी तथा जल मे ठहरे रहते है। कई बार इस दीर्घ-स्थायित्व के कारण वातावरण इतना दूषित हो जाता है कि पुनः ठीक नही किया जा सकता। इसलिए यह बडा जरूरी है कि सार्वजनिक हितो तथा स्वास्थ्य का सभावी सकटों से सरक्षण किया जाए। यह देख लेना चाहिये कि इनके उपयोग से कही वन्यजीवन, मत्स्य तथा अन्य लाभकारी जीवो तथा कीड़ो पर कुप्रभाव न पड़े। लगातार अनुसंधान नितात आवश्यक है ताकि ऐसे रसायनो का उत्पादन किया जा सके जो पशुओं और प्राणियों दोनों के लिए अधिक सुरक्षित हो और साथ ही पौध संरक्षण के लिए अधिक प्रभावी भी हो। जीवनाशी पदार्थ (सस्ते) आर्थिक विष हैं और उनका विपणन सरकारी नियमों के अधीन नियमित होना चाहिये। कानून में जीवनाशी पदार्थों के उपभोक्ताओं तथा इनके द्वारा सर-क्षित उत्पाद के उपभोक्ताओं दोनो की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये। किसी भी रसायन को बाजार मे लाने से पहले निर्माता को इस बात का वैज्ञानिक प्रमाण देना चाहिये कि (१) रसायन लेबल पर लिखे गए कीड़ों के विरुद्ध प्रभावी है तथा (२) यह रसायन निर्देशानुसार प्रयोग करने पर मनुष्यो, फसलो, पशुओ और वन्य प्राणियो को क्षति नहीं पहुँचाएगा। संभावी अवशेष रचना को चिह्नित करने के लिए सतत अनुसधान तथा अध्ययनों की आवश्यकता है ताकि भावी कीटनाशी पदार्थों के अनुप्रयोग से अधिकतम प्रभाव तथा सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके।

६.८ कृषि-रसायनों में नवीन संभावनाएँ

भारतीय कृषि-अनुसंधान-संस्थापन, नई दिल्ली में किये गये प्रयोगों से पता चला है कि वानस्पतिक उद्‌गम के कुछ देशी पदार्थ तथा कुछ औद्योगिक अपशेष (रद्दी) पदार्थ जीवनाशी पदार्थों के साथ योगवाहकों (सिनरजिस्ट) के रूप में उपयोग में लाए जा सकते हैं। कीटनाशी पदार्थ के *सक्रियता-क्षेत्र का विस्तार* करने के साथ-साथ योगवाहक, कीटनाशी अवशेषों की समस्या को भी कम करते हैं। योगवाहक, कीटनाशी पदार्थों के साथ सहक्रिया करते हैं और उनके आर्थिक, दक्ष तथा सुरक्षित उपयोग को सुनिश्चित करते हैं। मिश्रित, बहुफसली अथवा रिले खेती के कारण फसलें एक से अधिक कीड़ों द्वारा पीड़ित हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में वह *कीटनाशी पदार्थ, जो एक ही प्रकार के कीड़ों को* नष्ट कर सके, उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए एक ऐसे 'बहुक्रिया वाले कीटनाशी' पदार्थ का विकास करना होगा जो एक से अधिक वर्गों के कीड़ों का नाश करे। सुव्यवस्थित उद्योग के अनेक अपशेषों व बेकार पदार्थों में फफूंदनाशी, कीटनाशी, ऐकेराइननाशी विशेषताएँ हैं और वे '*त्रिक्रिया*' *जीवनाशी पदार्थ के रूप में प्रयोग किए जा सकते हैं। अनुसंधान द्वारा ही* यह कार्य किया जा सकता है।

कीड़ों के रासायनिक नियन्त्रण के अतिरिक्त अनेक रीतियां तथा उपाय हैं जो इतने ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इस दिशा में अनेक विचित्र संभावनाएँ हैं जैसे जनन को *रोकने के लिए कीड़ों, चूहों तथा पक्षियों का बन्ध्यकरण (स्टिरलाइजेशन), आकर्षकों* विशेषकर लिंग हार्मोन्ज द्वारा कीड़ों को मृत्यु की ओर फुसलाना, ऐसी आनुवंशिक असंगत नस्लों (विभेदों) का जनसंख्या में डालना ताकि सामान्य व्यष्टि जन्म न ले सकें। वास्तव में ये उपाय समाकलित नियन्त्रण की सुबद्ध योजना के अंग होने चाहियें।

अध्याय ७

यन्त्रीकरण

६.१ यन्त्रीकरण तथा उसका महत्त्व

हम पिछले अध्यायो मे अधिक उपज देने वाले बीजो, सिंचाई, उर्वरक तथा पौध-संरक्षण रसायन आदि आधुनिक निविष्टियों के महत्त्व का अध्ययन कर चुके हैं, परन्तु इन निविष्टियो का पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है यदि फार्म-क्रियाएँ (फार्मिंग आपरेशन्स) उत्कृष्ट, सामयिक तथा सतोषजनक हो। आधुनिक कृषि मे फार्म क्रियाओं की परिशुद्धता तथा सामयिकता का विशेष महत्त्व है। कहने का अभिप्राय: यह है कि आधुनिक निविष्टियो मे लगाए गए निवेश से अधिकतम लाभ नवीन तथा उन्नत कृषि तकनीको को अपनाकर तथा दक्ष व सु-अनुकूलित (वेल अडेप्टेड) मशीनरी का उपयोग करके ही प्राप्त किया जा सकता है। सघन कृषि तथा बहु फसली कृषि भी मशीनो पर निर्भर है। यही कारण है कि 'ट्रैक्टर' को आधुनिक कृषि का 'प्रतीक' कहते हैं। पिछले कुछ वर्षों में परस्पर क्रियाशील आनुवंशिक-रासायनिक-सिंचन-सयोजनो (इन्टर एक्टिंग जिनेटिक केमिकल इरीगेशन कोम्बीनेशन्स) द्वारा अन्न-उत्पादन मे प्रस्फोटक वृद्धि हुई है जिसके कारण और अधिक यन्त्रीकरण की माँग भी बढ़ गई है। **निश्चय ही यन्त्रीकरण अर्थात् यांत्रिक शक्ति का उपयोग कृषि के आधुनिकीकरण का महत्त्वपूर्ण सकेतक है।**

किसी भी औज़ार, उपकरण अथवा मशीन के उपयोग को, जिससे कृषक को अधिक बेहतर फसल उपजाने में सहायता मिले या जिससे कृषि-क्रियाएँ अधिक आराम से, कम समय में और कम खर्च पर की जा सकें, यन्त्रीकरण करते हैं। मुख्यतः यन्त्रीकरण का अर्थ है कृषि-दक्षता को बढाने हेतु यात्रिक शक्ति का उपयोग। यह सत्य ही है कि सिंचाई, परिवहन तथा अन्य सम्बद्ध क्षेत्रो मे यात्रिक शक्ति का अनुप्रयोग कर कृषि-दक्षता को काफी बढाया जा सकता है। बड़े पैमाने पर, भू-तैयारी, भू-रूपातरण तथा भूमि-सरक्षण जैसे उपाय मशीनो तथा कर्षण- (जुताई) उपस्करों के बिना नही किए जा सकते। नवीन भूमि के उद्धार मे भी यन्त्रीकरण का विशेष भाग है। पिछले कुछ वर्षों मे यन्त्रीकरण द्वारा काफी बेकार तथा बंजर भूमि को उन्नत तथा खुशहाल बस्तियो मे बदल दिया गया है। इसके अतिरिक्त, यन्त्रीकरण से अनेक उद्योगो का विकास होता है तथा अधिक रोजगार व अन्य सम्बद्ध लाभो के लिए नवीन अवसर उत्पन्न होते हैं। उदाहरणतः नलकूप-विकास देश मे नवीन कृषि-व्यूहरचना के मुख्य घटको मे से एक है। पम्प सैट अधिक उपज के लिए जल पूर्ति को सुनिश्चित करते हैं तथा बहु फसली कृषि के लिए अवसर प्रदान करते हैं जिसके

परिणामस्वरूप प्रति इकाई क्षेत्रफल तथा प्रति श्रम-दिन उत्पादिता बढ़ती है तथा शक्ति समेत अधिक यन्त्रीकरण की माँग उत्पन्न होती है। इस अर्थ मे कटाई व गहाई विकासशील (उन्नतिशील) हैं। वे भी कृषि-उद्योग तथा विपणन-सेवाओं को सुदृढ़ करती हैं।

७.२ यन्त्रीकरण संवृद्धि

दक्ष कृषि के त्वरित विकास के संदर्भ मे फार्म मशीनरी तथा कृषि औज़ार भी उतने ही जरूरी हैं जितने अ. उ कि. बीज, उर्वरक, कीटनाशी रसायन व सिंचाई आदि निविष्टियाँ। अभिनव वर्षो में कृषि-उत्पादन के प्रयासो मे तेजी आने से ट्रैक्टरो तथा सम्बद्ध मशीनरी की माँग मे चकित कर देने वाली वृद्धि हुई है। १९६८–६९ मे ६०००० ट्रैक्टरो की माँग थी जबकि १९६९–७० मे यह माँग बढकर १२५,००० हो गई है। कुछ एक क्षेत्रो में माँग मे यह वृद्धि उत्पादन-प्रस्फोट तथा आय मे सुधार के कारण हुई है। अन्य शब्दो मे हम कह सकते हैं कि यन्त्रीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः विकास द्वारा प्रेरित हुई है। यद्यपि देश मे ट्रैक्टरो के उत्पादन मे बडी तेजी से वृद्धि हुई है, फिर भी इनकी बड़ी कमी है। इस समय ८० हजार ट्रैक्टरो के लिए अर्जियाँ पडी हुई हैं। इन वर्षों में ट्रैक्टरो का काफी आयात करना पडा है। १९७०-७१ मे ३५००० ट्रैक्टर आयात किए गए। १९७०-७१ मे कृषि ट्रैक्टरो की उत्पादन क्षमता २०००० थी। १९७३-७४ तक ६८,००० ट्रैक्टर बनाने का लक्ष्य है। १९७३-७४ तक १००००० ट्रैक्टरो की माँग का अनुमान है। सारणी ७ १ में १९६१-७० की अवधि मे हुई यन्त्रीकरण-संवृद्धि दी गई है।

सारणी ७.१ कृषि मशीनरी (१९६१-१९७०)

मशीनें/उपस्कर	१९६१	१९६६	१९६९	१९७०
हल	४०६८००००	४३०९४०००	—	—
गन्ना कोल्हू	६२४०००	६९५०००	—	—
लघु डीजल इजन	२३००००	४७१०००	१९५७०००	२३५००००
विद्युत् पम्प	१६००००	४१५०००		
ट्रैक्टर	३१०००	५४०००	९००००	१०००००

स्रोत खाद्य व कृषि मन्त्रालय, भारत सरकार

७ ३ यन्त्रीकरण की मात्रा (कोटि)

यन्त्रीकरण कृषि के आधुनिकीकरण का महत्त्वपूर्ण सूचक है। आधुनिकीकरण का विस्तार *यन्त्रीकरण की मात्रा (कोटि) (डिग्री ऑफ मेकेनाइजेशन)* द्वारा निर्धारित होता है। यन्त्रीकरण की मात्रा (कोटि), १००० हैक्टर फसल क्षेत्र पर अनुप्रयुक्त यांत्रिक शक्ति की इकाइयो मे व्यक्त की जाती है। यान्त्रिक शक्ति की कुल इकाइयो को ज्ञात करने के लिए कृषि क्रियाओ मे प्रयुक्त विभिन्न मशीनो के लिए उनके योगदान के अनुसार भार (वेट्स) निर्दिष्ट करने पड़ते हैं। सारणी ७.२ में प्रत्येक ट्रैक्टर के लिए २ का भार तथा अन्य मशीन (डीजल इजन तथा विद्युत् पप) के लिए १ का भार निर्दिष्ट किया गया है। सारणी ७.२

यन्त्रीकरण की मात्रा को व्यक्त करती है।

सारणी ७.२　कृषि में शक्ति-निविष्टियां

वर्ष	कुल फसल क्षेत्र	ट्रैक्टर	डीजल इंजन व पम्प सेट	यांत्रिक शक्ति की इकाइयाँ (या. म.)*	प्रति १००० हैक्टर (या. म)
	लाख हैक्टर		हजारों मे	हजारो में	इकाई
१९६१	१५२७	३१	३६०	४५२	२.९६
१९६६	१५५३	५४	८८६	९९४	६.४०
१९६९	१५५४	९०	१९५७	२१३७	१४.४०
१९७०	१५८०	१००	२३५०	२५५०	१६.१४

* निर्दिष्ट भार, ट्रैक्टर–२, इंजन व पंप—१

सारणी मे कृषि-मशीनरी के उपयोग की उपरिमुखी प्रवृत्ति स्पष्ट है। सारणी से यह भी स्पष्ट है कि यन्त्रीकरण संवृद्धि काफ़ी तेज़ दर से हुई है। पिछले दस वर्षों मे यांत्रिक शक्ति का उपयोग पांच गुना से भी अधिक हो गया है।

७.४ यन्त्रीकरण तथा उत्पादिता-संवृद्धि

यहां कृषि यन्त्रीकरण तथा फसलो की उत्पादिता-सवृद्धि के सम्बन्ध पर विचार करना रुचिकर होगा। हम जानते हैं कि उत्पादिता मे वृद्धि निम्न दो कारको का परिणाम है:

(१) उपजाई गई फसलों की उपज में वृद्धि के कारण

तथा (२) कम प्रतिफल वाली फसल के अधिक प्रतिफल वाली फसल द्वारा प्रतिस्थापन से अर्थात् उचित शस्य-स्वरूप परिवर्तन द्वारा।

इस सदर्भ मे हमे इस बात का अध्ययन करना होगा कि उत्पादिता मे वृद्धि तथा कृषि-*यन्त्रीकरण एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं तथा उनके बीच सम्बन्धो से क्या* निष्कर्ष निकलते हैं।

सारणी ७.३ मे विभिन्न राज्यों मे उत्पादिता-संवृद्धि तथा यांत्रिक शक्ति के उपयोग के आंकड़े दिए गए हैं।

सारणी ७.३ के आँकड़ो का विश्लेषण करने से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

(१) विभिन्न राज्यो मे यांत्रिक शक्ति के उपयोग के आंकडो मे तुलना करने से पता चलता है कि इस संदर्भ मे अन्तर-राज्य अन्तर काफी अधिक हैं। तमिलनाडु में सबसे अधिक अर्थात् प्रति १००० हैक्टर फसल क्षेत्रफल पर यांत्रिक शक्ति की ४१.९ इकाइयों का प्रयोग किया जाता है जबकि उडीसा में उतने ही क्षेत्र पर ०.३ इकाइयो का प्रयोग होता है।

(२) दूसरा निष्कर्ष यह है कि मैसूर तथा बिहार को छोड कर जिन राज्यो मे उत्पादिता की सवृद्धि-दर ऊँची है (अर्थात् सर्वभारत औसत से अधिक है) उन राज्यो में यान्त्रिक शक्ति का उपयोग भी ऊँचा है। उत्पादिता-सवृद्धि मे प्रथम ६ राज्य

सारणी ७.३ कृषि-उत्पादिता-सवृद्धि तथा यान्त्रिक शक्ति का उपयोग (राज्यवार)

राज्य	सवृद्धि-दर (प्रतिशत) * (१९५२-५३ से १९६४-६५ अवधि मे)	कोटि (रेंक)	+यान्त्रिक शक्ति का उपयोग (प्रति एक हजार हैक्टर फसल क्षेत्र)	कोटि
गुजरात	४.५२	१	११.३	३
तामिलनाडु	३.४६	२	४१.६	१
मैसूर	३.०३	३	४.४	६
पजाब	२.८६	४	१३.६	२
आध्र प्रदेश	२.७२	५	७.६	५
महाराष्ट्र	२.६२	६	८.५	४
बिहार	२.३९	७	१.२	११.५
उड़ीसा	१ ७८	८	०.३	१४
पश्चिमी बगाल	१ ४१	९	१ २	११.५
मध्य प्रदेश	१.३०	१०	१.३	१०
उत्तर प्रदेश	१.०१	११	३.०	८
केरल	१.००	१२	३.९	७
आसाम	—(०.०७)	१३	०.८	१३
राजस्थान	—(०.०८)	१४	१.५	९
सर्वभारत	१.९१		६ ९	

* स्रोत सारणी ५.१७. इण्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ दशम सस्करण।

+ पशु जनसख्या (एडीसन) १९६६ के आंकडो से परिकलित ।

नोट : बिहार तथा केरल के उत्पादिता-आंकडे सशय रहित नही हैं । कोटियाँ अवरोही क्रम मे हैं ।

(गुजरात, तमिलनाडु, मैसूर, पजाब, आध्र प्रदेश, महाराष्ट्र) यान्त्रिक शक्ति के उपयोग की दृष्टि से भी उच्च कोटि मे हैं ।

(३) लगभग उन सब राज्यो मे जहाँ उत्पादिता-वृद्धि की दरें न्यून रही हैं, वहाँ यांत्रिक शक्ति का उपयोग भी सर्वभारत औसत से कम रहा है ।

उत्पादिता-वृद्धि की दर तथा यान्त्रिक शक्ति के उपयोग के बीच सम्बन्ध का एक बेहतर माप 'स्पियर्मेन कोटि सहसम्बन्ध गुणाक (स्पियर्मेन कोअफिशियन्ट ऑफ रैंक कोरिलेशन) है । यह सह-सम्बन्ध विभिन्न राज्यों के आंकड़ों के कोटि-निर्धारण द्वारा ज्ञात किया जाता है । सारणी ७.३ में दिए गए आंकडों के आधार पर उत्पादिता-वृद्धि-दर तथा यान्त्रिक शक्ति-उपयोग के बीच कोटि-सह-सम्बन्ध गुणाक ०.६८५ आता है जो ०.५ से अधिक है तथा इनके बीच पर्याप्त साहचर्य का परिचायक है। यांत्रिक शक्ति के उपयोग का यह सूचकांक ५ प्रतिशत स्तर पर सार्थक है ।

उपरोक्त विवेचन से इस बात की पुष्टि होती है कि कुछ राज्यो मे उत्पादन-प्रस्फोट तथा आय सुधार के कारण ही यन्त्रीकरण (विशेषतः ट्रैक्टरो) की मांग उत्पन्न हुई है। पजाब एक ऐसा ही उदाहरण है। विलोमत. यह शायद शक्ति का अभाव ही है जिसके कारण हम एक बहुत बड़े क्षेत्र मे उपलब्ध आनुवशिक-रासायनिक सयोजनों तथा भूमि-ससाधनो का उपयोग करने से वचित रहे हैं। उदाहरणार्थ केरल मे लगभग कुल फसल क्षेत्र का पाँचवां भाग सिंचित है, रासायनिक उर्वरकों के उपभोग मे भी यह राज्य देश मे दूसरे स्थान पर है जबकि प्रति हैक्टर सहकारी ऋण के परिमाण मे यह पहले नम्बर पर है, परन्तु फिर भी कृषि-उत्पादन तथा उत्पादिता की वृद्धि की दर नीची है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश मे कुल फसल क्षत्र का तीसरा भाग सिंचित है, उर्वरको के उपभोग मे भी इसका स्थान चौथा है परन्तु उत्पादिता-वृद्धि की दर सर्वभारत औसत से नीची है। भूमि-रूपातरण, *भू-सरक्षण, सामयिक रोपण, तथा कृषि-जलवायु परिस्थितियों के अनुरूप फसलो तथा किस्मो* की बीजाई, अधिक शक्ति तथा यन्त्रीकरण की मांग करते हैं। उपयुक्त फार्म-शक्ति की अप्राप्यता विकास मे बाधक है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सारणी ७.३ मे प्रस्तुत अन्तर्राज्य अन्तर कृषि के आधुनिकीकरण मे भेदमूलक प्रगति के द्योतक हैं। कृषि का आधुनिकीकरण अधिक व बेहतर उत्पादन प्राप्त करने मे और इसके फलस्वरूप कृषको को ऊँचा जीवन-स्तर प्राप्त कराने मे सहायता देता है। इसीलिए कृषि-इन्जीनियरिंग के क्षेत्र मे हुए अभिनव अनुसधानो तथा नवक्रियाओ से अधिकतम लाभ उठाने की आवश्यकता है।

७.५ यन्त्रीकरण की सम्भावनाएँ तथा समस्याएँ

इससे पहले कि हम देश मे यन्त्रीकरण की सम्भावनाओ तथा समस्याओ का अध्ययन करें, हमे 'यन्त्रीकरण' की धारणा को व्यापक सदर्भ मे समझ लेना चाहिये। 'यन्त्रीकरण' से हमारा अभिप्राय केवल ट्रैक्टर तथा बड़ी-बड़ी मशीनों के प्रयोग से ही नही बल्कि लघु हस्तचालित तथा पशुचालित औज़ारो तथा उपस्करों के उपयोग से भी है। अतः छोटी साधारण उन्नत हत्थीदार कुदाल अथवा बैल द्वारा चालित बीज-उर्वरक ड्रिल, (सीड कम फर्टीलाइजर ड्रिल) का उपयोग यन्त्रीकरण ही कहा जाएगा। जापान तथा ताइवान ऐसे देश हैं जहाँ हस्त औजारो व पशुचालित उपकरणो से लेकर शक्तिचालित उपस्करो तक हर प्रकार की मशीनो का उपयोग होता है। उनके उपयोग के लिए मुख्य शर्तें यही हैं कि उनसे प्रमाणित किफायत, लाभ तथा सुख प्राप्त हो। इसके लिए यन्त्रो को सुधारने, नवीन डिज़ाइन बनाने तथा उपयुक्त उपस्करो के विकास करने की आवश्यकता है और इस सदर्भ मे अनुसधान का महत्त्व कम नही है।

भारत मे खेती छोटे पैमाने पर की जाती है और देश मे लगभग ५ करोड़ (४ करोड़ ६८ लाख यथातथ रूप मे) सचालन जोतें है। फार्म-जोत का औसत परिमाण २ ६३ हैक्टर है। लगभग ६२ प्रतिशत सचालन जोतें (लगभग ३ करोड़ १० लाख) २.०२ हैक्टर (५ एकड) से भी कम क्षेत्र की है और इन सब जोतो का क्षेत्रफल कुल सचालन क्षेत्र का १६ प्रतिशत बनता है। सारणी ७.१ पर सरसरी तौर पर नज़र डालने से पता चलेगा कि

बहुत से कृषको (लगभग १४ प्रतिशत) के पास कृषि के लिए लकडी का हल तक भी नही है।

हमारे देश मे कृषि कार्यों तथा परिवहन के लिए आवश्यक कर्षक शक्ति (ट्रैक्शन) साधारणत: नर पशुधन से प्राप्त होती है। वर्तमान टैक्नॉलोजी तथा सास्थानिक प्रबन्धो के अधीन कर्षक पशुओ (ड्राट एनिमल्स) की वर्तमान सख्या हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही। इसका अर्थ यह है कि हमारे देश मे फालतू कर्षक पशु नहीं हैं। वास्तव मे हमारे देश मे कर्षक पशुओ की अत्यन्त कमी है। एक अनुमान के अनुसार एक तिहाई कृषको के पास कर्षक पशु नही हैं और वे इस स्थिति मे भी नही हैं कि वर्तमान तकनीकी-पारिस्थितिक तत्र के उपयुक्त कृषि चक्र को ही आरम्भ कर सके। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भू-ससाधनों के अधिकतम उपयोग के लिए आवश्यक फार्म शक्ति की पूर्ति किसी अन्य स्रोत से प्राप्त करनी होगी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश में ३० प्रतिशत भू-क्षेत्र १०१२ हैक्टर (२५ एकड़) से अधिक की जोतो में जोता जाता है। अत: ३० प्रतिशत क्षेत्र ऐसी इकाइयों मे सचालित किया जाता है जिनमे से प्रत्येक एक ट्रैक्टर द्वारा नियत्रित की जा सकती है। ऐसी जोतो की सख्या लगभग २३ लाख है जो कुल जोतो का ५ प्रतिशत से भी कम है। इन जोतो द्वारा ३ करोड ६० लाख हैक्टर क्षेत्र सचालित होता है। इस समय केवल एक लाख ट्रैक्टर उपयोग मे लाए जा रहे हैं जो ४० लाख हेक्टर क्षेत्र की शक्ति आवश्यक्ताओ को ही पूरा कर सकते है। हमारे अध्ययन से स्पष्ट है कि हमारे देश मे यन्त्रीकरण की विशाल सम्भावनाएँ मौजूद हैं तथा फार्म-यन्त्रीकरण मे वृद्धि हेतु नये अवसरो को ढूँढने का प्रत्येक प्रयास सराहनीय है। कृषि-यन्त्रीकरण को सफल बनाने के रास्ते मे अनेक कठिनाइयाँ व अडचने हैं जिनका समाधान करना आवश्यक है।

कृषि यन्त्रीकरण के रास्ते मे सबसे बडी अडचन यह है कि भारत मे अधिकाश जोतो का आकार अत्यधिक छोटा है। लगभग ४० प्रतिशत जोतें आकार में १.०१ हैक्टर से भी छोटी है। क्षुब्ध करने वाली बात यह है कि ये छोटी-छोटी जोतें आगे कई-कई खण्डो (पार्सल्स) मे उपविभाजित हैं। उदाहरणार्थ १० प्रतिशत जोतें ०२० हैक्टर से भी कम की हैं जिनमें से प्रत्येक आगे १८२ खण्डों मे बटी हुई है और प्रत्येक खण्ड का औसत क्षेत्रफल १/८ एकड है। ०२०—०.४० हैक्टर वर्ग मे जोत के प्रत्येक खण्ड का औसत क्षेत्र ०६७ हैक्टर (अर्थात् १/४ एकड) है। भूमि के इन छोटे-छोटे टुकडो पर यन्त्रीकरण या किसी प्रकार का भी सुधार सम्भव नही है। खडन की समस्या का चकबन्दी द्वारा निदान किया जा सकता है परन्तु इससे लघु कृषक को उसकी मुसीबतो से छुटकारा नही मिल सकता। यदि देश से गरीबी हटानी है तो जोतों के समग्र वितरण-स्वरूप (डिस्ट्रीब्यूशन पैटर्न) में क्रातिकारी पुनर्गठन करना पड़ेगा।

हम किस प्रकार इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि ऐसे कृषक की, जिसके पास सचालन के लिए ०.२० या ०.४० हैक्टर से भी कम भूमि है, दयनीय स्थिति कभी सुधर सकती है चाहे वह कितना ही दक्ष या प्रगतिशील क्यो न हो। कृषि समाज का यही वर्ग है जिसके सुदृढ़ तथा स्थायी आधार पर पुनर्गठन की आवश्यकता है। हो सकता है कि इस प्रक्रिया में उनके पुनर्वासन (रीसैटलमेंट) की आवश्यकता पड़े। इसमे शक नही कि यह

पुनर्वासन दु.खदायी तथा जोखिम भरा है परन्तु इसके सिवा कोई चारा नही है और न ही इसका कोई विकल्प है । यह एक कटु सत्य है कि देश मे लगभग ६१ लाख जोतो मे से प्रत्येक ०.४० हैक्टर अर्थात् एक एकड से भी कम की है । सरकार भूमि सुधार कार्यक्रम मे जोतों की 'अधिकतम सीमा निर्धारण' करने पर इतना जोर लगा रही है परन्तु निम्न वर्ग का पुनर्गठन करने के लिए उसने अभी तक कोई योजना नही बनाई । यह नीति वास्तविकता से दूर है । आवश्यकता उनका जीवनोद्धार करने की है । उनका पुनर्गठन तथा यदि आवश्यकता पड़े तो उनका पुनर्वास 'भूमि सुधार नीति' का आधार होना चाहिये ।

कृषि-यन्त्रीकरण की विस्तार सम्भावनाओ के सन्दर्भ मे महत्त्व 'सचालन जोतो की सख्या' का नही है बल्कि इन जोतो के कुल क्षेत्रफल का है । उदाहरणत' लगभग ६२ प्रतिशत जोतें (अर्थात् ३ करोड १० लाख जोतें) आकार मे २०२ हैक्टर से भी कम की हैं, परन्तु उनके द्वारा सचालित क्षेत्र कुल के २० प्रतिशत से अधिक नही है । यदि हम यह भी मान लें कि इन छोटी जोतो मे 'यन्त्रीकरण' का कोई स्थान नहीं है, फिर भी ८० प्रतिशत क्षेत्र ऐसा है जो मध्यम तथा उचित आकार की इकाइयो मे बटा हुआ है और जहाँ यन्त्रीकरण की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं । ३० प्रतिशत क्षेत्र अर्थात् ३ करोड ९५ लाख हैक्टर भूमि, १० १२ हैक्टर अर्थात् २५ एकड़ से अधिक की जोतों में सचालित की जाती है । ये वे जोते हैं जिनमे ट्रैक्टर व मशीनो का लाभकारी ढग से उपयोग किया जा सकता है । यदि २५ हैक्टर भूमि के लिए भी एक ट्रैक्टर की आवश्यकता हो, तो इन बड़ी जोतो के सचालन के लिए ही १६ लाख ट्रैक्टरो की आवश्यकता होगी जबकि १९७३-७४ के अन्त मे हमारा वार्षिक उत्पादन ६०,००० ट्रैक्टर का होगा । इस समय भारत मे केवल १,२५,००० ट्रैक्टर उपयोग मे लाये जा रहे हैं । इसके अतिरिक्त ५० प्रतिशत क्षेत्र ऐसा है जो २.०२ हैक्टर से १०.१२ हैक्टर क्षेत्र की जोतो मे सचालित किया जाता है । इन जोतो मे शक्तिचालित टिलर (पावर टिलर्स) तथा ६ से १५ हॉर्सपावर के छोटे बहु-उद्देशीय ट्रैक्टरो का प्रयोग किया जा सकता है । हाल के वर्षों मे ऐसे ट्रैक्टरो तथा मशीनो को डिजाइन किया गया है जो कम क्षेत्रफल की आर्थिक तथा तकनीकी आवश्यकताओ को पूरा कर सकते हैं । वे सहकारिता के आधार पर सयुक्त खेती करके भी बडे पैमाने की खेती तथा यन्त्रीकरण से होने वाले लाभो को प्राप्त कर सकते हैं । सरकार ने जोत की अधिकतम सीमा ७ हैक्टर (दो फसली भूमि) से २२ हैक्टर (शुष्क भूमि) निर्धारित की है । ऐसी जोतो की सख्या लगभग ३४ लाख है । इन जोतो के लिए १४ हॉर्सपावर से २० हॉर्सपावर के ट्रैक्टर उपयुक्त हैं । हाँ, 'अधिकतम सीमा' के नियम लागू होने पर बड़ी शक्ति के ट्रैक्टरो की माँग कम हो जाने की समावना है अथवा उन्हे फालतू समय के लिए किराये पर चलाना पड़ेगा ।

'यन्त्रीकरण', का अर्थ 'ट्रैक्टरीकरण' नही है । कुछ फार्म इतने छोटे हैं कि उनका यन्त्रीकरण नहीं हो सकता । कुछ फार्म ऐसे हैं जहाँ मशीनो तथा ट्रैक्टरो का उपयोग आर्थिक दृष्टि से ठीक नही । प्रश्न उठता है कि लघु कृषक के, जो यात्रिक शक्ति-उपयोग करने की स्थिति मे नही है, उत्पादन तथा लाभ मे वृद्धि कैसे की जाए ? उत्तर यही है कि 'सघन कृषि' को प्रोत्साहन दिया जाए । परन्तु सघन कृषि मे भी मानव तथा पशु-शक्ति के बेहतर उपयोग

की आवश्यकता होगी। उन्नत उपकरण-क्रियाओं की गुणवत्ता व सख्या मे वृद्धि करते हैं और इस दिशा मे सहायक सिद्ध हो सकते हैं। हस्त-चालित कुट्टी की मशीन, मोल्डबोर्ड, हल डिस्कहैरो तथा ओल्पड गहाई मशीन (थ्रेसर) उन्नत कृषि औजारो के कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनकी उपयोगिता प्रमाणित हो चुकी है। परन्तु मुख्य समस्या इन उपकरणो को व्यापक रूप मे और वास्तविक रूप मे खेतों पर अपनाने व उपयोग करने की है। जापानी कृषक अपने छोटे-छोटे फार्मों पर ही तकनीकी उन्नति के ऊँचे स्तर को बनाये हुए हैं तथा उनके अनुभवो से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। ध्यान रहे जापान मे जोत का औसत क्षेत्रफल १.१८ हैक्टर है जबकि भारत मे जोत का औसत क्षेत्रफल २.६३ हैक्टर है।

हमारे देश में लगभग १ करोड ७० लाख हैक्टर कृष्य बेकार भूमि पडी हुई है जिसको विकास तथा अन्न-उत्पादन के लिए उपयोग मे लाने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र को आधुनिक टैक्नॉलोजी तथा मशीनरी का अनुप्रयोग कर अधिक उपजाऊ बनाया जा सकता है। इस क्षेत्र के उद्धार के लिए झाडियो, वृक्षों, शैलो तथा अन्य बेकार वानस्पतिक वृद्धि के उन्मूलन, वन क्षेत्र की कटाई तथा अक्षत भूमि (वरजिन लैंड) की सफाई व समतलन की आवश्यकता होगी और इस कार्य के लिए शक्तिशाली ट्रैक्टरों तथा बुलडोजर व अर्थ मूवर (बुलडोजर एण्ड अर्थ मूवर) आदि भारी मशीनों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस भूमि पर भूमिहीन श्रमिकों को बसाया जा सकता है या उन छोटे कृषको के पुनर्वास के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है जिनकी जोतें ०२० हैक्टर से छोटी हैं। इस प्रकार यन्त्रीकरण कृषि के पुनर्गठन मे सहायक हो सकता है। देश मे उपलब्ध कुल कृष्य बेकार भूमि का उद्धार करने के लिए अत्यधिक प्रयास तथा लगभग ६३० करोड रुपये की राशि की आवश्यकता होगी। यह योजना हमारी भूमि समस्या का आशिक हल प्रदान करती है। निम्नतम वर्ग के जोतदारो की कुल सख्या ४८ लाख है जिनमें से ५० प्रतिशत को उद्धृत भूमि पर बसाया जा सकता है। यह कार्य विभिन्न चरणो मे सुव्यवस्थित ढग से किया जाना चाहिये।

७.६ यन्त्रीकरण तथा रोजगार

कृषि-यन्त्रीकरण की वाछनीयता के विरुद्ध एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि इसका मानव-श्रम की माँग तथा ग्राम्य रोजगार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कृषि यन्त्रीकरण के फलस्वरूप काफी श्रम का विस्थापन होगा जिसमे असख्य निर्धन व्यक्तियो के दुखो और कठिनाइयों मे और वृद्धि होगी। किसी भी स्थिति मे श्रमिकों का सभाव्य विस्थापन चिन्ता की बात है और यह कहा जा सकता है कि यन्त्रीकरण समस्याओ का समाधान करने की बजाय और अधिक समस्याओ को उत्पन्न करता है।

विभिन्न राज्यों मे 'मानव-शक्ति की माँग पर तकनीकी परिवर्तनों के प्रभाव' की जांच करने के लिए किये गये अध्ययनो से पता चलता है कि सघन व बहुफसली कृषि तथा अधिक उपज देने वाली किस्मो के उपयोग के परिणामस्वरूप हर प्रकार के श्रम की माँग मे अल्पावधि वृद्धि हुई है। यह अनुमान है कि अ. उ. किस्मे विभिन्न क्रियाओ की आवश्यकताओं मे २० से ५०प्रतिशत तक की वृद्धि करती हैं। परन्तु यन्त्रीकरण का श्रम स्थानापत्ति प्रभाव (लेबर सब्स्टीट्यूशन इफेक्ट) है।

पंजाब तथा हरियाणा में 'रोजगार पर तकनीकी परिवर्तनों के प्रभाव' से सम्बन्धित एक विश्लेषण से पता चलता है कि १९६८–६९ में अ. उ. किस्मों के चालू होने के फलस्वरूप श्रम तथा पशु-शक्ति की माँग ६ प्रतिशत बढ़ गई। अनुमान है कि १९८३–८४ तक केवल अ. उ. किस्मों के उपयोग के कारण मानव-शक्ति की माँग परम्परागत टैक्नॉलोजी के अधीन माँग की अपेक्षा १३ प्रतिशत अधिक हो जाएगी।

मानव-श्रम की माँग पर अन्य तकनीकी परिवर्तनों अर्थात् पम्प-सैटों, गहाई-मशीनों, ट्रैक्टरों, ईख के कोल्हुओं, फसल कटाई-मशीन (रीपरों) जैसी यान्त्रिक युक्तियों के प्रभाव का अध्ययन भी किया गया है। यह याद रखने योग्य है कि प्रत्येक नवीन तकनीकी निविष्टि का श्रम की माँग पर अपना पृथक् तथा स्पष्ट प्रभाव है। इन यान्त्रिक युक्तियों के उत्तरोत्तर प्रयोग से मानव शक्ति की उस माँग में जिसकी अ. उ. किस्मों तथा उर्वरक उपयोग के अधीन आवश्यकता होगी, ३२ प्रतिशत कमी होने की सम्भावना है।

अनुमान है कि पम्पों के उपयोग के फलस्वरूप श्रम की माँग में ६ प्रतिशत, गहाई मशीनों के कारण ७ प्रतिशत, गन्ना कोल्हुओं तथा कारन शैलर द्वारा ३ प्रतिशत, ट्रैक्टरों में १० प्रतिशत तथा रीपरों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ३ प्रतिशत कमी होने की सम्भावना है।

कहने का अभिप्राय यह है कि बीज, उर्वरक, कीटनाशी पदार्थों तथा उन्नत फसल-उत्पादन कौशल के उपयोग में प्रति फसल अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है तथा इसमें मानव-श्रम का अधिक उपयोग करना होगा। इसका प्रभाव यह होगा कि परिवार-श्रम के अल्प रोजगार (अंडर एम्प्लायमेंट) में कमी होगी तथा मजदूर पर रोजगार का युक्तीकरण (रेशनलाइजेशन) होगा। यह ध्यान रखने योग्य है कि कृषि-श्रम की अतिरिक्त माँग मजदूरी-स्तर को तभी प्रभावित करेगी जबकि बेकार कृषि-श्रमिकों की वर्तमान संख्या को पूर्णतः काम पर लगा लिया गया हो अर्थात् अतिरिक्त माँग वर्तमान बेकार श्रमिकों के नियोजित होने के उपरान्त ही मजदूरी के स्तर को बदल सकती है। परन्तु यह नवीन टैक्नॉलोजी, अपने साथ साथ, कृषि-यन्त्रीकरण की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन देती है जिससे कृषि श्रम की माँग में कमी होना अवश्यम्भावी है और इससे बेरोजगारी की स्थिति और भी बिगड़ जाएगी। यन्त्रीकरण के आलोचकों का तर्क है कि भारत में सस्ते श्रम का बाहुल्य है तथा श्रम-बचत युक्तियों तथा साधनों का उपयोग हमारी कठिनाइयों को बढ़ायेगा और बिलकुल वांछनीय नहीं है। परन्तु यह तो तर्क की सीमा की 'अति' है।

यह याद रहे कि एक विकसित अर्थव्यवस्था में, कृषि-यन्त्रीकरण द्रुत औद्योगीकरण तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि द्वारा प्रेरित होता है क्योंकि इनके फलस्वरूप कृषि-क्षेत्रक में श्रम की कमी हो जाती है परन्तु भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में कृषि-यन्त्रीकरण की प्रेरणा जनसंख्या में द्रुत वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि-पण्यों की कीमतों में होने वाली वृद्धि से प्राप्त होती है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण कृषि-पदार्थों की कीमतों में वृद्धि हो जाती है। मनुष्य तथा पशु इन कृषि-पदार्थों का उपभोग कर ही जीवित रह सकते हैं, इसलिए कर्षण शक्ति की लागत बहुत अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि-विकास अधिक होता है श्रम की माँग पूर्ति से बढ़ जाती है जिसका सीधा परिणाम यह

होता है कि इन क्षेत्रो मे श्रम की मजदूरी (वेज रेट) मे वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति मे शक्ति (ऊर्जा) के जैविक-उद्गम की लागत बढ जाती है जो यन्त्रीकरण को प्रोत्साहित करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि उच्च यन्त्रीकरण, कृषि उत्पादन मे विस्तार तथा प्रति व्यक्ति कृषिआय मे वृद्धि से सम्बद्ध है। ट्रैक्टरीकरण से शस्य प्रतिशतता (क्रॉप इन्टेंसिटी) तथा प्रति हैक्टर उपज मे वृद्धि होती है जिससे क्रियाओ के पैमाने मे भी वृद्धि होती है। अत. ट्रैक्टरीकरण से फार्म रोजगार मे वृद्धि भी हो सकती है। बड़े कृषको का श्रम पर व्यय बहुत अधिक होता है। यांत्रिक शक्ति उन्हे सस्ती पडती है क्योंकि यन्त्रीकरण मे परिवार के सदस्य भी भाग ले सकते है और इस प्रकार यन्त्रीकरण से उनका श्रम पर होने वाला व्यय और भी कम हो जाता है। इससे जहां एक और परिवार के सदस्यों के लिए अधिक कार्य उपलब्ध होगा और उनकी अल्पावधि बेकारी दूर होगी, वहाँ विकसित क्षेत्रों में श्रम की कमी की समस्या से भी निपटा जा सकेगा।

उपरोक्त विश्लेषण से पता चलता है कि उन क्षेत्रो मे जहाँ कृषि का उत्पादन बढ रहा है और जहाँ श्रम की वास्तविक कमी है व कर्षण-शक्ति की लागत बहुत अधिक है, ट्रैक्टर जैसी मशीनो का प्रयोग बेरोजगारी उत्पन्न नही करेगा। वास्तव मे ट्रैक्टरों के उपयोग से कर्षण-पशुओं के निर्वाह के लिए निर्धारित संसाधनो की बचत होगी, शस्य-प्रतिशतता बढने से उत्पादन तथा प्रति हैक्टर उपज मे वृद्धि होगी। इसलिए श्रम की कमी तथा कृषि पण्यो की ऊँची कीमतो के संदर्भ मे ट्रैक्टरो का उपयोग सामाजिक दृष्टि से हितकर हो सकता है। परन्तु कुछ मशीनरी ऐसी भी है (जैसे हार्वेस्टर कम्बाइन इत्यादि) जो खाद्यान्नो की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम की बढती हुई पूर्ति-कीमत के संदर्भ मे आर्थिक दृष्टि से लाभकारी है (चाहे श्रम की कमी न भी हो) परन्तु वह सामाजिक दृष्टि से हितकर नहीं है क्योकि उनका उपयोग मुख्यत. मानव-श्रम का विस्थापन करता है और ऐसी स्थिति मे भूमि-संवर्धन की संभावना (लैंड आगमेंटेशन पोटेंशियल) भी कम होती है। इसलिए मशीनरी का उपयोग वरणात्मक (सलेक्टिव) होना चाहिये, विशेष कर ऐसी मशीनरी को चुना जाए जिसके उपयोग से भूमि-संवर्धन की संभावनाएँ अधिक हो। ट्रैक्टरों का उपयोग इस दृष्टि से अर्थव्यवस्था मे रोजगार की संभावनाओ को बढाता है।

हम जानते हैं कि वर्ष मे कुछ ऐसे मास हैं (जैसे अप्रैल-मई तथा अक्टूबर-नवम्बर) जिनमे कुछ क्षेत्रो मे श्रम की माँग उनकी वास्तविक पूर्ति से अधिक होती है। इन क्रान्तिक कालो मे श्रम की कमी रोपण तथा कटाई क्रियाओ मे विलम्ब का कारण बनती है और उत्पादन एव ग्राम्य तथा नगरीय आय को प्रभावित करती है क्योकि इससे खाद्यान्नो का पूर्ति माँग-सम्बन्ध बिगड जाता है। यन्त्रीकरण चरमकाल की आवश्यकताओ को कम करके श्रम-शिखरों को बराबर कर सकता है। अतः यन्त्रीकरण केवल कृषक की दृष्टि से ही नहीं बल्कि व्यापक अर्थ मे सामाजिक कल्याण के लिए भी आवश्यक है। यन्त्रीकरण चरमभार के व्यस्ततम दिनों मे होने वाले भौतिक व शारीरिक खिंचाव तथा तनाव को कम करेगा तथा विश्राम व मनोविनोद (लिजर) के लिए अवसर प्रदान करेगा जो कि स्वास्थ्य के लिए बडे जरूरी हैं।

पक्ष में हम यह भी कह सकते हैं कि कृषि यन्त्रीकरण से देश की अर्थव्यवस्था का स्तर

ऊँचा होगा जिसके परिणामस्वरूप अनेक उद्योगों का विकास होगा तथा सबको बेहतर रोजगार मिलेगा। तर्क यह कि फालतू श्रम को उद्योग क्षेत्रक, विशेषकर मध्यम पैमाने के उपभोग-वस्तु उद्योगों तथा अन्य द्वितीयक (गौण) व तृतीयक व्यवसायों में ठीक प्रकार से नियोजित किया जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विस्फोटी श्रम शक्ति के नियोजन के लिए रोज़गार के अवसरों के विस्तार के लिए साहसपूर्ण प्रयास करने होंगे।

रोजगार अवसरों व सम्भावनाओं का विस्तार करने का मुख्य साधन यह है कि उत्पादक-सक्रियता (प्रोडक्टिव एक्टिविटी) का सारे देश में अधिकतम प्रकीर्णन हो और अर्थव्यवस्था को तेज़ी से गति दी जाए। अनुमान है कि इस समय देश में कुल श्रम-शक्ति लगभग २३ करोड़ लोगों से निर्मित है। इनमें से लगभग १६ करोड़ कृषि में हैं। भूमिहीन श्रमिकों की संख्या ४, ४$\frac{1}{2}$ करोड़ है। अगले १० वर्षों में ६ करोड़ श्रमिक और बढ़ जाएँगे। अत. नये रोजगार अवसरों को प्रदान करने के लिए हमें कृषि तथा औद्योगिक विकास की गति को तेज करना होगा। इससे कृषि तथा कृषीतर रोजगार में संवृद्धि-दर तेजी से बढ़ेगी। उदाहरणार्थ संगठित खान विनिर्माण उद्योगों के द्रुत विकास, सहायक तथा लघु उद्योगों के प्रोत्साहन, ग्रामीण तथा घरेलू उद्योगों की लगातार सहायता, ग्राम-विद्युतीकरण के लिए अधिक पूँजी-निवेश, मरम्मत तथा अनुरक्षण सेवाओं में व्यापक विस्तार, निर्माण-कार्यक्रमों, संचार, परिवहन तथा शक्ति की आधारिक संरचना के निर्माण में अधिक पूँजी-नियोजन तथा प्रशिक्षण सुविधाओं में प्रसार आदि गतिविधियों के फलस्वरूप काफी लोगों को प्रत्यक्ष रूप में रोज़गार मिल सकेगा।

परन्तु उद्योग में आशातीत विकास होने पर भी अगले १० वर्षों में १ करोड़ ८० लाख कर्मचारियों से अधिक को खपाया नहीं जा सकेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान की अपेक्षा ४ करोड़ २० लाख अतिरिक्त श्रमिकों को कृषि क्षेत्रक में ही नियोजित करना पड़ेगा। *अत यन्त्रीकरण के महत्त्व व सम्भावनाओं का अध्ययन इस संदर्भ में ही करना चाहिये।*

समस्या को इस प्रकार रखा जा सकता है। देश के अधिकांश भाग में भूमि पर जन-संख्या का अत्यधिक दबाव है। *स्थानीय संसाधनों के अल्पविकास के कारण प्रति हैक्टर तथा* प्रति श्रमिक श्रमिक-उत्पादिता बहुत कम हैं। कृषि अर्थव्यवस्था समग्र श्रमशक्ति को सतत काम देने में असमर्थ है जिसके कारण देश में बड़ी मात्रा में प्रच्छन्न बेरोजगारी या अनुत्पादक रोजगार मौजूद है। कृषि पर निर्भर जनसंख्या के अधिकांश की बेकारी तथा अल्परोज़गार ही उनकी गरीबी का मूलभूत कारण है। स्पष्टत हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसर प्रदान करना होना चाहिये। जिससे वह न्यूनतम वाञ्छनीय जीविका कमा सके। अतः प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए, जिसे रोजगार की तलाश है, **'कमाऊ रोज़गार (गेनफुल एम्प्लायमेन्ट) का आश्वासन'** या अन्य शब्दों में उन सबके लिए, जो न्यूनतम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हों, न्यूनतम मज़दूरी पर गारन्टीकृत 'रोजगार' हमारी नीति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। यह तभी सम्भव है यदि हमारी अर्थव्यवस्था का द्रुत गति से विकास हो। नीति बनाने वालों को ऐसी व्यूहरचना का विकास करना होगा जिससे उन असंख्य श्रमिकों को जिनके पास अपनी भूमि नहीं है, उत्पादक कार्य मिल सके ताकि वे राष्ट्रीय उत्पाद में अपना योग दे सकें तथा उसमें अपने अंश को कमा सकें। **प्रश्न यह उठता**

है कि कृषि का यन्त्रीकरण इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा या बाधक बनेगा ? विलोमतः क्या हम उपरोक्त तर्कों को ध्यान मे रखते हुए यन्त्रीकरण का पूर्णतः त्याग कर अपने राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है ?

इस सदर्भ मे प्रथम तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसे उपाय अपनाना है जिनसे प्रति व्यक्ति व प्रति हैक्टर कृषि-उत्पादिता मे वृद्धि हो। दूसरी ओर हमे अपनी कृषि-विधियो की श्रम-नियोजन क्षमता को भी बढ़ाना होगा अर्थात् ऐसी विधियो को अपनाना होगा जिनमे अधिक श्रम खपाया जा सके। हमे यह निर्धारण करने के लिए कि यन्त्रीकरण किस सीमा तक उत्पादक तथा आय मे वृद्धि करने वाला है गम्भीर अध्ययन करने की जरूरत है। इसके साथ यह भी जरूरी है कि अधिक श्रम-प्रधान कृषि अपनाई जाए।

यहां यह बात जानने योग्य है कि टैक्नॉलोजी के समान स्तर पर कई अन्य देश भारत की अपेक्षा प्रति हैक्टर अधिक श्रम का उपयोग करते हैं और बहुत अधिक उपज प्राप्त करते हैं। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। उदाहरणार्थ जापान मे भारत की अपेक्षा प्रत्येक हैक्टर से तीन गुना से भी अधिक धान की उपज प्राप्त की जाती है। जापान में प्रति हैक्टर २ १६ फार्म कामगार लगाये जाते हैं जबकि भारत में प्रति हैक्टर ०.६० श्रमिक काम करते हैं। ज्ञातव्य है कि जापान सबसे अधिक यन्त्रीकृत धान उपजाने वाला देश है। जैसे पहले कहा गया है बीज, उर्वरक, जीवनाशी रसायन आदि पदार्थों तथा उन्नत फसल-उत्पादन कौशल के उपयोग से प्रति फसल अधिक श्रम की आवश्यकता पडती है। इसके अतिरिक्त दुहरी, तथा रिले फसलो से सारा वर्ष बेहतर रोजगार प्राप्त होगा। यन्त्रीकरण बहुफसली कृषि की जान है।

एक ओर यन्त्रीकरण श्रम का विस्थापन करता है परन्तु दूसरी ओर यह ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है जिनमे प्रति हैक्टर अधिक श्रम का उपयोग हो सकता है। उदाहरणार्थ जापान तथा युरोप इस बात का काफी साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि प्रकृष्ट यन्त्रीकरण (इन्टेसिव मैकेनाइजेशन) तथा फार्म-श्रम का गहन उपयोग अधिक उपज वाले छोटे फार्मों पर लाभप्रद निविष्टियां हैं। सक्षेपत हमे वरणात्मक यन्त्रीकरण (सलेक्टिव मैकेनाइजेशन) के साथ-साथ श्रम के गहन उपयोग पर जोर देना चाहिये। इसी तरह लाभ व श्रम-उत्पादिता मे वृद्धि हो सकती है।

तर्क सरल है। यदि यन्त्रीकरण आधुनिक निविष्टियो तथा बहुफसली कृषि की सहायता से उत्पादन को तिगुना किया जा सके तो कृषि क्षेत्रक पूर्व-यन्त्रीकरण स्तर की अपेक्षा दूने श्रम को रोजगार प्रदान कर सकता है और प्रति श्रमिक उत्पादिता भी १½ गुना हो जाएगी। प्रत्येक शस्य-जलवायु क्षेत्र के लिए शस्य-स्वरूप, यन्त्रीकरण तथा श्रम-तीव्रता के उत्कृष्ट संयोजनो को निर्धारित करने के लिए विशेष अध्ययनो की आवश्यकता है। कृषि के आधुनिकीकरण के लिए अधिक ट्रैक्टरों अथवा बैल शक्ति तथा वरणात्मक यन्त्रीकरण की आवश्यकता होगी। साथ ही प्रति हैक्टर श्रम का उपयोग इस प्रकार से बढ़ाने की आवश्यकता है जिससे कृषक को अधिक लाभ तथा जिससे प्रति हैक्टर व प्रति श्रमिक अधिक उत्पादन प्राप्त हो।

७.७ फार्म आकार, यन्त्रीकरण तथा श्रम

यन्त्रीकरण श्रम के स्थान पर पूँजी की स्थानापत्ति का द्योतक है। इसलिए विभिन्न फार्मों द्वारा अपनाई गई टैक्नॉलोजी उनके आकार द्वारा निर्धारित होगी। भिन्न-भिन्न व्यष्टिगत फार्म भिन्न-भिन्न पूँजी-प्रधानता वाली टैक्नॉलोजी को अपनाएँगे। उदाहरण के रूप में एक छोटे फार्म को श्रम-प्रधान तकनीक अपनाने के लिए घरेलू श्रम का सुलाभ प्राप्त है। एक बड़े फार्म के पास पूँजी-प्रधान तकनीक अपनाने के लिए बृहत् पूँजी-ससाधन होते हैं और वह श्रम को बचा सकता है जिसका उसके पास अभाव होता है। एक मध्यम कृषक जिसके पास कम पूँजी-ससाधन हैं, श्रम की परिमिति पूँजी-प्रधानता वाली श्रम-बचाऊ तकनीक (लेबर सेविंग टैक्नीक आफ मोडरेट केपिटल इन्टेंसिटी) के साथ सपूर्ति करेगा। इन फार्मों की दक्षता का स्तर भी भिन्न-भिन्न होगा।

यदि जोतो की निर्धारित 'अधिकतम सीमा' (७ हैक्टर से ११ हैक्टर) ठीक प्रकार से लागू की जाए, तो काफी क्षेत्र यन्त्रीकरण की दृष्टि से मध्यम आकार की जोतों में बट जाएगा। जिसके कारण बडे ट्रैक्टरो (२७ से ५० हॉर्स पावर) की मांग का कम होना स्वभाविक ही है। ये कृषक इन ट्रैक्टरो का उचित प्रयोग तभी कर सकते हैं यदि वे इन ट्रैक्टरों को कुछ समय के लिए किराये पर चलायें। इसी प्रकार कम्बाइनो की मांग भी बहुत कम हो जाएगी, परन्तु छोटी हॉर्स पावर के ट्रैक्टरों की मांग बढने की सभावना है। ऐसी स्थिति मे कृषक यान्त्रिक शक्ति के लिए सहकारिताएं भी बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त यन्त्रीकरण केवलमात्र ट्रैक्टरीकरण ही नही, इसका क्षेत्र तो बडा व्यापक है।

७ ८ यन्त्रीकरण व पशुसख्या

हम जानते हैं कि पशु अपने भोजन (व जीविका) के लिए भूमि पर निर्भर हैं। भारत मे पशुधन की कुल सख्या लगभग ३५ करोड़ है। इनमे से लगभग ८ करोड़ श्रमयोग्य पशु (वर्किंग कैटिल) हैं। लगभग ३ करोड़ ५० लाख गायें तथा भैंसे दूध देती हैं। भेड़ो तथा बकरियों की सख्या लगभग ११ करोड है। शेष या तो दूध सूखे पशु हैं या बाल पशुधन कुछ पशु प्रजनन-उद्देश्यों के लिए भी हैं। अब पशुओ की इतनी बड़ी संख्या हमारी सीमित भूमि-ससाधनो पर बहुत बडा बोझ है। उनके लिए उपलब्ध चारे की अपर्याप्त मात्रा दूध की पैदावार तथा सतति पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है और वे चलते फिरते ककाल प्रतीत होते हैं। कुपोषण तथा जीर्ण क्षुधा पीडा (भूख) उनकी गुणवत्ता में बिगाड पैदा करते हैं। कृषि-यन्त्रीकरण से पशु-श्रम का विस्थापन होता है और इस प्रकार भूमि पर बोझ कम होता है। क्योकि मशीनो को अपनी गतिदायक तथा उत्पादक शक्ति के लिए भूमि पर निर्भर नही होना पडता, इसलिए इस प्रकार निर्मुक्त भूमि पर धान्य फसलो को उगाना सभव है। पशुओ की सख्या विशेषकर अवांछित तथा बेकार पशुओं को कम करने की तुरन्त आवश्यकता है। उनकी सख्या को नीचा रख कर हम उनका अच्छी प्रकार भरण-पोषण कर सकते हैं और उनकी उत्पादिता को बढ़ा कर उनकी छोटी सख्या की क्षति-पूर्ति कर सकते हैं। थोड़े परन्तु अच्छी प्रकार से भरित तथा पोषित पशु दूध, कर्षण तथा गोबर द्वारा मानव जीवन व कल्याण मे बेहतर योगदान दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे बढ़िया किस्म के बछड़े देंगे

जिनसे कर्षण-पशुओं की आवश्यक संख्या का प्रतिस्थापन हो सकेगा।

७.१ यन्त्रीकरण तथा पूँजी-आवश्यकताएँ

यन्त्रीकरण के रास्ते में एक अन्य अड़चन इसके लिए आवश्यक पूँजी की अनुपलब्धता है। तकनीकी-प्रस्फोट के संदर्भ में फार्म-वित्त की समस्या व्यापक रूप धारण कर लेती है। वास्तव में पूँजी-प्रवाह का अभाव भारतीय कृषि की तकनीकी प्रगति में निरोधक सिद्ध हुआ है। नवीन व्यूहरचना फार्म पर पर्याप्त आधारिक संरचना के विकास की माँग करती है जिससे वित्त की माँग पर भारी दबाव पड़ता है। अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में पूँजी के संसाधनों की विशाल माँग कृषि के लिए संसाधनों को सीमित करती हैं और इस प्रकार इसके विकास की गति को धीमा करती है। संक्षेपतः पूँजी-अभाव केवल कृषि-विकास को ही नहीं रोकता, कृषीतर विकास की गति को भी मंद करता है।

कृषि-यन्त्रीकरण के लिए काफी मध्यम तथा दीर्घकालिक निवेश की आवश्यकता होगी जो या तो घरेलू बचतों में मिल सकता है या विदेशी वित्तीय सहायता में प्राप्त हो सकता है। भयानक निर्धनता तथा हमारी पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था की वर्तमान दशा में बचत तभी संभव है यदि उपभोग को निवेश के लिए कम किया जाए। ऐसा करने से बहुत अधिक कष्ट व दुःख होगा। इसके अतिरिक्त बचतें इतनी कम होंगी जिनसे हमारी वित्तीय आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। तो भी, आंतरिक बचतों के सब साधनों को अच्छी प्रकार से जुटा लेना चाहिये। इनसे कम से कम कृषकों की नकद आवश्यकताओं की पूर्ति तो निश्चित रूप से हो जाएगी।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फार्म मशीनरी तथा उपस्कर खरीदने हेतु अधिकांश धन की पूर्ति सहकारी समितियों, भूमि बंधक (विकास) बैंकों, कृषि वित्त-निगमों, कृषि-औद्योगिक निगमों तथा वाणिज्यिक बैंकों जैसी कृषि उधार संस्थाओं द्वारा करनी पड़ेगी। यद्यपि वाणिज्यिक बैंकों तथा अनेक उधार एजेंसियों ने कृषकों को आर्थिक सहायता देनी शुरु कर दी है परन्तु ये सहायता अनुपयोगी रही हैं और इसमें केवल समृद्ध कृषकों को ही लाभ पहुँचा है। लघु तथा मध्यम जोतदार प्रायः उपेक्षित रहे हैं। इसके अतिरिक्त कार्य-विधि कठिनाइयों के बावजूद ऋण की राशि भी पर्याप्त नहीं रही। विकास के लाभ अभी तक छोटे कृषकों को नहीं पहुँचे। उचित यही है कि कर्षण तथा संचालन सेवाओं को लोक-हित सेवाओं के रूप में संगठित किया जाए तथा कृषकों को उचित दामों पर सप्लाई किया जाए। ये सेवाएँ सहकारी समितियों, सेवाई केन्द्रों या प्रतियोगात्मक आधार पर निजी एजेंसियों द्वारा सप्लाई की जा सकती हैं।

अन्य विकल्प यह है कि विदेशों से उधार लिया जाए परन्तु इसमें अनेक जोखिम हैं। हमें अपने पाँवों पर खड़ा होना चाहिये यद्यपि विदेशी तकनीकी जानकारी तथा ज्ञान स्वागत योग्य है। ऐसे प्रगामी कार्यक्रम (फेज्ड प्रोग्राम) को अपनाने की आवश्यकता है जिससे यन्त्रीकरण स्व-जनक तथा आत्म-विकासी (सेल्फ जेनरेटिंग एण्ड सेल्फ डवलपमेंटल) बन जाए। उदाहरणतः यदि यन्त्रीकरण के फलस्वरूप उत्पादन दूना हो सके, तो उसका आधा भाग कुल कृषि जनसंख्या द्वारा यन्त्रीकरण से पहले वाले स्तर पर उपभोग किया जा सकता

है। शेष आधा भाग फालतू उत्पादन होगा जिसे बचाकर कृषि-यन्त्रीकरण की उन्नति के लिए निवेशित किया जा सकता है। इस प्रकार यन्त्रीकरण के विकास के लिए कुछ धन यन्त्रीकरण से ही प्राप्त हो सकता है। (परिच्छेद ७.१२ भी देखें)

७ १० ईंधन सप्लाई में कमी

पर्याप्त ईंधन का न मिलना, देश में पैट्रोल तथा तेल का अत्यन्त अभाव, बार-बार विद्युत् का फेल होना और फलस्वरूप सिंचाई कार्यक्रम मे गडबडी, वोल्टता में भयकर उतार-चढाव के कारण मोटरों का जलना तथा मशीनरी का फेल होना, मरम्मत तथा अन्य यांत्रिक दोषो को दूर करने के लिए प्रशिक्षित तकनीकी व्यक्तियों का न मिलना, कुछ ऐसी अन्य समस्याएँ हैं जिनका कृषकों को सामना करना पडता है। डीज़ल तेल तथा पैट्रोल पर भारी उत्पादन-शुल्क, अतिबिलिंग (ओवर बिलिंग) तथा बिजली प्रभार अदा करने की कष्टदायक प्रक्रियाएँ कृषक की कठिनाइयो मे वृद्धि करते हैं। कुछ एक कृषक ईंधन व डीज़ल आदि के लगातार अभाव तथा उनकी ऊँची कीमतों के कारण तथाकथित यन्त्रीकरण के भ्रमजाल से मुक्त होने की सोच रहे हैं और ट्रैक्टरों को बेचने की धुन मे हैं। हाल ही के पश्चिम एशिया के सकट के कारण इस समस्या ने अत्यन्त विकट व गम्भीर रूप धारण कर लिया है और डीजल व तेल के अभाव के कारण उत्पादन कार्यक्रमों पर बुरा प्रभाव पड़ा है।

७.११ प्रशिक्षित कार्मिकों की आवश्यकता

लोगो को उन कौशलो मे प्रशिक्षण देना जिनकी उन्हे आवश्यकता है, भारतीय कृषि की सर्व-कालिक समस्या है। बहुत से इन्जीनियरो को कृषि विज्ञान मे प्रशिक्षण दिया जारहा है, परन्तु जल-उपयोग तथा प्रबन्ध-प्रविधियो मे बहुत कम व्यक्ति प्रशिक्षित हैं। जैसे-जैसे यन्त्रीकरण मे वृद्धि होगी, ट्रैक्टरो तथा गहाई मशीनो को चालू रखने के लिए अधिक लोगो को फार्म यांत्रिकी (फार्म मैकेनिक्स) मे प्रशिक्षण देने की ज़रूरत पडेगी।

जैसे-जैसे कृषि जटिल बनती जाएगी, ऐसे लोगो को नियुक्त करने की आवश्यकता बढ़ती जाएगी जो एक विशेष कार्य को करने के लिए तकनीकी रूप मे प्रशिक्षित हों। यह एक विकट समस्या है। ट्रैक्टरों तथा दूसरी मशीनरी की 'सम्हाल तथा देखभाल' के काम हेतु शिक्षण तथा प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ जुटाना आवश्यक होगा। प्रशिक्षण मे निरोधी अनुरक्षण व देखभाल तथा ट्रैक्टरो, नलकूपो तथा अन्य उपकरणों की सर्विस करना भी सम्मिलित होगा।

भारत मे ट्रैक्टरो तथा सबद्ध कृषि-मशीनरी की बढ़ती हुई सख्या को सम्हालने के लिए प्रचालको की कमी को दूर करने के लिए, अनेक प्रशिक्षण कार्यक्रम चालू किये गये हैं। कृषि एव कृषि इन्जीनियरिंग स्नातको, प्रगतिशील किसानो, कारीगरो तथा विभिन्न संस्थाओ के मनोनीत व्यक्तियो को कृषि मशीनरी का उपयोग, मरम्मत और उसकी सर्विस करने का प्रशिक्षण 'केन्द्रीय ट्रैक्टर प्रशिक्षण तथा परीक्षण केन्द्र' बुदनी, हिसार तथा सारे देश में स्थित ४४ 'ग्रामसेवक प्रशिक्षण' केन्द्रो मे दिया जाता है। कृषि इन्जीनियरो के लिए 'रिफ्रैशर कोर्सों' का कृषि विश्वविद्यालयो मे प्रबन्ध किया जाता है। अब तक विभिन्न केन्द्रो मे लगभग

५००० कारीगरों को तथा ३००० ग्रामसेवकों को फार्म-मशीनरी के विभिन्न पक्षों की ट्रेनिंग दी जा चुकी है।

७.१२ यन्त्रीकरण का अर्थतंत्र

सघन कृषि से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए वर्तमान शक्ति-उपयोग की अपेक्षा 'प्रति इकाई क्षेत्रफल' अधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अधिक शक्ति उपयोग की मुख्य समस्या आर्थिक है। एक कृषक अपने फार्म का मशीनीकरण तभी करेगा जब उसे इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाए कि ऐसा करना मितव्ययी तथा लाभकारी है और उसे मशीनरी में लगाये हुए निवेश पर ऊँची अनुकूल प्रतिफल दर प्राप्त होगी। स्वाभाविक ही है कि उसका मशीनरी प्राप्त करने का निर्णय यन्त्रीकरण की उत्पादन एवं आय वृद्धि-क्षमता द्वारा प्रभावित होगा।

ट्रैक्टरों तथा पम्पों में निवेश की आर्थिक क्रियात्मक (इकोनोमिक फीज़िबिलिटी) ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे निवेशों के हितलाभ-लागत विश्लेषण (बेनीफिट-कास्ट एनालेसिस) किये जाएँ। ये हितलाभ-लागत विश्लेषण इस दिशा में स्पष्ट नीतियों तथा कार्यक्रमों के लिए ठोस आधार प्रस्तुत कर सकते हैं।

एक बात निश्चित है और वह यह कि कृषक मशीनरी में तबतक धन नहीं लगाएँगे जबतक ऐसा करना बहुत अधिक लाभकारी न हो अर्थात् जबतक लाभ इन निवेशों से सम्बधित लागतों से बहुत अधिक न हों। कृषक इन निवेशों से अधिकतम लाभ-प्राप्त करना चाहेगा जिसका अर्थ यह होगा कि मशीन का अधिकतम उत्पादक उपयोग (प्रोडक्टिव यूसेज) किया जाए और साथ-साथ इसकी लागत को न्यूनतम रखा जाए। मशीन लागत सरचना निम्न से निर्मित है:—

(क) स्वामित्व की लागतें अर्थात् नियत लागतें—इन लागतों में मूल्य-ह्रास, ब्याज, कर, बीमा तथा रक्षास्थान की लागतें सम्मिलित हैं। ये सब मिला कर वार्षिक प्रारम्भिक लागत का लगभग १५ प्रतिशत होती हैं। न्यून आरम्भिक व्यय, न्यून ब्याज, लम्बी भुगतान-अवधि, न्यून सडक या अन्य कर (या ऐसे करों का न होना) प्रारंभिक लागत को न्यूनतम रखने में सहायक हैं।

(ख) सचालन की लागतें—सचालन लागतों में ईंधन तथा स्नेहकों (लुब्रीकेटर्स) पर व्यय, मरम्मत तथा प्रचालकों की मजदूरी शामिल है। ईंधन पर कम उत्पादन-शुल्क या इस शुल्क की समाप्ति, न्यून विद्युत् दरें ईंधन तथा विद्युत् उपभोक्ताओं को इन पर विशेष घटौती (रिबेट्स), मशीनों की निरोधक देख-भाल संचालन लागतों को कम रखने में सहायक हैं।

एक मशीन (ट्रक्टर या कम्बाईन) की सचालन-लागत मशीन की प्रभावी क्षेत्र-क्षमता, ईंधन की खपत तथा ईंधन-तेल दरों द्वारा निर्धारित होती है। मशीन की प्रभावी क्षेत्र-क्षमता (कैपेसिटी, C) उसकी चाल (स्पीड, S) मशीन की अंकित चौड़ाई (रेटेड वीड्थ, W) तथा विशिष्ट क्रिया के लिए उसकी क्षेत्र-दक्षता (एफीशियेन्सी, E) पर निर्भर है और 'हैक्टर प्रति घण्टा' में मापी जाती है

$$\text{सूत्र :}\quad C=\frac{S\times W\times E}{१०}$$

जुताई तथा अन्य क्रियाओं के लिए प्रायः ८२.५ प्रतिशत की क्षेत्र-दक्षता की कल्पना की जाती है। इस स्थिति मे, प्रभावी क्षेत्र क्षमता

$$C\ (\text{हैक्टर प्रति घण्टा}) = \frac{\text{चाल (Km Per hour)}\times\text{चौड़ाई (मीटर)}}{१०}\times\frac{८२.५}{१०}$$

इसी प्रकार सिंचाई के लिए पम्पिंग की लागत अनेक बातों द्वारा निर्धारित होती है। जैसे पम्प की कार्यकुशलता, कुएँ के अध. खिंचाव समेत कुल लिफ्ट, पम्प किए हुए जल का परिमाण तथा विद्युत् या ईंधन-तेल दर (कीमतें)। पम्प की क्षमता कुएँ से उपलब्ध जल की सप्लाई, सिंचाई करने हेतु हैक्टरो की संख्या, उपजाई जाने वाली फसलों, फसलो की विविधता, वर्धन ऋतु की अवधि (लैंथ ऑफ ग्रोइंग सीजन) तथा वर्षा पर निर्भर है। यदि कुआँ पर्याप्त पानी सप्लाई न कर सके तो सिंचाई हेतु क्षेत्र को कम करना होगा या नया कुआँ खोदना होगा। फसलो मे अधिक विविधता होनी चाहिये ताकि उन सबकी एक ही समय मे सिंचाई न करनी पड़े। जब वर्धन ऋतु लम्बी होगी तो आवश्यक पानी देने के लिए पम्प को भी लम्बे समय के लिये चलाना पडेगा। साधारण परिस्थितियों मे एक चरण अपकेंद्री पम्पों (सिंगल स्टेज सेंट्रीफ्यूगल पम्प्स) की कार्यकुशलता ५० से ७० प्रतिशत तक होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी मशीन के निष्पादन (परफार्मेंस) का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नियत तथा संचालन-लागत (व्यय) का अनुमान लगा लिया जाए। निम्न अभ्यास जो कि वास्तविक आँकड़ो पर आधारित हैं, स्वत. स्पष्ट हैं और ऐसे अनुमानों से सम्बन्धित धारणाओं को भी स्पष्ट करते हैं।

सारणी ७४ जॉन डीयरे कम्बाइन हार्वेस्टर (JD ३३०) * की प्रति घण्टा नियत तथा संचालन लागत (प्लेटफार्म की चौडाई २ ३२५ मीटर)

आँकड़े . अनुमानित कीमत (पंजाब मे)......................८१७२२ रुपये

मूल्यह्रास काल ....५००० घंटे /७ वर्ष

$$\text{औसत वार्षिक निवेश} = \frac{n+१}{२n}\times\ \text{आरंभिक निवेश (सूत्र)}$$

$$= \frac{८}{१४}\times ८१७२२ = ४६६९८\ \text{रुपये}$$

वार्षिक उपयोग = ६० दिन, १२ घंटे प्रति दिन = ७२० घंटे

(क) स्वामित्व लागतें (नियत लागतें) प्रति घंटा रु० पैं०

प्रति घंटा मूल्य ह्रास = ८१७२२ ÷ ५००० = १६·३४

औसत वार्षिक निवेश पर प्रति घंटा ब्याज

$$@\ १०\ \% = \frac{४६६९८\times१०}{७२०\times१००} = ६·४७$$

कुल नियत लागत = २२·८२

(ख) संचालन (प्रचालन) लागतें (प्रति घंटा)

ईंधन पर व्यय ५.४ लिटर दर ०.८४ प्रति लिटर =४.५४
इंजिन तेल ०.१२ „ दर २.७० „ „ =०.३२
हाईड्रालिक तेल ०.०२ „ दर २.४१ „ „ =०.०५
ग्रीज ० ०३ किलो दर ४ १८ „ कि.ग्रा. =०.१३
फिल्टर.. = ० १५
मरम्मत (मूल्यह्रास लागत का १०० प्रतिशत) =१६.३४
प्रचालक की मजदूरी ५०० रु० प्रति मास $\frac{५००\times१२}{७२०}$ = ८.३३
कुल प्रचालन लागत = २९.८६
सकल प्रति घंटा नियत तथा प्रचालन लागत = ५२.६८
प्रति घंटा कार्य = १.६१ एकड़
प्रति एकड़ कम्बाइनिंग लागत = ५२.६८÷१.६१= ३२.७०

स्रोत. 'रिफोर्मेंस इवेल्युएशन रिपोर्ट ऑन जोन डीयरे कम्बाइन हारवेस्टर्स, विल कॉक्स बकर्वल इण्डिया लिमिटेड नई दिल्ली १५. के सौजन्य से।

इसी फार्म से एकत्र किए गए आंकड़ो पर आधारित हाथ द्वारा की गई कटाई पर खर्च का अनुमान निम्न है :

सारणी ७.५ हाथ द्वारा की गई कटाई पर खर्च का अनुमान

आंकड़े औसत उपज प्रति एकड़ = १२०० कि० ग्राम
बिक्री कीमत = ७५ रुपये प्रति क्विंटल
गहाई मशीन की लागत = ३५०० रु०
मूल्यह्रास काल = १८०० घंटे / ५ वर्ष
वार्षिक उपयोग= ३० दिन (१२ घंटे प्रति दिन) = ३६० घंटे
औसत वार्षिक निवेश = $\frac{६}{१०}$ × ३५००=२१०० रुपये

(१) श्रम लागत — लागत प्रति एकड़
खेत में कटाई, गट्ठे तथा स्टैक हेतु — रु० पै०
ठेके पर श्रम की लागत (५% अर्थात् $\frac{१}{२०}$ भाग) ४५.००
(२) गट्ठो को बांधने के लिए रस्से पर व्यय = ७.००
(३) परिवहन लागत (थ्रैशर खेत में ले जाया जाता है, इसलिए कोई व्यय नहीं) = ०.००
(४) गहाई की लागत (प्रति घंटा) रु० पै०
(क) प्रति घंटा मूल्यह्रास १ ९४
(ख) निवेश पर ब्याज $\frac{२१००\times१०}{३६०\times१००}$ ० ५८
(ग) मरम्मत लागत (४०% मूल्यह्रास का) ०.७८

कुल प्रति घंटा लागत	=	३.३०
अनुमानित गहाई-उत्पाद	=	३०० कि० ग्राम प्रति घंटा
१२०० कि० ग्राम के लिए समय		४ घंटे
∴ प्रति एकड थ्रेशर लागत	=	१३.२०
(५) थ्रेशर के साथ युग्मन के लिए ट्रैक्टर लागत १५ रु० प्रति घंटा १५×४ =		६०.००
(६) श्रम लागत ४ रु० प्रति दिन (८ घंटों के लिए) की दर पर ६ मजदूर (आधे दिन के लिए) $\frac{६ \times ४}{२}$	=	१२.००
कुल हस्त कटाई लागत प्रति एकड	=	१३७.२०

नोट: ग्रेडिंग की लागत इसमे सम्मिलित नही है ।

कुछ अवस्थाओ मे जहाँ कृषक विद्युत् मोटर चालित थ्रेशर (गहाई मशीन) का मालिक है, कटे हुए गट्ठों को उस स्थान पर ले जाना पड़ेगा जहाँ विद्युत् स्रोत के समीप थ्रेशर लगाया गया है । ऐसी अवस्थाओ मे गहाई-लागत ४३ रु० प्रति एकड उपज है अर्थात् कुल लागत ६५ रु० प्रति एकड होगी जिसमे परिवहन लागत शामिल नही है । गट्ठों को पुनः सम्हालने तथा थ्रेशर तक लेजाने में अन्न की २½ से ३ प्रतिशत तक हानि होने का अनुमान है । यह हानि लगभग २२.५० रु० प्रति एकड की होगी । अतः पंजाब तथा हरियाणा मे गेहूँ की हस्त-कटाई, गहाई तथा ओसाई किसी भी स्थिति मे १०० रुपये प्रति एकड़ से कम नहीं है।

कम्बाइन हार्वेस्टर के निष्पादन का मूल्यांकन करते समय यह देखा गया है कि कम्बाइन मे से अन्न की हानि ०.०५ से १.०% थी जबकि हाथ से की गई कटाई या बैल अथवा विद्युत् चालित थ्रेशर से की गई गहाई मे यह हानि ६ से ६ प्रतिशत है । कटाई मे विलम्ब होने से और फलस्वरूप ऋतु परिस्थितियों व श्रम उपलब्धता के प्रतिकूल होने पर धान्य के बिखरने के कारण यह हानि काफ़ी अधिक हो जाने की सभावना होती है । अर्थतन्त्र कम्बाइन द्वारा कटाई के पक्ष मे है जैसेकि निम्न से स्पष्ट है ।

(क) दस्ती कटाई लागत प्रति एकड़	१३७.२० रु०
धान्य हानि प्रति हैक्टर (न्यूनतम ६%)	५४.०० रु०
	१६१.२० रु०
(ख) कम्बाइन द्वारा कटाई लागत प्रति एकड़	३२.७० रु०
धान्य हानि प्रति एकड (अधिकतम १%)	६.०० रु०
	४१.७० रु०
(ग) प्रति एकड़ नेट बचत	१४६.५० रु०

(घ) एक कम्बाइन द्वारा प्रति गेहूँ ऋतु मे बचत

२१ दिन के लिए १२ घंटे प्रतिदिन २१×१२×१.६१×१४६.५०=६०६५५ रु०

यह ध्यान देने योग्य है कि लागतों मे बचतें हित लाभो मे गिनी जाती हैं और प्रति ट्रैक्टर या प्रति मशीन फार्म-प्राप्ति में वृद्धि का एक बड़ा भाग हैं । क्रियात्मकता-विश्लेषण

मे लागत-बचतों का शामिल करना सिद्धांततः मान्य है। जब मौसम किसान के विरुद्ध हो तो कम्बाइन वास्तविक फसल बचत कर्त्ता है। १९७० मे पजाब व हरियाणा मे कई लाख टन गेहूँ इसलिए खराब हो गया कि उसकी शीघ्र गहाई न की जा सकी। अभी उपज खलिहानों मे ही पड़ी थी कि वर्षा हो गई और वह फसल पानी मे भीग जाने से खराब हो गई। इस खराब गेहूँ को बेचने मे कृषकों को काफी कठिनाई हुई और दाम भी कम मिले। मशीनो के उपयोग से इस प्रकार की हानि व जोखिम से बचा जा सकता है। सारणी ७.६ मे विद्युत् चालित निजी नलकूप तथा रहट से प्राप्त जल की तुलनात्मक लागत का अनुमान लगाया गया है। सारणी स्वतः स्पष्ट है और यन्त्रीकृत पम्पिग से प्राप्त होने वाली लागत मे बचत को दर्शाती है।

सारणी ७.६ जल की लागत

मद	रहट (रुपये)		निजी नलकूप (विद्युत् चालित)	
१. उपस्कर	६००		३०००	
२ निर्माण कार्य	१२००		२१००	
३. मूल्यह्रास (उपस्कर)	@१५%	९० ००	@१०%	३००.००
४. मूल्यह्रास (निर्माण कार्य)	@२%	२४ ००	@१०%	२१०.००
५ ब्याज (कुल निवेश पर)	@१०%	१८० ००	@१०%	५१० ००
कुल नियत लागत	२९४ ००			१०२०.००
६. अनुरक्षण व मरम्मत		५०.००		२५०.००
७ श्रम/विद्युत् प्रभार	१०२ दिन २ २५ रु० प्रतिदिन	२२९ ५०	७३००k w. h. @ १४ पैसे	१०२२.००
८. नियमित चारे के अतिरिक्त चारे का व्यय (बैलो के लिए)	@ १/५० ,, ,,	१५३ ५०	—	—
कुल प्रचालन कीमत		४३३ ००		१२७२ ००
कुल लागतें (नियत व प्रचालन)		७२७ ००		२२८२ ००
एक वर्ष मे जल निकास	९७०० घनमीटर		१०३,००० घनमीटर	
१००० घनमीटर की लागत		७५.००		२२.००

स्रोत : सारणी ५१, ५२ टी.वी. मूर्ति · "ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ बैल इरिगेशन इन अलीगढ़ डिस्ट्रिक्ट इण्डिया" तथा प्रासंगिक पत्र न० २९ कृषि-अर्थशास्त्र विभाग, करनाल विश्वविद्यालय।

सारणी ७.६ मे पप गृह की रखवाली करने का व्यय सम्मिलित नही है। बहुत से पप मालिकों ने उपस्करो की चोरी या बदले जाने की शिकायत की है। इसलिए इनके लिए रात के चौकीदार की आवश्यकता है।

लागत में बचतों के अतिरिक्त कृषक ट्रैक्टर से किराया प्राप्त कर सकता है या जल को बेच सकता है और यदि ऐसा उचित फार्म-उद्देश्यों के लिए किया जाता है तो यह प्राप्ति हितलाभ मे गिनी जा सकती है। यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि कृषि ऋण-सुविधाओं का लाभ उन्ही कृषकों को प्राप्त हो जिन्हे इनकी असली जरूरत है, न कि मुनाफाखोरो को। पिछले वर्षों मे कुछ ऐसी शिकायतें भी मिली हैं जिनमे कुछ कृषको ने ट्रैक्टर प्राप्त करने के शीघ्र बाद उन्हे ब्लैक मे बेच दिया। कुछ लोगों का धन्धा ही यह बन चुका है। ऐसे व्यक्तियो पर कडी नजर रखने की आवश्यकता है।

अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि ट्रैक्टर या मशीन का उत्पादन-उपयोग कम न रहे। ट्रैक्टर या मशीन के उपयोग को किफायती बनाने के लिए उसके उत्पादन-उपयोग को बढाना पडेगा। छोटे आकार के फार्मों पर किसी मशीन का उत्पादन-उपयोग बहुत अधिक नही हो सकता। बडे फार्मों मे मशीनो का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है और यह उनका एक विशिष्ट लाभ है। क्षेत्र सहत (काम्पेक्ट) होने चाहिये ताकि परिवहन (ढुलाई) प्रभार कम हो और परिवहन मे लगने वाला समय न्यूनतम हो।

एक ट्रैक्टर का एक से अधिक फार्मों पर उपयोग करके इसके उत्पादन-उपयोग को बढाया जा सकता है। ऐसा ट्रैक्टर को किराए पर देकर या उसका उपयोग सहकारी आधार पर करके किया जा सकता है। बहुत से छोटे कृषक सयुक्त रूप मे ट्रैक्टर या पप सेट को खरीद सकते हैं तथा उसका प्रयोग कर सकते हैं। अत अभाज्यताओ, जोतो के खडन तथा कृषि की छोटी इकाइयो द्वारा खडी की जाने वाली कठिनाइयों का उचित हल 'संयुक्त स्वामित्व द्वारा सयुक्त उपयोग' ही है।

प्रति फार्म उत्पादन-उपयोग मे वृद्धि बहुफसली कृषि अपना कर भी प्राप्त की जा सकती है। वास्तव मे बहुफसली कृषि के लिए द्रुत फार्म-क्रियाओं की आवश्यकता होती है जिसके लिए ट्रैक्टर शक्ति प्राय जरूरी है। यह ध्यान रखने योग्य है कि यन्त्रीकरण उन क्षेत्रो मे जहाँ आश्वासित सिंचाई प्राप्त है, अधिकतम सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। बहुफसली कृषि को सफल बनाने के लिए जल की समय पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता आवश्यक है। जहाँ तक हो सके, मशीनों का सारा वर्ष अधिकतम समय के लिए प्रयोग किया जाना चाहिये। मशीनो का उत्पादन-उपयोग रोपण, निराई-गुड़ाई, कटाई तथा गुहाई आदि क्रियाओ को करके भी बढ़ाया जा सकता है। ट्रैक्टरो की जुताई, हैरो चलाने, ढेले बन जाने, बीज बोने, गुहाई करने, बरसाने (ओसाने) तथा ढुलाई करने मे प्रयोग किया जा सकता है। हाल के वर्षों मे अनेक प्रकार के विशिष्ट तथा अधिक कार्यकुशल उपस्करों का विकास किया गया है। स्वचालित हार्वेस्टर (शस्य कर्तित्र), रोपणयन्त्र तथा अन्य मशीनें कृषकों को कम लागतो पर अधिक क्षेत्रफलो की कृषि करने मे सहायता करती हैं। तो भी और अधिक दक्षता के लिए नवीन वैज्ञानिक उपकरणो और औज़ारो के डिज़ाइन तथा विकास करने हेतु विशेष प्रयासो की आवश्यकता है।

इस परिच्छेद का समापन करने से पूर्व दो तीन बातो पर विचार करना आवश्यक है। 'कौन-से फार्म ट्रैक्टर या इस प्रकार की मशीन का उपयोग करेगे और वे जो ट्रैक्टर इत्यादि नही ले सकते, उनसे कितना लाभ उठा सकेंगे ?' कुछ विचारणीय प्रश्न हैं। एक बात स्पष्ट

है कि वह कृषक जो ट्रैक्टर लेगा, इसका उपयोग सबसे पहले अपने लिए करेगा और उसके बाद ही वह उसका उपयोग अपने फार्म से बाहर करेगा। वह अतिरिक्त आय प्राप्त करने के लिए कितने समय के लिए मशीन (या ट्रैक्टर) को किराए पर देने के लिए तैयार होगा, यह उसके फार्म के आकार, ट्रैक्टर के *अतिरिक्त उपयोग से टूट-फूट के जोखिम तथा किराए पर* क्रियाओं को करने के लिए व्यापारिक प्रबन्ध करने की उसकी योग्यता व तत्परता पर निर्भर है। उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा मे छुट-पुट अनुभवो से ज्ञात होता है कि ट्रैक्टर-स्वामी कार्यबद्ध–काल की समस्याओं से पूर्णत: परिचित हैं और अपनी मशीनो का उपयोग करने मे सतर्क तथा सावधान हैं और बाहर की सेवाओं को व्यवस्थित व्यापारिक आधार पर करने के महत्त्व को समझने लगे हैं। ट्रैक्टर-स्वामियों को भुगतान की समस्याओं का समाधान भी करना होता है।

यद्यपि फार्मों के सचालन आकार के अनुसार ट्रैक्टरो के वर्तमान वितरण से सम्बन्धित कोई सूचना उपलब्ध नही है, फिर भी यह ज्ञातव्य है कि बड़े-बड़े कृषको ने ही ट्रैक्टर लिए हुए हैं। कई कृषकों के पास एक से अधिक ट्रैक्टर भी हैं। पिछले दो तीन वर्षों में उन कृषकों को भी ट्रैक्टर खरीदने के लिए बैंक ऋण उपलब्ध हुए हैं जिनके पास बहुत अधिक भूमि नही है। बैंक इस उद्देश्य के लिए कृषक की भूमि के मूल्य के आधे के बराबर तक ऋण दे देते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे भूमि का मूल्य बढेगा, छोटे कृषक भी ट्रैक्टर प्राप्त कर सकेंगे। उदाहरणार्थ सिंचित भूमि का मूल्य १२००० रु० से १५००० रु० प्रति हैक्टर है और एक ३५ hp (हार्स पावर) ट्रैक्टर का मूल्य लगभग ३०००० रु० है। इस प्रकार उस कृषक को जिसके पास ५ हैक्टर या अधिक (कुल ६०,००० रु० की) भूमि हो, बैंक से ऋण प्राप्त हो सकता है यदि वह भूमि को पाश्विक रूप से उपयोग करने के लिए तैयार हो।

एक ३५ hp ट्रैक्टर, जिसका मूल्य लगभग ३०,००० रुपये है, लगभग १५ वर्ष या १२,००० घण्टे चलता है। ऋण की यह राशि प्राय कृषक को १० वार्षिक किश्तों मे अदा करनी होती है। वार्षिक निवेश पर ९ प्रतिशत ब्याज भी देना होता है जो ट्रैक्टर के कुल मूल्य के ४ से ५ प्रतिशत के बराबर होता है।

ट्रैक्टर की कीमत = ३०,००० रुपये

$$\text{वार्षिक निवेश} = \frac{\text{मूल्य} \times (n+१)}{२n} \quad \text{जहाँ n कुल वर्ष हैं}$$

$$= \frac{३००००\times ११}{२०} = १६५०० \text{ रुपये}$$

$$\text{ट्रैक्टर के मूल्य की किश्त} = \frac{३००००}{१०} = ३००० \text{ रुपये}$$

$$\text{ब्याज (वार्षिक निवेश पर ९\%)} = \frac{१६५००\times ९\times १}{१००} = १४८५$$

कुल किश्त = ४४८५ रुपये

इस प्रकार इस ऋण को दस वर्षों मे चुकाने के लिए कृषक को लगभग ४५०० रुपये की वार्षिक किश्त अदा करनी पड़ेगी। यहाँ ट्रैक्टर के उपयोग की प्रति घण्टा लागत का

परिकलन करना भी उपयुक्त होगा।

	रु० पै०
प्रति घंटा मूल्य ह्रास = ३०००० ÷ १२००० =	२.५०
प्रति घंटा ब्याज (वार्षिक निवेश पर) = १४४० ÷ ८०० =	१.८०
(प्रतिवर्ष मे ८०० घंटे)	
ईंधन-तेल आदि ३ से ४ लिटर प्रति घंटा =	४.००
मरम्मत प्रति घंटा (मूल्य ह्रास का १२०%) =	३.००
	११.३०

इस राशि में प्रचालक की मजदूरी शामिल नहीं है। यदि प्रचालक का वेतन २५० रु० प्रति मास हो तो प्रति घंटा मजदूरी लगभग ४ रुपये बनती है। ट्रैक्टर घर, बीमा तथा कर प्रभार अतिरिक्त हैं। इस प्रकार कुल लागत कम से कम १६ रुपये प्रति घंटा है जो १२ रुपये प्रति एकड पडती है। ट्रैक्टर द्वारा जुताई का किराया १५ रु० से २० रुपये प्रति एकड तक है।

अनुभवों से ज्ञात होता है कि एक ३५hp का ट्रैक्टर दक्षता तथा मितव्यय से १२ हैक्टर नेट क्षेत्र (अथवा २० हैक्टर कुल क्षेत्र) की कर्षण-आवश्यकताओं को ही पूरा कर सकता है। इसलिए जिस कृषक के पास कुल १२ हैक्टर भूमि हो, वह ट्रैक्टर से केवल अपनी आवश्यकताओं को ही पूरा कर सकता है और वह ट्रैक्टर को किराए के लिए तभी प्रयोग कर सकता है यदि वह ट्रैक्टर को लाभ-अलाभ स्थिति (ब्रैक इविन पोइन्ट) प्रतिच्छेद बिन्दु) अर्थात् ७००—८०० घंटे प्रतिवर्ष से अधिक उपयोग करने के लिए तैयार हो। यदि वह मशीन को इस सीमा से अधिक समय के लिए चलाता है तो वह अधिक कार्यबंद-काल का जोखिम उठा रहा है जिससे उसकी अपनी आगामी कृषि क्रियाओं पर प्रभाव पडेगा। जिस कृषक के पास ७ या ८ हैक्टर सिंचित क्षेत्र है, उसके पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद ५ हैक्टर की आवश्यकताओं को पूरा करने का समय बच जाएगा तथा लाभ-अलाभ की स्थिति को प्राप्त करने के लिए वह इस सीमा तक मशीन का उपयोग कर सकता है। इसी प्रकार यदि ट्रैक्टर मालिक के पास ५ हैक्टर भूमि हो तो ७ हैक्टर अतिरिक्त क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ट्रैक्टर को किराए पर देगा। इस स्थिति मे सब खर्च निकाल कर उसे लगभग १६०० से २००० रुपये तक का नेट लाभ हो सकता है और उसे किश्त अदा करने मे कुछ सुविधा प्राप्त हो सकेगी। उचित यही है कि ट्रैक्टर उन कृषकों के पास बेचे जाएँ जिनके पास अपेक्षाकृत कम क्षेत्र हो ताकि वह इन ट्रैक्टरों को कुछ समय के लिए किराए पर चला सकें और बहुत छोटे कृषक भी ट्रैक्टर शक्ति के लाभ उठा सकें या ये उन लोगो को बेचे जाएँ जो इन्हे विशुद्ध रूप मे किराए पर चलाएँ। इससे वे लोग भी इन मशीनो का लाभ उठा सकेंगे जो ट्रैक्टर नहीं खरीद सकते या जिनके पास ट्रैक्टर नही हैं।

कुछ प्रगतिशील कृषको का जिनके पास अपने ट्रैक्टर हैं, यह मत है कि ट्रैक्टर तभी लाभकारी सिद्ध हो सकता है यदि उसे अपनी पूँजी से खरीदा जाए क्योंकि उनके मत के अनुसार ऋण ली गई पूँजी का ब्याज-प्रभार बहुत अधिक है जो इसे अलाभकर बना देता

है और कृषक सफल नही हो सकता । यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि कृषक दीर्घावधि ऋण मुख्यत: केन्द्रीय विकास बैंको से प्राप्त करते हैं। १९६६ के अन्त तक इन बैंकों ने ५००० ट्रैक्टरो को खरीदने के लिए ऋण दिये थे जबकि उस समय देश मे निजी स्वामियो के पास ५५००० ट्रैक्टर थे। इससे पता चलता है कि ट्रैक्टरो के कुल स्टाक के केवल ९ प्रतिशत को ही इन ऋणो से खरीदा गया और ९१ प्रतिशत ट्रैक्टर कृषको ने अपनी पूंजी से खरीदे। केन्द्रीय विकास बैंको ने मशीनरी तथा ट्रैक्टर खरीदने के लिए पिछले कुछ वर्षों में निम्न राशि ऋण के रूप मे दी है।

सारणी ७ ७ केन्द्रीय विकास बैंको द्वारा मशीनरी की खरीद के लिए दिया गया ऋण

(करोड रुपये मे)

वर्ष	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९	१९६९ ७० *	१९७०-७१ *
राशि	१७	२१	२९	२५	२७

* अनुमानित

अब वाणिज्यिक बैंको ने भी कृषि-ऋण सुविधाओं का विस्तार करना शुरू कर दिया है परन्तु उनके द्वारा लिए जाने वाले ब्याज की दर विकास बैंको की अपेक्षा अधिक है और यह दर लगभग १२% है। (अध्याय ८ भी देखें)

विभिन्न राज्यो मे उद्योग कृषि निगम (एग्रो इन्डस्ट्रीज कॉरपोरेशन) स्थापित किए गये है जो ट्रैक्टर तथा कृषि मशीनरी को 'किराया-खरीद' (हायर परचेज) आधार पर कृषको को सप्लाई करते है। पिछले वर्षों मे १० ८० करोड रुपये की मशीनरी किराया-खरीद आधार पर वितरित की गई है। अनेक राज्यो मे मशीनरी को किराए पर देने के लिए 'मशीनरी अभिक्रय केन्द्र' (मशीनरी हायर सेन्टर्स) भी खोले गए हैं। छोटे कृषक इनसे लाभ उठा सकते हैं।

यन्त्रीकरण के अर्थतन्त्र पर विवेचन को समाप्त करने से पूर्व एक चेतावनी देना आवश्यक है। कृषि के यन्त्रीकरण-कार्यक्रम को पूरे उत्साह से चलाया जाना चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि काम अन्धा धुंध या अविवेक से न हो। अव्यवस्थित अथवा अविवेकी यन्त्रीकरण कृषक की सहायता करने के बजाए उसकी कठिनाइयों को बढायेगा । उदाहरणार्थ सेम वाली भूमि पर ट्रैक्टर ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकते। आज से कुछ वर्ष पहले हरियाणा मे जिस कृषक ने भी हरियाणा राज्य विद्युत् वोर्ड के पास २५०० रु० की राशि जमा करा दी, उसको नलकूप के लिए बिजली दे दी गई, बिना इस जाँच पडताल के कि भूमि मे पर्याप्त जल उपलब्ध है या नही और वह इसके लिए उपयुक्त भी है या नहीं। फल यह हुआ कि कई नलकूपों से जल की पर्याप्त सप्लाई प्राप्त नही हो रही। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषक को अपने कुएँ पर पम्पसैट तभी लगाना चाहिए यदि कुएँ मे भरोसे युक्त तथा प्रचुर जल की मात्रा विद्यमान हो। तभी पम्पसैट मे अतिरिक्त निवेश को उचित ठहराया जा सकता है। कुओं का निर्माण दो प्रकार से अविवेकपूर्ण हो सकता है। नए कुएँ का निर्माण अवांछनीय है यदि वह पुराने (मौजूद) कुएँ के जल की सप्लाई को

कम करने का कारण बनता है। दूसरे कुओं का निर्माण सामूहिक रूप में भी अविवेकी हो सकता है। *यह तब होता है जब उपलब्ध भूमिगत जल-ससाधनो द्वारा धारण योग्य सख्या से* अधिक कुओं का निर्माण किया जाए। दोनो स्थितियो में निवेश अनुचित व दोषयुक्त ही माना जाएगा। जल साधनो की गुणवत्ता तथा मात्रा को आंक लेना चाहिये। यह आवश्यक है कि भूमिगत जल-ससाधनो की उत्कृष्टता तथा मात्रा से सम्बन्धित विश्वसनीय सूचना का ग्रामानुसार तथा खण्ड अनुसार निर्धारण कर लिया जाए। सक्षिप्ततः भूमिगत जल-सर्वेक्षणों को *उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिये और यन्त्रीकरण सुदृढ़ अनुसधान तथा खोज* पर आधारित होना चाहिये। अन्वेषी नलकूप सस्थान राज्यो को तकनीकी नेतृत्व प्रदान कर सकता है और इस दिशा मे उनके कार्य को समन्वित कर सकता है।

७ १३ यन्त्रीकरण के लिए सरकारी मशीनरी

पिछले कुछ वर्षों से सरकार कृषि-यन्त्रीकरण के विकास (विस्तार) पर विशेष ध्यान दे रही है। इस उद्देश्य के लिए सरकार ने १९६३ में **कृषि मशीनरी एव औजार बोर्ड** स्थापित किया। राज्य स्तर पर उन्नत मशीनरी के कार्यक्रमो का निरीक्षण तथा मार्गदर्शन करने के लिए विशेष कृषि मशीनरी-कक्षों की स्थापना की गई है। तो भी कार्यक्रम को विभिन्न प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है जैसे **उपस्करों में उपयुक्त डिजाइनों का अभाव, निर्माण की ऊँची लागत, मरम्मत, अनुरक्षण तथा फालतू पुर्जों की** सप्लाई के लिए पर्याप्त **सुविधाओं का अभाव तथा मानकीकरण का न होना आदि**। कृषि इजीनियरी मे अनुसधान को तेज़ करने, कृषि उपस्करो की रचना के प्रबन्धो मे सुधार लाने तथा वितरण एवं देखभाल के लिए बेहतर सेवाएँ प्रदान करने के लिए उपाय किए जा रहे हैं। कृषि मशीनरी को 'किराया-खरीद' आधार पर सप्लाई करने के लिए तथा अन्य सम्बन्धित तकनीकी सेवाएँ प्रदान करने के लिए लगभग सब राज्यो मे कृषि-उद्योग निगमो की स्थापना की गई है। कृषि यन्त्रीकरण के विकास हेतु सुबद्ध कार्यक्रमो को सुदृढ करने के लिए राज्यों मे मशीनरी किराया व सेवा केन्द्र खोले गए है। इन निगमों मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने ५०:५० के आधार पर पूँजी लगाई है।

हाल ही मे कुछ व्यापक कार्यों की व्यवस्था के लिए कृषि-मशीनरी एवं औजार बोर्ड का पुनर्गठन किया गया है। बोर्ड के निम्न कार्य है :

(१) ट्रैक्टर, पावर टिलर तथा कृषि-उपस्करो आदि के निर्माण, सर्विसिंग तथा देखभाल से सम्बन्धित कार्यक्रम,
(२) इन मशीनों को उपलब्ध कराने तथा वितरण के प्रबन्ध करना,
(३) ऋण-आवश्यकताओं को पूरा करना,
तथा (४) यन्त्रीकरण को फैलाना व लोकप्रिय बनाना।

ऋण-सुविधाओं को व्यापक स्तर पर प्रदान कराने के लिए 'कृषि वित्त निगम' भी स्थापित किया गया है।

अध्याय ८

कृषि-उधार

८.१ आय पर उधार व टैक्नॉलोजी का प्रभाव

कृषि-उत्पादन में द्रुत वृद्धि प्राप्त करने के लिए सघन व बहुफसली कृषि अपनाने की आवश्यकता तथा वैज्ञानिक ज्ञान एवं टैक्नॉलोजी के महत्त्व का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। प्रौद्योगिकीय प्रस्फोट, जो उर्वरकों की भारी मात्रा के अनुप्रयोग, सिंचाई के आवश्यक उपयोग तथा दक्ष जल-प्रबन्धन, अधिक उपज देने वाली किस्म के बीजो, जीवनाशी पदार्थों तथा यांत्रिक शक्ति के उपयोग व उन्नत फार्म रीतियो आदि द्वारा निरूपित होता है, फार्मों पर एक पर्याप्त आधारिक सरचना की कल्पना करके चलता है। अत सघन व बहुफसली कृषि के लिए निविष्टियों के नवीन पैकेज को खरीदने की आवश्यकता होती है। कृषि-विकास की सक्रमण-अवस्था (ट्रांजीशनल स्टेज) मे केवल कृषक को आधुनिक निविष्टियों व नवक्रियाओं को अपनाने के लिए ही तैयार नही करना पड़ता, बल्कि इन निविष्टियों को पर्याप्त मात्रा तथा ठीक समय पर उपभोग करने व खरीदने के लिए वित्तीय सहायता भी देनी पडती है ताकि कृषि मे तकनीकी परिवर्तन को बनाए रखा जा सके और इसे तेज किया जा सके। वित्त के बिना आधुनिक टैक्नॉलोजी के अनुप्रयोग की इच्छा को कार्यान्वित नही किया जा सकता। हाल ही मे किए गए अनेक आनुभविक अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं।

हाल ही मे देश के विभिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न आकार के फार्मों की आय पर उधार व टैक्नॉलोजी के प्रभाव की जाँच करने के लिए अनेक अध्ययन किए गए हैं। इन अध्ययनो मे चार भिन्न अवस्थाओं मे फार्मों के आय स्तरो की तुलना की गई है। आय का अनुमान लगाने हेतु प्रत्येक अवस्था मे इष्टतम फार्म-योजना तैयार की गई। उक्त अवस्थाएँ निम्न-लिखित हैं :—

अवस्था क्रमांक १—इसमे वर्तमान ससाधनों और टैक्नॉलोजी का ही उपयोग किया गया तथा उधार का सहारा नही लिया गया। इसे 'उधार-रहित चालू टैक्नॉलोजी' की अवस्था कहा जा सकता है। इसमे 'उधार' उपलब्ध नही था।

अवस्था क्रमांक २—इसमे वर्तमान ससाधनो और टैक्नॉलोजी का उपयोग किया गया परन्तु साथ मे उधार का सहारा भी लिया गया। इसे 'उधार-सहित चालू टैक्नॉलोजी' की अवस्था का नाम दिया जा सकता है। अर्थात् अवस्था न० १ के साथ-साथ उधार की व्यवस्था भी की गई।

अवस्था क्रमांक ३–यह अवस्था 'उधार-रहित उन्नत टेक्नॉलोजी' के उपयोग की थी। यह अवस्था पहली अवस्था से इस प्रकार से भिन्न थी कि इसमे चालू टेक्नॉलोजी उन्नत टेक्नॉलोजी द्वारा प्रतिस्थापित की गई, जो अ. उ. कि. बीजो, उर्वरको तथा सिंचाई-सुविधाओ द्वारा जानी जाती है। इसमे उधार की सुविधा उपलब्ध नही थी।

अवस्था क्रमाक ४–यह अवस्था **'उधार-सहित उन्नत टेक्नॉलोजी'** के उपयोग की थी। अवस्था नम्बर ३ मे अतिरिक्त उधार की भी व्यवस्था थी।

अध्ययनो के निष्कर्ष सक्षेप मे इस प्रकार हैं —

(i) यह देखा गया कि अवस्था २ के अतर्गत प्राप्त आय अवस्था १ के अन्तर्गत प्राप्त आय से बहुत अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि टेक्नॉलोजी के वर्तमान स्तर पर भी 'उधार' के पर्याप्त उपयोग से कृषकों की आय मे काफी वृद्धि हो सकती है। कई फार्मों मे यह वृद्धि १०० प्रतिशत से भी अधिक थी। साधारण स्थितियो मे भी यह वृद्धि ३० से ४० प्रतिशत तक हुई।

(ii) अवस्था ३ के फलस्वरूप आय मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई। अवस्था १ की अपेक्षा यह वृद्धि केवल नाममात्र ही थी (शून्य से ५ प्रतिशत तक)। इससे स्पष्ट है कि **'उधार-रहित उन्नत टेक्नॉलोजी' का उपयोग कृषकों की आय में विशेष वृद्धि करने में सहायक नहीं होता।**

(iii) *अवस्था ४ मे अवस्था ३ की अपेक्षा आय मे बहुत वृद्धि हुई। कई फार्मों पर अवस्था* ४ के अन्तर्गत प्राप्त आय अवस्था ३ की आय के दूनी से भी अधिक थी। इससे सिद्ध होता है कि **'उधार सुविधा-सहित उन्नत टेक्नॉलोजी' कृषकों की आय में बहुत अधिक वृद्धि करती है।**

(iv) अवस्था ४ के अन्तर्गत प्राप्त आय अवस्था २ की आय से बहुत अधिक होती है अर्थात् कहने का अभिप्राय यह है कि **'उधार-सहित उन्नत टेक्नॉलोजी' में 'उधार सहित चालू टेक्नॉलोजी'** स्तर की अपेक्षा बहुत अधिक आय प्राप्त होती है। इसलिए कृषि-आय मे वृद्धि हेतु केवल उन्नत टेक्नॉलोजी अपनाना ही जरूरी नही बल्कि उधार-सुविधाओ का उपलब्ध कराना भी आवश्यक है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि टेक्नॉलोजी की वर्तमान अवस्था मे भी उधार का बृहत् शक्य बाजार (लार्ज पोटेन्शियल मारकेट आफ क्रेडिट) मौजूद है और कृषि मे अधिक तकनीकी विकास के फलस्वरूप इसमें तेज़ विस्तार होगा। उधार-सुविधाओ के बिना उन्नत टेक्नॉलोजी का प्रचलन कृषको की आय पर सार्थक प्रभाव नही डालता। इसलिए उन्नत टेक्नॉलोजी के फल को प्राप्त करने के लिए उधार-सुविधाओ का विस्तार करने हेतु विशेष प्रयास करने होंगे।

८.२ उधार तथा कृषि-विकास

वित्त, कृषि के विकास मे सदा ही प्रमुख उपादान रहा है, परन्तु हाल के प्रौद्योगिकीय प्रस्फोट के सदर्भ मे इसकी भूमिका अधिक व्यापक हो गई है। उचित समय पर तथा पर्याप्त परिमाण मे उधार उत्पादन की प्रथम आवश्यकता है। यह वह निविष्टि है जो कृषक की

अन्य निविष्टियों को अनुप्रयुक्त करने में सहायता करती है, (जो कृषि के आधुनिकीकरण के लिए जरूरी हैं) । यही कारण है कि उधार, जो प्रति हैक्टर कर्ज दी गई राशि द्वारा व्यक्त किया जाता है, कृषि के आधुनिकीकरण का महत्त्वपूर्ण द्योतक है । अतः हमारे विश्लेषण के लिए सहकारी उधार का परिमाण कृषि के आधुनिकीकरण का उचित संकेतक है । सहकारी उधार का परिमाण कृषक की आत्म-सहायता की इस आधुनिक एवं लोकतांत्रिक संस्था को सफलतापूर्वक चलाने तथा विकास के इस आधुनिक साधन से लाभान्वित होने की क्षमता का परिचायक है ।

यह उचित ही है कि आधुनिकीकरण के इस महत्त्वपूर्ण संकेतक तथा उत्पादिता में वृद्धि के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाए । अतः इस संदर्भ में हमें इस बात का अध्ययन करना होगा कि उत्पादिता-संवृद्धि तथा सहकारी उधार एक दूसरे को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं तथा उनके बीच सम्बन्धों से क्या निष्कर्ष निकलते हैं । इस प्रकार का विश्लेषण अन्तर-राज्य अन्तरों पर भी प्रकाश डालेगा । सारणी ८ १ में विभिन्न राज्यों में उत्पादिता-संवृद्धि तथा प्राथमिक समितियों से प्राप्त उधार के आंकड़े दिये गये हैं ।

सारणी ८ १ कृषि उत्पादिता-संवृद्धि तथा सहकारी उधार

राज्य	संवृद्धि-दर (१९५२-५३ से १९६४-६५)	कोटि	प्राथमिक समितियों द्वारा दिया गया कर्ज (१९६६-६७)	कोटि
	%		रुपये प्रति हैक्टर फसल क्षेत्र	
गुजरात	४.५२	१	४५.५	२
तामिलनाडु	३.४६	२	४३.०	३
मैसूर	३.०३	३	२१.१	५
पंजाब	२.८६	४	४८.१	१
आंध्रप्रदेश	२.७२	५	१४.५	९
महाराष्ट्र	२.६२	६	४०.२	४
बिहार	२.३९	७	१३.५	१०
उड़ीसा	१.७८	८	११.१	११
पं. बंगाल	१.४१	९	१४.९	८
मध्य प्रदेश	१.३०	१०	१९.९	६
उ. प्रदेश	१.०१	११	१९.४	७
केरल	१.००	—	५२.८	—
आसाम	–(०.०७)	१२	५.९	१२
राजस्थान	–(०.०६)	१३	४.५	१३
अखिल भारत	१.९१		२३.३	

स्रोत: सारणी ५.१७, इण्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ, १०वां संस्करण तथा आर. बी. आई केरल के आंकड़े संदेह रहित नहीं ।

उपरोक्त आँकड़ों का विश्लेषण करने से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) विभिन्न राज्यो मे प्राथमिक सहकारी समितियों द्वारा दिए गए प्रति हैक्टर कर्जों मे काफी अधिक अन्तर हैं। इन अन्तर्राज्य अन्तरों का परास काफ़ी अधिक है। पजाब मे प्रति हैक्टर सहकारी उधार ४८.१ रुपये है जबकि राजस्थान में यह केवल ४ ५ रुपये है।

(२) दूसरा निष्कर्ष यह है कि आन्ध्रप्रदेश व बिहार को छोड कर जिन राज्यों मे उत्पादिता की सवृद्धि-दर ऊँची है (अर्थात् अखिल भारत औसत से अधिक है), उन राज्यो मे प्रति हैक्टर कर्ज का उपयोग भी ऊँचा है । उत्पादिता-संवृद्धि मे प्रथम सात राज्यो मे से पाँच राज्य (गुजरात, तमिलनाडु, मैसूर, पजाब, महाराष्ट्र,) कृषि उधार-प्राप्ति की दृष्टि से भी उच्च कोटि मे हैं।

(३) लगभग उन सब राज्यो मे जहाँ उत्पादिता-सवृद्धि की दरें न्यून रही हैं वहाँ सहकारी उधार का प्रति हैक्टर परिणाम भी अखिल भारत औसत से कम रहा है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ राज्यों मे उत्पादन-प्रस्फोट तथा आय-सुधार का वहाँ प्राप्त उधार-सुविधाओं से निकट का सम्बन्ध है। जहाँ एक ओर उत्पादन मे वृद्धि आधुनिक निविष्टियो के उपयोग को प्रोत्साहित करती है और उधार के लिए अधिक माँग को उत्पन्न करती है, वहाँ उधार सुविधाएँ आनुवंशिक-रासायनिक सयोजनो को अपनाने के लिए प्रेरित करती है।

उत्पादिता-सवृद्धि-दर तथा कर्ज राशि के बीच सम्बन्ध का एक बेहतर माप 'स्पियर्मैन कोटि सहसम्बन्ध गुणाक' है। यह सह-सम्बन्ध विभिन्न राज्यो के आँकडो के कोटि-निर्धारण द्वारा ज्ञात किया जाता है। सारणी ८ १ मे दिए गए आंकडो के आधार पर (केरल को छोड़ कर) उत्पदिता-वृद्धि-दर तथा प्राप्त कर्ज के बीच कोटि सहसम्बन्ध गुणाक ० ७६ आता है जो

सारणी ८.२ कृषि-उधार-समितियों द्वारा दिए गए कर्ज

वर्ष	कर्ज (करोड रुपये)	सकल शस्य क्षेत्र (करोड हैक्टर)	प्रति हैक्टर कर्ज (रुपये)
१६६०-६१	२०२.७	१५.२८	१३ २७
१६६१-६२	२२८.३	१५.६१	१४.६३
१६६५-६६	३४१.७	१५.५३	२२.००
१६६६-६७	३६५.२	१५.६६	२३.३२
१६६७-६८	४२८.२	१५.८२	२७.०७
१६६८-६६	५०३ ६	१५.५४	३२.४२
१६६६-७०	५४०.०	१५.८०	३४.२०
१६७०-७१	५४२.०	१५.६२	३४.००

स्रोत. सारणी १०.१३ (इ) इन्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ १०वां सस्करण तथा आर. बी. आई.

०.५ से अधिक है तथा इनके बीच पर्याप्त साहचर्य का परिचायक है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि उधार-सुविधाओं की उपलब्धता कृषि के आधुनिकीकरण तथा कृषि के विकास के लिए आवश्यक है। सारणी ८.२ मे पिछड़े कुछ वर्षों मे कृषि-उधार-समितियों द्वारा दिए गए अल्प अवधि तथा मध्यम अवधि कर्जों का विवरण दिया गया है।

सारणी ८.२ से स्पष्ट है कि पिछले १० वर्षो मे सहकारी उधार समितियो द्वारा दिये गये अल्प अवधि तथा मध्य अवधि ऋण मे १५८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। परन्तु उपरोक्त सारणी मे दिये गये कालिक आँकडे विश्लेषण के उद्देश्य हेतु तुलना योग्य नही है क्योंकि उक्त अवधि के दौरान कृषि-उत्पादन तथा कीमतो में हुई वृद्धि का हिसाब नही लगाया गया। तुलना के लिए १९६०–६१ के दौरान दिए गए फार्म-कर्ज के आँकडों का उस समय से हुई कीमतो में वास्तविक वृद्धि तथा कृषि-उत्पादन मे वृद्धि [अर्थात् पूँजी प्रधानता (कैपिटल इनटैंसिवनेस) मे वृद्धि] द्वारा स्फीतीकरण किया जा सकता है। इन दस वर्षों मे कीमतो मे लगभग ८० प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसी अवधि मे कृषि-उत्पादन मे २४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। अत. १९६९-७० वर्ष के संदर्भ मे १९६०-६१ के कर्ज का स्फीतीकृत अनुमान (इनफ्लेटेड एस्टीमेट) ४५२ करोड रुपये होता है ($२०२७ \times \frac{१८०}{१००} \times \frac{१२४}{१००}$)।

अत: नवीन निविष्टियों के उपयोग के बावजूद पिछले दस वर्षों में सहकारी समितियो द्वारा दिए गए कर्ज के परिमाण के स्तर मे केवल २० प्रतिशत की ही वृद्धि हुई हे। हम सहकारी समितियो के निष्पादन का विवेचन बाद मे करेंगे। यहाँ यह कहना काफी है कि पूँजी का अपर्याप्त व अदक्ष उपयोग भारत मे न्यून कृषि-उत्पादिता का मुख्य कारण है तथा भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण के लिए बहुत अधिक अतिरिक्त ऋण की आवश्यकता है।

८.३ कृषको की उधार-आवश्यकताएँ

परम्परागत कृषि मे पूँजी अर्थात् उधार का भाग भूमि तथा श्रम की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण होता है। फार्म-प्रबन्ध अध्ययनों से पता चलता है कि भारत मे विभिन्न राज्यो मे फार्मों पर कुल निवेश मे भूमि का भाग लगभग तीन चौथाई (अर्थात् ७५ प्रतिशत है)। प्राय: पूँजी का स्वरूप ऐसा होता है जिसका वित्तपोषण (फाइनेंसिंग) परिवार श्रम के उपयोग द्वारा होता है। भूमि के लिए बाजार नगण्य होता है क्योंकि यह उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रकार श्रम को छोड़ कर क्रीत निविष्टियों का उपयोग भी लगभग नगण्य ही होता है। परम्परागत कृषि मे वित्त का उपयोग कृषि-कार्यों के विस्तार की अपेक्षा अधिकत: भरण-पोषण के लिए किया जाता है। यह वित्त परम्परागत ऋणदाताओ, ग्राम-व्यापारियों, मित्रो तथा सम्बन्धियों से प्राप्त होता है। यह उपज बेशी के भंडार, विपणन तथा परिष्करण के लिए भी उपयोग मे लाया जाता है ताकि उपभोक्ताओ को सारा वर्ष अनाज की सप्लाई की जा सके। इन व्यापारिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त कृषको की नकद आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कृषि-उधार की आवश्यकता होती हैं। निर्वाह-मात्री कृषि मे ये आवश्यकताएँ आय की अपेक्षा अधिक होती हैं। कृषि-उत्पादन मे मौसमीपन के कारण उधार आवश्यकताएँ घटती बढती हैं। कृषकों की निर्वाह-उधार पर निर्भरता

तथा उनकी बचत करने की न्यून क्षमता कर्जों की अदायगी (की प्रतिदान क्षमता) में अनिश्चितता उत्पन्न करती हैं। ये कारण ही ऋण-ग्रस्तता, ऊँची ब्याज दरें तथा निर्धनता के कुचक्र को जन्म देते हैं।

आधुनिक कृषि मे क्रीत निविष्टियो अर्थात् उन्नत बीजो, उर्वरको, कीटनाशी पदार्थों, यन्त्रो, उपस्करो, अतिरिक्त श्रम तथा सम्बद्ध निविष्टियों का उपयोग किया जाता है। कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए भूमि की सफाई, सिंचाई तथा भू-समतलन आदि में निवेश आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशील कृषि फार्म-भूमि तथा खेती की तकनीकों (प्रविधियों) में सतत सुधार की माँग करती है और कृषक को इस प्रकार के सुधार के आरम्भिक तथा आवर्ती व्यय को पूरा करने के लिए वित्त का प्रबन्ध करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त भू-राजस्व की अदायगी तथा कटी फसल को मडी मे ले जाने के लिए भी वित्त की आवश्यकता होती है। अत उद्देश्य अनुसार उधार, उत्पादन-उधार (प्रोडक्सन क्रेडिट), उपभोग-उधार (कन्जम्पसन क्रेडिट) तथा विकास-उधार (डेवलपमैंट क्रेडिट) मे वर्गीकृत किया जा सकता है। कृषक की सामान्य उधार-आवश्यकताओ मे उत्पादन व उपभोग दोनो तत्त्व सम्मिलित होते हैं। कृषि-उत्पादन को बनाये रखने व बढाने के लिए लिया गया कर्ज प्रथम वर्ग का है जबकि परिवार की जीविका के लिए निर्वाह-ऋण दूसरी श्रेणी के हैं। विकास-उधार की सहायता से कृषक फार्म-भूमि की उन्नति, रक्षा तथा उसका बेहतर उपयोग कर सकता है। भू-स्वामित्व-उधार तथा भू एव जल-सरक्षण कर्ज इस लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन-उधार इतना अवश्य होना चाहिये कि फसल मौसम के दौरान कृषक तथा उसके परिवार का भरण-पोषण भी कर सके।

इसी प्रकार से उधार लिये हुए कर्ज अल्प अवधि, मध्य अवधि तथा दीर्घावधि के लिए हो सकते हैं। यह बात कर्जों की वापसी की अवधि पर निर्भर करती है। उदाहरणतः बीजो, उर्वरको, कीटनाशी पदार्थों या भू-राजस्व व लगान की अदायगी या फसलो को मडी तक ले जाने के लिए लिये गये कर्ज को एक वर्ष के भीतर ही वापस किया जा सकता है अर्थात् इन ऋणो का फसलों की बिक्री के तुरन्त बाद भुगतान किया जा सकता है। यन्त्रो व उपस्करो को खरीदने तथा भूमि मे अल्प सुधार लाने के लिए लिये गये कर्ज ३ से ५ वर्ष के अन्दर वापस किए जाते है, इसलिए मध्य अवधि कर्ज कहलाते हैं। भूमि में स्थायी सुधार लाने के लिए या ट्रैक्टर व नलकूप आदि भारी मशीनरी को लगाने के लिए उधार ली गई राशि का भुगतान करने के लिए दीर्घ समय की आवश्यकता (७ से १० वर्ष तक) होती है। सामान्यतः कृषक को इन ऋणो की जमानत के रूप मे अपनी भूमि रेहन रखनी पडती है और वह ऋण की राशि को ब्याज के साथ आसान वार्षिक किश्तों में अदा करता है।

८.४ उधार-आवश्यकताओ का प्राक्कलन (अनुमान)

सघन कृषि-विकास-कार्यक्रमो मे बड़े पैमाने पर उधार-समर्थन की जरूरत पर बहुत बल दिया गया है। नवीन बीज-उर्वरक टैक्नॉलोजी तथा सम्बद्ध आधुनिक निविष्टियो के कारण भारतीय कृषि की उधार-आवश्यकताओ मे काफी वृद्धि हुई है। विभिन्न सस्थाओ तथा व्यक्तियों द्वारा चौथी योजना के अन्त अर्थात् १९७३-७४ मे अभीष्ट अल्प अवधि उधार के

अनेक अनुमान लगाए गए हैं। उदाहरणार्थ सहकारिता से सम्बन्धित कार्यकारी दल का यह अनुमान था कि इस उद्देश्य के लिए १८०० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। कृषि-विभाग ने निविष्टि उपभोग-लक्ष्यों के आधार पर भी इसी राशि का प्राक्कलन किया है। अधिक पैदावार तथा बहुफसली कृषि के आधार पर ये अनुमान १५६७ करोड रुपये के हैं। अनुमान मात्र कृषि-व्यवसाय हेतु उधार-आवश्यकताओ के लिए थे और इनमें कृषीतर तथा घरेलू व्यय के लिए अभीष्ट राशि को सम्मिलित नही किया गया। यहाँ यह बताना उचित ही होगा कि पिछले कुछ वर्षो मे कृपकों द्वारा लिये गये कुल उधार का लगभग ५० प्रतिशत उपभोग-उद्देश्यो अर्थात् परिवार के जीवन-निर्वाह सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के लिए था।

अल्प अवधि कृषि-उधार की आवश्यकताओ का प्राक्कलन करते समय निम्नलिखित बातो पर ध्यान रखना चाहिये :—

(१) सब कृपकों को अल्प अवधि उधार की आवश्यकता नहीं होती। केवल छोटे कृषकों को, जो अपने ससाधनो से अपनी आवश्यकताओं को पूरा नही कर सकते, इस प्रकार के आधार की जरूरत होती है।

(२) उधार लेने वाले कृषक अभीष्ट निविष्टियो के कुल मूल्य का १०० प्रतिशत कर्ज़ मे प्राप्त नही करते। उनमे से कुछ एक इन निविष्टियो का काफी भाग अपने ही ससाधनो से खरीद सकते हैं। उर्वरक, कीटनाशी पदार्थ तथा अधिक उपज देने वाली किस्मो के बीज मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण निविष्टियाँ हैं जिन्हे बाजार से खरीदना पड़ता है। पुरानी किस्मो के बीज व खाद कृपको के अपने पास उनके घरेलू साधनो से उपलब्ध होते हैं। वे इन्हे अपनी फसलो तथा फार्म पशुओं से प्राप्त करते है। इससे स्पष्ट है कि मुख्य निविष्टियों के लिए वास्तविक उधार-आवश्यकताएँ उनके कुल मूल्य का लगभग ४० प्रतिशत होती हैं।

(३) हमारी काफी मानव-शक्ति हमारी कृषि में लगी हुई है और कृषि के छोटे आकार के कारण बहुत से कृपक मानव तथा पशु-श्रम पर कोई खर्च नही करते। फार्म में आवश्यक श्रम-परिवार के सदस्यों द्वारा सप्लाई किया जाता है। बड़े कृपक भी इन दायित्वों को अपने साधनो से ही पूरा करते हैं। इसलिए अनुमान लगाते समय समृद्ध कृपको की हालत मे इन व्ययो तथा भूमि लगान, भू-राजस्व तथा विपणन-वित्त आदि विविध खर्चों की उपेक्षा की जा सकती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रगतिशील कृपको की (जिन्होने नवीन रीतियों तथा नवक्रियाओ को अपना लिया है) वित्तीय हालत काफी सुधर गयी है।

(४) अनुमान सामान्यतः निविष्टियों के उपभोग लक्ष्यो पर आधारित हैं और वास्तविक उपभोग के आधार पर आकलित नही किए जाते। ये लक्ष्य तकनीकी प्रगति के विभिन्न स्तरो को ध्यान में रखते हुए फसलवार या क्षेत्रवार निर्धारित किए जाने चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में फसलवार उधार-आवश्यकताओ के अनुमान आकलित किये गये हैं।

(५) अल्प अवधि उधार फसल के अन्त मे वापस किया जाना होता है और दोहरी व बहुफसली कृषि की स्थिति मे इस कर्ज़ को बार-बार लगाया जा सकता है और

अतिरिक्त फसलों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। अतः दोहरी गणना को टाला जाना चाहिए तथा उधार आवश्यकताओं का अनुमान लगाते समय दोहरी फसल के क्षेत्रफल के प्रतिशत के बराबर छूट देनी चाहिये।

(६) इसी प्रकार कृषकों की स्वपोषी वित्त-(सैल्फ फाइनेंसिंग-आंतरिक वित्त) क्षमता में सुधार का भी ध्यान रखना चाहिये। कृषक की स्व-ऋणादान-क्षमता (सैल्फ बोरोविंग कैपेसिटी) में सुधार प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन में वृद्धि द्वारा नियत होता है। सारणी ८.३ तथा ८.४ में अल्प अवधि उधार-आवश्यकताओं के प्राक्कलन की प्रविधि व संकल्पनाओं को स्पष्ट किया गया है। कुछ परिकलन ग्रामीण ऋण तथा निवेश-सर्वेक्षण (१९६१-६२) के आंकड़ों पर आधारित हैं।

सारणी ८.३ कृषि-उत्पादन, प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन तथा कीमतों के सूचकांक (१९६१-६२=१००)

वर्ष	कृषि-उत्पादन*	प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन+	कीमतें
१९७३-७४	१४०	१०७	१९०
१९६१-६२ पर प्रतिशत वृद्धि	४०%	७%	९०%

स्रोत * पांचवी योजना का दृष्टिकोण। वास्तविक उत्पादन वृद्धि लगभग ४० प्रतिशत होने की सम्भावना है।

+ प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन में वास्तविक वृद्धि सम्भवतः शून्य ही होगी अर्थात् कोई अन्तर नहीं होगा। उस दशा में स्वपोषी वित्त क्षमता में कोई सुधार नहीं होगा।

पूंजी प्रधानता=४० प्रतिशत

स्वपोषी वित्त क्षमता (सैल्फ-फाइनेंसिंग कैपेसिटी) में सुधार=७ प्रतिशत

सारणी ८.४ फार्म तथा घरेलू व्यय के लिए अल्प अवधि उधार-आवश्यकताओं के अनुमान

अल्प अवधि उधार-आवश्यकताएँ	राशि (करोड़ रुपये)
फार्म	
उर्वरकों का मूल्य (१९७३-७४ लक्ष्य).....................	१११४
कीटनाशी पदार्थों का मूल्य (,,)...........................	१५०
अ. उ. किस्म के बीजों का मूल्य (,,).....................	१६१
मुख्य निविष्टियों का कुल मूल्य.........................	१४२५
(क) उधार-आवश्यकताएँ ५०% के हिसाब से............	७१३
विविध उद्देश्यों के लिए १९६१-६२ में लिए गए कर्ज..	१००
१९७३-७४ के लिए अनुमान	
कीमतों में ९० प्रतिशत वृद्धि के कारण................	१९०

(ख)	पूँजी प्रधानता में ४०% वृद्धि के कारण वर्तमान अनुमान $\frac{१६० \times १४०}{१००}$	= २६६
	१६७३–७४ में कुल उधार आवश्यकताएँ (क) + (ख)	६७६
	(–) १६७३–७४ में दोहरी फसल का क्षेत्र (१७%)	१६६
(ग)	१६७३–७४ में फार्म-व्यवसाय हेतु नेट उधार आवश्यकता	८१३
	फार्मेतर (नॉन-फार्म)	
	१६६१–६२ में घरेलू व्यय के लिए कृषकों द्वारा लिया गया उधार......................................	४८२
	१६७३–७४ में घरेलू व्यय के लिए ऋण का अनुमान	
	(i) कीमतों में ६०% वृद्धि के कारण अर्थात् निर्वाह खर्च में वृद्धि के कारण $\frac{४८२ \times १६०}{१००}$	६१६
	(ii) जनसंख्या में ३०% वृद्धि के कारण $\frac{६१६ \times १३०}{१००}$	११६०
	(–) स्वपोषी वित्त-क्षमता में सुधार के कारण	८३
(घ)	घरेलू व्यय हेतु नेट उधार-आवश्यकता	११०७
	कुल उधार-आवश्यकता (ग) + (घ)	१६२०

स्रोत सारणी II पर आधारित, पी. सी. बंसल . "शार्ट टर्म क्रेडिट रिक्वायरमेंट्स ऐट दी एण्ड ऑफ दी फोर्थ प्लान, १६७३–७४" प्रकाशित, १६७१.

नोट : (डॉ० बन्सल ने इन आवश्यकताओं का प्राक्कलन निम्न धारणाओं के आधार पर किया है : कीमतों में वृद्धि=८०%, जनसंख्या में वृद्धि २५%, स्वपोषी वित्त क्षमता में सुधार=२१% कृषि-उत्पादन में वृद्धि ४०%; कुल उधार आवश्यकता १६७७ करोड़ रुपये)

सारणी ८.४ से स्पष्ट है कि कृषकों द्वारा लिये जाने वाले अधिकांश उधार की उपभोग उद्देश्यों के लिए आवश्यक होती है। १६६१–६२ में फार्मेतर (नॉन फार्म) उधार कुल का ७७.५ प्रतिशत था परन्तु १६७३–७४ में यह अनुपात ५७.६ प्रतिशत होगा।

१६७३–७४ तक मध्य अवधि तथा दीर्घ अवधि के लिए अनुमानित उधार-आवश्यकताएँ क्रमशः ५०० करोड़ रुपये और १५०० करोड़ रुपये की हैं। इस प्रकार कृषि-क्षेत्रक की कुल उधार आवश्यकताएँ लगभग ३६०० करोड रुपये की हैं। इन अनुमानों के विपरीत आशा यह है कि १६७३–७४ के अन्त तक अल्प अवधि व मध्य अवधि उधार के लिए केवल ७५० करोड़ रुपये की राशि सुलभ हो सकेगी जबकि दीर्घ अवधि उधार के लिए वार्षिक निर्गमों द्वारा ६०० करोड़ रुपये का लक्ष्य रखा गया है, स्पष्ट है कि इतने बड़े उधार-

अन्तर को निजी एजेंसियो या सहकारी समितियों द्वारा पूरा नही किया जा सकता। इस महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान करने के लिए बहु एजेंसी दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। यहाँ उधार-सप्लाई के मुख्य स्रोतो (साधनो) के बारे मे अध्ययन करना उचित ही होगा।

८.५ उधार पूर्ति के स्रोत

१९५१-५२ मे किये गये ग्राम ऋण सर्वेक्षण मे विभिन्न ऋणदाता एजेंसियों व संस्थाओं को ९ वर्गों मे बाँटा गया था :—(१) सरकार (२)सहकारी समितियाँ(३) वाणिज्यिक बैंक (४) सम्बन्धी (५) जमीदार (६) कृषक ऋणदाता (७) व्यवसायी साहूकार (८) व्यापारी तथा आढ़ती (९) अन्य।

इस सदर्भ मे सम्बन्धियों से अभिप्राय उन लोगों से है जो अ-ब्याज (बिना ब्याज)कर्ज उधार देते थे। 'जमींदार वर्ग' मे वे लोग सम्मिलित थे जो केवल अपने काश्तकारो व मुज़ारो को उधार देते थे। कृषक ऋणदाता वह है जिसका मुख्य पेशा कृषि है और जिनका ऋण देने का व्यवसाय अपेक्षाकृत कम महत्त्व का है। व्यावसायिक ऋणदाता (साहूकार) वे हैं जो अपनी आय का अधिकाश भाग उधार देने से प्राप्त करते हैं और जिनका वर्गीकरण 'कृपक ऋणदाताओं' मे नही किया जाता। वाणिज्यिक बैंकों में सब अनुसूचित तथा अनुसूचित बैंक सम्मिलित हैं। सारणी ८.५ मे विभिन्न उधार स्रोतों द्वारा कुल उधार राशि मे दिए गए अंशदान का विवरण दिया गया है।

सारणी ८ ५ उधार स्रोतो द्वारा ग्राम उधार का प्रतिशतता-वितरण

क्र. स.	उधार एजेंसी	उधार का वितरण (प्रतिशत)					
		१९५१-५२		१९६१-६२		१९७०-७१	
१.	सरकार	३.३	७ ३	२.६	१८.७	२	४०
२.	सहकारी समितियाँ	३.१		१५.५		३३	
३.	वाणिज्यिक बैंक	०.९		०.६		५	
४.	सम्बन्धी	१४.२	९२.७	८.८	८१.३		६०
५.	जमीदार	१.५		०.६			
६.	कृपक ऋणदाता	२४.९		३६.०			
७.	व्यावसायिक साहूकार	४४.८		१३.२			
८.	व्यापारी तथा आढ़ती	५.५		८.८			
९.	अन्य	१.८		१३.९			
	कुल	१००.०		१००.०		१००	

स्रोत: 'आल इण्डिया रूरल डेट एण्ड इनवेस्टमेंट, सर्वे' आर. बी. आई.

मुख्यत कृषि-व्ययों को पूरा करने के लिए कृपक को वित्त तीन साधनो (स्रोतों) से प्राप्त होता है। (१) स्व-वित्त अर्थात् आतरिक वित्त (२) निजी कर्ज (प्राइवेट लोन) सास्थानिक कर्ज। भारत मे सामान्यत: सब राज्यों में छोटे फार्मों की अधिकता है तथा उनके स्व-वित्त का क्षेत्र सीमित है। देश मे लगभग ४० प्रतिशत कृष्य क्षेत्र ४·०५ हैक्टर से भी छोटी जोतो मे जोता जाता है। इन जोतदारों की वित्तीय दशा कमजोर है और इन्हें ही

उधार की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। उन कृषकों की जिन्होने अधिक उपज वाले बीजो को अपनाया है, वित्तीय दशा काफी सुधर गई है। उदाहरण के रूप मे पजाब मे प्रति व्यक्ति ग्राम्य आय वहाँ प्रति व्यक्ति नगरीय आय से अधिक है।

८.६ निजी उधार एजेंसियाँ

शताब्दियों से कृषक अपनी कृषि-क्रियाओ तथा उपभोग-उधार की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए वैयक्तिक साहूकारो तथा जमींदारो पर निर्भर रहे हैं। सारणी ८.५ से स्पष्ट है कि उधार-आवश्यकताओ का बहुत बडा भाग निजी एजेंसियो द्वारा अर्थात् असस्थानिक साधनो द्वारा पूरा किया जाता है। १९५१–५२ मे लगभग ९३ प्रतिशत ऋण निजी उधार एजेंसियों से प्राप्त किया गया। १९६१–६२ मे कृषको की ८१ प्रतिशत ऋण-आवश्यकताएँ साहूकारो द्वारा पूरी की गई जबकि १९७०–७१ मे साहूकार कुल ऋण की ६० प्रतिशत आवश्यकताओ को पूरा कर रहे थे। कहने का अभिप्राय यह है कि पिछले कुछ वर्षों मे यद्यपि कृषको की ऋण हेतु साहूकारो पर निर्भरता कम हो रही है परन्तु अब भी ऋण का अधिकांश भाग उन्ही से प्राप्त होता है। निजी एजेंसियो मे सम्बन्धी साहूकार भू-स्वामी तथा व्यापारी आदि सम्मिलित हैं। व्यापारी लोग उत्पादन के लिए पेशगी उधार देते हैं परन्तु वे अनाज को कम से कम कीमत पर खरीदते हैं। साहूकार निजी कर्जों पर अत्यधिक ब्याज दर प्राप्त करते है। उनके द्वारा उधार दी गई राशि का काफी बडा भाग अवाछनीय तथा अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए खर्च किया जाता है। कृषको द्वारा ब्याह शादियों, संस्कारो तथा रस्मो रिवाजों पर अत्यधिक अपव्यय उन्हे जीवन भर कर्जाई (ऋणी) बना देता है जिसके भयानक आर्थिक व सामाजिक परिणाम निकलते हैं। रिजर्व बैंक के ग्रामीण ऋणग्रस्तता सम्बन्धी एक सर्वेक्षण के अनुसार १९६१–६२ में कुल ग्रामीण ऋण ३००० करोड़ रुपये से अधिक था तथा ७ करोड़ ४० लाख ग्रामीण परिवारो में से प्रत्येक परिवार का औसत ऋण ४०६ रुपये था। ५० प्रतिशत ग्रामीण परिवार अब भी ऋण के बोझ से दबे हुए है। जबरी वसूली, उच्च ब्याज लागतों, सूदखोरी, हिसाब किताब में हेर-फेर तथा कृषको के शोषण आदि के कारण साहूकार वर्ग बदनाम हो गया है। यहाँ तक कि उनके द्वारा दी गई लाभकारी उत्कृष्ट सेवाओ को भी उपेक्षित दृष्टि से देखा जाता है।

गाव वाले अब भी साहूकार को केवल सहायक ही नही समझते बल्कि अपना मित्र व सलाहाकार भी मानते हैं। उनके बीच सम्बन्ध साफ, निष्कपट, घनिष्ठ, आत्मीय, व्यक्तिगत तथा निजी होता है। वे उस समय वित्तीय सहायता देते हैं जब उन्हे इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। प्रणाली की सारी बुराइयों तथा कुरीतियो के बावजूद, साहूकारो ने पिछले कुछ दशकों मे देश के कृषि-विकास मे अमूल्य योगदान दिया है। उन्होने कुल उधार-आवश्यकताओ तथा सास्थानिक साधनो से (उपलब्ध) प्राप्य उधार के अन्तर की बडी सफलतापूर्वक पूर्ति की है। हाल मे, इस क्षेत्र मे वाणिज्यिक बैंको के बडे पैमाने पर प्रवेश तथा सहकारी समितियो के वर्धमान योगदान के बावजूद लगभग ६० प्रतिशत वर्तमान कृषि वित्तीय आवश्यकताएँ निजी ऐजेंसियों विशेषतया साहूकारो द्वारा पूरी की जाती हैं। यह तथ्य विचारणीय है और उधार-नीतियाँ इस प्रकाश मे ही निर्धारित की जानी चाहियें।

सोने का अंडा देने वाली इस मुर्गी को जीवित रखना ही पड़ेगा। समस्या का समाधान इस महत्वपूर्ण एजेंसी के विलोप (समाप्ति) में नहीं बल्कि लेन-देन व्यवहार के नियन्त्रण व नियमन तथा कुरीतियों के उन्मूलन में है। यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि समस्या को हल करने के लिए निर्धारित दृष्टिकोण कृषकों के लिए अहितकर न हो। विशेषकर इस समय, कृषि, वित्त की क्षुधा से पीडित नहीं रहनी चाहिये। इसमें कोई शक नहीं है कि इस क्षेत्र में सुधार की व्यापक गुंजायश है और यह काम बिना किसी विलम्ब के किया जाना चाहिये।

पिछले तीस वर्षों में ऋणादान पर नियन्त्रण करने के लिए अनेक कानून बनाये गये हैं। इसी प्रकार भूमि की बिक्री तथा इसके रेहन रखने पर प्रतिबन्ध लगा कर बन्धक उधार पर नियन्त्रण करने के लिए भी नियम बनाये गये हैं जिससे निजी उधार-एजेंसियों का कार्य काफी प्रभावित हुआ है। कुछ राज्यों में ऋणदाताओं के लिए लाइसेंस प्राप्त करना और अपने आपको पंजीकृत (रजिस्टर्ड) करवाना अनिवार्य है। बहुधा नियमों की एक साझी विशेषता यह है कि वे ऋणदाताओं द्वारा निर्धारित फार्म पर प्रत्येक ऋणी का अलग-अलग लेखा रखने पर बल देते हैं। साधारणतः नियमों के अनुसार ऋणदाताओं द्वारा ऋणियों को उधार के समय या तुरन्त बाद उधार का विवरण देना होता है जिसमें उधार की तिथि व राशि, उधार चुकताने की तिथि, जमानत का स्वरूप तथा ब्याज दर्ज होता है। उसे समय समय पर ऋणी को बकाया मूल, तथा चुकाई गई राशि का विस्तृत विवरण भी देना होता है। वे प्रलेक अदायगी के समय पूर्ण तथा स्पष्ट रसीद भी देंगे। नियत फीस देकर तथा माँगने पर प्रलेखों तथा दस्तावेज़ों की प्रतियाँ प्राप्त हो सकती हैं। नियमों की धाराओं का उल्लंघन करने पर ऋणदाता ऋणी के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही नहीं कर सकता। कुछ राज्यों में ऐसे कानून बनाये गये हैं जिनका निश्चित उद्देश्य अकृषकों को भूमि अन्तरण तथा भूमि के हक शुफा को रोकना है। जोतों की उच्चतम तथा न्यूनतम सीमा निर्धारण द्वारा भी ज़मीन के लेन-देन को सीमित किया गया है। इन नियमों के कारण साहूकारों का व्यवसाय बहुत अधिक संकुचित हो गया है और यह बड़ा महत्वपूर्ण है कि कृषकों की उधार-आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वैकल्पिक एजेंसियों को स्थापित किया जाए।

८७ सास्थानिक उधार

निजी ऋणदाताओं की अनियन्त्रित क्रियाओं के कृषि-वित्त व्यवस्था पर प्रभुत्व को प्रत्यक्ष नियन्त्रण अथवा प्रतियोगी विकल्प द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। कृषि-वित्त का पुनर्निर्माण तथा उधार प्रणाली का पुनर्गठन ऐसे आधार पर किया जाना चाहिये जिससे कृषकों की सब उचित आवश्यकताओं के लिए उचित शर्तों पर उधार मिल सके। यह महत्त्व-पूर्ण कार्य राज्य द्वारा स्थापित तथा नियन्त्रित संस्थाओं तथा उनकी स्थानीय शाखाओं द्वारा या अन्य संगठित संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सास्थानिक सुविधाओं के निर्माण में राज्य के किसी न किसी प्रकार से भाग लेने की आव-श्यकता अवश्य पड़ेगी। उपरोक्त विवेचन के संदर्भ में सास्थानिक वित्त का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कोई विकल्प संस्था भी निकट

भविष्य मे निजी साहूकार तथा उसकी उधार सम्बन्धी क्रियाओं को प्रतिस्थापित नही कर सकती।

कृषि के आधुनिकीकरण में अनेक कार्यो जैसे विस्तार, उधार आवश्यकताओ के उचित प्राक्कलन, निविष्टियो की सामयिक तथा पर्याप्त सप्लाई, कृषक की योग्यता तथा सुविधा के अनुसार अदायगी-प्रबन्ध, कर्जों की वसूली के लिए प्रभावी व्यवस्था तथा पर्याप्त विपणन-सुविधाओं के समन्वय की आवश्यकता होती है। इस समन्वित व्यवस्था की आवश्यकताओ को केवल सास्थानिक प्रणालियों द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। अतः भारतीय कृषि के संदर्भ मे कृषि उधार-आवश्यकताओं को पूरा करने लिए बहु-एजेंसी पद्धति अपनाई जानी चाहिये।

८.८ सरकारी वित्त

सरकार, सहकारी समितियाँ तथा वाणिज्यिक बैंक सास्थानिक कर्ज के मुख्य साधन हैं। सरकारी वित्त साधारणतः निश्चित उद्देश्यो के लिए विशेष वर्ग के लोगों को सुलभ होता है। इसकी राशि व अवधि सीमित होती है और यह मुख्यत दो प्रकार की परिस्थितियो में उपलब्ध होता है। प्रथम अवस्था में यह उस समय उपलब्ध होता है जब सकट काल की स्थिति हो और उसके उन्मूलन के लिए शीघ्र सरकारी सहायता की आवश्यकता हो। उस समय सरकार कृषकों को 'तकावी कर्ज' देती है। यह सकट सूखा, बाढ़, अन्धड, अकाल आदि किसी कारण भी उत्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार किसी भी विशेष विकास-कार्य जिसे सरकार विशेष महत्त्व देती है, के लिए वित्त प्रदान करती है। कुछ विशिष्ट योजनाएँ ये हैं:– 'अधिक अन्न उपजाओ', भूमि-उद्धार तथा कुओ की खुदाई आदि। इस सम्बन्ध मे प्रचालक एजेंसी सामान्यत. भू-राजस्व विभाग या सरकार का कोई अन्य विभाग होता है।

साधारणतः सरकार द्वारा दिया गया कर्ज सकटो पर काबू पाने के लिए होता है और कृषि उधार की सामान्य तथा नियमित सप्लाई नही माना जाता। ये कर्ज अत्यन्त अपर्याप्त होते हैं। अखिल भारत ग्राम-उधार-सर्वेक्षण की निर्देशन समिति ने तकावी कर्ज के बारे मे लिखा है कि यह अपर्याप्त राशि का एक अनुपयुक्त संस्था के द्वारा कु-वितरण है। वास्तव मे तकावी का रेकार्ड अपर्याप्तताओ का रेकार्ड है– राशि की अपर्याप्तता, वितरण की असमता, जमानत के आधार की अनुचितता, समय की असुविधा, आकस्मिक विलम्ब तथा ऋणियो पर विभिन्न प्रकार के प्रभार, निरीक्षण की अदक्षता तथा समन्वय का अभाव—सब सरकारी कर्जों की सीमाओं को दर्शाते हैं।

अतः सरकारी वित्त की उपयोगिता स्वीकृति, अनुवीक्षण तथा संवितरण की लम्बी प्रक्रियाओ (जो कि विभागीय प्रशासन में सामान्य बात है) के कारण सीमित है। सरकारी कर्मचारियो के विरुद्ध रिश्वत तथा भ्रष्टाचार के दोष आम तौर पर सुनने मे आते हैं और इससे कर्ज प्राप्त करने की लागत में वृद्धि होती है। यह सिद्धान्त रूप मे स्वीकार कर लिया गया है कि सरकार द्वारा प्रत्यक्ष कर्ज की राशि कम से कम की जानी चाहिए। १९५१-५२ मे सरकार का कुल उधार मे योगदान ३ प्रतिशत था जबकि १९७०-७१ मे

सरकार द्वारा प्रदत्त ऋण कुल उधार का २ प्रतिशत ही था।

८.६ सहकारी संस्थाएँ

भारत में फार्म वित्त व्यवसाय के क्षेत्र में सहकारी समितियाँ अल्प अवधि तथा मध्य अवधि उधार का प्रमुख संस्थानिक साधन हैं और कुल ऋणादान का एक तिहाई भाग (लगभग ३३ प्रतिशत) इनके द्वारा वितरित किया जाता है। सहकारी संस्थाएँ त्रि-सोपान प्रणाली (थ्री टायर सिस्टम) से कार्य करती हैं जो निम्न प्रकार से गठित हैं :—

(१) ग्राम-स्तर पर प्राथमिक कृषि उधार सहकारी समितियाँ हैं जो देश के १२ प्रतिशत गांवों में कुल ४३ प्रतिशत कृषक परिवारों की सहायता करती हैं। ये समितियाँ सहकारिता आन्दोलन की जड़ हैं।

(२) जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं जो प्राथमिक समितियों के कार्य की देखभाल करती हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण देते हैं। प्राथमिक सहकारी समितियाँ तथा अन्य व्यक्ति इनके सदस्य बन सकते हैं।

(३) राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक होते हैं जिनके हाथ में राज्य सहकारिता आन्दोलन की बागडोर होती है। ये बैंक केन्द्रीय बैंकों की देखभाल करते हैं और उन्हें ऋण देते हैं।

दीर्घावधि उधार केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों तथा प्राथमिक विकास बैंकों (भूतपूर्व भूमि बंधक बैंकों) द्वारा दिया जाता है। ये बैंक भूमि-विकास अर्थात् उत्पादन-उद्देश्यों जैसे कुओं की खुदाई व मरम्मत, सिंचाई के लिए मोटरों तथा पपसैटों को खरीदने व लगाने, मशीनरी को खरीदने तथा भूमि सुधार (समतल व टैरेसिंग) के लिए कर्ज देते हैं। कर्ज के कुछ भाग का ऋण प्रतिदान (डेट रिडेम्पशन) हेतु भी उपयोग किया जाता है। सहकारी उधार की संरचना सारणी ८.६ में दी गई है:—

सारणी ८.६ सहकारी (संस्थानिक) कृषि-उधार (१९६८-६९)

संस्था का नाम	संख्या	सदस्य संख्या (हजार)	शेयर पूंजी (करोड़ रुपये)	कार्यशील पूंजी (करोड़ रुपये)	दिया गया कर्ज
अल्प अवधि व मध्य अवधि					
१. राज्य सहकारी बैंक	२५	२१.३	३७.७	५६६.५	६६३.६
२. केन्द्रीय सहकारी बैंक	३४२	३४०.३	११५.२	८३०.५	८२३.१
३. प्राथमिक उधार सहकारी समितियाँ	१६८,०००	३००००	१६७.३	८१२.२	५०३.९
दीर्घावधि					
१ केन्द्रीय भू-विकास बैंक	१९		३०.९	४८८.२	१४३.६
२. प्राथमिक भू-विकास बैंक	७४०	२६००	२५.३	३०६.८	१०३.८

स्रोत : सेलेक्टेड स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टु कोआपरेटिव क्रेडिट इन इण्डिया आर. बी. आई, नवम्बर. १९७०।

फार्म उधार सहकारी संस्थाओं के कार्य की शुरुआत लगभग ७० वर्ष पूर्व १९०४ के सहकारी अधिनियम से मानी जाती है। इनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य किसान वर्ग को ऋणग्रस्तता के जाम लेवा बोझ से राहत दिलाना था। परन्तु इस दिशा मे व्यवस्थित ढग से देशव्यापी अध्ययन अखिल भारतीय ग्रामीण उधार सर्वेक्षण समिति १९५१-५२ की स्थापना के बाद हुआ।

इस समिति का मत था कि 'कृषि उधार के क्षेत्र मे, सहकारिता ही ग्रामीण वित्त के लिए एक मात्र सस्था हो सकती है और सहकारी प्रयास ही किसान की उधार आवश्यकता पूरी करने मे सक्षम है तथा इस क्षेत्र मे सहकारिता का अन्य कोई विकल्प नही है'। सरकार द्वारा यह नीति अपनाये जाने पर कि 'ग्रामीण क्षेत्र मे कृषकों को उधार देने का एकाधिकार मात्र सहकारी सस्थाओं को प्राप्त होगा', इन सस्थाओं को हर प्रकार का समर्थन, प्रोत्साहन, अवसर तथा सुविधाएँ सुलभ कराई गई और जैसे कि सारणी ८.७ से स्पष्ट है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्राथमिक कृषि-उधार-समितियो के ऋणसम्बन्धी कार्यविधियों मे लगातार विस्तार होता रहा है।

सारणी ८.७ भारत मे सहकारी-उधार मे प्रगति

(करोड रुपये)

वर्ष	अल्प अवधि तथा मध्यम अवधि उधार	दीर्घावधि* उधार	कुल उधार
१९५०-५१	२२.९	१.३८	२४.२८
१९५५-५६	४९ ६	२.८६	५२.४६
१९६०-६१	२०२.७	११.६२	२१४.३६
१९६१-६२	२२८.३	१४ ७५	२४३.०५
१९६५-६६	३४१.७	५७.९६	३९८.६६
१९६६-६७	३६५ २	५८.८५	४२४.०५
१९६७-६८	४२८ २	९२.४१	५२०.६१
१९६८-६९	५०३.९	१४३.६२	६४७.५२
१९६९-७०	५४० ०	१२३.६७	६६३.६७
१९७०-७१	६०१.१	१३४.४३	७३५.५३

स्रोत : १. आर बी. आई. सेलेक्टेड स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टु कोआपरेटिव क्रेडिट इन इण्डिया (१९६६-६७—१९६८-६९)
२. सारणी न० १३ (इ) "इण्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ: १०वाँ सस्करण
३. दी फोर्थ प्लान मिड टर्म अप्राइजल, १९७२

नोट : इस कर्ज मे कृषि पुनर्वित्त निगम द्वारा किया गया सवितरण (डिसबर्समेंट्स) भी सम्मिलित है।

सारणी ८.७ से आभास होता है कि पिछले १५–२० वर्षों मे कृषि-उधार-सहकारी समितियो के कार्य मे प्रभावपूर्ण उन्नति हुई है। १९६०-७० दशक के दौरान सहकारी समितियों की कार्यशील पूँजी तिगुनी हो गई है जबकि उनके द्वारा उधार दी गई राशि में

सारणी ८.८ प्राथमिक कृषि-उधार-समितियो की कार्यकर पूँजी

(करोड रुपयो मे)

घटक	१९५०-५१ %	१९६०-६१ %	१९६५-६६ %	१९६८-६९ %	१९७०-७१
प्रदत्त पूँजी (पेड अप कैपिटल)	७.६१ (२०.४)	५७.७५ (२१.१)	११६.८ (२१.३)	१६७ ३१ (२०.६)	१८८.७०
सचिति (रिजर्व्स)	—	१७.७९ (६.५)	३२.१२ (६.०)	४७.८५ (५.९)	५७.००
जमा	४.२८ (११.५)	१४ ५६ (५.३)	३४.४९ (६.३)	५६.८४ (७.०)	६९.११
उधार	२५.३६ (६८.१)	१८३.७९ (६७.१)	३६३.१५ (६६.४)	५४०.०२(६६.५)	६३६ ४२
चालू पूँजी	३७.२५ (१००.०)	२७३.९२(१००.०)	५४६.५६ (१००.०)	८१२ २२ (१००)	९५१.२३
उधार दी गई राशि	२२.९ (६१.५)	२०२.७ (७४)	३४१.७ (६२.५)	५०३ ९ (६२)	५६४.४

स्रोत : आर. बी आई और सारणी न० १०.१३ (द) इन्डियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ १०वाँ सस्करण तथा इन्डिया, १९७३

(नोट . कोष्टको मे सख्याएँ कार्यकर पूँजी का प्रतिशत हैं) ।

भी लगभग इतनी ही वृद्धि हुई है। यद्यपि यह प्रगति बहुत ही आश्चर्यजनक लगती है परन्तु यदि उधार-सहकारी समितियों के निष्पादन का गहराई से अध्ययन करें तो उनके व्यापक विस्तार व प्रसार के साथ-साथ कुछ व्याकुल करने वाली प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती है।

सरकारी नीति के अनुसार कुछ वर्ष पहले तक कृषि-उधार केवल सहकारिता का अधिकृत कार्यक्षेत्र था। इसे अन्य उधार संस्थाओं की किसी भी प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता था। उद्देश्य यह था कि इनका विकास निर्बाध रूप से हो। विचार यह था कि ये संस्थाएँ किसानों को बचत-राशि जमा करने के प्रति प्रोत्साहित करेंगी ताकि कृषकों की नवीन प्राविधिक विधि के अन्तर्गत उधार आवश्यकताएँ बहुत सीमा तक इन संस्थाओं द्वारा ही पूरी की जाएँ। यद्यपि ये संस्थाएँ परम्परागत कृषि की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम रही है, परन्तु वे स्वतः (अपने बल पर) विकास का लक्ष्य प्राप्त करने मे तथा ग्रामीण क्षेत्रों मे किफ़ायतशारी और बचत की आदतों को प्रोत्साहन देने मे बुरी तरह असफल रही हैं। इन संस्थाओ की कार्यकर पूंजी (वर्किंग केपिटल) के संघटन के विश्लेषण करने से पता चलता है कि पिछले वर्षों मे सहकारी संस्थाओं की उधार ली हुई राशि पर निर्भरता मे कोई कमी नही हुई है और न ही निजी निधि तथा जमा राशि मे सापेक्ष वृद्धि हुई है।

सारणी ८.८ से स्पष्ट है कि सहकारी समितियाँ कार्यकर पूंजी के लगभग दो-तिहाई भाग के लिए उधार ली हुई राशि पर निर्भर हैं और उनकी उधार पर इस निर्भरता मे कोई कमी दिखाई नहीं देती। सारणी से यह भी पता चलता है कि चालू पूंजी मे प्रदत्त पूंजी व सचिति का अनुपात पिछले वर्षों मे कम हुआ है। यह बात इस तथ्य की पुष्टि करती है कि 'सहकारिता आन्दोलन' लोगो मे बचत व आत्मनिर्भरता की भावना प्रेरित करने मे सफल नही रहा। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इन समितियों द्वारा उधार दी गई राशि इनके द्वारा उधार ली गई राशि से कम रही है और इनके द्वारा दिए गए कर्ज़ों का इनकी कार्यकर पूंजी से अनुपात मे भी ह्रास हो रहा है। १९६०-६१ मे कार्यकर पूंजी का ७४% कर्ज़ मे दिया जा रहा था जबकि १९६८-६९ मे उधार दिया गया कर्ज़ कुल कार्यकर पूंजी का केवल ६२ प्रतिशत था। अतः यदि समितियों के निष्पादन को इस परिप्रेक्ष्य मे देखा जाए तो यह निराशाजनक ही कहा जाएगा। १९६८-६९ मे कुल कार्यकर मे 'जमा राशि' केवल ७ प्रतिशत थी।

कर्ज़ की वसूली सहकारिता साख की मुख्य समस्या रही है। हाल के वर्षों मे परिलक्षित चिन्ताजनक व दुर्भाग्यपूर्ण बात सहकारी उधार को वापस न करने की प्रवृत्ति है। देखा गया है कि लगभग सब राज्यो मे पुराना बाकी कर्ज़ (ओवरड्यू लोन्स) उत्तरोत्तर बढ रहा है। सारणी ८.९ मे बकाया (अप्राप्त) कर्ज़ तथा पुराने बाकी कर्ज़ के आँकड़े दिए गए हैं जो उपरोक्त कथन की पुष्टि करते हैं। १९६८-६९ में बकाया कर्ज़ ६१८.८ करोड़ रुपये था, जिसमे से एक तिहाई से अधिक बहुत पुराना था।

सहकारी उधार-संस्थाओ मे बढती हुई पुरानी बाकी राशि सहकारी उधार संरचना की दृढता को क्षति पहुंचा रही है तथा कृषक के लिए उधार प्रवाह-मार्गों मे बाधा डाल रही है। विभिन्न राज्यो मे किये गये अध्ययनो ने 'जानबूझ कर कर्ज़ वापस न करने की प्रवृत्ति' के

सारणी ८.६ बकाया (अप्राप्त) कर्ज तथा पुराना बाकी कर्ज (लोन्स आउटस्टैन्डिंग एण्ड ओवर ड्यू)

वर्ष	बकाया कर्ज	पुरानी बाकी	पुरानी बाकी-बकाया अनुपात
	(करोड़ रुपये)	करोड़ रुपये	प्रतिशत
१९६६–६७	४७७.५	१६०.१	३३.५
१९६७–६८	५३४.३	१७१.०	३२.०
१९६८–६९	६१८.८	२१४.०	३४.६
१९६९–७०	७११.४	२६८.३	३७.७

स्रोत. आर.बी. आई. सेलेक्टेड स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टु कोआपरेटिव क्रेडिट इन इन्डिया तथा इन्डिया, १९७१.

कारणों पर प्रकाश डाला है। इस प्रवृत्ति के निम्न कारण हैं :—

(i) कई कृषक इन समितियो से प्राप्त कर्ज को अधिक ब्याज पर आगे उधार दे देते हैं और इस प्रकार लाभ उठाते हैं।

(ii) कई भूलपूर्व सदस्यो व उनके साथियों को यह विश्वास नही होता कि कर्ज का वापस करने के बाद उन्हे नया कर्ज उपलब्ध हो सकेगा। अतः वर्तमान प्रबन्धक वर्ग को तंग करने के लिए वे राशि को वापस नही करते।

(iii) कई सदस्यों को समिति की आगामी वित्तीय स्थिति के प्रति विश्वास नहीं होता और यह डर रहता है कि कही समिति का दीवाला न निकल जाए। अतः अपनी शेयर पूंजी की हानि को पूरा करने के विचार से वे जानबूझ कर कर्ज को वापस नही करते।

अध्ययनो से पता चलता है कि बाकीदार (डिफाल्टर) प्रायः सुरक्षित तथा खाते-पीते घरो से सम्बन्ध रखते हैं। योजना आयोग के 'कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन' के अध्ययन से पता चलता है कि पुरानी बाकी राशि तथा बकाया कर्ज मे अनुपात प्रतिशतता छोटे कृषको की अपेक्षा बड़े कृषकों मे बहुत अधिक है।

जो कुछ भी हो जिस तेजी से बकाया रकम बढ़ रही है उससे आभास होता है कि आने वाले वर्षों में बकाया रकम मे कमी होना पूर्णत असम्भव है। सहकारिता-आन्दोलन ऐसी स्थिति को अधिक देर तक नही टाल सकता जिसमे कुल निजी पूंजी पुराने बाकी कर्जों द्वारा परिग्रहण की जाएगी। इसलिए यदि सहकारीतन्त्र को प्रभावपूर्ण ढग से कार्य करना है तो बकाया राशि को काफी हद तक कम करना होगा। जानबूझ कर बकाया रखने वाले बाकीदारो (विलफुल डिफाल्टर्स) से बकाया रकम वसूल करने के लिए उनके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही करनी होगी। उन बाकीदारो की स्थिति मे जो जानबूझ कर ऐसा नही कर रहे हैं अर्थात् जो उधार लिये हुए कर्ज को तुरन्त नही चुका सकते, उनके अल्प अवधि ऋणों को मध्य अवधि ऋणों मे बदला जा सकता है ताकि भुगतान करने मे उन्हें अधिक समय मिल

सके। इस उद्देश्य के लिए सहकारी बैंको द्वारा जारी की गई 'उधार स्थायीकरण निधि' (क्रेडिट स्टैबिलाईजेशन फण्ड) का सहारा लेना पड़ेगा। हाल ही मे इस प्रकार की एक योजना बनाई गई जिसे सरकार की सहायता प्राप्त है। १९६८-६९ के अन्त तक इस कार्य के लिए १५.२८ करोड़ रुपये दिया जा चुका है।

बकाया वसूली की समस्या, ससाधनों की कमी, जमा जुटाने मे प्रयासो का अभाव, उदासीन प्रवन्धक वर्ग, सहकारी समितियों पर निहित स्वार्थ वाले तत्वों का प्रभुत्व, अप्रशिक्षित कर्मचारी, अनुपयुक्त तथा बाधक नीतियाँ व प्रक्रियाएँ कुछ प्रमुख अवरोध कारक हैं और स्थिति को सुधारने के लिए तुरन्त संशोधनार्थ उपाय अपनाना बडा ही आवश्यक है। अतः आवश्यकता सहकारी सस्थाओ को सुदृढ करने की है ताकि वे इस दिशा मे अधिकतम योग दे सकें।

सहकारी क्षेत्रक को मजबूत करने की दिशा मे निम्न उपाय सुझाये गये हैं :—

(१) मुख्य आवश्यकता अल्प-अवधि तथा मध्यम अवधि सहकारी ऋण-व्यवस्था के ढाँचे को जीवन क्षम बनाने की है। ऐसा प्राथमिक कृषि-उधार-समितियो के पुनर्गठन तथा युक्तिकरण के द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए जहाँ बकाया राशि मे कमी करनी होगी वहाँ अधिक राशि को जमा करने के प्रयास भी करने होगे। साथ साथ उधार-नीतियो को भी उदार बनाना होगा। सहकारी समितियों को जीवन क्षम इकाइयो मे बदलने के लिए उनका समामेलन या उनके कार्यक्षेत्र मे विस्तार करना होगा। कई स्थितियो मे परिसमापन (लिक्वीडेशन) के प्रक्रम को अपनाना होगा। समितियो के इस प्रकार पुनर्गठन के परिणामस्वरूप समितियों की सख्या मे कमी हो जाएगी। आशा है १९७३-७४ के अन्त मे जीवन सक्षम समितियों की सख्या १,२०,००० रह जाएगी।

(२) भूमि विकास बैंकिंग की गति को तेज करना ताकि दीर्घावधि उधार द्वारा कृषि के लिए मूलभूत महत्त्व की स्कीमो को समर्थन दिया जा सके।

(३) ऋण-समितियों तथा भूमि-विकास बैंको की प्रक्रियाओ तथा नीतियो का लघु कृषको के पक्ष मे निर्धारण करना। (परिच्छेद ८.१३ भी देखे)

(४) कृषि निविष्टियाँ सप्लाई करने के लिए सहकारी वितरण व्यवस्था का विस्तार करना।

'स्थिरता सहित विकास' (ग्रोथ विथ स्टैबिलिटी) चौथी योजना का मुख्य ध्येय था तथा सहकारिता-विकास की व्यूहरचना मे कृषि सहकारी समितियो को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि उल्लिखित कार्यक्रम कुशलतापूर्वक कार्यान्वित किये जाएँ तो १९७३-७४ तक सहकारी समितियाँ ७५० करोड रुपये की अल्प अवधि तथा मध्यम अवधि के ऋण बाँटने का लक्ष्य पूरा कर सकती हैं।

८.१० वाणिज्यिक बैंकों का योगदान

नवीन कृषि टैक्नॉलोजी की शुरुआत तथा इसके बढ़ते हुए अनुप्रयोग मे उधार की माँग काफ़ी बढ़ गई है। सहकारी सस्थाओ द्वारा दिए गए ऋण मे विस्तार के बावजूद यह

अनुभव किया गया कि ये सस्थाएँ स्वय मे अभीष्ट वित्त की बडी मात्रा को पूरा नही कर सकती और इस दशा मे किये गये प्रयासो की अन्य सस्थाओ द्वारा अनुपूर्ति की जानी चाहिये। अतः हरित क्रान्ति के सदर्भ मे कृषि उधार की बढती हुई माँग तथा इसको पर्याप्त हद तक पूरा करने की अत्यावश्यकता ने नयी आधार नीति को जन्म दिया है और बहु-एजेंसी मार्ग अपनाने को प्रेरित किया है। वाणिज्यिक बैंको का कृषि-वित्त-व्यवसाय मे प्रवेश इस ओर एक कदम है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'अखिल भारतीय ग्रामीण उधार-जाँच समिति' ने अपने प्रतिवेदन मे यह सुझाव दिया है कि 'कृषि की प्रगति को सहकारी उधार के विकास से सलग्न नही किया जा सकता' और इसलिए इस दिशा मे सब प्रयास केवल सहकारी क्षेत्रक तक ही केन्द्रित नही रहने चाहिये' इसमे कोई शक नही कि इस नई तथ्यपरक उधार-नीति के परिणामस्वरूप वाणिज्यिक बैंको के इस क्षेत्र मे प्रवेश से भारत मे सास्थानिक उधार की मात्रा मे काफ़ी वृद्धि हुई है।

कुछ वर्ष पहले तक वाणिज्यिक बैंक कृषि-उधार का छोटा-सा स्रोत थे। ऐसे उधार की बढती हुई आवश्यकता और इसकी बृहत् सभावनाओ को देखते हुए कुछ साहसी निजी बैंक इस क्षेत्र मे रुचि लेने लगे। १९६७-६८ मे वाणिज्यिक बैंको के सामाजिक नियन्त्रण मे आने पर इन बैंको ने सहकारी भूमि-विकास बैंको के ऋण-पत्रो (डिबैन्चर्स) मे २२८६ करोड रुपये लगाए और इस प्रकार कृषि के लिए परोक्ष रूप मे वित्त प्रदान किया। इसके अतिरिक्त बैंकों ने १९६८ मे ही कृषि वित्त निगम, लिमिटेड को सगठित किया ताकि विकास बैंक कृषि-विकास मे सक्रिय तथा व्यापक रूप मे योग दे सके।

जुलाई, १९६९ मे भारत सरकार ने देश के १४ प्रमुख वाणिज्यिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया। बैंको के राष्ट्रीयकरण करने का एक कथित उद्देश्य यह था कि ससाधनो को जीवनक्षम कृषि क्षेत्रक की ओर मोड़ा जावे तथा लघुकृषको को उधार दिया जाए। कृषि की वित्त व्यवस्था हेतु प्रयासो को तेज करने के लिए वाणिज्यिक बैंकिंग प्रणाली की शाखाओ के व्यापक जाल का होना परमावश्यक है। इससे शाखाओ के खोलने की प्रक्रिया को नया बल प्राप्त हुआ है। राष्ट्रीयकृत बैंको ने पिछले तीन चार वर्षों मे लगभग २००० नई शाखाएँ केवल ग्रामीण क्षेत्र मे खोली है।

वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्रक को दिए जाने वाले ऋण को मुख्यतः दो वर्गों-'प्रत्यक्ष वित्त तथा अप्रत्यक्ष वित्त'-मे बाँटा जा सकता है। कृषको को दिए जाने वाले प्रत्यक्ष वित्त मे मौसमी कृषि कार्यों को चलाने वाले ऋण तथा कृषि मे निवेश हेतु आवधिक कर्ज़ जैसे कुओ के ऊर्जायन के लिए (फोर इनरजाईजेशन आफ वैल्स) सम्मिलित है। बैंक कृषको को कृषि उद्योग निगमो, सेवा-इकाइयो तथा राज्य विद्युत् बोर्ड आदि मध्यवर्ती सस्थाओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष वित्त भी देते हैं। अप्रत्यक्ष कर्ज़ का अधिकाश भाग उर्वरक तथा अन्य निविष्टियो की वित्तीय व्यवस्था मे उपयोग किया जाता है।

अबसे कुछ वर्ष पहले तक बैंको की कृषि-उधार क्षेत्र मे अन्तर्ग्रस्तता नगण्य के समान थी परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इस क्षेत्र मे वाणिज्यिक बैंकों का योगदान बडा सराहनीय रहा है। १९६८-६९ मे बैंकों ने कृषको को लगभग ५१ करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष ऋण

दिया। अब कुल कृषि-उधार का ५ प्रतिशत भाग राष्ट्रीयकृत बैंको द्वारा प्रदान किया जाता है। १९६७-६८ तक बैंको द्वारा कृषि को दिया जाने वाला उधार उनके कुल उधार का २ से ३ प्रतिशत तक था जिसमे से अधिकाश उधार बागानों को दिया जाता था। इस प्रकार उधार का सेक्टरीय वितरण बडे पैमाने के उद्योग, थोक व्यापार और वाणिज्य के पक्ष मे रहा है परन्तु कृषि-क्षेत्रक मे सक्रिय प्रवेश के बाद उनके द्वारा कृषि-क्षेत्र के लिए अपनी कुल साख राशि का ६ प्रतिशत प्रदान किया जा रहा है। चौथी पचवर्षीय योजना के दौरान बैंको द्वारा ४०० करोड़ रुपये की कृषि-वित्त-सहायता देने का सुझाव था जो कि ८० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष बनता है। कृषि उधार के क्षेत्र मे बैंको द्वारा किये गये कार्य से स्पष्ट है कि योजना मे सुझायी गई ८० करोड़ रुपये की औसत वार्षिक वृद्धि बैंको की क्षमताओ के अन्तर्गत है, बशर्ते कि सगठन-प्रयास भी साथ-साथ हो और बैंको को कृषि कर्जो को देने से सम्बन्धित आवश्यक तकनीकी निपुणता सुलभ हो। यह भी सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि बैंक कार्य-विधि कठिनाइयो तथा वैधानिक प्रतिबन्धो के शिकार न हो। सारणी ८.१० मे अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको द्वारा कृषि हेतु दिए गए ऋण के आँकडे दिए गए है।

सारणी ८.१० अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको द्वारा प्रदत्त कृषि-ऋण

बकाया ऋण (करोड रुपये)

के अन्त मे	कृषको को प्रत्यक्ष वित्त	अप्रत्यक्ष वित्त	कुल
जून, १९६८	१४.३० (३२.१)	३०.२८ (६७.६)	४४.५८ (१००)
जून, १९६९	५३.६१ (२८.४)	१३४.८१ (७१.६)	१८८.४२ (१००)
जून, १९७०	१८३.९८ (५३.८)	१५७.७९ (४६.२)	३४१.७७ (१००)
मार्च, १९७१	२३५.०८ (६२.१)	१४३.४४ (३७.९)	३७८.५२ (१००)

नोट : कोष्ठको मे दिए गए आँकडे कुल की प्रतिशतताएँ हैं।

पिछले तीन वर्षो मे कृषको को दिये गये प्रत्यक्ष वित्त का बढता हुआ प्रतिशत इस बात का सूचक है कि कृषक अब टिकाऊ (स्थायी) पूँजी निवेश-परियोजनाओ की ओर अधिक प्रवृत्त हैं और फसल उपजाने की अपेक्षा उन्नत कृषि टैक्नॉलोजी के अपनाने मे अधिक रुचि रखते है।

सामाजिक ध्येयो को कार्यरूप मे लाने हेतु उपयुक्त संगठन-ढाँचे की आवश्यकता होती है। इस समस्या को हल करने के लिए 'राष्ट्रीय उधार परिषद्' (नेशनल क्रेडिट कौंसिल) के अध्ययन-दल ने सुझाव दिया है कि ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंको की शाखाएँ खोलने से पहले यह उचित होगा कि बैंक व्यवस्था के विकास की समावनाएँ तथा आर्थिक समर्थता ज्ञात करने के लिए क्षेत्रवार अथवा जिलेवार सर्वेक्षण किया जाए। इस उद्देश्य के लिए एक नई स्कीम जिसके लिए *'अगुआ बैंक' स्कीम (लीड बैंक स्कीम) का नाम दिया गया है,* शुरू की गई है। ऐसे सर्वेक्षणों के लिए प्रत्येक ज़िले को किसी न किसी बैंक (अर्थात् अगुआ बैंक) को एलाट कर दिया जाता है। अध्ययन दल के सुझाव अनुसार प्रत्येक ज़िले मे उधार तथा बैंक व्यवस्था के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि सब एजेंसियाँ—वाणिज्यिक बैंक, केन्द्रीय

सहकारी बैंक तथा सहकारी भू-विकास बैंक-इस कार्य से सम्बन्धित की जावें। प्रत्येक ज़िला-योजना के तीन पहलू होंगे :

(१) जिले मे विशेष स्थानो पर नई शाखाएँ या इकाइयाँ खोली जाएँगी।

(२) विभिन्न उधार-सस्थाओ के बीच गत्यात्मक सम्बन्ध बनाये जाएँगे ताकि वे एक दूसरे के सपूरक बन सके।

(३) उधार देने से सम्बन्धित उपयुक्त नीतियो तथा प्रक्रियाओं की रचना की जाएगी

आशा है कि 'अग्रणी बैंक' इन सर्वेक्षणों तथा प्रतिवेदनो के प्रकाश मे उस ज़िले या क्षेत्र मे बैंक व्यवसाय के विकास और विस्तार मे बड़ी और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगा (यद्यपि उसका एकाधिकार नही होगा)। इससे गाँवों मे अधिक से अधिक शाखाएँ खोलने मे सहायता मिलेगी और कृषि-वित्त का अधिकतम सस्थानीकरण किया जा सकेगा।

यहाँ कृषि-उधार से सम्बन्धित वाणिज्यिक बैंकों के मार्ग मे आ रही व्यावहारिक कठिनाइयो का उल्लेख करना भी उचित होगा। इसमे कोई शक नही कि प्रमुख राष्ट्रीयकृत बैंको के पास बहुत अधिक ससाधन तथा प्रशिक्षित कर्मचारी हैं परन्तु उनका संगठन, उनके व्यवसाय की पद्धति, प्रक्रियाएँ तथा अधिकाश स्टाफ ग्राम्य जीवन अथवा छोटे पैमाने के सचालन के अभिविन्यस्त नही हैं। इसमे ब्यौरे के विस्तृत परीक्षण तथा विवेक के प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। देश मे उधार तथा बैंक प्रणाली के विकास के लिए विस्तृत योजनाएँ स्थानीय परिस्थितियो के आधार पर निर्मित की जानी चाहिये ताकि वे उनके अनुरूप हो। उनकी कार्यपद्धति ग्राम्य जीवन से मेल खानी चाहिये।

८.११ कृषि-उधार के कार्य तथा राष्ट्रीय उधार-नीति

एक दक्ष कृषि-उधार-प्रणाली को एक साथ अनेक प्रकार के कार्य करने चाहिये। कृषि-उधार-प्रणाली मे विभिन्न क्षेत्रको, क्षेत्रों तथा आय वर्गों के बीच ससाधनो का निर्बाध अतरण (फ्री ट्रासफर ऑफ रिसोर्सेज) होना चाहिये ताकि एक विकासशील देश के दुर्लभ ससाधनो का दक्ष आवटन हो सके। उधार प्रणाली को कृषि क्षेत्रक मे हो रहे तकनीकी परिवर्तन के सदर्भ मे इसकी वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करना चाहिये। इसे बढते हुए कृषि-उत्पादन से उत्पन्न आयो से बचतो के जुटाव को प्रोत्साहन देना चाहिये। उत्पादन के महत्त्वपूर्ण कारक के रूप मे, उधार को बढ़ते हुए कृषि-उत्पादन के सम्यक् वितरण को बढावा देने मे महत्त्वपूर्ण योग देना चाहिए। इसका उपयोग उत्पादक रोज़गार पैदा करने मे किया जाना चाहिए ताकि कृषि-क्षेत्रक मे अल्प-नियोजितो (अन्डर एम्प्लायड) की बढ़ती हुई सख्या को खपाया जा सके।

उधार द्विधार ग्रस्त है। यह जहाँ एक ओर कल्याण को बढ़ावा दे सकता है वहाँ दूसरी ओर मानव दु ख का कारण भी हो सकता है। वह सीमा जिस तक कृषि-उधार उपरोक्त कार्यों को प्रभावपूर्ण ढग से निभा सकता है, विकासशील देश की सरकार की राष्ट्रीय प्रतिज्ञाबद्धता तथा सास्थानिक आधारिक सरचना के निर्माण हेतु अभीष्ट कुशल मानव-ससाधनो तथा संगठनात्मक योग्यताओ पर निर्भर करती है।

उधार-विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और फार्मों की उत्पादिता के लिए अत्यन्त

ग्रावश्यक है। वास्तव मे पूँजी निवेश तथा तकनीकी प्रगति ग्रापस मे निकटतः सम्बद्ध है ग्रौर पूँजी प्रवाह मे ग्रभाव तकनीकी-प्रगति को रोकता है। उधार दुर्लभ साधन है ग्रौर इसका विभिन्न स्पर्धी उपयोगों मे ग्रावटन विवेकपूर्ण ढग से होना चाहिये। ग्रतः द्रुत ग्रार्थिक सवृद्धि तथा उच्च जीवन-स्तर के राष्ट्रीय लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कृषि-उधार की सुदृढ राष्ट्रीय नीति बड़ी सहायक हो सकती है। ठीक समय पर ग्रौर ठीक परिमाण मे उधार, उत्पादन तथा निवेश के लिए ग्रनिवार्य ग्रावश्यकता है। वित्तीय कर्ज तभी वास्तविक रूप मे लाभदायक है जब वह तात्कालिक व पर्याप्त हो। उधार-परिमाण की पर्याप्तता के निर्धारण के लिए विभिन्न फसलो तथा विभिन्न क्षेत्रो के लिए कृषि-जलवायु दशाग्रो के ग्रनुसार ग्रभीष्ट वित्त की विभिन्न मात्राग्रो का नियतन करना पडेगा। कृषि-उधार, विभिन्न वर्गो की उधार-ग्रावश्यकताग्रो को ध्यान मे रखते हुए, परिवर्ती दरो पर दिया जा सकता है।

कृषको की उधार ग्रावश्यकताग्रो का नियतन करते समय वर्तमान पट्टेदारी पद्धति, जीवन-निर्वाह सम्बन्धी खर्च को पूरा करने के लिए परिवार की वित्तीय ग्रावश्यकताग्रो, शस्य-स्वरूप तथा फार्म-उपज की पूर्वेक्षित कीमत को ध्यान से ग्रोझल नही करना चाहिये। यह सुनिश्चित किया जाये कि कर्ज सुदृढ उत्पादन कार्यक्रम के ग्राधार पर दिया जाए ग्रौर इसका ग्रनुत्पादक उद्देश्यो के लिए उपयोग न किया जाए।

'उधार लागतें' फार्म-व्यय की एक महत्वपूर्ण मद है ग्रौर राष्ट्रीय उधार-नीति बनाते समय इस महत्वपूर्ण तत्व को ध्यान मे रखना होगा। उधार की कीमत की उपयुक्तता कृषक के विचार से ग्रत्यावश्यक है। वास्तव मे जिस दक्षता से कृषक सस्ते उधार को प्राप्त करता है, उसका बुद्धिमत्ता व प्रभावपूर्ण ढग से उपयोग करता है ग्रौर साधारण ढग से ग्रपनी ग्रदायगी को करता है, उसकी वित्तीय सफलता का निर्धारण करते हैं।

वह सीमा जिस तक उधार का उपयोग लाभप्रद होता है, उधार की शर्तों व मदो द्वारा निर्धारित होती है ग्रर्थात् प्रतिदान (रिपेमैंट) की शर्तें, उधार की सापेक्ष लागत या उधार प्रमार, उधार के लिए मांगी गई जमानत तथा इसके उपयोग के फलस्वरूप कृषि-उत्पादिता मे पूर्वेक्षित वृद्धि ग्रादि इस बात का निर्धारण करते है कि उधार लाभप्रद है या नही। उधार तभी उपयोगी हो सकता है जब इससे कृषक की प्रतिदान-योग्यता मे वृद्धि हो ग्रर्थात् यह प्रतिदान-निष्पादन से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे यह स्व-परिपोषक (सैल्फ लिक्विडेटिंग) होना चाहिए। ग्रतः उधार का प्रभावपूर्ण तथा उत्पादक उपयोग कृषि-उत्पादिता को इस प्रकार बढाता है कि इस वृद्धि के परिणामस्वरूप प्राप्ति कुछ समय मे उधार का परिसमापन कर देती है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि इस सदर्भ मे उपभोग-उधार प्रतिदान-निष्पादन से सम्बद्ध नही है ग्रौर प्रतिदान-क्षमता मे वृद्धि करने मे सहायक नही है। समग्र स्थिति को कृषक की कुल प्रतिदान-क्षमता के सदर्भ मे ग्रांकना चाहिये तथा उपयोग-उधार के उपभोग का पृथक् रूप में निर्धारण नही होना चाहिए।

उधार देने की नवीन व्यूहरचना का सुझाव देने से पहले कृषकों द्वारा उधार-उपलब्धता के स्वरूप की जाँच करना ग्रावश्यक है। हाल ही के वर्षों में कृषि के सस्थानीकरण के लिए प्रयासो को तेज करने के बावजूद, जहाँ तक ग्रसख्य लघु कृषको का सम्बन्ध है, उधार-स्थिति

संतोषजनक नही है। प्राप्य साक्ष्यो मे पता चलता है कि छोटे किसान जिन्हें फार्म व्यय के सम्बन्ध मे अधिक उधार की आवश्यकता होती है, सगठित क्षेत्रक से न्यूनतम लाभ ही प्राप्त कर सकते हैं और सहकारी समितियो तथा बैंको द्वारा सप्लाई किया गया अधिकाश ऋण बडे कृषको को प्राप्त हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि छोटे कृषको की बहुत बड़ी सख्या अधिक उपज देने वाले बीजो की कृषि के लिए अभीष्ट नवक्रियाओ और निविष्टियो को अपनाने की स्थिति मे नही है और इससे कृषि मे गुणात्मक प्रस्फोट (क्वालिटेटिव ब्रेक-थ्रो) की गति धीमी रही है। छोटे कृषको के आतरिक साधन बहुत कम होते हैं, इसलिए उन्हे उत्पादन-उधार की बहुत जरूरत होती है। बीजो की नई किस्मो के लिए काफी नकद परिव्यय की आवश्यकता होती है और लघु कृषक इन कर्जों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त जमानत का प्रबन्ध नही कर सकता और न ही वह इस स्थिति मे है कि इन उन्नत किस्मो की कृषि मे निहित जोखिम को उठा सके। लघु कृषक अपनी कमजोर वित्तीय स्थिति के कारण सहकारी समितियो के सदस्य भी नही बन सकते। हाल ही मे सम्पन्न क्षेत्र-अध्ययनो से पता चलता है कि सहकारी समितियो की सदस्यता का अनुपात संचालन जोतो के आकार मे वृद्धि के साथ-साथ बढता है। अत सहकारी समितियो द्वारा प्रदत्त उधार-सुविधाओ का अधिकतम लाभ बडे कृषको ने ही उठाया है और छोटे कृषको को उधार के लिए निजी स्रोतो का ही सहारा लेना पडा है।

दरिद्र लघु कृषको की उधार पर अत्यधिक निर्भरता तथा उनके पास पर्याप्त जमानत का अभाव उन्हे साहूकारो के चगुल मे जकड़ देते हैं तथा वे अपनी स्थिति को तबतक बेहतर नही बना सकते जबतक उन्हे ऋणदाताओ की पकड़ से मुक्त नही कराया जाता। इस दिशा मे सतत प्रयास की आवश्यकता है। एक तरीका यह है कि छोटे कृषको की 'उधार-पात्रता' के आधार (क्रेडिट वर्दीनेस) तथा उनके सहकारी समितियो के सदस्य बनने की शर्तों को बदला जाए। कृषि-उधार-नीति के नवीनीकरण की आवश्यकता है ताकि उधार देने का आधार 'व्यक्ति की उधार-पात्रता' (क्रेडिट वर्दीनेस ऑफ परसन) की बजाए 'उद्देश्य की उधार पात्रता' माना जाए। यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि कर्ज सुदृढ उत्पादन-कार्यक्रम के आधार पर दिया जाए। कृषक को उधार देने से पहले सहकारी समितियो तथा बैंको को उसकी वर्तमान मूर्त परिसम्पत्ति (एक्जिस्टिंग टैंजिबल एसेट्स) उपलब्धता पर आधारित उधार पात्रता की बजाए उसकी पूर्वेक्षित अदायगी-क्षमता पर अधिक बल देना चाहिए। कृषको को उधार देने का मापदड प्रस्तुत जमानत का मूल्य नही होना चाहिए बल्कि उत्पादन-समर्थता होना चाहिये। यह जरूरी है कि उधार-सस्थाएँ उत्पादन-अभिविन्यस्त नीति अपनाएँ। ये सस्थाएँ पूँजी को सस्ती दरों पर दे कर तथा छोटे कृषको की पहुँच मे लाकर (अर्थात् पूँजी को छोटे कृषकों के लिए अभिगम्य बना कर) उनकी बडे कृषको के विरुद्ध प्रतियोगितात्मक स्थिति को सुधार सकती हैं। आगामी वर्षों मे सास्थानिक उधार की प्रभावशीलता मे उन्नति की सभावनाओ का पता लगाने के लिए भरसक प्रयत्न किए जाने चाहियें।

इस सम्बन्ध मे अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण जाँच समिति (ऑल इण्डिया एग्रीकल्चरल क्रेडिट रिव्यू कमिटी) ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। मुख्य उद्देश्य यही है कि

सहकारी उधार-समितियों और भूमि-विकास बैंकों की नीतियों और प्रक्रियाओं को इस प्रकार से पुनर्गठित किया जाए जिससे छोटे किसानों को फायदा मिल सके। सिफारिशें इस प्रकार हैं :

(१) यदि किसी समिति के उपलब्ध साधन इसके सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त नहीं होंगे तो छोटे किसानों की आवश्यकताओं की पूर्ति पहले की जाएगी।

(२) बड़े काश्तकारों से कहा जाएगा कि वे अपने ऋण का अपेक्षाकृत अधिक बड़ा अनुपात शेयर-पूँजी में जमा करें जबकि छोटे काश्तकारों को अपना शेयर सुविधाजनक किश्तों में जमा करने की सुविधा दी जाएगी।

(३) फसल-ऋण पद्धति के प्रभावी क्रियान्वयन पर बल दिया जाएगा। छोटे किसानों पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है या नहीं,इस बात का पता लगाने के लिए ऋण प्रदान-विवरण में छोटे किसानों तथा अन्य लोगों को अलग-अलग दिखाया जाएगा।

(४) भूमि विकास बैंकों की ऋण देने की नीतियों का उदार बनाया जाएगा। जमानत के रूप में रखी जाने वाली भूमि-सम्पत्ति के मूल्यांकन करने, छोटे काश्तकारों के दलों को संयुक्त ऋण देने, प्रस्तावित निवेश के लिए केवल जमानत पर ही नहीं अपितु परिचालन एवं आर्थिक सक्षमता पर भी बल देने और छोटे काश्तकारों की क्षमता के अनुसार उनके ऋण की अदायगी का कार्यक्रम निर्धारित करने के सम्बन्ध में उदारता से काम लिया जाएगा।

(५) ऐसे बड़े काश्तकारों को, जो जल्दी ही ऋण की रकम अदा कर सकते हैं, मध्यावधि ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा ताकि छोटे किसानों को लम्बी अवधि के लिए ऋण दिए जा सकें।

इस संदर्भ में अधिक महत्त्व इस बात का है कि ऐसे उपाय किए जाएँ जिनसे छोटे कृषकों की उधार पात्रता में वृद्धि हो। एक बाजार-प्रधान उत्पादन-पद्धति, जिसमें आत्म-उपभोग को निरुत्साहित करने के अंश हों, कृषकों की उधार-पात्रता को बढ़ाएगी। उधार-पात्रता ऐसी उधार नीति का विकास करके जिसके द्वारा सिंचाई तथा डेरी उद्योग जैसी स्व-परिपोषक परिसम्पत्ति (सैल्फ लिक्विडेटिंग एसेट्स) का उत्पादन हो तथा भू-बचत एवं श्रमनियोजी प्रविधियों को अपना कर भी बढ़ाई जा सकती है। बेहतर यह होगा कि छोटे कृषकों को दीर्घावधि कर्ज (जैसे कर्षण-पशु खरीदने के लिए कर्ज) न लेना पड़े। ट्रैक्टरी-करण जैसी आवश्यक सेवाएँ सेवा-संस्थाओं द्वारा किराए पर सप्लाई की जानी चाहियें। इससे उनके जोखिम में कमी होगी और जीवन-क्षमता (वाइएबिलिटी) में सुधार होगा। उधार-नीति का उद्देश्य परिसम्पत्ति तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण (संकेन्द्रण) नहीं होना चाहिए अपितु यह विभिन्न वर्गों में धन तथा आय की असमताओं को कम करने का साधन होना चाहिये। यह उद्देश्य देश में सरकारी सेवा-निगमों या संस्थाओं का जाल बिछा कर प्राप्त किया जा सकता है। ये संस्थाएँ भूमिहीन श्रमिकों को आवश्यक प्रशिक्षण देने के बाद रोज़गार प्रदान भी कर सकेंगी।

८.१२ उधार राशनिंग व ब्याज की विभेदक दरें

सास्थानिक उधार के सम्यक् वितरण को सुनिश्चित करने का एक तरीका उधार का राशन करना है। उधार राशनिंग स्कीम के अन्तर्गत सहकारी समितियां और बैंक छोटे कृषको के लिए उनकी भूमि के अनुपात से अधिक विशेष राशि का नियतन करेंगे अर्थात् उन छोटे कृषको को कर्ज देने के लिए जो अपने साधनो मे से कृषि के लिए धन नही जुटा सकते, निश्चित कोटा आरक्षित (रिजर्व) किया जाएगा। उधार का राशन करने से बड़े कृषको द्वारा उपभोग-व्यय का निरुत्साहन होगा, सास्थानिक ऋण को आगे उधार पर दिए जाने की सभावना कम होगी और इस प्रकार पुरानी बकाया राशि के परिमाण मे भी कमी होगी। राशनिंग से छोटे कृषको की निजी साहूकारो पर निर्भरता भी कम हो जाएगी और परिणामस्वरूप उनके द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरें भी कम हो जाएंगी। निजी ऋण-दाताओ को सहकारी सस्थाओ तथा बैंको मे अपनी जमा राशि को बढाने मे प्रोत्साहन मिलेगा जिससे उधार-सस्थाओ को मजबूत करने तथा जीवन क्षम बनाने मे सहायता मिलेगी।

यह भी सुझाव दिया गया है कि कृषको के भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए ब्याज की विभेदक दरें होनी चाहियें। इस नीति का अर्थ यह है कि बड़े कृषको को ब्याज की वर्तमान दर से ऊँची दर पर ऋण मिलना चाहिए तथा छोटे कृषकों को बडे कृषको की अपेक्षा बहुत कम ब्याज दर पर उधार उपलब्ध किया जाए।

लघु कृषको से कम ब्याज दर (R.I.) लेने से बड़े कृषको द्वारा प्राप्त सापेक्ष सुलाभ आशिक रूप मे निष्फल हो जाएँगे। इससे रोजगार-समस्या को हल करने मे भी सहायता मिलेगी। जितनी तेजी से छोटे फार्मों का विकास होगा, उतनी ही बेकारी की समस्या भी कम विकट होगी।

परन्तु ब्याज के विभेदक दरो की सारी स्कीम निष्फल हो जाएगी यदि इसको कार्यान्वित करने मे उचित सावधानी न बर्ती गई। उदाहरण के रूप मे इस समय सहकारी समितियो तथा निजी ऋणदाताओ द्वारा (अर्थात् सगठित तथा असगठित क्षेत्रको द्वारा) ली जाने वाली ब्याज दरो मे बहुत अधिक अन्तर है और इस बात की पूरी सम्भावना है कि कुछ धनी कृषक 'बेनामी ऋणियो के रूप मे उधार प्राप्त कर लें और इस प्रकार प्राप्त उधार को ब्याज की बाजारी दर पर आगे दे दें। कई परिस्थितियो मे साहूकारों द्वारा प्राप्त की जाने वाली बाजारी ब्याज की दर ७५ प्रतिशत प्रतिवर्ष तक है। सहकारी समितियों द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर ३ प्रतिशत से १० प्रतिशत प्रति वर्ष है। यह बहुत जरूरी है कि यह अन्तर ५ से १० प्रतिशत तक रह जाए। सबसे बडी समस्या यह है कि छोटे कृषको को सस्थाओं से उधार सुलभ कराया जाए। यदि उन्हे उधार-सस्थाओ से उधार प्राप्त हो सके तो उन्हे वर्तमान ब्याज दर से अधिक दर देने मे भी कोई आपत्ति नही होगी। वास्तव मे जमा राशि पर दी जा रही तथा ऋणियो से ली जा रही ब्याज दरें वर्तमान पूंजी पूर्ति माँग स्थिति के हिसाब से बहुत कम है। यदि सरकार कृषको को उनकी उपज की उचित कीमत दिलाने का विश्वास देती रहे तो आधुनिक उत्पादन-विधियो का प्रतिफल इतना अधिक है कि कृषक-सस्थाओ द्वारा लिए जाने वाले वर्तमान ब्याज दर से काफी अधिक ब्याज

दर देने के लिए तैयार होंगे ।

विचारणीय बात यह है कि ब्याज की दर उधार की मांग को कैसे प्रभावित करती है और रियायती ब्याज दर पर उधार देना कहाँ तक उचित है ?

कम ब्याज दर उधार की माँग को कहाँ तक प्रभावित करती है ? —इस विषय पर अभी तक सीमित अध्ययन ही हुए हैं । एक अध्ययन के अनुसार *'यदि अन्य सभी बातें समान रहें, तो औसत ब्याज दर मे १ प्रतिशत कमी से लिए गए उधार मे ४३ प्रतिशत की वृद्धि होती है'*, परन्तु भारत, चिली, ब्राजील तथा अन्य विकासशील देशो मे किए गए अन्य सीमित अध्ययनो से पता चलता है कि **छोटे कृषकों द्वारा उधार की अधिकांश माँग ब्याज निरपेक्ष (इनट्रेस्ट इनएलास्टिक) है ।**

यह बात भी प्रमाणित हो चुकी है कि जब नवक्रियाएँ विशेष रूप मे लाभकारी सिद्ध होती हैं, तब सास्थानिक ऋण उत्पादन-उद्देश्यो के लिए उपयोग होता है चाहे ब्याज की दरें ऊँची भी हों । यह बात उन छोटे कृषको के संदर्भ मे भी सही है जिनकी सास्थानिक उधार तक पहुँच सीमित होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि *उधार की लागत(कास्ट आफ* **क्रेडिट) इतनी उधार की माँग को प्रभावित नहीं करती जितनी निवेश की लाभदायिकता इसको प्रभावित करती है ।**

छोटे और बड़े कृषकों की मध्यम अवधि तथा दीर्घावधि उधार तथा उसके विस्तार के प्रति *अभिगम्यता (पहुँच) भिन्न रहे जिससे नवक्रियाओ के अपनाने में अनिश्चितता की मात्रा* भी प्रभावित होती है और इस प्रकार उनके द्वारा उठाया जाने वाला लाभ भी भिन्न-भिन्न होता है । इसलिए यह सभव है कि अधिक जोखिम की परिस्थितियों मे छोटे कृषको द्वारा उधार की मांग बडे कृषको द्वारा उधार की माँग की अपेक्षा परिवर्ती ब्याज दरो के प्रति अधिक अनुक्रियाशील हो । यही कारण है कि छोटे कृषको के लिए प्राय कम ब्याज दर की सिफारिश की जाती है क्योंकि इससे नवक्रियाओ के विसरण मे सहायता मिलेगी ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उधार की माँग केवल ब्याज दरों द्वारा ही प्रभावित *नही होती अपितु अनेक अन्य कारकों, जैसे निवेश का प्रतिफल, जोखिम तथा उधार-सस्थाओ,* पर भी निर्भर होती है ।

कुछ अध्ययनों से यह भी पता चला है कि सस्ता तथा आसान उधार बड़े कृषको के आतरिक पूँजी-निर्माण पर व्यापक रूप में बुरा प्रभाव डालता है । इससे स्पष्ट होता है कि निम्न रियायती ब्याज दरें बचतो के जुटाने पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं । ब्याज दरो के स्तर इस प्रकार से निर्धारित किए जाने चाहियें जिससे उधार वितरण की लागतें पूरी हो जाएं । निम्न ब्याज दरें जो प्रायः उधार-वितरण की लागतों को पूरा नही करती, बचतो को अनुत्साहित करती हैं और ससाधनो की पूर्ति को प्रभावित करती हैं । *रियायती (आर्थिक* सहायता प्राप्त (सबसिडाइज्ड) उधार बड़े कृषकों तथा वाणिज्यिक संस्थाओं के वित्तीय ससाधनों के जुटाव पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार पूँजी की अन्तर-क्षेत्रक, अन्तर-क्षेत्रीय तथा अन्तर-कालिक *गति को प्रभावित करते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि ब्याज-दरें स्वयं मे छोटे कृषको की उधार की मांग को मन्द या तेज नही करतीं ।* हाँ, वे आतरिक तथा सास्थानिक उधार की सप्लाई पर बुरा प्रभाव डालती हैं ।

कृषि-उत्पादन मे तेज़ वृद्धि हेतु उधार के व्यापक वितरण के लिए रियायती ब्याज दरो (अर्थात् ब्याज दरो मे उपदान : सबसिडाईजेशन आफ इन्ट्रेस्ट) की आवश्यकता नही, बल्कि छोटे कृषको समेत कृषि जनसख्या के बडे भाग को उधार की गारन्टीकृत सप्लाई प्रदान करने की है। यदि तकनीकी नवक्रियाएँ बहुत अधिक लाभकारी हो, तो इसके लिए उधार ऐसी ब्याज दरो पर दिया जा सकता है जिसमे आर्थिक सहायता या उपदान (सबसिडी) का कोई प्रश्न न हो। इसका आशिक कारण यह है कि नवक्रियाओ की लाभकारिता छोटे कृषक की ब्याज लागतो को देने की योग्यता मे वृद्धि करती है।

८.१३ लघु कृषकों के लिए उधार नीति

सक्षेप मे इस समस्या को इस प्रकार मे व्यक्त किया जा सकता है:—

वर्तमान परिस्थितियो मे छोटे कृषको की उधार सस्थाओ तक सीधी तथा आसान पहुँच नही है क्योकि उन्हे उधार पात्र नही समझा जाता। उनकी कमज़ोर वित्तीय दशा के कारण कोई भी उनकी गारटी अथवा जमानत देने के लिए तैयार नही होगा। इसलिए यदि उसे न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना है तो उसकी सहायता करनी होगी। ऐसा सरकार की सक्रिय सहभागिता (एक्टिव पार्टिसिपेशन) के बिना नही हो सकता। छोटे कृषकों द्वारा उधार लिए गए कर्जों की वापसी की गारन्टी देने के लिए सरकार से बेहतर कोई अन्य एजेंसी नही है। यहाँ यह बताना उचित ही होगा कि लघु कृषको को उधार देते समय, फार्मों की जीवन क्षमता (वाइएबिलिटी आफ फार्म्स) का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है और सरकार भी अति निम्न वर्गो की बहुत समय तक सहायता नही कर पाएगी। अतः यह समस्या भूमि सुधारो से निकटत. सम्बन्धित है। प्रतिपादन की गारन्टी की कोई भी स्कीम तबतक सफल नही होगी जबतक फार्म जीवन-क्षम नही बनाए जाएँगे और जबतक कृषको को बाजार प्रधान उत्पादन-कार्यक्रम अपनाने के लिए प्रोत्साहित नही किया जाता।

(क) फसल-कर्ज योजना (क्रॉप लोन सिस्टम)—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि एक लघु कृषक को उत्पादन तथा उपभोग-उद्देश्यो के लिए वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है। इन कर्ज़ों की ज़मानत के लिए उसके पास पर्याप्त मूर्त परिसम्पत्ति नही होती। फिर भी, यदि वह किसी तरीके से अपनी फसल को उपजाने के लिए उधार प्राप्त कर सके, तो वह इस कर्ज से प्राप्त होने वाली फसल को ज़मानत के रूप में रखने के लिए तैयार होगा। वह बाज़ार में अपनी उपज बेचने के बाद ऋण को वापस कर सकता है। फसल कर्ज की ऐसी योजना के अधीन विपणन तथा उधार प्रभावशाली ढग से सम्बद्ध किए जाते हैं। सक्षेप मे फसल-कर्ज-योजना प्रत्याशित फसल की ज़मानत पर कृषि-वित्त सप्लाई करने की प्रणाली है और इसके निम्नलिखित आवश्यक घटक हैं:—

(i) इसमे उधार-उत्पादन सभाव्य (समर्थता: प्रोडक्शन पोटेंशियल्स) के आधार अर्थात् सुदृढ़ उत्पादन-कार्यक्रम के आधार पर दिया जाता है।

(ii) कर्ज वापसी की जमानत के लिए आगामी फसल की गारन्टी ली जाती है अर्थात् कर्ज के लिए प्रत्याशित फसल ज़मानत के रूप में स्वीकार की जाती है।

(iii) इसमे उधार तथा विपणन का प्रभावी अनुबन्धन होता है।

इस योजना की सफलता का नेतृत्व तथा कृषि की बाजार प्रधानता की कोटि (मात्रा) पर निर्भर है। इसके लिए बड़े पैमाने पर भंडार तथा विपणन-सेवाएँ सुलभ करानी होंगी। यह सुनिश्चित करना होगा कि निधियों (राशि) का दुरुपयोग न हो। इसको रोकने के लिए उधार का कुछ भाग जिन्स तथा कुछ भाग नकद राशि में दिया जाना चाहिये। उदाहरणार्थ, संस्थाएँ बीजों, उर्वरकों व कीटनाशी पदार्थों आदि के रूप में उधार दे सकती है। इसमे छोटे कृषकों द्वारा नवीन टैक्नॉलोजी के अपनाने को बढ़ावा मिलेगा। उधार के उपयोग पर इस प्रकार के निरीक्षण मे उधार की कृषि-विस्तार के साथ एकीकरण की आवश्यकता होती है। इस स्कीम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए अनेक विशेषज्ञ मूल्याकन कर्त्ताओं, सुपरवाइजरों तथा प्रशिक्षित प्रबधकों की आवश्यकता होगी। इस स्कीम को बैंकों तथा उधार व विपणन समितियो द्वारा कार्यरूप दिया जा सकता है। कर्ज की वापसी की गारन्टी इस उद्देश्य हेतु स्थापित किसी सरकारी प्राधिकरण (पब्लिक अथॉरिटी) अथवा 'गारन्टी निगम' द्वारा दी जानी चाहिए।

भारतीय खाद्य निगम (दी फुड कॉरपोरेशन आफ इन्डिया) (जिसके पास खाद्यान्न खरीदने के लिए अखिल भारतीय मशीनरी है) तथा सास्थानिक उधार-संस्थाएँ उधार-सप्लाई तथा कृषि-उपज के विपणन की एकीकृत तथा समन्वित सरचना के विकास मे महत्वपूर्ण योग दे सकती हैं। फसल कर्ज योजना की निम्न रूपरेखा हो सकती है :

योजना के अन्तर्गत बैंक (या उधार समिति) कृषकों को सामान्य से कम दरो पर कर्ज देता है और फसलो को अपने पक्ष मे रेहन रख लेता है। कृषक खाद्य निगम के साथ यह अनुबन्ध करता है कि वह फसल तैयार होने पर इसे सहमत कीमत (अधिकृत खरीद कीमत) पर निगम के पास बेच देगा और खाद्य निगम को बैंक को देय राशि की अदायगी का अधिकार देता है। यहाँ यह बता देना उचित है कि ऐसी स्थिति मे कृषक के पास उसके परिवार के लिए अभीष्ट खाद्यान्न रहने देना चाहिए। कृषक को अनुबध आदि करने हेतु स्टाम्प शुल्क तथा पजीकरण फीस मे भी रियायत दी जानी चाहिए।

इस योजना के अनेक लाभ हैं। कृषक को उचित ब्याज दर पर पर्याप्त उधार और फसल का उचित मूल्य आश्वस्त हो जाता है। बैंक को कर्ज की सुरक्षित वापसी तथा खाद्य निगम को उचित कीमत पर खाद्यान्नों के पर्याप्त भडार की प्राप्ति का आश्वासन मिल जाता है। विपणन-सहकारी समितियाँ अकेले ही इन सब कार्यों को भली भाँति निभा सकती हैं।

फसल कर्जों को देते समय छोटे कृषकों की निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं (सबसिसटेंन्स नीड्स) का भली भाँति ध्यान रखना चाहिए क्योंकि अलाभकर खेती वाले कृषकों से यह आशा नही की जा सकती कि वे अपनी अल्प कृषि उपज के विक्रय से प्राप्त राशि से अपने कर्जों की अदायगी कर सकेंगे। उन्हें जीवनक्षम बनाना ही चाहिये। इसमे शक नही कि इस उधार की सहायता से आधुनिक विधियों तथा नवक्रियाओ के उपयोग को बढाया जा सकता है परन्तु यदि उत्पादन मौसम के बाद मौसम बीतने पर भी स्थिर (रुद्ध) रहे तो विकास की गति बहुत मन्द होगी।

इस प्रकार के ऋण का उद्देश्य कृषि-उत्पादन में वृद्धि तथा कृषको की सामाजिक तथा आर्थिक दशा मे सुधार होना चाहिए। कृषि-उधार का कार्यक्रम इस प्रकार से रचित होना

चाहिए जिससे कृषि में आय-सुरक्षा को प्रोत्साहन मिले और इस प्रकार यह कार्यक्रम आर्थिक समृद्धि में योग दे सके।

(ख) **बचत व उधार**—इसमें शक नहीं कि उधार-उत्पादन और निवेश के लिए अनिवार्य पूर्व-आवश्यकता है परन्तु उधार स्वयं में बचतों में से निर्मित पूंजी का स्थानापन्न (सबस्टीट्यूट) नहीं हो सकता। समृद्धि के लिए बचतों तथा निवेश की आवश्यकता होती है और यदि उधार को समृद्धि का एक साधन होना है तो उसके लिए आवश्यक वित्त अधिकतः समुदाय की बचतों पर आधारित होना चाहिए। बचत, 'चालू आय' का वह भाग है जिसका उपभोग नहीं किया जाता बल्कि जिसे भावी आय के अधिक ऊँचे स्तर के निर्माण के लिए निवेशित किया जाता है। उत्पादन में वृद्धि का परिणाम विक्रेय अधिशेष (मार्केटेबल सरप्लस) में वृद्धि होना चाहिये। इसके लिए वर्तमान उपभोग को कम करना पड़ेगा। तभी उपभोग का भावी स्तर ऊँचा हो सकेगा। जमा राशि में पर्याप्त वृद्धि करने के महत्त्व पर अधिक बल देना अनावश्यक प्रतीत होता है। उत्पादक-निवेश हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ी हुई आय के एक भाग को जुटाने के लिए जमा राशि का संग्रहण अत्यावश्यक है। उधार-उत्पादन के लिए स्नेहक तेल का काम करता है परन्तु इसकी विमार्गी अधिमात्रा स्फीति का कारण भी बन सकती है।

(ग) **फसलों का बीमा**—भारत में कृषि एक अनिश्चित उद्योग है। कृषि-उत्पादन अनेक प्राकृतिक विपत्तियों से प्रभाव्य है। सूखा, बाढ़ तथा अंधड़ देश में बार-बार घटित होते हैं और जान माल को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। प्राकृतिक, आर्थिक तथा अन्य कारकों के अनिश्चित आचरण के कारण कृषकों को भारी हानि उठानी पड़ती है। कृषि के जोखिम विविध प्रकार के हैं। मौसम तथा कीट-जोखिमों के अतिरिक्त कृषक को कीमतों, नवक्रियाओं तथा प्रशासन के जोखिम सहन करने पड़ते हैं। छोटे कृषकों से नवीन रीतियों तथा नवक्रियाओं को अपनाने की आशा तभी की जा सकती है यदि हम उन्हें अप्रत्याशित मुसीबत या हानि की स्थिति में न्यूनतम आय का आश्वासन दे सकें ताकि फसल असफल होने पर उन्हें जीविका की हानि का कोई डर न रहे। इसके लिए कृषकों को फसल बीमा सुरक्षा (क्रॉप इन्श्योरेन्स कवर) प्रदान की जा सकती है। फसल की असफलता परम्परागत कृषि की विशेष उधार-आवश्यकता है और सरकारी संस्थाओं से अपेक्षित है कि वे कुछ कारकों के अप्रत्याशित आचरण (व्यवहार) से होने वाली हानि को कम करें या उसमें हाथ बटाएँ। जोखिमों का न्यूनीकरण अत्यावश्यक है वर्ना समस्त विकास अवरुद्ध हो जाएगा। कृषक की आय के समर्थन हेतु, एक बीमा निधि (एन इन्श्योरेन्स फण्ड), जो कर्ज निधि से बिल्कुल पृथक् हो, प्रचलित की जानी चाहिए तथा विविध हानियों के कुप्रभावों से निर्धन कृषकों के हितों की रक्षा के लिए विभिन्न उपचारी उपाय किए जाने चाहियें। उदाहरणार्थ, सिंचाई जैसी विकास-योजनाएँ, बाढ़-नियंत्रण-उपाय और कीटनाशी पदार्थों का व्यापक उपयोग जोखिमों को कम करते हैं और एक प्रकार का बीमा ही हैं। बीमा, ऋण-करों में राहत, भूमि-कर में छूट तथा दुर्भिक्ष एवं बाढ़ सहायता कार्यों के रूप में भी प्रदान किया जाता है।

फसल-बीमा-योजना के लागू करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनको हल करना बड़ा जरूरी है। वर्तमान परिस्थितियों में एक ऐसी व्यापक गारन्टी स्कीम को चालू करने की

आवश्यकता है जो छोटे कर्जों से सम्बन्धित जोखिमो की गारटी दे और कृषको को न्यून लागत अर्थात् कम प्रीमियम दरो पर 'मौसम तथा कीट' बीमा (वैदर एण्ड पैस्ट इन्श्योरेन्स) प्रदान करे। कीमत जोखिम के विरुद्ध उपाय यह है कि फसल की न्यूनतम कीमतो पर खरीद की गारंटी दी जाए और इस हेतु फसल के उत्पादन से एक वर्ष पहले उनकी समाहार (खरीद) कीमतें (प्रोक्योरमेंट प्राइसेज) नियत की जाएँ। नवक्रिया बीमा (इनोवेशन इन्श्योरेन्स) अर्थात् नवीन निविष्टियों तथा उन्नत रीतियो के प्रयोग से होने वाली हानियो के विरुद्ध बीमा योजना मे उन कृषकों को, जिन्हें आश्वासित न्यूनतम फसल या सामान्य उपज के निश्चित भाग से कम प्रतिफल प्राप्त होगा, मुआवजा देने की व्यवस्था होगी, और उन कृषको को भी, जिनकी प्रति हैक्टर उपज नई निविष्टियो की लागत के तुल्य उपज से कम होगी, मुआवजा दिया जाएगा। यह योजना क्षेत्रवार सामान्य उपजों के मूल्याकन पर आधारित होगी और इस सदर्भ मे अनेक वित्तीय तथा प्रशासनिक समस्याओ का समाधान करना होगा। यह योजना जीवन बीमा निगम और भारतीय खाद्य निगम की सहायता से लघु कृषक विकास एजेंसी द्वारा सचालित की जा सकती है। ऐसी एजेंसियों की स्थापना की सिफारिश ग्राम उधार समीक्षा समिति ने भी का है।

(घ) लघु कृषकों के लिए विशेष कार्यक्रम—कृषि-क्षेत्रक मे चौथी योजना का एक मुख्य ध्येय यह था कि लघु कृषको को विकास कार्य मे भाग लेने और इसके लाभो में भागी होने के योग्य बनाया जाए। यह उद्देश्य विभिन्न सामान्य तथा विशेष उपायो द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। सामान्य कार्रवाइयाँ पूरे देश मे की जाएँगी। ये एक प्रकार से पूरक कार्य हैं जिनका सम्बन्ध लघु सिचाई, कृषि-उधार और पशुपालन आदि अनेक विषयों से है। उन लघु कृषको के लिए, जिनके पास तालाब और नलकूप बनाने के लिए पूँजी नहीं है, सार्वजनिक पूँजी से तालाब, नलकूप और अन्य सामुदायिक कार्य बनाए जाएँगे। कृषि पुनर्वित्त निगम ऐसे कार्यक्रमों के लिए वित्तीय सहायता देगा जिनसे छोटे किसानो को लाभ प्राप्त हो जैसे पशुपालन, दुग्धशालाओं की स्थापना तथा मुर्गीपालन आदि।

(i) लघु कृषक विकास अभिकरण (स्माल फार्मर्स डेवलपमेंट एजेंसी S.D.F.A.)—लघु कृषको की सहायता के लिए एक विशिष्ट उपाय लघु कृषक विकास अभिकरणो की स्थापना है। इस प्रायोगिक परियोजना मे १९७३-७४ तक देश के ४५ चुने हुए जिलो मे ऐसे अभिकरणों की स्थापना हो जाएगी। लघु कृषक विकास अभिकरण का मुख्य उद्देश्य उच्च समाव्य छोटे किसानो की निर्वाह कृषि अवस्था से वाणिज्यिक कृषि अवस्था की ओर आने में सहायता करना है। योजना के अधीन प्रत्येक अभिकरण जिले मे लघु तथा संभाव्यत: जीवनक्षम किसानो (अर्थात् जिनकी जोत १ से ३ एकड़ है) की पहिचान करेगा, उनकी समस्याओ का पता लगाएगा और उनके समाधान मे सहायता करेगा। यह एजेन्सी उपयुक्त कार्यक्रम तैयार करेगी, उन्हे निविष्टियाँ, सेवाएँ व उधार उपलब्ध कराएगी और प्रत्येक जिले मे लगभग ५०,००० छोटे कृषको की सहायता करेगी। जहाँ तक सभव होगा, यह कार्य वर्तमान सस्थाओं तथा अधिकरणो (जैसे सहकारी समितियो, बैंको तथा अन्य निजी एजेंसियो) द्वारा ही किया जाएगा।

इस कार्यक्रम मे मुख्य कार्य उच्च जोखिम कर्जों के जोखिम अंकन हेतु अनुदान व उप-

दान प्रदान करना, छोटे कृषको को उधार प्रवाह बढाने के लिए उनके प्रबन्धक पर्यवेक्षण स्टाफ-व्यवस्था को सुदृढ करना, स्थानीय विक्री डिपुओ, सहकारी समितियो से उन्नत बीजो, उर्वरको तथा अन्य निविष्टियो की सामयिक तथा पर्याप्त सप्लाई सुनिश्चित करना, ट्रैक्टर, भूमि समतलन यत्र, कीटनाशी पदार्थ छिडकाव यंत्र आदि मशीनी सेवाएँ सुलभ कराना, और कृषि-प्रबन्ध तथा विपणन-सलाहकार सेवाएँ उपलब्ध कराना है। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए चौथी योजना में ६७ ५० करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार प्रत्येक लघु कृषक विकास-अभिकरण के लिए १ ५० करोड़ रुपया निर्धारित किया गया है।

परन्तु उन छोटे कृषको तथा काश्तकारो की सहायता के लिए, जो आर्थिक रूप मे सभाव्य जीवनक्षम नही हैं, कोई तुलनात्मक उत्पादन-प्रधान योजना नही है। इस वर्ग के लिए भी कुछ किया जाना चाहिए। एक प्रस्ताव यह है कि ऐसे कृषको को सयुक्त कर्ज (जोइन्ट लोन्स) दिए जाएँ। उन्हे सयुक्त रूप मे किसी परिसम्पत्ति को प्राप्त करने हेतु कर्ज के लिए आवेदन करने की आज्ञा होनी चाहिए। इसमे प्रत्येक कृषक व्यक्तिगत रूप मे कर्ज के अपने भाग को चुकाने का जिम्मेदार होगा। यह योजना तभी सफल हो सकती है यदि उनके फार्म वास्तवी मिले हुए हैं। खेतो की सलग्नता न होने के कारण कुओ या नलकूपो का लगाना उपयोगी नही होगा। ऐसी स्थिति मे छोटे कृषकों की सहायता करने का एक तरीका यह है कि कर्ज देते समय ऐसे कृषकों को पड़ौसी बडे कृषको के साथ सम्बद्ध कर दिया जाए। वैसे भी उन कृषको, जिनके अपने नलकूप हैं, के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि वे अपने पड़ोसी कृषको को उचित दरो पर जल की सप्लाई करें। यह ठीक है कि कुएँ में से पानी प्राप्त करने का एकमात्र अधिकार उसके स्वामी को ही है क्योंकि देश मे भूमि-अधिकार-व्यवस्था ऐसी ही है परन्तु इस बात की भी उपेक्षा नही की जानी चाहिए कि कुएँ का उपयोग पडौसी खेतो के भौम जल स्तर (वाटर टेबिल) को भी प्रभावित करता है और इस दृष्टि से उसका भी कुएँ की जल-सप्लाई पर कुछ हक होना ही चाहिए।

(ii) सीमांत कृषक एव कृषि श्रमिक अभिकरण (मार्जीनल फार्मर्स एण्ड एग्रीकल्चरल लेबरर्स एजेन्सी)—लघु कृषक विकास-अभिकरण केवल सभाव्य जीवनक्षम किसानो की समस्याओ को हल करने के लिए ही स्थापित किए गए थे, परन्तु ग्रामीण निर्धनो की बहुसख्या सीमात किसानो तथा कृषि-श्रमिको की है। इसलिए इन वर्गों की सहायता के लिए एक नए अभिकरण 'सीमात कृषक एव कृषि श्रमिक अभिकरण' (MFAL) की स्थापना की गई। इस योजना का मूल सिद्धात भी वही है परन्तु कार्यक्रम में थोड़ा-सा अन्तर है। इसमे मिश्रित खेती तथा आय के साधन के रूप मे मजदूरी पर अधिक बल दिया जाता है। १६७३-७४ के अन्त मे ऐसे ४० अभिकरण स्थापित किये जाने थे। सीमात कृषक एव कृषि श्रमिक सस्था पाँच वर्षों मे लगभग २० हज़ार सीमात कृषकों तथा कृषि श्रमिको की सहायता करेगी। सीमात कृषक वे कृषक हैं जिनके पास एक हैक्टर से भी कम भूमि है। कृषि श्रमिक वे हैं जो अपनी आय का ५० प्रतिशत कृषि-श्रम से कमाते है और जिनके पास वासभूमि है। इनके लिए चौथी योजना मे लगभग ४७.५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।

इस योजना के अनुसार सीमात कृषकों तथा खेती मजदूरो की समस्या को दो उपायो से सुलझाने का प्रस्ताव है—भूमि सुधार और ऐसे कार्यक्रम जिनसे रोज़गार देने वाले कार्य शुरू

हो सकें। ये परियोजनाएं बाज़ार–आश्रित होगी अर्थात् शहरो अथवा माँग के अन्य क्षेत्रो के आसपास केन्द्रित होगी ताकि मुर्गी-पालन, दुग्ध-उद्योग तथा वनस्पति-उत्पादन जैसे रोज़गार-अभिमुख कार्यों का विकास हो सके। इससे रोज़गार-प्रदत्त गतिविधियो को बढ़ावा मिलेगा और अर्थव्यवस्था के विविधीकरण मे सहायता मिलेगी।

(iii) योजनाओं की प्रगति (प्रोग्रेस आफ स्कीम्स)—अभी तक इन योजनाओ की प्रगति से सम्बन्धित ऐसे आँकड़े प्राप्त नही हैं जिनका विश्लेषण किया जा सके। तो भी इन सस्थाओं द्वारा मई, १६७२ तक किये गये कार्य से सम्बन्धित आँकडे उपलब्ध हैं। मई, १६७२ के अन्त तक लघु कृषक विकास-अभिकरणो तथा सीमात कृपक एव कृषि श्रमिक अभिकरणो द्वारा क्रमशः १५.८ लाख तथा ७.५६ लाख कृषकों व श्रमिको का अभिनिर्धारण किया गया। इन दोनो योजनाओ से लगभग तीन लाख व्यक्तियों को सहायता मिली है। इन्होने २८००० कुओ व नलकूपो के निर्माण और ६००० पम्प सैटो को लगवाने मे सहायता की है। इन्होने १४००० दुधारु पशु तथा ४००० पोल्टरी पक्षियो का वितरण किया है। इन अभिकरणों द्वारा ३२ करोड़ रुपये से भी अधिक के अल्प अवधि, मध्य अवधि तथा दीर्घावधि ऋण दिये गये हैं। १३००० से भी अधिक व्यक्तियो को **'ग्राम निर्माण-कार्यक्रम'** के अन्तर्गत सहायता दी गई है।

(iv) अभिकरणों की सीमाएँ—क्योकि ये अभिकरण वर्तमान सस्थाओ के माध्यम से कार्य करेगे, इसलिए प्रभावी कार्य के लिए वे इन सस्थाओं पर पूर्णत आश्रित होंगे। इसी-लिए इन अभिकरणो को ग्राम्य निर्धन वर्ग हेतु सास्थानिक नवाचार (इन्स्टीट्यूशनल इनो-वेशन) कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन कार्यक्रमो को सफल बनाने के लिए वर्तमान सस्थाओ का सहयोग अत्यावश्यक है, परन्तु इन अभिकरणो के अल्पकाल के कार्य से पता चला है कि ये सस्थाएँ लघु कृषक विकास-अभिकरणो के कार्यक्रमो में स्वेच्छा से सहयोग नही दे रही हैं।

क्योकि वर्तमान संस्थाओ मे बडे कृषकों का प्रभुत्व है, इसलिए यह संभव है कि इन विशेष प्रोग्रामो के लाभ कुपात्र वर्गों को प्राप्त हो जाएँ। इस बात की भी शका है कि कही छोटे कृषको की आड़ मे बड़े कृषक ही इन योजनाओ से लाभ प्राप्त न कर लें। शायद यही कारण है कि इन अभिकरणों पर अपने अतरिम प्रतिवेदन मे राष्ट्रीय कृषि आयोग (नेशनल कमीशन ओन एग्रीकल्चर) ने लघु कृषकों तथा खेती मजदूरो की उधार तथा अन्य सेवा-आवश्यकताओ का निरीक्षण करने के लिए 'कृषक सेवा-समितियां' (फारमर्स-सर्विस सोसाइटीज़) स्थापित करने की सिफ़ारिश की है।

अत या तो नई उधार सस्थाओ का विकास करने की आवश्यकता है या वर्तमान सस्थाओ का, विशेष रूप मे छोटे किसानो की आवश्यकताओं को, पूरा करने के लिए उपयोग करना होगा। जो कुछ भी हो, लघु कृषक उधार सस्थाओ का जीवनक्षम होना अत्यावश्यक है। लघु कृषक विकास अभिकरणो को निम्न बातों का ध्यान रखना होगा:—

(१) विशेष लचकदार उधार-प्रक्रियाओ को अपनाना होगा।

(२) प्रतिदान को आश्वस्त बनाने के लिए कृषको की उधार आवश्यकताओ का पर्याप्त मूल्याकन होना चाहिए।

(३) इन्हे सामयिक उधार और निविष्टियां प्रदान करनी होगी ।
(४) उपयुक्त विस्तार तथा विपणन- सेवाएँ साथ साथ प्रदान की जाएँ।
तथा (५) कृपको से उनके द्वारा देय राशि को इकट्ठा करनेटहेतु प्रभावपूर्ण क्रियाविधि की रचना करनी होगी ।

यदि इन अभिकरणो द्वारा उपरोक्त उपाय न किये गये तो उन कारणो का उन्मूलन नही हो सकेगा जो बीते समय मे छोटे कृपको के द्वारा विकास-प्रक्रिया मे भाग लेने मे अडचन बने रहे हैं । वर्तमान उत्पादन-व्यूहरचना बडे कृपको को ही विकास का साधन *मानती है । इन अभिकरणों से अपेक्षित है कि वे उत्पादन-व्यूहरचना को इस प्रकार बदलें* जिससे छोटे कृपक सक्रिय रूप मे विकास क्रिया मे भाग ले सकें वरना ये अभिकरण-सवृद्धि मे अधिक योग नही दे सकेंगे ।

८.१४ दीर्घावधि कृषि वित्त का दिक्परिवर्तन

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि दीर्घावधि कृषि वित्त का अभाव कृषि क्षेत्रक मे न्यून उत्पादिता और इस क्षेत्रक की सवृद्धि मद करने का मुख्य कारण है । वास्तव में पिछले कुछ वर्षों में भू-विकास बैंको द्वारा दी गई उधार धनराशि बिल्कुल अपर्याप्त तथा असामयिक रही है । खेद की बात यह है कि बैंकों द्वारा सप्लाई की गई यह अल्प राशि भी पूर्णत. उन उद्देश्यो के लिए उपभोग मे नही लाई गई जिनके लिए वह स्वीकार की गई थी । फण्डो (निधियो) या उनके एक भाग का यह दिक्परिवर्तन (अर्थात् उनका उन उद्देश्यो के लिए उपयोग न करना जिनके लिए उन्हे प्रारम्भ मे स्वीकार किया गया था) इन कर्जों के मूलभूत उद्देश्य को निष्फल करता है तथा ऋणदाताओ तथा ऋणियो दोनो पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है ।

कृषि-अर्थ-अनुसधान केन्द्रो ने आध्र, आसाम, गुजरात, उडीसा तथा मध्यप्रदेश राज्यो के

सारणी ८ ११ पाच राज्यो के चुने हुए जिलों मे निश्चित उद्देश्य से दीर्घावधि महकारी उधार का दिक्परिवर्तन (प्रतिशतताओं मे)

राज्य	मध्यप्रदेश		आसाम	आध्र	
ज़िला	बिलासपुर	रतलाम	कुल	नालगोंडा	कृष्णा
कुल वितरित कर्ज की प्रतिशतता मे औसत दिक्परिवर्तन	४०.८२	३५.८२	२१ ५८	१८.४७	४.३६

राज्य	उड़ीसा		गुजरात	
जिला	कोरापुट	गजम	बडौदा	जूनागढ
कुल वितरित कर्ज की प्रतिशतता मे औसत दिक्परिवर्तन	२३.५०	२१.६४	१६.८६	२५.१६

स्रोत परिशिष्ट प्रासगिक पत्र स.४, प्रकाशन सख्या १६,ऐग्रो इकोनोमिक रिसर्च सेन्टर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

१० चुने हुए जिलों मे भू विकास बैंकों के कार्य का, विशेष रूप मे उनके द्वारा दिए गए ऋण के उपयोग के सदर्भ में, अध्ययन किया है । उन्होने अपने प्रतिवेदनों मे उधार में दिक्परिवर्तन के आँकड़े भी दिए हैं। सारणी ८.११ इस पक्ष पर प्रकाश डालती है .

निधियों का दिक्परिवर्तन बिलासपुर (मध्यप्रदेश) मे अधिकतम था जबकि कृष्णा (आन्ध्र प्रदेश) मे यह न्यूनतम था । इस दिक्परिवर्तन के चार मुख्य कारण हैं :—

(१) **प्रभावपूर्ण निरीक्षण का अभाव**—बैंकों ने ऋण दी गई राशि के उपयोग की देखभाल के लिए कोई व्यवस्था नही की जिसके कारण उसका अन्य उद्देश्यो के लिए उपयोग किया जा सके ।

(२) **तकनीकी कर्मचारियों की कमी**—ऐसे इन्जिनियरो, शस्य-विज्ञानियो, मृदा-रसायनज्ञो की कमी है जो निवेश की तकनीकी शक्यता की जाँच कर सके या अन्य शब्दों मे बैंक इस योग्य नही हैं कि वे किसी परियोजना की लागत का विश्वसनीय अनुमान लगा सके जिसके कारण अति वित्तीयन (ओवर फाइनेंसिंग) अथवा अधो वित्तीयन (अन्डर फाइनेंसिंग) अर्थात् कर्ज की अपर्याप्तता की संभावना होती है । जब धन अपर्याप्त होता है, तो ऋणियो के पास दो विकल्प होते हैं—(१) या तो वे अतिरिक्त उधार ले, जो साधारणत सम्भव नही होता, क्योंकि उनकी सारी भूमि पहले ही रेहन रखी हुई होती है । (२) या वे काम को बिना समाप्त किए हुए ही उपलब्ध धनराशि को लगादे और इस प्रकार धन को निरुद्ध करदें अथवा बैंको से कर्ज की अन्तिम किश्त प्राप्त करने के लिए केवल थोड़ा-सा ही धन उस काम पर लगाएँ और शेष धनराशि कही और लगादे ।

(३) निधियों का दिक्परिवर्तन प्रतिबन्धात्मक उधार-नीतियो के कारण भी हो सकता है क्योंकि इस प्रकार की नीतियो के कारण विशेष उद्देश्य की लागतों का ठीक अन्दाजा किये बिना कर्ज प्रदान किए जाते हैं ।

(४) कर्जों के सवितरण मे दीर्घ समयातराल (टाईम गेप) भी कर्ज के अन्य उद्देश्यों के हेतु उपयोग का कारण है ।

उपरोक्त बातों को ध्यान मे रखते हुए, विकासी वित्त के उचित उपयोग को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न उपचारी उपाय सुझाये जा सकते हैं । प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि बैंको की पर्यवेक्षकीय तथा तकनीकी कार्मिक सेवाओ को व्यापक तथा सुदृढ बनाया जाए ताकि पर्याप्त और उपयुक्त मात्रा में कर्ज दिए जा सके और उनका उचित उपयोग सुनिश्चित किया जा सके । यह भी आवश्यक है कि कर्ज नीतियो मे सुधार किया जाए और अनावश्यक प्रतिबन्धो को दूर किया जाए । कर्ज-सवितरण की प्रक्रिया को सरल बनाया जाना चाहिए तथा कर्ज-प्रस्ताव की प्रस्तुति तथा निपटारे के बीच समय-पश्चता को कम किया जाना चाहिए ।

अध्याय ६

'कृषि–विपणन'

६.१ परिचय

पिछले अध्यायो मे हम नवीन कृषि व्यूहरचना के मुख्य तत्वो तथा कृषि के रूपान्तरण एव आधुनिकीकरण मे उनके योगदान का विवेचन कर चुके हैं। हम यह देख चुके हैं कि अधिक उपज देने वाली किस्म के बीजों, उर्वरको तथा कीटनाशी पदार्थों का उपयोग, सिचाई तथा नवक्रियाएँ विशाल उत्पादन-संभावनाएँ प्रस्तुत करती हैं और अन्य क्षेत्रो मे, इससे भी अधिक उन्नति के नवीन अवसर प्रदान करती हैं।

भारत मे पिछले कुछ वर्षों मे खाद्यान्न-उत्पादन मे तेजी से वृद्धि हुई है और इस कृषि-विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न विक्रय अधिशेषो (मारकेटेबल सरप्लसेज) के लिए नवीन विपणन नीतियो, उपयुक्त प्रशासनिक-सरचनाओ (ढाँचो) तथा बेहतर वित्त-सुविधाओ की आवश्यकता है। एक दक्ष विपणन-प्रणाली कृषि-सवृद्धि की गति को बनाए रखने के लिए परमावश्यक है। वास्तव मे प्रौद्योगिकीय प्रस्फोट का पूर्ण लाभ तभी उठाया जा सकता है यदि इसके साथ-साथ बढती हुई उत्पादन-सभाव्यताओं के एकरूप उपयुक्त विपणन-ढाँचे का भी विकास किया जाए। आधुनिक कृषि का अर्थ है—बाजार-प्रधान कृषि। उत्पादन-दक्षता व विपणन दक्षता साथ-साथ चलनी चाहिये। भावार्थ यह है कि उत्पादन-कार्यक्रम विपणन-सुविधाओ के विकास तथा सुधार के उपायो से सम्बद्ध किए जाने चाहियें अर्थात् उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ उनके विपणन का प्रबन्ध करना भी अत्यावश्यक है। बिना विपणन-सुविधाएँ जुटाए कृषि का विकास सभव नही है। कृषि विकास में विपणन के महत्त्व व योगदान का विवेचन परिच्छेद ६.५ में किया गया है।

६.२ विपणन कार्य

टैक्नॉलोजी तथा विज्ञान का उपयोग विकास को त्वरित करता है तथा वाणिज्यिक उत्पादन मे वृद्धि करता है। यह बहुत आवश्यक है कि उत्पादन-वृद्धि के फलस्वरूप प्राप्त अधिशेषो को उपभोक्ताओ के पास सुविधाजनक स्थानो पर उनके द्वारा स्वीकार्य रूप, कोटि तथा मात्रा मे बेचा जाए। यह अधिशेष उपभोक्ताओ को, आवश्यकता के समय या जब वे इसे सुस्थिन कीमतो पर खरीदने के लिए तैयार हो, सुलभ करवाया जाना चाहिये। इस हेतु फार्म-उपज की बहुत बड़ी मात्रा को खेतो से अतिम उपभोक्ताओ के पास पहुँचाना पड़ेगा। अतः विपणन में वे सब क्रियाएँ सम्मिलित हैं जो फार्म-उत्पाद को उत्पादक से उपभोक्ता

तक इच्छित स्थान व समय पर पहुँचाने के लिए जरूरी हैं। विपणन सारी उत्पादन-प्रक्रिया का चरम बिन्दु व उद्देश्य है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक दक्ष विपणन-प्रणाली की रचना करने से पूर्व निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगा :—

(१) फार्म-उत्पाद को उत्पादक के स्थान से उपभोक्ता के स्थान तक सापेक्ष दूरियों पर ले जाने की ज़रूरत पड़ती है।

(२) उपभोक्ता की माँग सतत होती है जबकि उत्पादन विशिष्टतः मौसमी होता है। अनाज की चरम काल अथवा फसलोत्तर बहुलता इसके सम्हाल, भंडार तथा परिवहन की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न करती है।

(३) भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकता अनुसार प्रत्येक पदार्थ की भिन्न-भिन्न कोटि व श्रेणी की जरूरत होती है। कुछ लोग उत्पाद को तैयार या शुष्क रूप में चाहेंगे जबकि अन्य उसके ताजा तथा कच्चे रूप को ही पसन्द करेंगे। कुछ पदार्थों को हिमीकरण (फ्रीजिंग) की आवश्यकता होगी जबकि कुछ एक को उपभोक्ता सप्लाई को करने से पहले शीत सग्रहागारों (कोल्ड स्टोरेज) में रखना पड़ेगा। उदाहरणत. दूध, पास्तुरीकरण (पास्च्यौराईजेशन) या रोगाणुओं को नष्ट करने की जटिल तथा बहुव्ययी समस्याएँ उत्पन्न करता है। इसी प्रकार डिब्बाबन्दी या रस काम में आने वाले फल की गुणता या कोटि ताज़ा उपभोग के काम में आने वाले फल की कोटि से भिन्न होगी।

(४) इनके अतिरिक्त उत्पादन के समय से लेकर उपभोग के समय तक अनेक सेवाएँ उपलब्ध करनी होंगी। उत्पादन तथा इसकी अन्तिम उपभोक्ता को सप्लाई के बीच समय-पश्चता (टाइम लॉग) उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के विचार से बहुत प्रसंगयुक्त है।

अत: विपणन का मुख्य कार्य स्थानमूलक, कालमूलक तथा रूपमूलक उपयोगिताएँ प्रदान करना है। विपणन के कार्यों तथा भौतिक सेवाओं में, फार्म-पदार्थों को बाज़ार के लिए तैयार करना, फार्म से बाज़ार (मंडी) तक ले जाना, उनकी सम्हाल, श्रेणीकरण, अनुकूलन, शुष्कीकरण (जल शोषण), संग्रहण, रक्षण, मंडियों से परिष्करण तथा उपभोग केन्द्रों तक परिवहन, परिष्करण तथा पैकेजिंग, परिष्कृत पदार्थों का उपभोक्ताओं को वितरण और जल, थल तथा आकाश में उनका परिवहन सम्मिलित है। वितरण में थोक विक्रय, खुदरा विक्रय तथा नियंत्रण व नियमन शामिल है। अन्य विपणन-सेवाएँ जो उपलब्ध कराई जानी चाहिये वे हैं : उत्पाद के गुणों तथा वर्गों का निरीक्षण, प्रमाणीकरण, अभिनिर्धारण तथा मानकीकरण। इसके अतिरिक्त स्टाक तथा कीमतों के बारे में बाज़ारी सूचना प्रदान करना भी बड़ा जरूरी है।

फार्म पदार्थों का विपणन एक बहु व्ययी प्रक्रिया है और फार्म-पदार्थों की बदलती हुई माँग तथा उनकी परिवर्ती पूर्ति की दशाओं के अंतर्गत विपणन-लागतें काफी अधिक हैं। कृषि-क्षेत्रक में वर्तमान प्रौद्योगिकीय प्रस्फोट के संदर्भ में एक कृषक को निम्न समस्याओं का समाधान करना पड़ता है :—

(१) पदार्थ को कहां बेचा जाए ?

(२) पदार्थ को कब बेचा जाए ?

(३) विपणन-रीतियों को कैसे सुधारा जाए ?

(४) कृषि-पदार्थों के विपणन को बढ़ावा देने के लिए सूचना कहां से प्राप्त की जाए ?

परन्तु विपणन-अर्थतन्त्र तथा नीतियों का अध्ययन करने से पूर्व प्रक्रिया मे सन्निहित प्रमुख विपणन-सक्रियाओ तथा रीतियो को सक्षेप मे समझ लेना श्रेयस्कर होगा ।

६.३ प्रमुख विपणन-क्रियाएँ

भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण के साथ-साथ उत्पादन मे, विशेषकर गेहूँ के उत्पादन मे, अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसका परिणाम बहुत बडी मात्रा मे विक्रय अधिशेष का होना और मडियो मे बडी मात्रा मे अनाज का आना है । सारणी ६.१, पजाब, हरियाणा, राजस्थान व उत्तरप्रदेश मे गेहूँ के उत्पादन तथा विक्रय अधिशेष की तुलना करती है तथा अन्न सचालन की उपनति को दर्शाती है ।

सारणी ६.१ चुने हुए राज्यो मे गेहूँ का उत्पादन तथा विक्रय अधिशेष

(लाख टनो मे)

वर्ष	पजाब			हरियाणा		
	उत्पादन	आगमन*	%	उत्पादन	आगमन*	%
१९६६-६७	२४.५	८.२	३३.५	१०.६	१.८	१७ ०
१९६७-६८	३३.४	१६ ४	४९ १	१४.४	३.५	२४.३
१९६८-६९	४४ ६	२३ २	५१.७	१५.२	४ ५	२९ ६
१९६९-७०	४९.२	२८.२	५६.९	२१.१	८.०	३७.९
१९७०-७१	५१ ५	३१ १५	६०.६	२३.४	८.२	३५.०

स्रोत : सारणी २ २ ह्वीट मार्केट बिहेवियर इन पजाब पी ए. यू. लुधियाना

नोट जिस वर्ष मे किसी पदार्थ का उत्पादन होता है, उस उत्पादन के विक्रय अधिशेष का बाज़ार मे आगमन उससे अगले वर्ष मे होता है । इसलिए सारणी ६.१ के आगमन के आँकडे अगले वर्ष से सम्बन्धित हैं उनका उत्पादन पहले वर्ष हुआ है ।

हमारी थोक मण्डियाँ उपज की अपेक्षाकृत छोटी मात्राओ को सम्हालने के उद्देश्य से

सारणी ६ २ गेहूँ का वार्षिक तथा फसलोत्तर आगमन

(लाख टनो मे)

वर्ष	पजाब			हरियाणा		
	वार्षिक	फसलोत्तर	%	वार्षिक	फसलोत्तर	%
१९६७-६८	८.२	४.५	५४ ९	१.८	१ १	६३.३
१९६८-६९	१६ ४	१४ ३	८७.१	३ ५	२.९	८२.९
१९६९-७०	२३.२	२०.६	८९.२	४.५	४.०	८८ ८
१९७०-७१	२८.३	२३ ५	८४.०	८.०	५.८	७२.५

स्रोत . निदेशक नागरिक सभरण विभाग, पजाब तथा हरियाणा, १९७४

डिजाइन की गई थीं परन्तु हाल के वर्षो मे अनेक मण्डियो मे गेहूँ के भारी आगमन से (विशेषकर फसलोत्तर काल मे) भीड की स्थिति व चिपचिप उत्पन्न हो गई है। मण्डियों मे अनाज के आगमन मे अचानक वृद्धि, सम्हाल तथा प्रबन्ध की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न करती है और दक्ष विपणन के लिए उनका समाधान करना अत्यावश्यक है।

(क) **मण्डियो मे अनाज की सम्हाल तथा प्रबन्ध**—उक्त सारणी ६.२ में पजाब तथा हरियाणा की मण्डियो मे पिछले कुछ वर्षो मे गेहूँ की वार्षिक तथा फसलोत्तर आगमन मात्राएँ दी गई हैं।

सारणी से स्पष्ट है कि गेहूँ के कुल वार्षिक आगमन का ८० से ६० प्रतिशत फसल के तुरन्त पश्चात् मडियो में आ जाता है। फसलोत्तर काल मे मडियो मे गेहूँ के इस सकेन्द्रण तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न चिपचिप स्थिति के कारण गेहूँ का मडी मे से सचलन धीमा, तथा अधिक महगा हो जाता है। प्राय: मडियो मे गेहूँ के ढेर लगाने तथा अन्य विपणन-क्रियाओ के निष्पादन के लिए पर्याप्त स्थान नही होता जिसके कारण मडी मे अनावश्यक विलम्ब तथा घबराहट होती है।

साधारणतया किसान अपनी उपज को बैलगाडियो, ट्रैक्टर ट्रालियो तथा ट्रको मे लाते हैं। मडी मे अनाज को पहले भूमि पर बड़े-बड़े ढेरो मे लगा दिया जाता है। फिर इसका विरलन करके बेचा जाता है अथवा इसे बेचते ही चलनी में से छाना जाता है। तब इसे तोल कर बोरियो मे भरा जाता है और अन्त मे वाहनो पर गोदामो या अन्य स्थानो तक ले जाने के लिए लाद दिया जाता है। सामान्यत: बोरी बन्द अनाज को मजदूरो द्वारा छत तक ले जाया जाता है और विपुल सग्रह के लिए खत्तियो मे गिराया जाता है। मंडी मे गेहूँ के अनगिनत ढेर सफाई, भराई, तुलाई तथा बोरी बन्द अनाज की ढुलवाई के लिए बहुत कम स्थान छोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सक्रिया के बीच काफी विलम्ब हो जाता है।

भारतीय मानक-सस्थान के विनिर्देशो के अनुसार एक टन गेहूँ का ढेर लगाने के लिए ३.३४ वर्गमीटर क्षेत्र की आवश्यकता होती है। अत: ३०० टन गेहूँ के केवल ढेर मात्र के लिए लगभग एक हैक्टर भू-स्थल की आवश्यकता होगी। इसमे वाहनो के मडी मे आने-जाने, उतराई तथा अन्य मडी-सक्रियाओ के लिए अभीष्ट स्थान सम्मिलित नही हैं। अधिक उपज वाली किस्म मे बीजो के उपयोग के फलस्वरूप उत्पादन-स्तर के अनुरूप समाहार-प्रक्रिया को ढालने के लिए वर्तमान मडियो का आधुनिकीकरण, सुधार तथा परिष्करण आवश्यक है। यह बड़ा आवश्यक है कि बढ़ते हुए उत्पादन की सम्हाल के लिए विपणन-आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए आधुनिक सुविधाओ से युक्त नई मडियाँ स्थापित की जाएँ। उदाहरणार्थ अनाज की बोरियो या अम्बारो का प्रबन्ध उपयुक्त यान्त्रिक कन्वेयरो या सवाहको (मैकेनिकल कन्वेयर्स) के प्रयोग से तेज किया जा सकता है और हस्त व शारीरिक सम्हाल की कठोर थकान व परिश्रम को निरस्त किया जा सकता है। इसी प्रकार गेहूँ, मक्की तथा चावल आदि अनाज की बहुत बड़ी मात्राओं को बोरियो की बजाय अम्बारों मे अधिक दक्षता से सम्हाला जा सकता है। तमाम बड़ी मडियों को यान्त्रिक सम्हाल, ओसाई तथा तोल-युक्तियों से सज्जित कर देना चाहिए तथा वहाँ खाद्यान्न की सम्हाल, वहन तथा

सग्रहण बोरियों मे न करके ढेरों व अम्बारों मे की जानी चाहिये। यह परिवर्तन उत्तरोत्तर व शनैः शनैः ही होगा और इसके लिए प्रत्येक स्तर पर प्रयास करने होगे।

पिछले कुछ वर्षों मे गेहूँ के उत्पादन मे तेज़ी से वृद्धि हुई है। इन क्षेत्रो में गेहूँ के मडियो मे लाने-लेजाने की कार्यकुशलता मे तत्काल वृद्धि करने की आवश्यकता है। गेहूँ-मडियो मे गेहूँ के सग्रह, ओसाई, तोल, विक्रय, थैलो मे भरने तथा अनाज के परिवहन को तेज़ करने के लिए मडियो का आधुनिकीकरण करना होगा। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के लिए यान्त्रिक उपस्करो तथा सुविधाओ की आवश्यकता होगी। इस सदर्भ में आधुनिकीकरण से अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक कार्य अत्यधिक प्रभावपूर्ण ढग अर्थात् न्यूनतम प्रयास, खर्च से तथा अपव्यय से बचकर किया जा सकेगा तथा आवश्यकतानुसार उनमे विस्तार तथा परिवर्तन भी किया जा सकेगा।

आधुनिकीकरण कार्यक्रम के मुख्य लक्ष्य निम्न हैं.—

(१) *मडी के अहातो मे अनाज की खुले ढेरो मे उतराई को कम करना या समाप्त करना।*

(२) अनाज की भरी हुई बैलगाड़ियो, लारियो व ट्रैक्टर ट्रालियो को अम्बार सम्हाल सुविधाओ तक सीधा ले जाना अर्थात् भरी हुई गाड़ियो को सग्रह स्थानो तक सीधे ले जाना।

(३) अनाज की थोड़ी मात्रा विशेषकर स्थानीय बिक्री तथा उपभोग के लिए व्यापारियों तथा आढ़तियो द्वारा लिए जाने वाले अनाज के प्रबन्ध तथा परिवहन में सुधार करना।

(४) ऐसे स्थानो तथा निर्माण खाको का विकास करना ताकि भरे हुए तथा खाली वाहन वहाँ तक आसानी से पहुँच सके। मडी के अहाते मे समन्वित सक्रियाएँ उपलब्ध कराई जा सकें और पदार्थों को मडी से अन्य क्षेत्रो मे वाहनों द्वारा आसानी से पहुँचाया जा सके।

(५) ऐसी सुविधाएँ प्रदान की जाएँ जिनमें श्रम का बेहतर उपयोग हो सके, पदार्थों की दक्ष सम्हाल हो सके, बेहतर परिशोधन (सफाई) तथा पदार्थ की गुणता की बेहतर देखभाल सुनिश्चित की जा सके।

सरकार द्वारा अनाज का थोक व्यापार अपने हाथ मे लेने के कारण तथा सरकार द्वारा नियत समर्थित कीमतो का कृषको को पूरा-पूरा लाभ प्रदान करने के लिए भारतीय खाद्य निगम को बहुत बडी मात्रा मे अनाज खरीदना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अनाज के सुरक्षित भण्डार के क्रय-भण्डारण तथा वितरण का कार्य भी भारतीय खाद्य निगम को ही करना होगा। इसलिए भारतीय खाद्य निगम से यह अपेक्षित है कि वह ऐसी थोक मडियो का विकास करे जिनमे अनाज के विपुल विपणन व प्रबन्ध के लिए यात्रिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सके। यदि सभव हो तो रेल पटरी की सुविधाएँ भी प्रदान की जानी चाहियें।

(ख) **भंडारण तथा गोदाम-व्यवस्था**—भडार स्थल की अपर्याप्त दक्ष विपणन के रास्ते मे मुख्य रुकावट है। खाद्यान्न को उत्पादको से उपभोक्ताओ तक दक्षता से पहुँचाने मे भण्डार सुविधाओ का स्थान तथा आकार विशेष महत्व रखते हैं। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि भारतीय खाद्य निगम को सुरक्षित भण्डार तथा क्रियमाण भण्डार के लिए भण्डारण

प्रबन्ध करना पड़ता है। केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगम उत्पादकों तथा व्यापार-व्यवसाय के लिए गोदाम-सुविधाओं की व्यवस्था करते हैं जबकि विक्रय-हेतु कृषि-उपज तथा वितरण हेतु कृषि-निविष्टियों के भण्डारण की व्यवस्था सहकारिताओं द्वारा होती है। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समन्वित तथा सुबद्ध प्रबन्ध किया जाये। यह विशाल कार्य है जिसके लिए धन की व्यवस्था वाणिज्यिक बैंको, कृषि पुनर्वित्त निगम तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा की जानी चाहिए। भण्डारण सुविधाओं को प्रदान करने मे निजी क्षेत्रक भी लाभदायक योग दे सकता है।

पिछले कुछ वर्षों मे, विशेषकर फसलोत्तर अवधियो मे, मंडियों को जाने वाले खाद्यान्नों के टन भार में तेज वृद्धि के कारण बड़े पैमाने पर गोदामो के निर्माण की जरूरत अनुभव की जाने लगी है। पिछले तीन चार वर्षों मे पजाब तथा हरियाणा मे गेहूँ स्टाक को केवल किराए के गोदामों में ही नहीं रखना पड़ा बल्कि उनका भण्डारण मिल-परिसरों तथा स्कूल-इमारतो मे भी करना पड़ा है। कुछ स्टाक को खुले मे तरपालों से ढकना पड़ा। ये सब प्रबन्ध अपर्याप्त सिद्ध हुए और कई स्थानो पर तरपालें भी उपलब्ध न कराई जा सकी। परिवहन तथा रेल-सुविधाओं के अभाव के कारण रेल्वे स्टेशनो पर तथा मडी अहातों मे भारी स्टाक इकट्ठे हो गए। काफ़ी अनाज वर्षा मे भीग कर खराब हो गया या पूरी तरह नष्ट हो गया।

पिछले समय मे अनाज की सार्वजनिक वितरण पद्धति (पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम) की आवश्यकताओं का काफ़ी भाग अनाज के आयात द्वारा पूरा किया गया है। पिछले कुछ वर्षों मे अनाज का आयात इस प्रकार रहा है।

सारणी ६.३ अनाज का देश मे आयात

वर्ष	१९६६–६७	१९६७–६८	१९६८–६९	१९६९–७०	१९७०–७१	१९७१–७२
आयात (लाख टन)	१०४	८७	५७	३९	३६	२०
आयात (करोड रुपये)	६७२	५१८	३३७	२६१	१७४	१२३

यह अनाज समुद्री जहाजो द्वारा बन्दरगाहो पर पहुँचता है जहाँ इसकी संभाल की जानी होती है। बन्दरगाह सचालन-कार्यक्रम के अन्तर्गत जहाजों से माल की उठा-धरी और उसके परिवहन की व्यवस्था की जाती है। पहली अप्रैल, १९६९ से देश के सभी २८ बन्दरगाहो का सम्पूर्ण कार्य भारतीय खाद्य निगम ने समाल लिया है।

खाद्यान्न के रियायती आयात के बन्द होने के कारण तथा सार्वजनिक वितरण-प्रणाली व सुरक्षित भडार सम्बन्धी जिम्मेदारियों की पूर्ति के लिए अनाज की आन्तरिक वसूली (इन्टरनल प्रोक्योरमेन्ट) जरूरी है। प्रथम कार्यक्रम की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु सारे देश का वार्षिक समाहार-लक्ष्य ८०–१०० लाख टन से कम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अन्न अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण हेतु (उसमे स्थायित्व लाने के लिए) भारतीय खाद्य निगम को ५० लाख टन अनाज का सुरक्षित भडार भी बनाना है। इतने बड़े स्टाक

को रखने के लिए बड़े पैमाने पर भंडारण-प्रबन्ध करने पड़ेंगे।

१९६८-६९ के अन्त में केन्द्रीय खाद्य विभाग, भारतीय खाद्य निगम, राज्य सरकारों, केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम (भाडागार) निगमो तथा सहकारी सस्थाओ के पास लगभग १०९ लाख टन अनाज की भडागार-क्षमता थी जिसका विवरण निम्न प्रकार से है :—

सारणी ९.४ भडारण-क्षमता · १९६८–६९ (लाख टनो)

एजेन्सी	निजी	किराए पर	कुल
(१) खाद्य विभाग तथा भारतीय खाद्य निगम	२६ २	१२.६	३८.८
(२) राज्य सरकारें	१४.०	१२ ६	२६.६
(३) केन्द्रीय भाडागार निगम	६.५	३ १	६.६
(४) राज्य भाडागार निगम	२.३	६.०	८.३
(५) सहकारी सस्थाऐं	२६.०	—	२६.०
कुल	७५ ०	३४ ३	१०९·३

स्रोत · चतुर्थ योजना ड्राफ्ट (१९६९-७४) पृष्ठ १३१

खाद्यान्न के भडार हेतु कुल निजी भडारण-क्षमता ४५.१ लाख टन की थी। इस क्षमता का कुछ भाग क्रियमाण स्टाक के भडारण के लिए उपयोग किया जा रहा था। चौथी योजना मे भंडारण-क्षमता मे वृद्धि के लिए काफी धन की व्यवस्था की गई है और गोदाम-निर्माण का काम सरकारी एजेन्सियो को सौंपा गया है। ५० लाख टन सुरक्षित भडार को रखने के लिए अतिरिक्त भडारण-क्षमता के निर्माण हेतु योजना मे ४५ करोड़ रुपये का परिव्यय रखा गया। इसमे बन्दरगाहो तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानो पर उर्वरको के भडार के लिए अभीष्ट लगभग २ लाख टन अतिरिक्त भडारण-क्षमता की व्यवस्था भी की गई। केन्द्रीय तथा राज्य भाडागार निगम लगभग १० लाख टन अतिरिक्त क्षमता हेतु गोदामो का निर्माण करेंगे और इसके लिए १८ करोड रुपये रखे गए हैं। अनुमान है कि भडारण के पूरे कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए ६१ करोड रुपये की आवश्यकता होगी।

भडारण से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विशेषरूप मे विचारणीय हैं— प्रथम भडारण सुविधाओ की अवस्थिति (लोकेशन) से सम्बन्धित है, दूसरा प्रश्न यह है कि भडारण मे होने वाली हानियों का निरोध कैसे हो ?

भडारण-सुविधाओ की अवस्थिति (स्थान-निर्धारण) के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि भडारण-सुविधाओ को इस प्रकार से स्थापित किया जाए कि गाव से उपभोक्ता तक उपज को पहुँचाने मे अनाज का न्यूनतम भौतिक प्रबन्ध व सम्हाल करनी पड़े। ग्राम-कृषक स्तर अथवा खेत पर ही भडारण के विकास का मुख्य लाभ यही है कि इससे परिवहन (ट्रान्सपोर्ट) पर तत्काल दबाव मे कमी होती है। ज्ञातव्य है कि फसल के समय परिवहन समस्याऐं काफी विकट हो जाती हैं। वाछित यही है कि स्टाक को रखने के लिए अतिरिक्त भडारण-सुविधाएँ खपत-केन्द्रो के बजाय उत्पादन-केन्द्रो पर स्थापित की जाएँ। इसके लिए अनेक

स्थानों का (विशेषकर सघन कृषि-विकास-कार्यक्रम क्षेत्रों में) अभिनिर्धारण करना होगा। ताकि उन क्षेत्रों में नए विपणन-केन्द्रों तथा भंडारण-सुविधाओं की स्थापना की जा सके और उत्पादन-अधिशेषों का पूर्ण लाभ उठाया जा सके। भंडारण-प्रोग्राम-पूर्ति तथा फार्म-आय के स्थिरीकरण तथा विशेष कीमत नीति को कार्यान्वित करने में भी सहायक हो सकता है।

देखा गया है कि भंडारण की अवधि के दौरान खाद्यान्न की ४ से ८ प्रतिशत तक की हानि हो जाती है। इस बृहत् भंडारण-हानियों के लिए अदक्ष प्रबन्ध, अपर्याप्त सुविधाएँ तथा अनुपयुक्त सम्हाल रीतियाँ जिम्मेदार हैं। इन हानियों को कम करने के लिए तथा अनाज की गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए कुशल प्रबन्ध, निरीक्षण तथा श्रम की आवश्यकता होगी। उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अमरीका के कृषि-विभाग ने वायुमिश्रण (वातन . ऐयरेशन) नामक एक नए प्रक्रम का विकास किया है।

वायुमिश्रण या वातन संचित अनाज की गुणवत्ता को बनाए रखने में सहायक है। पहले अनाज को एक भंडारगृह से दूसरे भंडारगृह में ले जाया जाता था और इस प्रकार वायु में से बदला जाता था। परन्तु इसके विरुद्ध वायुमिश्रण की प्रक्रिया में वायु का भंडारण में ही विपुल अनाज में से संचलन किया जाता है। वातन का उपयोग संचित अनाज को ठंडा करने, कीट-क्रिया को कम करने, अनाज तापभागों को बराबर करने, आर्द्रता संचलन या आर्द्रता के संचित अनाज में गर्म क्षेत्रों से ठंडे क्षेत्रों में प्रवासन को रोकने तथा संचित अनाज पर तरल धूमकों के अनुप्रयोग के लिए किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुसंधान तथा प्रशिक्षण वैज्ञानिक भंडारण के लिए अत्यावश्यक हैं। भारतीय अनाज-भंडारण-केन्द्र हापुड़ व दिल्ली तथा केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकीय अनुसंधान संस्थान, मैसूर ने इस दिशा में कुछ उपाय किए हैं। केन्द्रीय भांडागार निगम ने भी निजी क्षेत्र में कृषि-उपज के भंडारियों में वैज्ञानिक भंडारण को बढ़ावा देने हेतु विस्तार-सेवाएँ आरम्भ की हैं।

(ग) श्रेणीकरण तथा परिष्करण (संसाधन)—श्रेणीकरण उत्पाद की गुणवत्ता का परिचायक है और क्रेता को अधिक सुगमता और ठीक प्रकार से खरीद-निर्णय लेने में सहायता करता है। कई उत्पादों का श्रेणी-निर्धारण आकारानुसार भी किया जाता है जैसे अंडों आदि का। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आकार तथा गुणवत्ता का कोई विशेष आपसी सम्बन्ध नहीं है। श्रेणीकृत उत्पाद या अन्न के क्रय करने का अर्थ अत्युत्तम या अत्यधिक मूल्यवान पदार्थ खरीदना ही नहीं। विभिन्न श्रेणियाँ गुणवत्ता (कोटि) के चयन का अवसर प्रदान करती हैं ताकि क्रेता अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु सबसे अधिक उपयुक्त पदार्थ का चुनाव कर सके। उदाहरणार्थ मैदा या डबल रोटी के लिए उच्च कोटि की गेहूँ खरीदी जाएगी जबकि पाक कार्यों के लिए अपेक्षाकृत निम्न कोटि का गेहूँ खरीदा जाता है।

एक दक्ष विपणन-पद्धति राष्ट्रीय स्तर पर एकसमान मानकों पर निर्भर है। मानकीकृत श्रेणीकरण-प्रणाली (स्टेण्डर्डाइज्ड ग्रेडिंग सिस्टम) से हमारा अभिप्रायः यह है कि कलकत्ता या बम्बई में बैठा हुआ क्रेता हरियाणा में करनाल से गेहूँ के भरे वैगन का खरीद आर्डर दे सके और उसे लादी जाने वाले गेहूँ की किस्म का अग्रिम ज्ञान हो। मानकों को चालू विपणन

रीतियो और उपभोक्ता-आवश्यकताओ के साथ-साथ अद्यतनीत रखा जाना चाहिए।

भारत मे आतरिक तथा निर्यात व्यापार के लिए कृषि तथा पशुधन सम्बन्धी जिन्सो का श्रेणीकरण कृषि-उपज (श्रेणी निर्धारण तथा विपणन) नियम, १९३७ के अन्तर्गत किया जाता है। १९६९ के अन्त तक ९५ कृषि तथा पशुधन-सम्बन्धी जिन्सो तथा २७८ व्यापार-निर्माणो के लिए एगमार्क श्रेणीकरण विशिष्टयाँ निर्मित तथा अधिसूचित की जा चुकी थी। ३४ कृषि पण्यो के लिए निर्यात से पूर्व का श्रेणीकरण किया गया था।

उत्पादकों को उनकी उपज की कोटि के अनुसार कीमत दिलाने के लिए श्रेणीकरण भी उत्पादको के स्तर पर अर्थात् नियन्त्रित मण्डियो, सहकारी समितियो तथा भाडागारो के स्तरो पर किया जाता है। अक्तूबर, १९६९ के अन्त तक देश मे श्रेणी-निर्धारण की ४६२ इकाइयां थी। चौथी योजना मे ६०० और श्रेणीकरण शाखाएँ खोलने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त कुछ कृषि जिसो के लिए 'प्रदर्शन एव श्रेणीकरण' हेतु प्रायोगिक परियोजनाएँ भी चालू की जाएँगी। केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय एगमार्क-प्रयोगशालाएँ नमूनो के सुयोजित विश्लेषण, नई जिन्सो के लिए उपयुक्त श्रेणीकरण-मानकों के निर्धारण तथा पुराने मानको को दुहराने के लिए पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करती हैं। सार्वजनिक श्रेणीकरण- (श्रेणी-निर्धारण) सेवा कृषको की उच्च कोटि के पदार्थों का उत्पादन करने और फलस्वरूप ऊँची कीमतें प्राप्त करने मे सहायक होगी और इस प्रकार उपज की गुणता मे सुधार लाने के लिए दूसरो को भी प्रोत्साहन मिलेगा। श्रेणीकरण से निर्यात को भी बढावा मिलता है।

परिष्करण (संसाधन : प्रोसेसिंग) एक महत्त्वपूर्ण विपणन-सेवा है और इसके लिए अनुसधान तथा विस्तार की विकसित पद्धति की आवश्यकता है। परिष्करण-प्रविधियाँ विपणन-प्रणाली की दक्षता को प्रभावित करती है तथा परिष्करण-उद्योग के आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पाद तथा उपोत्पाद की मात्रा तथा गुणता मे काफी वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ धान से चावल के अतिरिक्त चोकर तथा भूसी उपोत्पाद के रूप मे प्राप्त होते हैं। परम्परागत हल्लर मे चोकर सामान्यत: चूर्ण भूसी से मिल जाता है और पशु के चारे के रूप में बहुत कम कीमत पर बेचा जाता है। जबकि आधुनिक चावल मिलो से प्राप्त चोकर अच्छी कोटि का होता है और उसका कुछ भाग बिना किसी मिलावट के शुद्ध रूप मे मिलता है और परम्परागत हल्लर से प्राप्त चोकर की अपेक्षा दस गुनी कीमत पर बिकता है। इस स्थिति मे आधुनिकीकरण का अर्थ परिष्करण के प्रति सुबद्ध तथा समन्वित दृष्टिकोण का विकास करना है और इसमे धान का अधिक वैज्ञानिक शुष्कीकरण, भडारण, कदुप्पण (परबोइलिंग) तथा पेरन (नीष्पीडन) सम्मिलित हैं।

परिष्करण-प्रणाली खराबी से होने वाली हानि तथा क्षति को कम करने या निरस्त करने मे विश्वसनीय सेवा करती है। परिष्कृत खाद्य तथा फल-सामग्री की परिवहन-लागतें कम होती हैं और उनके परिवहन मे समय की भी बचत होती है। कई पदार्थों के परिष्करण के फलस्वरूप उनके भार तथा आयतन में ७० प्रतिशत तक की कमी (न्यूनता) हो सकती है।

हाल ही के वर्षो मे लोगो की खाने की आदतों मे (विशेषकर बड़े शहरों मे) काफी परिवर्तन हुआ है। सुविधा के खाद्य पदार्थ खरीद की सामान्य वस्तुएँ बनती जा रही हैं। सुविधा के खाद्य पदार्थ 'आभ्यतरिक दासी सेवा' युक्त (ब्युल्ट इन मेड सर्विस) खाद्य पदार्थ

हैं। अब इन पदार्थों मे 'आभ्यतरिक रसोईदार सेवा' (ब्युल्ट इन चीफ सर्विस) की भी वृद्धि कर दी गई है। आजकल एक ही पैकेज मे रखा हुआ पूरे का पूरा खाना खरीदा जा सकता है। थैली-बन्द उबाले हुए भोजन, तैयार आलू पदार्थ, घुलनशील कॉफी, अविलम्ब पकवान, जमे हुए परिपक्व पदार्थ तथा अन्य व्यजन कुछ एक परिष्कृत पदार्थ हैं। हिमीकरण तथा प्रशीतन (फ्रीजिंग एण्ड रैफ्रीजरेशन) इस क्षेत्र मे आधुनिक नवीनताएँ हैं।

यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे प्रधान्य खाद्य (आहार) का ६० प्रतिशत, उपयुक्त भण्डारण की अनुपलब्धता के कारण नष्ट हो जाता है। लगभग हर प्रकार की सागभाजी जैसे मटर, बद गोभी, गाजर, शलजम हिमीकृत भंडारण मे ६ से १२ महीने तक रखे जा सकते हैं। खराब होने वाले खाद्य के हिमीकरण का मुख्य उद्देश्य यह है कि उनमे सन्निहित ताजगी तथा पोषण तत्वो मे परिवर्तन किए बिना उसे कम विनाशशील बना दिया जाए ताकि उनका देर तक भडारण किया जा सके और उनका लदान दूर के स्थानो के लिए भी किया जा सके। इस सदर्भ मे प्रशीत-परिवहन का विशेष महत्त्व है। डिहाइड्रो-हिमीकरण (डिहाइड्रो फ्रीजिंग) फलो और वनस्पतियो के लिए एक अन्य अभिनव प्रक्रम है। निर्जलित पदार्थों (डिहाईड्रेटेड प्रोडक्टस) का लाभ यह है कि वे भार तथा आयतन में कम हो जाते हैं, परन्तु उनकी गुणवत्ता घट जाती है। इसी प्रकार शीत सग्रहागार (कोल्ड स्टोरेज) मछली के परिरक्षण के लिए जरूरी हैं। हिमीभूत शुष्कीकरण मे पदार्थों को न्यून तापमानों पर निर्जलित किया जाता है तथा वायुरोधी पालीथीन के थैलो या टिन के डिब्बों मे बद किया जाता है। यह याद रहे कि स्वाद तथा गुणवत्ता मे वे तुरन्त जमाए हुए पदार्थों का मुकाबला नही कर सकते। जमी हुई मछली, मांस तथा फलो का रस कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनके लिए काफी हिमीभूत भडारण की आवश्यकता है।

हिमीभूत खाद्य-उद्योग में संवेष्ट (पेकेजिंग) का विशेष महत्त्व है। सवेष्टन की, हाथो से बचाव, निर्जलीकरण को रोकने, ऑक्सीजन को पैकेट से बाहर रखने तथा 'पदार्थ देखने मे अच्छा लगे' आदि के लिए जरूरत होती है। आतरिक लपेटन के लिए कागज, पालीथीन तथा एल्यूमीनियम वर्कों का प्रयोग किया जाता है।

यह ध्यान रखने योग्य है कि परिष्कर्ताओ को परिष्करण के लिए पदार्थों की उचित तथा स्थिर दामों पर आश्वासित सप्लाई सुलभ कराई जानी चाहिये। तभी वे दक्षता से कार्य कर सकेंगे। सरकार भडारण-सुविधाओं में वृद्धि कर, अनाज का सरक्षण-भण्डार बना कर तथा उचित कीमत सम्बन्धी नीतियाँ अपना कर इस कार्य को बढावा दे सकती है।

६.४ भारतीय खाद्य निगम के कार्यकलापों व गतिविधियो की समीक्षा (१६६५–१६७२)

भारतीय खाद्य निगम पिछले कुछ वर्षों से खाद्यान्न का सरकारी व्यापार करने वाली (केन्द्रीय सरकार की) एक मात्र एजेंसी बन गया है। भारतीय खाद्य निगम की स्थापना १ जनवरी, १६६५ को हुई। इसके मुख्य कार्यों में खाद्यान्न तथा खाद्य पदार्थों का क्रय भडारण, सचलन, परिवहन, वितरण तथा विक्रय सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त खाद्यान्न-

उत्पादन का सवर्धन, चावल मिलो, ग्राटा मिलो तथा खाद्यान्न के परिष्करण हेतु कारखानों की स्थापना निगम के अन्य कार्य हैं। इन सात वर्षों मे कार्य-सचालन क्षेत्र तथा क्रय-विक्रय की मात्रा दोनो ही की दृष्टि से निगम की गतिविधियों मे काफी विस्तार हुआ है। निगम देश मे खाद्यान्न का सबसे बडा थोक व्यापारी बन गया और इसने खाद्यान्न-व्यापार मे प्रभावशाली महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। निगम देश मे खाद्यान्न की खरीद, भडारण और वितरण के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इस परिच्छेद मे सरकार द्वारा अनाज के थोक व्यापार को अपने हाथ मे लेने से पहले की अवधि मे भारतीय कृषि निगम द्वारा इस क्षेत्र मे किये गये कार्य का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

(i) क्रय-विक्रय—भारतीय खाद्य निगम के खाद्यान्न व्यापार मे प्रवेश के पीछे मुख्य ध्येय यह था कि जहाँ एक ओर किसानो को अपनी उपज का आकर्षक मूल्य प्राप्त हो, वहाँ दूसरी ओर उपभोक्ताओ को वर्ष भर उचित दर पर सुगमतापूर्वक अनाज मिलता रहे। विपरीत परिस्थितियो मे उत्पादन मे अकस्मात् कमी के प्रभाव तथा असामान्य मौसम के कारण माँग और पूर्ति मे असतुलन का सामना करने के लिए राष्ट्रीय बीमा के रूप मे अनाज के सुरक्षित भडार बनाने का कार्य भी आवश्यक समझा गया। निगम को मूल्य-सरक्षण का कार्य भी करना था। इस हेतु निगम स्वय किसानों से और अन्य सहकारी क्रय सस्थाओ अथवा खरीद के लिए नियुक्त सस्थाओ द्वारा अनाज खरीद करता है अथवा राज्य सरकारो या उनकी अधिकृत क्रय-सस्थाओ से उनके द्वारा खरीदा गया अनाज केन्द्रीय भडार (सेंट्रल पूल) के लिए प्राप्त किया जाता है।

निगम खाद्यान्नो के वितरण की भी समुचित व्यवस्था करता है। निगम से यह अपेक्षित है कि वह प्रत्येक राज्य को उसकी आवश्यकतानुसार सही समय पर अनाज की पूर्ति करे। बड़े पैमाने पर अनाज की खरीददारी तथा कारगर और सुव्यवस्थित वितरण-व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही देश मे समूचे वर्ष खाद्यान्नों के मूल्य में तुलनात्मक स्थिरता बनाये रखी जा सकती है। निगम को प्रतिरक्षा विभाग के लिए भी खाद्यान्न की पूर्ति की व्यवस्था करनी होती है।

१९६५–६६ मे निगम ने केवल २६.४ लाख टन आयातित तथा देशी खाद्यान्नो तथा अन्य वस्तुओ की खरीद की, जबकि १९६८–६९ मे यह खरीद लगभग ८४.२५ लाख टन थी। १९६९–७० मे ९४.४ लाख टन की रेकार्ड खरीद की गई। १९७०–७१ तथा १९७१–७२ मे खरीद क्रमशः ८८.०३ लाख टन तथा १०६.१२ लाख टन की थी। १९७०–७१ के अत मे निगम के पास सचित अनाज की मात्रा लगभग ५० लाख टन तक पहुँच गई। इसी प्रकार १९६५–६६ मे केवल १७.७५ लाख टन वस्तुओ का विक्रय किया गया। १९६८–६९ मे ६६ लाख टन वस्तुओ की बिक्री की गई। १९७०–७१ मे निगम द्वारा ७४.३ लाख टन माल बेचा गया। इस प्रकार पिछले ६–७ वर्षो मे ही बिक्री सम्बन्धी गतिविधियाँ चौगुनी से भी अधिक बढ गई है।

(ii) बन्दरगाह-संचालन तथा परिवहन—विभिन्न बन्दरगाहो पर खाद्यान्नों तथा उर्वरको की सभाल का काम भी निगम को सौंपा गया है। पहली अप्रैल, १९६९ से निगम ने देश के सभी २८ बन्दरगाहो का सम्पूर्ण कार्य सभाल लिया है। इस कार्य मे प्रति वर्ष सैकड़ो

जहाजों में माल की उठा धरी और उसके परिवहन की व्यवस्था करनी होती है। यदि जहाजों को शीघ्रतापूर्वक खाली किया जा सके तो पुरस्कार के रूप मे प्रेषण मुद्रा (डिस्पेच मनीः अर्जित शीघ्रता पुरस्कार) अर्जित की जाती है। जहाजो के प्रबन्ध मे हुए विलम्ब के लिए विलम्ब-शुल्क (डेमरेज) देना पडता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रेषण-मुद्रा को अधिकाधिक अर्जित किया जाए और विलम्ब-शुल्क को यथासम्भव घटाया जाए। बन्दरगाहो पर खाद्यान्न-परिचालन के समन्वय के लिए जहाजरानी और गोदी समन्वय-खंड की स्थापना की गई है।

१९६५–६६ मे देश में विभिन्न बन्दरगाहो पर ४१ जहाजो से ३ ३७ लाख टन अनाज तथा उर्वरक सभाले गए और २ ६८ लाख रु० अतिरिक्त धन (प्रेषण अर्जित मुद्रा–विलम्ब शुल्क) प्राप्त किया गया। १९६९–७० के दौरान ६३९ जहाजो से ३९.४५ लाख टन खाद्यान्न तथा २१.४२ लाख टन रासायनिक खाद (कुल ६० ८७ लाख टन) की सभाल की गई। केवल ४.२६ लाख रुपये के अतिरिक्त धन की प्राप्ति हुई। १९७०–७१ मे देश की खाद्य-स्थिति मे सुधार के फलस्वरूप अनाज के आयात मे कमी हुई। विभिन्न बन्दरगाहो पर सभाले गए खाद्यान्न और रासायनिक खाद की कुल मात्रा क्रमशः ३१ ३ लाख टन और १४ लाख टन रही। ५२३ जहाजों में ढुलाई गई जिन्सो के फलस्वरूप २० ८८ लाख रुपये का अतिरिक्त लाभ प्राप्त हुआ। पिछले वर्ष की अपेक्षा अर्जित प्रेषण मुद्रा ४५ पैसे प्रति टन से बढकर ५७ पैसे प्रति टन हो गई जबकि इसी अवधि मे विलम्ब शुल्क १८ पैसे से घटकर ११ पैसे प्रति टन रह गया।

निगम को प्रतिवर्ष लाखों टन अनाज व उर्वरक एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाना पड़ता है। इसी प्रकार अनाज व उर्वरकों की बहुत बडी मात्रा की बन्दरगाहो से विभिन्न स्थानो तक ढुलाई करनी पडती है। पिछले कुछ वर्षों मे ढुलाई–चालन के कार्यक्रम मे नई गति आई है। निगम को अनाज की ढुलाई से सम्बन्धित अनेक गम्भीर समस्याओ का सामना करना पडता है। कोयले के अभाव अथवा हडतालो व सुरक्षा व्यवस्था मे बिगाड के कारण रेलों का न चलना तथा वैगनो का समय पर उपलब्ध न होना मुख्य परिवहन-समस्याएँ है। पजाब तथा हरियाणा में रबी की फसल के समय अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस अवधि के दौरान अनाज की ढुलाई मे अप्रत्याशित वृद्धि होती है जिससे अनेक स्थानों पर रेल वैगनों की सख्या जरूरत से अधिक बढ़ जाती है और उनके निश्चित रास्ते मे बडे पैमाने पर परिवर्तन करना पडता है। निगम ने १९६५–६६ में ६.६ लाख टन देशी अनाज की ढुलाई की। १९६८–६९ मे निगम ने रेलो तथा सडको द्वारा २४.४४ लाख टन देशी अनाज और ११ ७२ लाख टन आयातित अनाज एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया। इसके अतिरिक्त ३ लाख टन उर्वरको की भी ढुलाई की गई। १९७०–७१ मे विभिन्न प्रदेशो से ४१.४२ लाख टन खाद्यान्न का अन्तः राज्यीय प्रेषण किया गया। इसके साथ ही ३१ ३० लाख टन आयातित खाद्यान्न रेल तथा सडक मार्ग से और १०.८३ लाख टन रासायनिक खाद रेल द्वारा ढोया गया।

(iii) भंडारण—इन वर्षों में निगम की भडारण क्षमता मे भी काफ़ी वृद्धि हुई। १९६५–६६ मे निगम के पास ६.८८ लाख टन की कुल सचयन-क्षमता थी। १९७१–७२

के अन्त तक कुल संचयन-क्षमता १९६५–६६ की अपेक्षा १२ गुना से अधिक थी। सारणी ६.५ स्वतः स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण स्थानों पर खाद्यान्नों को सभालने के लिए १६ लारी पुल, ६ तोल पुल (वे ब्रिज) और खाद्यान्न के शीघ्र परिवहन के लिए ५२ डिपुओं पर रेलवे साईडिंग की व्यवस्था की गई। अनेक डिपुओं पर वाहक पट्टे तथा स्लाट कन्वेयर लगाए गए हैं।

सारणी ६.५   भारतीय खाद्य निगम के पास उपलब्ध भडारण-क्षमता

(लाख टनो मे)

वर्ष	स्वामित्व (निजी)	किराये पर	नये भडार*	कुल क्षमता
१९६५–६६	५ ६६	० ४६	०.७०	६.८८
१९६६–६७	१० १७	४ ५४	१.८२	१६.५३
१९६७–६८	११.७७	४.६०	३.३६	१६.७६
१९६८–६९	२२ ६३	२०.७८	४.१६	४७.६०
१९६९–७०	२२ ६३	२३.१२	६.६६	५५ ७१
१९७०–७१	२३.६३	२४.७२	१४.८४	६२.४६
१९७१–७२	२२ ६३	४०.७६	१५.१०	७८.४६

स्रोत : भारतीय खाद्य निगम वार्षिक रिपोर्ट एण्ड इण्डिया १६७३

* नये भडारो में भा० खा० नि० व खाद्य विभाग द्वारा तथा भा० खा० निगम की गारन्टी पर केन्द्रीय भाडागार निगम द्वारा विशेष कार्यक्रमो के अन्तर्गत बनाये गए गोदाम सम्मिलित हैं।

(iv) खाद्य-ससाधन के क्षेत्र मे निगम ने अनेक महत्त्वपूर्ण केन्द्रो पर चावल मिले, धान सुखाने के यत्र तथा मक्का पीसने के यत्र स्थापित किए हैं।

इन कार्यों के अतिरिक्त भारतीय खाद्य निगम सचित अनाज के गुण-नियत्रण, आयोजन तथा अनुसधान के क्षेत्रों मे भी काफी कार्य कर रहा है।

६.५ कृषि-विकास में विपणन-कार्यों का योगदान

एक दक्ष कृषि-विपणन-पद्धति को एक साथ अनेक कार्य करने होते हैं। इसे कृषि-क्षेत्रक को निविष्टियो की ठीक समय पर सप्लाई करनी होती है। यह भी जरूरी है कि ऋतुवार उपजाए गए कृषि-उत्पादन का परिष्कर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं मे वितरण उनके द्वारा चाहे गये समय तथा स्थान पर कम से कम खर्च पर किया जाए। अल्पावधि में इसका कार्य निश्चित उत्पादन से बाजार-पूर्ति जुटाना है जबकि अतिम अवस्था मे विपणन-पद्धति का मुख्य कार्य स्थानीय मडियो तथा राष्ट्रीय मडियो का एकीकरण तथा समाकलन करना है। कीमत-सकेतो के सचार द्वारा इसे कृषि-क्षेत्रक मे ससाधनो के दक्ष आवटन को बढावा देना चाहिए। बाजार-व्यवस्था को बढते हुए कृषि-क्षेत्रक तथा सम्बन्धित कृषि-आधारित उद्योगो की आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य होना चाहिए। अर्थव्यवस्था के सबसे बड़े सेवा-क्षेत्रक के रूप मे इसे उत्पादक-रोजगार-अवसरो का निर्माण करना चाहिए ताकि कृषि-क्षेत्रक की बढ़ती हुई बेरोजगारी को खपाया जा सके।

एक बाजार व्यवस्था के इन विभिन्न कार्यों को करने की दक्षता भौतिक आधारिक संरचना (परिवहन, भंडारण, विपणन तथा परिष्करण सुविधाओं), वित्तीय संस्थाओं, संचार व्यवस्था तथा उद्यम एवं प्रबन्धकीय जनशक्ति की उपलब्धता तथा गुणवत्ता पर निर्भर है। अत. बाजार-व्यवस्था की दक्षता को उन प्रतिबन्धों के संदर्भ में ही आँकना होगा जिनके अधीन यह कार्य कर रही है। बाज़ार-व्यवस्था की दीर्घकालिक दक्षता में सुधार इसकी चलन-परिस्थितियों में सुधार करके ही किया जा सकता है।

बाज़ार-संगठन के स्वरूप का बाजार-व्यवस्था के निष्पादन में विशेष योगदान होता है। एक प्रतियोगी बाजार में निर्बाध प्रवेश, बाज़ार-सूचना तथा पर्याप्त गतिशीलता वितरण-दक्षता की आवश्यक शर्तें हैं। लक्ष्य अधिकतम लाभ उठाना होता है। जितना अधिक लाभ होगा उतना ही अधिक दक्ष बाज़ार माना जाएगा। सहकारी अथवा सार्वजनिक प्रबन्ध में चल रही बाज़ार-व्यवस्था के अन्तर्गत लागत-न्यूनीकरण, (कोस्ट मीनिमाइजेशन) अन्य बातों के अतिरिक्त, बाज़ार के संगठन तथा प्रशासनिक कार्यकारिता पर भी निर्भर है।

वितरण लागतों का न्यूनीकरण ही किसी बाजार व्यवस्था का एक मात्र लक्ष्य नहीं होता। कीमतों का उतार-चढ़ाव मानवीय पीड़ा तथा परम्परागत कृषि में निवेश में अनुत्साह का कारण बनता है। इसलिए बाज़ार-व्यवस्था का उद्देश्य कीमतों का स्थिरीकरण होना चाहिए। इससे कृषि-उत्पादन बढ़ाने में कृषकों को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

उधार तथा विपणन-कार्य एक दूसरे से निकटतः रूप से सम्बद्ध हैं। उत्पादन के लिए उन्नत मण्डियाँ और परिणामस्वरूप प्रेरणात्मक कीमतें उधार की माँग तथा कृषक की ऋण-प्रतिदान की योग्यता में वृद्धि करती हैं। उधार सुविधाओं में विस्तार से निविष्टियों की माँग उत्पन्न होती है और बाज़ार-अधिशेष में वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप बाज़ार-सुविधाओं में निवेश पर अधिक प्रतिफल प्राप्त होगा।

विपणन-प्रणाली के चलन में अदक्षता से अभिप्राय है वितरण-न्याय का अभाव। अदक्ष विपणन-प्रणाली पूँजी-निर्माण की दर को प्रभावित करती है और इस प्रकार कृषि-क्षेत्रक के विकास पर कुप्रभाव डालती है।

६.६ विपणन-प्रणाली के लक्ष्य

उपरोक्त विवेचन के बाद अब हम इस स्थिति में हैं कि विपणन-प्रणाली के मुख्य लक्ष्यों का वर्णन कर सकें, वर्तमान विपणन-प्रणालियों की कमज़ोरियों तथा इनके अवरोधक तत्त्वों को जान सकें तथा ऐसी योजनाओं और नीतियों का निर्धारण कर सकें जो इन लक्ष्यों को पूरा करने में विपणन-प्रणालियों की सहायक सिद्ध हों।

(१) प्रथम लक्ष्य बढ़ते हुए उत्पादन के स्तर के अनुरूप विपणन-प्रणाली की भौतिक क्षमता को ढालना है। भौतिक क्षमता का इस प्रकार से विस्तार किया जाना चाहिए कि कृषि-क्षेत्रक में अभिनव प्रौद्योगिकीय प्रस्फोट का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। इससे उत्पादक को उत्पादन-प्रेरणा मिलेगी। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रकों का भी विकास होगा। निजी क्षेत्र के वर्तमान विपणन-प्रक्रमों की पूर्ति-लोच काफ़ी अधिक है और उनका बढ़ती हुई माँग के अनुरूप विस्तार बहुत कम लागत पर किया जा सकता है।

(२) विपणन-प्रणाली का दूसरा ध्येय विकास हेतु उपलब्ध ससाधनों के परिमाण का विस्तार करना तथा उनके उपयोग की दक्षता में वृद्धि करना है। विपणन-माध्यमो ने ससाधन-उपयोग की दक्षता को तथा प्रौद्योगिकीय परिवर्तन-गति को त्वरित कर बढाया जा सकता है। इस सदर्भ मे हमें इस बात की जाँच करनी होगी कि क्या देशी विपणन-व्यवस्था आर्थिक रूप मे अदक्ष है और उसकी दक्षता को बढाने हेतु क्या उपाय किए जाने चाहिए। साथ ही, हमें प्रौद्योगिकीय परिवर्तन-निरोधी तथा ससाधन-उपयोग की दक्षता को कम करने वाले कारकों का भी निर्धारण करना है।

(३) विपणन-प्रणाली का एक अन्य लक्ष्य ससाधनो के जुटाव को बढावा देना तथा उनका उत्पादक-उद्देश्यो के लिए उपयोग करना है। विपणन व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमे निम्न आय वर्ग को रोजगार के काफी अवसर प्रदान किए जा सके ताकि विकास के लाभ अधिक व्यापक रूप मे वितरित किये जा सकें। इस सदर्भ मे वर्तमान छोटे पैमाने के विपणन-माध्यमो के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि वे उन सेवाओ के, जिनकी माँग है, निर्माण हेतु श्रम की बहुत बडी मात्रा का उपयोग करने के लिए काफी अवसर प्रदान करते है। परिष्करण-व्यापार की दशा मे यह विशेषकर सही है। दूसरी ओर बडे पैमाने के आधुनिक प्रक्रम-श्रम की अपेक्षा पूँजी की बृहद् मात्राओ का उपयोग करते हैं और इस प्रकार के अवसर प्रदान नही करते। उनमे अनेक छोटे पैमाने पर काम करने वाले देशी उद्यमकर्ताओं की बडे उद्यमकर्ताओ तथा अफसरो द्वारा प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति भी होती है जिससे उद्यम-कर्ता-योग्यता का ह्रास होता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान विपणन-व्यवस्था में लघु उद्यमकर्ता अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यो के बचतों को भी जुटा सकते हैं। वर्तमान व्यवस्था के छोटे पैमाने के उद्यम का बडे पैमाने अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के प्रचालन द्वारा प्रतिस्थापन का परिणाम यह होगा कि ये बचत-सभाव्यताएँ समाप्त हो जाएँगी। परिश्रम से कमाई गई बचतो पर प्रतिफल की ऊँची दरें प्राप्त होनी चाहिए। परन्तु यह सब कुछ निजी क्षेत्र की फर्मों के कार्य करने की दक्षता तथा प्रतियोगिता की कोटि व मात्रा व निर्भर करता है।

६.७ बाज़ार-समाकलन तथा वर्तमान वितरण माध्यमों की अपूर्णताएँ—

विपणन-व्यवस्था दक्ष कहलाती है यदि कृषि-पण्यो के बाजारो मे निकट का परस्पर सम्बन्ध हो अर्थात् यदि एक मण्डी मे कीमत-सरचना अन्य मण्डियो मे कीमतो से सम्बन्धित है। **(दो मण्डियों में कीमत उतार-चढ़ाव के बीच इस परस्पर सम्बन्ध को ही बाजार समाकलन (मारकेट इन्टिग्रेशन)** कहते हैं। दो बाजार जिस हद तक समाकलित है, यह बात उन पण्यों की साप्ताहिक थोक कीमतो के बीच सहसम्बन्ध कोटि द्वारा व्यक्त की जाती है। कीमत उतार-चढाव (सचलनो) मे पूर्ण सहसम्बन्ध अर्थात् पूर्ण बाजार समाकलन पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ में ही सभव है और इसके लिए पूर्ण गतिशीलता पूर्ण ज्ञान तथा पदार्थ की पूर्ण समरूपता अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। तो भी वास्तविक स्थिति मे ऐसी शर्तें विद्यमान नहीं हैं और वास्तविक काम मे माध्यमो मे अपूर्णताओ के होने की सभावना होती है। समस्या का समाधान इन अपूर्णताओ को निरस्त करने तथा ऐसी परिस्थितियो को जन्म देने मे निहित है जो वितरण-माध्यमो की दक्षता मे वृद्धि कर सके।

विकासशील देशों में ऐसा विश्वास है कि व्यापार एक अनुत्पादक कार्य है और देशीय विपणन-व्यवस्थाएँ शोषी, भ्रामक, आर्थिक रूप में अदक्ष तथा उच्च लाभ-सीमाओं में कार्य करने वाली हैं। यह भी दोष लगाया जाता है कि उच्च क्षेत्रीय और मौसमी कीमत-अन्तर व्यापारियों की सट्टेबाज़ी और समाज-विरोधी कार्यों का फल है तथा जबतक वर्तमान व्यवस्था को नवीन सहकारी या सरकारी एजेंसियों द्वारा प्रतिस्थापित नहीं किया जाता, वितरण मे दक्षता नही लाई जा सकती। उपरोक्त पक्षों मे से प्रत्येक मे कुछ सचाई हो सकती है परन्तु जैसे पहले कहा जा चुका है वास्तविक सांसारिक स्थिति मे कुछ भी पूर्ण नही है। जब हम महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नो का हल खोज रहे हो तब **'बदनाम करो और फाँसी पर लटका दो'** की नीति से बचना चाहिए जबकि परिस्थितियाँ ही इसके लिए बाध्य न कर दे। अच्छा यह होगा कि कुछ मानक आर्थिक निकषो (कसौटियों) के प्रकाश में वर्तमान विपणन-प्रणालियो के निष्पादन तथा कार्य का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाए और इसके बाद ही व्यवस्था की दक्षता मे वृद्धि हेतु वांछित सरचनात्मक तथा प्रौद्योगिकीय परिवर्तनो का प्रस्ताव किया जाए।

अविकसित देशों मे बाज़ारों के निष्पादन का अध्ययन करने के लिए निम्न आर्थिक निकषो (कसौटियों) का प्रयोग किया जा सकता है।

(क) कीमतो मे उच्च सहसम्बन्ध गुणांक सामान्यतः इस बात का परिचायक है कि कृषि-बाज़ार काफी प्रतियोगी हैं और एक मण्डी मे कीमतों में उतार-चढाव अन्य मण्डियों में कीमतों द्वारा प्रभावित होता है।

(ख) विपणन-प्रणाली की दक्षता की दूसरी आर्थिक कसौटी यह है कि किसी विशेष समय पर प्रथम तथा सीमांत मण्डियो (प्राइमरी एण्ड टर्मीनल मार्केट्स) मे थोक कीमतों मे अंतर-परिवहन-लागतों से अधिक की ओर प्रवृत्त नही होना चाहिए। इस प्रविधि में हमें **समता कीमत** (पैरिटी प्राइस) का परिकलन करना होता है जो सीमांत मण्डी की कीमत मे से परिवहन-लागतें तथा सम्हाल-(प्रबन्ध) प्रभार घटाने से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ

करनाल तथा बम्बई के बीच गेहूँ की समता-कीमत

=बम्बई मे १ क्विंटल गेहूँ की थोक कीमत—करनाल में प्रबन्ध, सिलाई व अन्य विविध व्यय—करनाल से बम्बई तक प्रति क्विंटल परिवहन लागत—थैला मूल्य ह्रास—बम्बई मे व्यय तथा आढत।

यदि सीमांत मंडी में समता कीमत तथा प्रथम मण्डी की कीमत मे अन्तर बहुत अधिक हो तो स्पष्ट है कि व्यापारी बहुत अधिक लाभ उठा रहे हैं। तब इस बात का निर्धारण करना आवश्यक होगा कि क्या यह स्थिति व्यापारियों की एकाधिकारी या सट्टे संबंधी क्रियाओ के कारण उत्पन्न हुई है या व्यापारियों के नियन्त्रण से बाहर के कारकों का फल है ?

पिछले कुछ वर्षो मे एशिया, लैटिन अमरीका तथा अफ्रीका के अनेक देशों मे देशीय विपणन-व्यवस्थाओं के क्रियाकलापो तथा सरचनाओं पर काफी अनुसधान हुआ है। प्रमाणो से स्पष्ट है कि एशिया मे खाद्यान्न-बाज़ार सामान्यतः काफी दक्ष हैं। प्रथम तथा सीमांत बाजारो मे कीमतों मे सहसम्बन्ध गुणांक काफी ऊँचा है। जिसका अर्थ यह है कि विभिन्न मण्डियों मे कीमतें लगभग तुल्य हैं और वस्तुएँ कम कीमत वाली मण्डियों से उच्च कीमत वाली

मंडियों में स्वतन्त्रता से पहुँचती हैं जिसके कारण कीमतें समान हो जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-बाज़ार काफी हद तक प्रतियोगी है और एक बाजार में कीमतों का उतार-चढाव अन्य बाजारों में कीमतों द्वारा प्रभावित होता है।

प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि परिवहन-लागतों को निकाल देने के बाद सीमांत कीमतों तथा प्रथम कीमतों में औसत अन्तर बहुत अधिक नहीं हैं और अधिकतर ये प्रथम मण्डियों में थोक कीमत के ४ से ५ प्रतिशत तक होते हैं। परन्तु कई बार, विशेषकर फसल के समय, आँकड़ों से उच्च क्षेत्रीय कीमत अन्तरों का आभास मिलता है। किसी भी परिणाम पर पहुँचने से पहले इन अन्तरों के कारणों की जाँच कर लेना जरूरी है। इसी प्रकार अध्ययनों से पता चलता है कि फसलोत्तर कीमत में वृद्धि औसतन भण्डारण-लागतों से अधिक नहीं है।

पिछले अनेक वर्षों से हम फसल के मौसम में खाद्यान्न के लदान हेतु वैगनों तथा परिवहन सुविधाओं की कमी की शिकायतें सुनते आ रहे हैं। इससे पण्यों के अन्तः बाजार-सचलन पर कुप्रभाव पड़ता है। फसल के समय वस्तुओं की बहुत बड़ी मात्रा को एक जगह से दूसरी जगह भेजना होता है परन्तु परिवहन-सुविधाओं की अप्राप्यता के कारण प्रथम सग्रह-बाजारों में वस्तुओं के स्टाक का अत्यधिक संचयन हो जाता है और फलस्वरूप कीमतें कृत्रिम रूप से कम हो जाती है जबकि सीमांत बाजार में कीमतें ऊँची हो जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्षेत्रीय अन्तरों के कई कारण होते हैं जैसे परिवहन-अवरोध, पदार्थों में वैज्ञानिक श्रेणीकरण का अभाव अपूर्ण ज्ञान अथवा विपणन पर सरकारी प्रतिबन्ध आदि। अतः इस समस्या का समाधान इस बात में निहित है कि प्रतियोगी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जावें, बेहतर परिवहन-सुविधाएँ तथा अधिक बाजार-ज्ञान प्रदान किया जाए तथा गतिशीलता की परिस्थितियों में सुधार किया जाए।

मौसमी कीमतों में उतार-चढाव भी परिवर्ती होता है। मौसमी कीमत स्वरूपों में परिवर्तिता इसलिए घटित होती है क्योंकि उत्पादन उच्चावचन के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और पूर्वानुमान तथा बाज़ार सूचना की व्यवस्थाएँ अच्छी नहीं हैं। मौसमी कीमत-परिवर्तन कई बार सरकारी हस्तक्षेप के कारण भी होते हैं। सरकारी हस्तक्षेप सट्टेबाजों तथा माल अधिसचयन को प्रोत्साहन भी दे सकता है जबकि वास्तव में इसका उद्देश्य कीमतों का स्थिरीकरण होता है।

यदि कीमतों में उच्च क्षेत्रीय तथा मौसमी अन्तर उपरोक्त कारकों के कारण नहीं और व्यापारियों द्वारा शोषण तथा धोखाधड़ी के कारण है तो उन्हें रोकने के लिए नियामक उपाय किए जा सकते हैं। इसका आंशिक समाधान यह है कि उत्पादकों द्वारा प्राप्ति हेतु निम्नतम निर्धारित कीमतें (फ्लोर प्राइसेज) तथा उपभोक्ताओं द्वारा अदायगी के लिए उच्चतम निर्धारित कीमतें (सीलिंग प्राइसेज) नियत की जावें।

(ग) विपणन-दक्षता की एक अन्य कसौटी के अनुसार विपणन की लागत तथा प्रथम अथवा सीमांत मण्डी में कीमत के साथ इस लागत के अनुपात का मूल्यांकन करना पड़ता है। विपणन-सेवा की एक दत्त गुणवत्ता के लिए, जितनी विपणन-लागत कम होगी, उतनी ही विपणन-दक्षता अधिक होगी।

भारतीय खाद्य निगम की वार्षिक रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा कुल व्यय का

१० से १३ प्रतिशत विपणन-सेवाओं पर खर्च होता है और क्रय कीमत बिक्री कीमत का ८७ से ९० प्रतिशत है। १९७०-७१ में बिक्री लागत ८७.३३ प्रतिशत थी और शेष १२.६७ प्रतिशत भाड़े पिसाई और सम्हाल, वेतन, मजदूरी तथा भत्ते, कर्मचारी कल्याण, ब्याज, बीमा, किराए, गाड़ी के अनुरक्षण आदि पर खर्च किया गया। थोक व्यापारियों, बिचौलियों, फुटकर विक्रेताओं तथा उचित कीमत की दुकानों के दुकानदारों का लाभ इससे अतिरिक्त है।

बिचौलियों समेत व्यापारियों के प्रतिफल को ज्ञात करने के लिए विपणन-लाभ (मारकेटिंग मार्जिन्स) का परिकलन करना पडेगा और तब उसमे से विपणन-लागतें घटाई जा सकती है। विपणन-लाभ कृषक द्वारा प्राप्त कीमत तथा फुटकर कीमत मे अन्तर को कहते हैं।

विपणन-लाभ=फुटकर कीमत—कृषक द्वारा प्राप्त कीमत। अतः विपणन लाभ वह प्रभार या चार्ज है जिसे विपणन फर्में उत्पाद के संग्रह, परिष्करण, परिवहन, क्रय-विक्रय तथा वितरण की सेवाओं के बदले प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विपणन-लाभ उपभोक्ता-कीमत तथा फार्म-कीमत में प्रतिशतता का अन्तर है। देखा गया है कि निम्न आय देशों मे विपणन लाभ अपेक्षाकृत कम होते है। निम्न विपणन-लाभों का अर्थ यह नहीं है कि वहाँ की विपणन-व्यवस्थाएँ दक्ष तथा प्रतियोगी हैं। वे इसलिए निम्न है क्योंकि उन देशो मे उपलब्ध विपणन सेवाएँ घटिया तथा थोडी है। अध्ययनों से पता चला है कि कई वस्तुओं की स्थिति मे व्यापारियों के निवल प्रतिफल कुल विक्रय मूल्य के केवल ३ से ४ प्रतिशत तक थे। निवल प्रतिफल ज्ञात करने के लिए कुल प्रतिफल मे से ब्याज तथा प्रतिष्ठान व्यय निकाल देने होंगे।

विभिन्न विपणन-प्रणालियो के सापेक्ष निष्पादन के मूल्यांकन से पता चलता है कि वितरण-लागतें निर्बाध बाजार व्यवस्था (निजी विपणन व्यवस्था) के अन्तर्गत लगभग सदा कम होने की ओर प्रवृत्त होती है। भारत मे कृषि-कीमत-आयोग की रिपोर्टों मे पता चलता है कि अनाज की सरकारी खरीद भी बाजार-लाभों को कम करने में असफल रही है। सार्वजनिक (सरकारी) वितरण-व्यवस्था की लागत गेहूँ के लिए ३० रुपये प्रति क्विटल तथा चावल के लिए ३० से ४० रुपये प्रति क्विटल है जबकि व्यापारी का लाभ केवल १५ रुपये प्रति क्विटल है। यदि भारतीय खाद्य निगम के कार्य को इस प्रकार से न चलाया गया जिससे यह प्रभार १५ रुपये प्रति क्विटल हो जावे तो सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था के कारण करदाता पर बहुत भारी बोझ पड़ेगा और अर्थव्यवस्था पर और अधिक स्फीति दबाव पड़ेगा। यहाँ यह ध्यान रहे कि रेल विभाग निगम द्वारा भेजे गए खाद्यान्नों की ढुलाई में भारी रियायत देता है और निजी क्षेत्र के व्यापारियों की अपेक्षा कम किराया चार्ज करता है। परोक्ष रूप मे यह रियायत करदाता पर बोझ है।

सरकारी विपणन-एजेंसियों की स्थिति में लागतों के ऊँचा होने के अनेक कारण हैं। इन्हे कामकाज के लिए स्थायी वेतन पाने वाले कर्मचारियों की एक बहुत बडी संख्या को बनाए रखना पडता है जिससे प्रबन्ध लागतें काफी अधिक हो जाती हैं। सरकारी व्यवस्था में निजी व्यापार की अपेक्षा भण्डारण तथा परिवहन मे वस्तुओं की सम्हाल व प्रबन्ध कम सावधानी से किया जाता है जिससे काफी गुणात्मक व मात्रात्मक हानियाँ होती है। वर्षा ऋतु मे कई बार निगम द्वारा खरीदा गया अनाज मंडियो, जहाजों तथा बन्दरगाहों की

गोदियों में ही भीग कर खराब हो जाता है। सरकारी क्षेत्र की विपणन तथा परिष्करण-सेवाएँ प्रायः पूँजी प्रधान होती हैं और अधिकतर अल्प-उपभुक्त (अन्डर यूटीलाईज्ड) रहती हैं जिनके कारण सचलन लागतें अधिक हो जाती हैं।

विकसित देशों में जहाँ श्रम दुर्लभ है, श्रम की लागत कुल विपणन-बिल का सबसे बड़ा भाग है। अमरीका में श्रम की लागतें कुल विपणन-बिल का लगभग ४५ प्रतिशत होती हैं। अमरीका में नाश्ते में कृषक के भाग से यह पता चल सकता है कि विकसित देशों में विपणन-लागतें कितनी है और कौन-सी सेवाएँ वहाँ प्राप्त हैं। सारणी ९.६ इस सम्बन्ध में एक अच्छा दृष्टांत है।

सारणी ९.६ अमरीका में वरित मदों में विपणन लाभ (१९६८)

वस्तु तथा मात्रा	फुटकर कीमत	कृषक द्वारा प्राप्ति	विपणन लाभ या लागत
दूध (½ गैलन)	५३ ७ सैंट्स	२६.६ सैंट्स	२७ १ सैंट्स
कार्नफ्लेक (बक्स)	३१ २ „	२.४ „	२८.८ „
हिमीकृत संगतरा रस (डिब्बा)	२१.१ „	९ ० „	१२.१ „
अंडे (१ दर्जन)	५२ ९ „	३२.४ „	२०.५ „
डबल रोटी (१)	२२४ „	३.१ „	१९.३ „

स्रोत . फैक्ट बुक ऑफ यू. एस. एग्रीकल्चर यू. एस. डी. ए. अप्रैल, १९७०

९.८ विपणन में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की आवश्यकता तथा सार्वजनिक नीति संबंधी सुझाव

हम देख चुके हैं कि वर्तमान विपणन-व्यवस्था अधिकांश काफी दक्ष है परन्तु इसमें कई कमियाँ हैं। विपणन-व्यवस्था में सुधार करने तथा इसकी दक्षता में वृद्धि करने की विशाल सम्भावनाएँ है। ऐसा करना इसलिए भी जरूरी है ताकि कृषक को उसकी उपज का पूरा मूल्य मिल सके। व्यवस्था को अधिक प्रतियोगी बनाने के प्रयास भी किए जाने चाहियें ताकि लागतों को कम किया जा सके। इस उद्देश्य के लिए विपणन-व्यवस्था में द्रुत प्रौद्योगिकीय (तकनीकमूलक) परिवर्तन लाने होंगे। इस प्रकार के परिवर्तन की गति को तेज करने के लिए सुझाव देने से पहले हमें इसके अवरोधक कारणों को जान लेना चाहिए।

तकनीक मूलक परिवर्तन की मन्द गति का प्रथम कारण यह है कि वर्तमान विपणन-व्यवस्था छोटे पैमाने के कार्यों तक ही सीमित है और अनुसंधान-कार्य को बढ़ावा नहीं देती। न ही इसके पास पर्याप्त संसाधन अथवा उधार-सुविधाएँ हैं जो कि प्रौद्योगिकीय रूपान्तरण के लिए बहुत आवश्यक हैं। तकनीकी परिवर्तन की धीमी गति का एक अन्य कारण सुनिश्चित तथा सुप्रशासित सरकारी नीतियों का अभाव है। इससे घबराहट तथा अनिश्चितता उत्पन्न होती है और छोटे पैमाने पर काम करने वाले अनाज-परिष्कर्ता तथा विपणन-अभिकर्ता (एजेन्ट) अपने व्यापार में पूँजी लगाने से हिचकिचाते व डरते हैं। इसके अतिरिक्त विकासशील देशों में विपणन पर अनेक प्रतिबंध व संयमन होते हैं जिनका व्यवस्था

को दक्षता पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

हम देख चुके हैं कि वर्तमान *विपणन-माध्यम श्रम एवं उद्यमकर्ता-योग्यता के उपयोग* तथा पर्याप्त बचत सभाव्यताओं के जुटाव के लिए काफ़ी अवसर प्रदान करते है । बड़े पैमाने के पूंजी प्रयोजी (कैपिटल यूजिंग) आधुनिक प्रक्रमों द्वारा उनका पूर्ण प्रतिस्थापन उन देशों मे वांछित नही है जहां श्रम की पूर्ति बहुल है और पूंजी-ससाधन दुर्लभ हैं । हमे विपणन-नीति का निर्धारण करते समय वर्तमान प्रणाली की दक्षता तथा इसके लाभो की अनदेखी नही करनी चाहिए । *साथ ही, हमें अपनी विपणन-व्यवस्था को अधिक उपयोगी, अधिक दक्ष तथा अधिक* गतिशील बनाने के लिए सतत प्रयास करने होगे ।

सरकार अभिनव कृषि-प्रस्फोट की चुनौतियो का सफलतापूर्वक मुकाबला करने के लिए व्यवसाय की सहायता कर इस दिशा मे सकारात्मक तथा लाभदायक योग दे सकती है । उन क्षेत्रो मे जिनमें वर्तमान माध्यम उपयोगी सिद्ध नही हो रहे हैं, सरकारी एजेन्सियाँ स्वय सक्रिय भाग लेकर इस दिशा मे प्रयासो की अनुपूर्ति कर सकती हैं । सरकार अपनी नीतियो द्वारा अधिक प्रतियोगिता को बढ़ावा दे सकती है और लोगों को *विपणन-व्यवसाय* अपनाने मे प्रोत्साहन दे सकती है । ऐसा निजी विपणन-केन्द्रो के प्रचालन पर लगे हुए प्रतिबन्धो तथा संयमनों को दूर करके किया जा सकता है । वे सुविधाएँ जो बड़े पैमाने पर ही प्रदान की जा सकती है, व्यापारियों को सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जानी चाहिए । सरकार उत्पादको तथा व्यापारियो को उचित दामों पर पर्याप्त परिवहन तथा भण्डारण-सुविधाएँ प्रदान करके उनकी सहायता कर सकती है । ग्रामीण क्षेत्रों मे सडको का निर्माण होना चाहिए *तथा सचार-साधनो में सुधार किया जाना चाहिए । इनके विकास के लिए ठोस निवेशो की* जरूरत होती है जो केवल सार्वजनिक एजेन्सियो द्वारा ही लगाए जा सकते है ।

इनके अतिरिक्त सरकार को कुछ नियामक उपाय करने होगे । इन उपायो में मडियो, बाजार-अहातो, लेन-देन की रीतियो तथा तोल व माप आदि का नियन्त्रण तथा नियमन सम्मिलित है । उदाहरणार्थ भारत मे मडियों तथा मडी अहातो का नियमन कृषि-उपज मडी-नियम के अधीन होता है । देश मे लगभग ३६०० प्रमुख मडियां हैं जिनमे से नियमित *मडियों तथा मडी अहातों की सख्या लगभग २००० है। यह बड़ा आवश्यक है कि मडी-समितियो को विपणन-सुविधाओं मे सुधार लाने के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया जाए ।* इस उद्देश्य हेतु मंडियों मे काम कर रहे बैंको से धन प्राप्त किया जा सकता है । भारत मे *विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय भंडारण-कठिनाइयों, परिवहन-अवरोध तथा चरमकाल* भरमार जैसी विशिष्ट समस्याओ का समाधान करता है । इसके अतिरिक्त कृषि उपज के श्रेणीकरण तथा मानकीकरण का प्रोत्साहन, मडी-अनुसंधान तथा सर्वेक्षण का नियमन, कर्मचारियों का कृषि विपणन मे प्रशिक्षण, मंडी-विस्तार, फल पदार्थ आर्डर १९५५ तथा शीत सग्रहागार आर्डर १९६४ का प्रशासन भी इसी निदेशालय की ज़िम्मेदारी है ।

सार्वजनिक अभिकरणो को उत्पादको, व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ के लिए जानकारी तथा सूचना प्रसार केन्द्रो के रूप में कार्य करना चाहिए । बाजार सूचना प्रोग्राम मे सुधार की आवश्यकता है । यह काम बाजार विस्तार विभाग द्वारा किया जा सकता है । सरकार द्वारा दी गई विपणन जानकारी विश्वसनीय तथा यथार्थ होनी चाहिए । इसमे सदेह नही

कि भारतीय व्यापारी सभावी क्रेताग्रों तथा विक्रेताग्रो के पास पोस्ट कार्डों, कीमत-प्रपत्रो तारो, टेलीफोनों तथा सदेशवाहको के माध्यम से, सूचना बडी शीघ्रता तथा दक्षता से भेजते हैं, इसके बावजूद सूचना-माध्यम अपर्याप्त हैं और भावी फसल तथा राष्ट्रीय बाज़ार में भडार स्टाक के आकलन हेतु उनकी व्यवस्था ठीक नही है। यथार्थ फसल सूचना-पद्धति तथा विपणन-आवश्यकताग्रो का व्यापक अध्ययन वास्तविक अल्प अवधि तथा दीर्घावधि प्रायोजन के लिए जरूरी हैं।

प्रौद्योगिकीय रूपातरण अनुसधान पर आधारित होता है और इसे सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। विपणन- व्यवस्था के आधुनिकीकरण हेतु आवश्यक उपस्कर तथा अन्य निविष्टियाँ उपभोक्ताग्रो को आसान शर्तों पर सरकार द्वारा सप्लाई की जानी चाहिए। पर्याप्त उधार की सप्लाई विपणन-माध्यमो मे तकनीक मूलक परिवर्तन को तेज करेगी तथा व्यवस्था को अधिक प्रतियोगी तथा दक्ष बनाएगी।

६६ उन्नत विपणन, उत्पादन-संभावनाएँ तथा सरकारी हस्तक्षेप

परिवहन, भंडारण तथा परिष्करण आदि की अपूर्णताग्रो तथा अदक्षताग्रो को कम करने या दूर करने के लिए विपणन-व्यवस्था का सुधार जरूरी है। इससे कृषक के उत्पादन के मूल्य मे वृद्धि होगी। दक्ष विपणन उत्पादन का पूर्ण उपयोग करता है और अधिक उत्पादन को प्रोत्साहित करता है। विपणन-सुधारो से विपणन-लागतें कम की जा सकती हैं जिससे उत्पादको तथा उपभोक्ताग्रो दोनो को लाभ पहुँचेगा। उत्पादकों को अपनी उपज का पूरा मूल्य प्राप्त होगा और अधिक उपज उपजाने की प्रेरणा मिलेगी। उपभोक्ताग्रो को कम कीमतो पर वस्तुएँ प्राप्त होगी और अधिक सन्तुष्टि मिलेगी। **संक्षेप मे उन्नत विपणन-रीतियाँ कृषि-विकास में महत्त्वपूर्ण योग देती हैं।**

विपणन-सुधारो के लाभ उत्पादको को ऊँची कीमतो के रूप मे मिलते हैं और इस प्राप्ति की सीमा अधिकांश विपणन-एजेंसियो की सरचना पर निर्भर करती है। यदि निजी व्यापार कृपकों का शोषण करेंगे तथा उनको उन्नत विपणन मे प्राप्त होने वाले लाभो से वचित रखेंगे तो राज्य को हस्तक्षेप करने तथा विपणन-व्यवस्था का पुनर्गठन करने के लिए बाध्य होना पडेगा। निम्न आय वाले देशो मे छोटे उत्पादको को उनकी लघु उपज का भी पूरा मूल्य नही मिलता। यही कारण है कि निजी विपणन के स्थान पर सहकारी या सरकारी विपणन द्वारा प्रतिस्थापन का अधिक समर्थन किया जाता है।

निजी व्यापार मे सरकारी हस्तक्षेप के अनेक कारण हो सकते है। यद्यपि सामान्य वर्षों मे निजी क्षेत्र के व्यापारी अपेक्षाकृत दक्षता से कार्य करते हैं परन्तु अन्न-अभाव के समयों मे निर्बाध बाज़ारों मे बाज़ार-अधिशेष की ग्रामीण क्षेत्रो से नगरीय केन्द्रो की ओर निकास की प्रवृत्ति होती है अर्थात् अन्न को निम्न क्रय शक्ति क्षेत्रो से उच्च क्रय शक्ति क्षेत्रो में ले जाया जाता है जिसके कारण अन्न-सभरण के वितरण मे काफ़ी असमता उत्पन्न हो जाती है। सरकारी हस्तक्षेप की अनुपस्थिति मे तथा निर्बाध विपणन के कारण अभाव के समय मे नगरीय केन्द्रो मे अनाज की कीमतें चढ जाती हैं जिसका औद्योगिक मजदूरो पर भी प्रभाव पड़ता है। अनाज की बहुतायत के समय, कीमतें काफी गिर जाती हैं और यह बात कृपक

को फसल उगाने के लिए अनुत्साहित करती है। अतः कृषि-विपणन में सरकारी हस्तक्षेप का कीमत-स्थिरीकरण तथा अन्न-वितरण नीतियों के साथ निकट रूप से संबंध है।

९.१० सहकारी विपणन

प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि सहकारी विपणन-समितियाँ कृषकों को व्यापारियों के शोषण से बचा सकती हैं और बिचौलियों के लाभ को समाप्त कर तथा विपणन-लागतों को कम करके अपने सदस्यों को सर्वोत्तम कीमत दिला सकती हैं। इससे दक्षता एवं सामाजिक न्याय में वृद्धि होगी। सहकारी समितियाँ इन उद्देश्यों को भलीभाँति पूरा कर सकती हैं, यदि उन पर निहित स्वार्थ वाले तत्वों का प्रभुत्व न हो तथा उनका प्रबन्ध अदक्ष तथा भ्रष्ट व्यक्तियों के हाथों में न हो। सहकारी समितियों के प्रचलन में पाई जाने वाली चिन्ताजनक प्रवृत्तियों का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। सहकारी समितियाँ इन अवरोधों पर नियंत्रण कर के ही दक्ष सेवाएँ प्रदान कर सकती हैं।

भारत में सहकारी विपणन-व्यवस्था की संरचना इस प्रकार से है :—

(i) मंडी स्तर पर लगभग ३२०० प्राथमिक विपणन-समितियाँ हैं जिनमें ५०० विशिष्ट पण्यविपणन-समितियाँ भी सम्मिलित हैं।

(ii) जिला स्तर पर १७३ केन्द्रीय विपणन-समितियाँ कार्य कर रही हैं। इनमें से १५ समितियाँ विशिष्ट पण्यों के हेतु हैं।

(iii) राज्य स्तर पर २० शिखर विपणन-समितियाँ तथा ३ पण्य-विपणन-महासंघ (फेडेरेशन) हैं।

(iv) अखिल भारतीय स्तर पर एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन महासंघ (नेशनल एग्रीकल्चरल कोआपरेटिव मार्केटिंग फेडेरेशन) है।

सहकारी विपणन एवं परिष्करण समितियों द्वारा १९६०—६१ में १७९ करोड़ रुपये की वस्तुओं को सम्हाल की गई जबकि अब इनके द्वारा हर वर्ष ८४४ करोड़ रु० से भी अधिक मूल्य की वस्तुओं का प्रबन्ध किया जाता है। ग्रामीण तथा नगर क्षेत्रों में सहकारी समितियों द्वारा किए गए फुटकर उपभोक्ता-व्यापार का १९६०—६१ में अनुमान ५७ करोड़ रुपये था जो अब बढ़कर ६०० करोड़ रुपये के लगभग हो गया है। १९७२—७३ के अंत में कृषि-परिष्करण-एककों की संख्या १७६० हो गई। सहकारी क्षेत्र में अनुमति प्राप्त चीनी मिलों की संख्या १३४ हो गई है।

विभिन्न कृषि पदार्थों के सहकारी परिष्करण के विकास के लिए अनेक पग उठाए गए हैं। सहकारी क्षेत्र में खाद के कारखानों (मिलों) की स्थापना की दशा में काफ़ी सफलता प्राप्त हुई है। सहकारी समितियाँ श्रेणीकरण तथा एकत्रीकरण की पद्धतियों को उत्तरोत्तर अपना रही हैं।

अनुमान है कि सहकारी समितियाँ १९७३—७४ में ८० लाख टन खाद्यान्न, ३६० लाख टन गन्ना, ९ लाख टन मूँगफली, १० हजार टन फल-सब्जी, तथा कपास की १८ लाख गाँठों की सम्हाल करेंगी। वर्तमान विपणन-संरचना, विशेषकर प्राथमिक स्तर की समितियों को सुदृढ़ करने हेतु भरसक प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

विपणन-दक्षता के सदर्भ मे विपणन-सहकारिताओ का निष्पादन कुछ संतोषजनक नही रहा। न ही वे बाजार-लाभों को कम कर सकी हैं और न ही निर्वाहमात्री कृषको के थोड़े अविशेषो के काफी परिमाणो का विपणन कर सकी हैं। खाद्य फसलो की स्थिति मे यह बिल्कुल सत्य है। परन्तु सहकारिताओ के कार्य को वास्तव मे फ़सल-उत्पादन मे वृद्धि तथा सामाजिक परिवर्तन व न्याय के सदर्भ मे आँकना चाहिए।

१९७३ में गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण के सदर्भ मे सहकारी सस्थाएँ प्रमुख वसूली एजेसी के रूप मे उभरी हैं। कुल ४४ लाख टन गेहूँ की वसूली मे सहकारिताओं ने २७.५ लाख टन गेहूँ की वसूली की है जो कुल का ६२.५ प्रतिशत है। सहकारिताओ के विकास हेतु राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम अनेक वर्षों से प्रयास कर रहा है। यह निगम देश के विभिन्न भागो मे सहकारी सस्थाओ की गतिविधियो का समन्वय भी करता है।

९.११ सार्वजनिक विपणन-कार्यक्रम तथा सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था

सरकारी कृषि-विपणन-कार्यक्रमों मे श्रेणीकरण व निरीक्षण, बाज़ार-नियमन व नियत्रण, कीमत-समर्थन हेतु खरीद, कानूनी कन्ट्रोल तथा कुछ सरकारी एकाधिकार सम्मिलित हैं। भारत मे पिछले कुछ वर्षों में महत्त्वपूर्ण कृषि-पण्यों से सम्बन्धित विपणन-व्यवस्था इस प्रकार से रही है :

(क) खाद्यान्न—पिछले कुछ वर्षों मे सरकार खाद्यान्नों को खुले बाज़ार मे निजी व्यापार की स्पर्धा मे खरीदती रही है और उनका वितरण करती रही है। इस नीति के अनुसार सरकार समर्थित (सपोर्ट) अथवा समाहार (प्रोक्योरमेट) कीमतों पर कृषकों से अनाज खरीदती है और सार्वजनिक वितरण माध्यमो द्वारा बिक्री के लिए स्टाक इकट्ठा करती है। पिछले कुछ वर्षो मे समाहरण (प्रोक्योरमेट) की अनेक विधियाँ अपनाई गई हैं जैसे (१) अनाज मडियों मे नीलामी या बोली द्वारा खरीद कर (२) एकाधिकार समाहरण द्वारा (३) उत्पादकों पर वर्गित लेवी (उगाही) तथा मिल मालिको व व्यापारियो पर लेवी से तथा (४) खुले बाजार मे पूर्वक्रय अधिकार द्वारा आदि। अधिकाश क्षेत्रों मे कीमत समर्थन हेतु खरीद की जाती रही हैं। इस प्रकार से समाहित तथा आयातित खाद्य पदार्थों का वितरण १,६६,००० उचित कीमत की दुकानो या राशन डिपुओ द्वारा किया जाता है। ये दुकानें निजी व्यापारियों द्वारा चलाई जाती हैं परन्तु उन्हे सरकार से स्वीकृति तथा लाइसैंस प्राप्त करना होता है और उन्हे सरकारी अनाज को नियत कीमतो पर बेचना पड़ता है। खाद्यान्न के सम्पूर्ण आयात का रख-रखाव व प्रबन्ध भारतीय खाद्य निगम द्वारा किया जाता है। बड़े नगरो मे गेहूँ तथा चावल का राशन है। अच्छे चावल की थोड़ी-सी मात्रा तथा गेहूँ-बीजो को छोड़कर खाद्यान्न के निर्यात पर सामान्य निषेध है। पिछले वर्षों मे गेहूँ व चावल का सार्वजनिक वितरण सारणी ९.७ मे दिखाया गया है।

१९७३ की रबी फसल से भारत मे गेहूँ का थोक व्यापार सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया है। समाहरण (वसूली) कार्यक्रम तथा सरकार द्वारा थोक व्यापार की प्रगति का विश्लेषण परिच्छेद ९.१२ तथा ९.१३ में किया जाएगा। सरकारी खाद्य नीति का अध्ययन

सारणी ६.७ खाद्यान्न का सार्वजनिक वितरण

(००० टन में)

फसल	वर्ष	आरम्भिक स्टाक	समाहरण वसूली	आयात	बिक्री	शेष स्टाक
गेहूँ	१६६८-६६	७६०	२३७३	४७६६	५७५५	२१२६
	१६६६-७०	२१२६	२४१७	३०६०	५१६५	२३२६
	१६७०-७१	२३२६	३१८३	३४२५	५३४७	३१२७
	१६७१-७२	३१२७	५०८३	१८१४	४४४०	५०३३
चावल	१६६८-६६	६४७	३३७३	४४६	३२०६	१२५५
	१६६६-७०	१२५५	३७०६	४८७	३४८४	१६६६
	१६७०-७१	१६६६	३०७२	२०६	३०६४	१८३५
	१६७१-७२	१८३५	३५०७	२४१	३१३६	२३०६

स्रोत कृषि कीमत आयोग, भारत सरकार (१६७२)

दसवें अध्याय में भी किया गया है। १६७३-७४ में गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारी कार्य-क्रम के असफल हो जाने के बाद व्यापार पुनः व्यापारियों के हाथ में आगया है। यद्यपि पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में व्यापारियों को अपने द्वारा खरीदे गए गेहूँ का ५० प्रतिशत भाग १०५ रुपये प्रति क्विंटल पर सरकार को अनिवार्य रूप में देना पड़ेगा।

(ख) चीनी—सरकार चीनी के लिए आंशिक विनियन्त्रण (पार्सियल डीकन्ट्रोल) की नीति अपना रही है। इस नीति के अन्तर्गत, सरकार चीनी उद्योग को कुल उत्पादन के ३० प्रतिशत को खुले बाजार में बेचने की आज्ञा देती है। शेष ७० प्रतिशत चीनी पर सरकार का कीमत तथा वितरण-नियन्त्रण है। देश में चीनी का कुल वार्षिक उत्पादन ३५ लाख टन से ४५ लाख टन के बीच में है। चीनी का निर्यात राज्य व्यापार निगम द्वारा किया जाता है। सरकार निर्यात हेतु आर्थिक सहायता या रियायत देती है। सरकार निर्बाध विक्रय हेतु चीनी पर विशेष उत्पादन-कर लगाती है जो आजकल १७० रुपये प्रति क्विंटल है। यही कारण है कि खुले बाजार में चीनी काफी मँहगी है। यह विचित्र बात है कि कुल उत्पादन का ३० प्रतिशत चीनी ही खुले बाजार में बिकती है परन्तु वह मुँहमांगी मात्रा में उपलब्ध है। सार्वजनिक वितरण के लिए ७० प्रतिशत चीनी मिलों से ली जाती है परन्तु वह चीनी डिपुओं पर भी नियमित रूप में सुलभ नहीं होती। ग्रामीण क्षेत्रों में तो और भी बुरा हाल है, जहाँ कई स्थानों पर ४०० ग्राम प्रति व्यक्ति प्रति मास का ही राशन है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सफल बनाने के लिए काफी कुछ करना पड़ेगा। इसमें सुधार करने की नितांत आवश्यकता है। यह भी देखना ज़रूरी है कि मिल मालिक कहीं कुल उत्पादन के ३० प्रतिशत से अधिक भाग को खुले बाज़ार में न बेच रहे हों। रोगी मिलों की सभाल भी होनी

चाहिए ताकि उत्पादन को बढाया जा सके। सरकार गन्ने की खरीद के लिए न्यूनतम कानूनी कीमत भी नियत करती है।

(ग) वनस्पति—वनस्पति की कीमतें सरकार द्वारा क्षेत्रीय आधार पर नियत की जाती हैं। ये कीमतें वनस्पति तेलो की बाज़ारी कीमतो द्वारा निर्धारित होती हैं। पिछले दिनो कुछ मिलें वनस्पति की बजाए काफ़ी मात्रा मे शोधित तेल तैयार करके बेचती रही हैं। मूंगफली के तेल के अभाव के कारण वनस्पति का उत्पादन भी कम हुआ है। १९७३ में वनस्पति के मूल्यो को बार-बार बढाना पडा है और वनस्पति की काफी किल्लत अनुभव की गई है।

(घ) कपास—पिछले कुछ वर्षों तक सरकार सीधे मिलो को आयात लाइसैंस देती रही है और इस प्रकार कपास-आयात का नियमन करती रही है। अब सरकार ने कपास के आयात तथा घरेलू कपास की खरीद के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में भारतीय कपास निगम लिमिटेड की स्थापना की है जो इस सारे काम की देख-रेख करेगी।

(ङ) पटसन—सरकार कच्चे पटसन के लिए न्यूनतम समर्थित कीमतें निर्धारित करती है। राज्य व्यापार निगम कीमत समर्थन-सक्रियाओं तथा उत्पादको से कच्चे पटसन के क्रय के लिए जिम्मेदार है।

(च) काजू—कच्चे काजू के आयात का रख-रखाव व प्रबन्ध राज्य व्यापार निगम द्वारा नियन्त्रित भारतीय काजू निगम द्वारा किया जाता है।

(छ) तम्बाकू—फ्लू क्योरड वर्जिनिया तम्बाकू के लिए न्यूनतम निर्यात कीमतें सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

९.१२ अनाज समाहरण तथा अनाज का सरकारी थोक व्यापार

कृषि-विपणन में सरकारी हस्तक्षेप का मुख्य ध्येय कीमतो में स्थिरता लाना है जिससे जहाँ एक ओर कृषको को अपनी उपज का आकर्षक मूल्य प्राप्त होगा वहाँ दूसरी ओर उपभोक्ताओं को वर्ष भर उचित दर पर सुगमतापूर्वक अनाज मिलता रहेगा। इसके अतिरिक्त सरकार का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने पास अनाज का काफ़ी भडार सुरक्षित रखे ताकि उसे विपत्ति या अनाज-अभाव के समय कमजोर वर्ग के लोगो को उचित समय पर सुलभ कराया जा सके। इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु ऐसे सरकारी विपणन-अभिकरणो की स्थापना करनी पड़ेगी जो समाहरण-सक्रियाओं (प्रोक्योरमेंट ऑपरेशन्स) द्वारा क्रियमाण तथा सुरक्षित भडारो का निर्माण करेंगे। अतः खाद्यान्नो के वितरण की समुचित व्यवस्था करने के लिए अनाज का बडी मात्रा में समाहरण अनिवार्य है। क्या सरकारी विपणन-अभिकरण इसमें सफलता प्राप्त कर सकते है? क्या वे निजी विपणन-व्यवस्था की प्रतिस्पर्धा मे इस दायित्व को पूरा कर सकते हैं?

जब फसल अच्छी होती है और सरकार समाहृत कीमतो पर अनाज खरीदती है, तो भडार बनाने मे सरकारी एजेंसियों को कोई विशेष कठिनाई नहीं होती परन्तु अनाज-अभाव के समय निर्बाध बाजार की अवस्था मे अनाज की कीमतें काफ़ी बढ जाती हैं। निर्बाध बाजार की कीमतें सरकार द्वारा नियत कीमतो से काफी अधिक हो जाती हैं और सरकारी एजेंसियो

द्वारा नियत कीमतों पर पर्याप्त समाहरण करना काफी कठिन हो जाता है। अधिकतर सरकारी एजेंसियां प्रशासनिक संरचना के अभाव में बाज़ार में लाए हुए अधिशेष के बड़े भाग को न्यून नियत कीमतों पर खरीदने में असमर्थ रहती हैं। प्रायः सरकारी अनाज निगमों को अभाव के समयों मे वितरण हेतु अनाज की आयातित सप्लाई पर ही आश्रित रहना पड़ता है। उदाहरणार्थ १९७०-७१ मे खरीफ के ४ करोड़ २२ लाख टन चावल के उत्पादन मे से भारतीय खाद्य निगम द्वारा ३२ लाख टन समाहृत किया गया। १९७१-७२ में खरीफ में समाहरण की मात्रा ३१ लाख टन थी जबकि १९७२-७३ में, जो सूखे का वर्ष था, भारतीय खाद्य निगम केवल २२ लाख टन चावल ही की वसूली कर सका जबकि लक्ष्य ४६ लाख टन का था। कहने का अभिप्राय यह है कि खाद्य-अभाव के समय में सरकारी संस्थाएँ निर्बाध बाजार मे समाहरण लक्ष्यों को प्राप्त करने मे सफल नही हो सकती। यदि सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य सूखाग्रस्त वर्ष में कमजोर वर्गों की कठिनाइयों को कम करना है और उन्हे उचित कीमतों पर पर्याप्त मात्रा मे अनाज सुलभ कराना है तो प्रशासनिक ढाँचे मे सुधार के साथ साथ सरकार को वे सभी उपाय करने होंगे जिनसे वह पर्याप्त मात्रा मे अनाज का समाहरण कर सके। केवल 'समाहरण' (वसूली) ही काफ़ी नही है, वितरण-व्यवस्था को भी सुदृढ़ करना जरूरी है। सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था ठोस आधारिक सरचना पर खड़ी की जानी चाहिये और इस दिशा मे सुबद्ध दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। इस सबंध मे एक सुझाव यह दिया जा सकता है कि सरकार को अनाज का थोक व्यापार स्वय अपने हाथ मे ले लेना चाहिए। इससे निजी व्यापार की प्रतियोगिता समाप्त हो जाएगी और सरकार अपनी नीतियों को दक्षतापूर्वक कार्यान्वित कर सकेगी।

९.१३ गेहूँ के थोक व्यापार का सरकारीकरण

जिस देश मे उत्पादन का भारी उतार-चढाव हो और जहाँ खाद्यान्नों के अभाव से बार-बार दो चार होना पड़े, वहाँ अन्न-वितरण को बाज़ार के अदृश्य हाथों में छोड़ना खतरे से खाली नहीं। समाज के कमजोर वर्गों को व्यापारियो के शोषण से बचाने के लिए तथा सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था को सुचारु रूप मे चलाने के लिए सरकार को बड़ी मात्रा मे अनाज इकट्ठा करना होगा। संभवतः इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने भी १९७३ में गेहूँ का थोक व्यापार अपने हाथ मे लेने का निर्णय लिया। परन्तु यह ध्यान रहे कि आधारिक सरचना को सुदृढ किए बिना तथा दक्ष वितरण-व्यवस्था के अभाव मे सरकार द्वारा एकाधिकार-समाहरण अर्थहीन होता है। सरकार इस काम मे तभी सफल हो सकती है यदि उसकी योजना ठोस आधार पर निर्मित हो। हम अगले पृष्ठों में सरकार द्वारा गेहूँ के थोक व्यापार को अपने हाथ मे लेने से सम्बन्धित कार्यक्रम की प्रगति का विश्लेषण करेंगे।

योजना—गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण का ध्येय यह होगा कि सार्वजनिक क्षेत्रक की सस्थाएं जैसे भारतीय खाद्य निगम, राज्य सेवा सभरण विभाग व सहकारिताएँ बिकाऊ अधिशेष [विक्रेय अर्थात् जो अनाज मंडी में लाया जाएगा (मार्केटेड सरप्लस),] को खरीदेंगी। यह ध्यान रखने योग्य है कि योजना के अनुसार इन सस्थाओं को विक्रय या

बिकाऊ अधिशेष (मार्केटेड सरप्लस) खरीदना है, न कि विक्रेय अधिशेष (मार्केटेबल सरप्लस)। सरकारी अनुमान के अनुसार बिकाऊ (विक्रय) गेहूँ, विक्रेय अधिशेष का लगभग ७० प्रतिशत होगा। इस प्रकार विक्रेय अधिशेष का शेष ३० प्रतिशत भाग लाइसेंसधारी फुटकर बिक्रेताओं तथा स्वयं उत्पादकों द्वारा बेचा जा सकेगा। क्योंकि निजी व्यापारियों द्वारा गेहूँ का थोक व्यापार करना निषिद्ध होगा, इसलिए यह आशा की जा सकती है कि उत्पादक अपने अनाज को बिक्री के लिए मंडियों या निश्चित स्थानों पर लाएँगे और नियत समाहरण-(वसूली)-कीमतों पर इन संस्थाओं के पास बेच देंगे। योजना के अनुसार उत्पादक अपने फालतू अनाज की एक सीमित मात्रा को सीधे फुटकर व्यापारियों के पास बेच सकते हैं। उत्पादकों पर कोई लेवी नहीं लगाई गई। गेहूँ की वसूली कीमत ७६ रु० प्रति क्विंटल रखी गई।

गेहूँ का थोक व्यापार हाथ में लेते समय सरकार ने ८१ लाख टन गेहूँ की वसूली का लक्ष्य रखा था। परन्तु सरकार केवल ४५.३ लाख टन गेहूँ की वसूली ही कर सकी। इससे पूरी तरह स्पष्ट हो गया है कि सरकार गेहूँ वसूली के कार्य में बुरी तरह असफल रही है और ६० लाख टन गेहूँ के संशोधित लक्ष्य को भी पूरा नहीं कर सकी। इसे 'अवपके नेक इरादों की असफलता' भी कहा जा सकता है। कहा जा रहा है कि इस वर्ष रासायनिक उर्वरकों की कमी, मार्च की असमय तेज गर्मी और देश के लगभग सभी भागों में बिजली-संकट के कारण गेहूँ के उत्पादन में भी काफी गिरावट आई है। पहले अनुमान लगाया गया था कि इस वर्ष ३ करोड़ टन गेहूँ की उपज होगी परन्तु उत्पादन केवल २ करोड़ ६० लाख टन हुआ जिससे अनाज मंडियों में कम आया। अधिकारी लोग यह भी कह रहे हैं कि अधिक मूल्य मिलने की आशा में उत्पादकों ने काफी मात्रा में गेहूँ दबा लिया है और सरकारी नीति से प्रभावित होने वाले थोक व्यापारी जो अपने निहित स्वार्थों के कारण सरकार की नीति को असफल करना चाहते हैं, उनको इस बात के लिए उकसाते रहे हैं कि वे अपनी उपज सरकार के पास न बेचें। सरकारी वसूली के असफल होने के अनेक कारण हो सकते हैं जिनका विश्लेषण आगे किया जाएगा। परन्तु एक बात साफ है कि इस वर्ष भी काफी बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज आयात करना होगा। सारणी ६.८ देखें।

सारणी ६.८ सरकार द्वारा थोक व्यापार के अधिग्रहण के बाद गेहूँ की वसूली, १६७३

राज्य	कुल वसूली लक्ष्य	वास्तविक वसूली	प्रतिशत
	लाख टन	लाख टन	%
पंजाब	३४.०	२६.६	७६
उत्तर प्रदेश	२०.०	७.८	३६
हरियाणा	१३.०	५.८	४५
बिहार	६.०	०.८	१३
मध्य प्रदेश	३.१	२.१	६८
राजस्थान व अन्य राज्य	४.६	१.६	३६
कुल	८१.०	४५.३	

स्रोत : राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम (विज्ञापन, १६७३) के आधार पर.

मार्च, १६७३ के आरम्भ मे सरकार के पास २७ लाख टन गेहूँ का भडार था। अनुमान है कि सार्वजनिक वितरण हेतु गेहूँ की कुल आवश्यकता १० लाख टन प्रतिमास है। इस प्रकार अगले दस ग्यारह महीनो मे लगभग १ करोड १० लाख टन गेहूँ की आवश्यकता होगी। कानूनी तथा अनौपचारिक राशनिंग के अधीन आने वाली जनसंख्या ४२ करोड के लगभग होगी। अत. सरकार को लगभग ४५ लाख टन गेहूँ का आयात करना पडेगा। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस वर्ष गेहूँ के उत्पादन मे कमी हुई है और इस अभाव के कारण गेहूँ की कीमत अन्तर्राष्ट्रीय मडियों में बहुत चढ गई है। अमरीका, कैनेडा तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि देश पहले ही अपने फालतू गेहूँ को रूस, चीन तथा अन्य देशों के पास बेच चुके हैं। लगभग २० लाख टन गेहूँ के सौदे हमारी सरकार ने भी किए हैं। यह गेहूँ हमे १०० रु० से १२० रु० क्विटल पड़ेगा। और अधिक गेहूँ अन्य देशों के सुरक्षित भडारों या खुले बाजारों से ही उपलब्ध हो सकेगा जिसके लिए भारी कीमत देनी पड़ेगी और वह भी विदेशी मुद्रा में। पता चला है कि गेहूँ की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कीमत (अगस्त, १६७३ मे) १६० से १७० रु० प्रति क्विटल है जो भारत मे २०० रु० प्रति क्विटल पडेगी। सरकार इतनी अधिक कीमत पर नही खरीद सकती। सुनने में आया है कि गल्ले के थोक व्यापारियो ने सरकार को आश्वासन दिया था कि यदि वह अनाज के थोक व्यापार के अधिग्रहण की नीति को छोड दे और वसूली कीमत ७६ रु० प्रति क्विटल से बढाकर ८५ रु० प्रति क्विटल कर दे तो वे सरकार के लिए ७० लाख टन से १ करोड़ टन तक गेहूँ का समाहरण कर दगे। सभवत. सरकार ने इस नीति को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना कर व्यापारियो के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। यह प्रश्न भी किया जा रहा है कि जब सरकार के विचार मे बड़े उत्पादकों ने गेहूँ के स्टाक को दबा कर रखा हुआ है तो सरकार ने कड़े उपायों का प्रयोग क्यो नही किया ? जहाँ तक उत्पादको का सम्बन्ध है वे सभवत: गेहूँ के थोक व्यापार के अधिग्रहण की सरकारी नीति को असफल बनाने मे इतनी रुचि नही रखते जितनी रुचि अपने लिए अधिक कीमत प्राप्त करने मे रखते हैं। यह विचित्र विडम्बना है कि जहाँ सरकार विदेशो से २५ से ३० रुपये प्रति क्विटल अधिक कीमत पर गेहूँ लेने के लिए तैयार है वहाँ वह देश में उत्पादकों को १० रु० प्रति क्विटल भी अधिक कीमत देने के लिए तैयार नही थी। वास्तव मे सरकारी-योजना में अनेक न्यूनताएँ और कमज़ोरियाँ रह गई है। इसके अतिरिक्त सरकारी नीति के असफल होने का कारण आर्थिक सूझबूझ की कमी तथा इसके द्वारा आर्थिक चिंतन की उपेक्षा है। इन सब दोषो का विश्लेषण हम नीचे करेंगे :—

(१) गेहूँ के थोक व्यापार की सरकारी अधिग्रहण योजना की असफलता का मुख्य कारण यह है कि इसको दक्षता से कार्यान्वित करने के लिए कोई विशेष तैयारी नही की गई और न ही इसके लिए आवश्यक व्यवस्था सम्बन्धी तथा संस्थागत ढाँचे का निर्माण किया गया। सुव्यवस्थित विपणन हेतु परिवहन तथा भंडारण सुविधाओ की सप्लाई, परिष्करण, तुलाई, सफाई तथा अन्य सक्रियाएँ सरकारी क्षेत्रक पर भारी कठिन जिम्मेदारी डालती हैं। परन्तु इस प्रकार की आधारिक सरचना का निर्माण किए बिना जितनी जल्दबाज़ी से गेहूँ के थोक व्यापार को सरकार ने अपने हाथ मे लिया उससे यह आभास हुआ कि यह सुविचारित नीति का अग नही बल्कि एक आकस्मिक, अनिश्चित तथा अस्थायी उपाय है।

वैसे भी एक ऐसे वर्ष मे जबकि कीमतें लगातार बढ रही हों और सरकार के पास अनाज का भडार काफी अधिक न हो, निजी व्यापारियो से छुटकारा पाने के प्रयत्नो की सफलता सदिग्ध होती है। सूखे के लम्बे व्यापक दौर के मध्य में जबकि खरीफ की फसल बहुत कम हुई और कीमते आसमान को छू रही थी, सरकार के इस पग ने उत्पादको तथा उपभोक्ताओ के विश्वास को हिला दिया और व्यापारियो को भयभीत कर दिया। ऐसी स्थिति मे सार्वजनिक वितरण के लिए न तो अनाज की अधिक मात्रा प्राप्त हो सकती है और न ही बिक्री कीमते कम हो सकती थी। इसलिए अधिग्रहण-योजना को अन्न-वितरण मे सरचनात्मक सुधार के रूप में प्रस्तुत नही किया जा सकता था।

(२) भ्रष्टाचार, अदक्षता, नौकरशाही, अनावश्यक विलम्ब तथा लाल फीताशाही सार्वजनिक प्रशासन में घर कर चुके हैं और सार्वजनिक सस्थाओ के कार्य को प्रभावित करते हैं। यह गेहूँ के थोक व्यापार की सरकारी अधिग्रहण-योजना का मुख्य नकारात्मक पक्ष है। अधिग्रहण के कार्य मे सरकार की सफलता की कसौटी एक मात्र इस बात मे है कि क्या सरकार अनाज समाहरण का निर्धारित लक्ष्य पूरा कर सकी है? अनाज-वितरण तथा अनाज समाहरण जैसे महत्त्वपूर्ण तथा जीवन के लिए आवश्यक कार्यों को अदक्ष तथा अनुभवहीन अधिकारियो के हाथो छोडना सबसे बडी भूल है, जब सरकार को यह पता लग चुका था कि खरीफ, १६७२ मे चावल के एकाधिकार समाहरण कार्यक्रम मे वह बुरी तरह असफल हो चुकी है तथा ४६ लाख टन के निर्धारित लक्ष्य में से केवल २२ लाख टन ही वसूल कर सकी है और सूखे के कारण रबी की फसल अच्छी होने की सभावना भी नही है, तो इसे यह पग उठाने से पूर्व सुबद्ध आर्थिक चिन्तन कर लेना चाहिए था। ज्ञातव्य है कि अनाज की कमी के कारण और सरकार के खरीफ वसूली-कार्यक्रम की असफलता की सूचना मिलने पर १६७२ के अन्त मे अनाज के भाव मडियो मे तेजी से चढ़ने लगे। सरकार ने कीमतो पर नियत्रण के उद्देश्य हेतु सार्वजनिक भण्डार का अनाज बाज़ारों मे फेंक दिया जिसे व्यापारियों ने बैंको के पैसे से खरीद लिया और इस प्रकार अनाज सरकारी गोदामो से निकल कर बडी आसानी से निजी गोदामो मे चला गया। ध्यान रहे कि यह अनाज रियायती दरो पर बेचा गया। यह सरकारी बिक्री जमाखोरो, मुनाफाखोरो और चोर बाजारियो (ब्लैक-मार्केटियो) के लिए दैवीय वरदान सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त उचित मूल्य की अधिकाश दुकानें निजी व्यापारियों द्वारा चलाई जाती हैं जो आसानी से सरकारी भण्डारो से अनाज को निजी गोदामो मे पहुँचा सकते हैं। क्या थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण से पूर्व इन तत्त्वो के दुष्चक्र का दमन करने के लिए कोई समन्वित प्रयास किया गया? आज का कृषक काफ़ी समझदार व जागरूक है और वह निजी व्यापारी के अधिक लाभ हेतु क्षेत्रीय प्रतिबन्धों का उल्लघन करने तथा अनाज को चोरी छिपे ले जाने की योग्यता से भलीभाँति परिचित है। कहने का अभिप्राय यह है कि सरकार को अपना व्यापारिक क्षेत्र सार्वजनिक वितरण की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति तक ही सीमित रखना चाहिए। ऐसी स्थिति में सरकार से अपेक्षित है कि वह कमज़ोर लोगों की अनाज की न्यूनतम आवश्यकताएँ रियायती दरो पर पूरा करे ताकि खुले बाजार मे मांग का बोझ कम हो सके और इस प्रकार कीमतों को उचित सीमाओ मे रखा जा सके। इसके लिए सरकारी राशनिंग व्यवस्था का होना जरूरी है।

यदि थोक व्यापार के अधिग्रहण के साथ-साथ बड़े-बड़े नगरो मे भी कानूनी राशनिंग की आवश्यकता नही, तो इस सरकारी एकाधिकार का क्या अर्थ है ? नियंत्रित वितरण तथा बिक्री-व्यवस्था की अनुपस्थिति में थोक व्यापार का सरकारी अधिग्रहण निरर्थक है। ईमानदार, दक्ष व प्रबुद्ध प्रशासनिक ढांचा, काफी मात्रा मे अनाज का सुरक्षित भण्डार, बाजार पर कड़ा नियंत्रण तथा राशनिंग समेत उचित व सुदृढ़ सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था सरकारी थोक व्यापार-अधिग्रहण की सफलता के लिए मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जो सबकी सब १६७३ रबी की फसल के समय नदारद थी। अच्छा यह होता कि सरकार थोक व्यापार को अपने हाथ मे लेने से पहले काफ़ी देशी तथा आयातित अनाज का सुरक्षित भण्डार जमा कर लेती। सरकार को एक दो अच्छी फसलो तक की प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। कम से कम अगली खरीफ फसल की प्रतीक्षा करना ज़रूरी था क्योंकि वह एक अनुकूल वर्षा-ऋतु की स्थिति मे आवश्यक परिवर्तन आसानी से ला सकती थी।

(३) देश मे कुल मिलाकर लगभग ३६०० प्रमुख मडियाँ हैं जिनमे ३ लाख से अधिक गल्ले की थोक दुकानें हैं। इनमे ११ लाख के लगभग दुकानदार साझीदार, ७ लाख ५० हजार मुनीम, लगभग १० लाख पल्लेदार एवं मजदूर तथा १,६०,००० दलाल कार्य करते हैं। सरकार के उक्त कदम से इन लोगों पर बेकारी का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। इसलिए इन तत्वों द्वारा सरकारी नीति को असफल बनाने के प्रयास अपेक्षित ही थे। सरकार का यह कर्तव्य था कि वह समय रहते इन तत्वो को निष्क्रिय बना देती। सरकार को यह भी चाहिए था कि वह इनको वैकल्पिक काम प्रदान करती या स्वय इनकी सेवाओं से लाभ उठाती। व्यापारी लोग यह भलीभाँति जानते थे कि 'सरकार की आयात करने की योग्यता अति सीमित है, इसलिए वे सरकारी-नीति को फेल करने के उद्देश्य से एकजुट हो गए। ऐसे समाचार है कि थोक व्यापारी कृषको के साथ मिल गए और उन्होंने गाँव-गाँव जाकर कृषको को अपना अनाज रोकने के लिए प्रोत्साहित किया। कई स्थानो पर उन्होंने कृषको से ऊँचे दामो पर अनाज खरीद लिया तथा कृषकों के घर ही उनके गोदाम बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि ऋतु के आरंभ मे मण्डियो मे बहुत कम अनाज आया। सरकार को चाहिए था कि वह शुरू मे ही उत्पादको पर लेवी लगाती। जब सरकार ने थोक व्यापार के अधिग्रहण को सामाजिक हित मे न्याय सगत समझ लिया तो उत्पादको से अनिवार्य वसूली को आपत्तिजनक कैसे माना जा सकता है ? सरकार ने इस पक्ष पर गम्भीरता से विचार नही किया। बड़े-बड़े जमीदारों ने अनाज को दबा लिया जिसे अक्तूबर-दिसम्बर १६७३ मे काफी ऊँची कीमतो पर बेचा गया।

(४) गेहूँ के थोक व्यापार की सरकारी अधिग्रहण योजना की सबसे बड़ी खामी (कमजोरी) की रूपरेखा मे ही विद्यमान है। योजना का वर्तमान स्वरूप विवेकहीन तथा दोषपूर्ण है। ऐसा लगता है कि सरकार स्वयं योजना को सफल होता देखना नही चाहती थी या वह निहित स्वार्थ वाले तत्वो से प्रभावित हो चुकी थी। वास्तव में योजना की असफलता के अकुर योजना के निर्माण के साथ ही बो दिए गए थे। प्रथम यह कि निर्मित योजना का लक्ष्य बिकाऊ गेहूँ (विक्रेय अधिशेष अर्थात् जो माल मडी मे लाया जाए : मार्केटेड ह्वीट) की वसूली का रखा गया, सारे विक्रेय अधिशेष (मार्केटेबिल सरप्लस) को खरीदने का नही था।

अनुमान यह था कि बिकाऊ गेहूँ कुल विक्रेय अधिशेष का ७० प्रतिशत होगा। इस प्रकार कृषक शेष ३० प्रतिशत गेहूँ को सीधे फुटकर व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ के पास बेच सकते थे। अत उत्पादको को अपने फालतू अनाज के निकास का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम मिल गया। पिछले वर्षों में जब थोक व्यापार निजी व्यापारियो के हाथ मे था, सरकार पजाब व हरियाणा मे कुल विक्रेय अधिशेष के ८५ प्रतिशत भाग तक की वसूली आसानी से कर लिया करती थी। यद्यपि वर्तमान योजना मे थोक निजी व्यापारियों को समाप्त कर दिया गया है परन्तु इसने देश मे एक नए कृषक-व्यापारी वर्ग को जन्म दिया है। योजना मे धनी जमीदारो के हितो की इस हद तक रक्षा की गई है कि वे बिना रोक-टोक सक्रियता से चोर बाजारी कर सकते है। उत्पादक अपने बढिया अनाज को वसूली कीमत से अधिक पर फुटकर व्यापारी तथा उपभोक्ता के पास बेच सकता है जबकि दूसरी ओर वह नियत वसूली कीमत की प्राप्ति से आश्वस्त है चाहे उसके अनाज की क्वालिटी घटिया ही क्यो न हो। उसे यह भी पता है कि प्रतिवर्ष अक्तूबर, नवम्बर मे गेहूँ के भाव चढने शुरू हो जाते हैं। आरम्भ मे उन्होने वसूली कीमत को बढाने की माँग की। उन्हे यह ज्ञान था कि यदि सरकार द्वारा वसूली कीमत को न बढाया गया तो वे स्वय गेहूँ का व्यापार कर लेंगे। इसके अतिरिक्त वे अनाज को फुटकर व्यापारियो के पास भी बेच सकेंगे। वास्तव मे कृषक अनाज की जमाखोरी नही करते रहे बल्कि वे अपने अनाज को नए अनौपचारिक माध्यमो द्वारा बेचते रहे हैं। सरकार चोरबाजारो के गोदामो तक अनाज के पहुँच-मार्गों की मुँहबदी करने मे पूर्णतः असफल रही है।

(५) पिछले तीन चार वर्षों मे यह देखा गया है कि सरकार कृषि कीमत आयोग द्वारा सुझाई गई वसूली कीमतो (प्रोक्योरमेन्ट प्राइस) को समर्थित कीमतो (सपोर्ट प्राइस) के रूप मे लेती रही है। कृषकों की भी धारणा यही बन गई है। यहाँ वसूली कीमत तथा समर्थित या टेक कीमत के अन्तर को समझ लेना चाहिए। न्यूनतम समर्थित अथवा टेक कीमतें उत्पादकों के लिए एक प्रकार की दीर्घावधि गारन्टी हैं जिनमे यह आश्वासन दिया जाता है कि उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप बाजार में होने वाली अनाज की भरमार व बहुलता की स्थिति मे सरकार कीमतों को न्यूनतम आर्थिक स्तरो (अर्थात् समर्थित कीमतो) से नीचे नही गिरने देगी। दूसरी ओर वसूली कीमते वे कीमतें है जिन पर सरकार सार्वजनिक वितरण के लिए आवश्यक अनाज की मात्रा को खरीदती है और इनमे उत्पादको के लिए उचित उत्पादन प्रेरणाएँ भी सम्मिलित होती हैं। यही कारण है कि वसूली कीमत न्यूनतम समर्थित कीमतो से लगभग १० रु० प्रति क्विटल अधिक होती हैं। पिछले सालों मे कृषि कीमत आयोग गेहूँ की वसूली कीमत को कम करने की सिफारिश करता रहा है परन्तु सरकार ने आयोग के इन सुझावों को नही माना था यद्यपि आयोग का सुझाव ठोस आर्थिक आधार जैसे कि उत्पादन-लागत व सरकार द्वारा खाद्यान्न कार्यो मे बृहत् आर्थिक उपदान (सहायता) को ध्यान मे रख कर किया गया था। इसी बीच प्रतिकूल मौसम के समाचार सुनाई देने लगे जिसके कारण गेहूँ के भाव तेजी से बढने लगे। सरकार ने अपने भण्डारो को रियायती दरो पर देने का निर्णय किया जिनको अधिकाश व्यापारियो ने हड़प लिया। आयात के सौदे करने मे भी विलम्ब हो गया जिसके कारण ३०

से ४० प्रतिशत तक अधिक कीमत देनी पड़ी। निविष्टियों की कीमतों मे वृद्धि होने के फलस्वरूप उत्पादन लागत मे भी वृद्धि हो गई और कृषकों ने वसूली कीमत बढ़ाने की माँग की। जब सरकार ही वसूली कीमत को न्यूनतम समर्थित कीमत मानने लगे तो कृषकों द्वारा १०-१५ रुपये अधिक कीमत की माँग करना स्वाभाविक ही है। सरकार कृषक वर्ग के भ्रामक प्रचार का तर्कसंगत उत्तर देने में असफल रही है। सरकार स्थिति से दक्षतापूर्वक नहीं निपट सकी जिसके कारण सरकार व देश मे आतंक का वातावरण उत्पन्न हो गया है और निर्धन लोगों की सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था से खाद्यान्न प्राप्त करने की सब आशाएँ धूमिल हो गई हैं।

(६) सरकार की सबसे बड़ी भूल यह रही है कि उसने केवल गेहूँ के थोक व्यापार का ही अधिग्रहण किया और अन्य फसलों को, विशेषकर मोटे अनाजों को जो कि निर्धनतम वर्गों का आहार हैं, इस स्कीम से बाहर छोड़ दिया गया। अत. इस आंशिक अधिग्रहण तथा अनाज की समग्र कमी के कारण ऐसी असाधारण स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें मोटे अनाज की कीमतें गेहूँ की वसूली कीमत से बहुत अधिक हो गई। उदाहरणार्थ मई, १९७३ के आरम्भ मे, पंजाब तथा हरियाणा की मंडियों में चना १३० रु० से १४० रु० प्रति क्विंटल पर बिक रहा था, जौ का भाव १०० रु० से ११० रु० था जबकि पिछले वर्ष उनका भाव क्रमश: ८० रु० तथा ५० रु० प्रति क्विंटल था। ऐसी स्थिति मे कृषक से गेहूँ ७६ रु० प्रति क्विंटल पर माँगा जा रहा था। कृषक इतना अविवेकी तथा मूर्ख नहीं कि इतने कम दामों पर गेहूँ को बेचे। १० रु० प्रति क्विंटल का मामूली विलम्बित कीमतेतर बोनस (नान प्राइस बोनस) या प्रोत्साहन उसको प्रभावित नहीं कर सकता था। आंशिक अधिग्रहण से उपजात कीमत अनियमितताओं ने केवल कृषकों तथा व्यापारियों को एक साथ इकट्ठा करने मे ही सहायता नहीं की बल्कि व्यापारियों के लिए वैकल्पिक लाभदायक संभावनाएँ व अवसर भी प्रदान किए हैं। मोटे अनाज के व्यापार मे लाभ काफी आकर्षक था और व्यापारी वर्ग इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। उदाहरण के रूप में मई के आरम्भ में हापुड़ मे बाजरे का भाव १०५ रु० प्रति क्विंटल था जबकि बम्बई मंडी मे इसका भाव १८५रु० से १९०रु० तक था। इसी प्रकार मक्का का हापुड़ मे भाव ७४ रु० प्रति क्विंटल था जबकि बम्बई मे इसकी कीमत १५५ रु० से १६० रु० तक थी। जहाँ एक ओर व्यापारियों ने, उपभोक्ताओं के तथाकथित हित मे, मोटे अनाज का व्यापार न करने की धमकी को वापस ले लिया, वहाँ दूसरी ओर सरकार ने (जिसने यह आंशिक अधिग्रहण, निर्धनतम वर्गों के तथाकथित हित के उद्देश्य से किया था) उनको व्यापारियों की रहमोकरम पर छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त व्यापारी लोग मोटे अनाज की आड़ मे गेहूँ का गुप्त व्यापार करने की संभावना की अनदेखी भी नहीं कर सकते थे।

पूर्णतः उलट पलट कीमत असमताएँ ही गेहूँ की ऊँची वसूली कीमत की माँग का मुख्य कारण हैं। इस माँग का अनेक राज्य सरकारों ने भी समर्थन किया परन्तु इस माँग को अस्वीकार कर दिया गया। एक कृषक गेहूँ को मोटे अनाज की कीमतों से काफी कम कीमत पर बेचने के लिए कैसे राजी हो सकता है जबकि मोटा अनाज घटिया माना जाता है और गेहूँ की अपेक्षा इसकी उत्पादन लागत भी कम होती है। मोटे अनाज की ऊँची कीमतें कृषक

के लिए वरदान सिद्ध हुई हैं और वह उनका पूरा पूरा लाभ उठा रहा है। यहाँ तक कि पशुओं को खिलाने तथा मजदूरों को जिन्स मजदूरी देने के लिए रखा गया मोटा अनाज भी मंडियो मे विक्रय के लिए भेजा जा रहा है। इस प्रकार मोटे अनाज के उपभोक्ता निर्धन वर्ग को एक और दिशा से भी क्षति हो रही है। सरकार के इस आंशिक कदम से निर्धन वर्ग की समस्याओ मे वृद्धि हुई है और उनकी स्थिति पहले से भी अधिक बिगड़ गई है। यदि यह कदम सरकार ने निर्धन व कमजोर लोगो को व्यापारियो के शोषण से बचाने के लिए उठाया था, तो वह इसमे सफल नही हो सकी।

(७) अधिग्रहण-योजना की असफलता का एक प्रमुख कारण सही व स्पष्ट दिशा निर्देश तथा सचालन-विवरण का अभाव भी था। अनिवार्य उगाही, वसूली (समाहरण) कीमत, कानूनी राशनिग, फुटकर व्यापारियो का बिक्री भाव, कृषक के लिए कीमतेतर प्रेरणाएँ (नॉन प्राइस इनसेंटिव्ज) कृषको तथा व्यापारियो पर लगाए जाने वाले प्रतिबध आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर सरकारी अस्थिरता का उन दिनो दिए गए केन्द्रीय तथा राज्य मन्त्रियो के परस्पर विरोधी कथनो से स्पष्ट पता चलता है। किसी ठोस तथा स्पष्ट ढाँचे की अनुपस्थिति मे कुशल से कुशल प्रशासको के लिए भी योजना को ठीक प्रकार से कार्यान्वित करना कठिन होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि गेहूँ के व्यापार की अधिग्रहण-योजना के निकृष्ट निष्पादन के लिए व्यापारी, कृषक, उपभोक्ता तथा सरकार सयुक्त रूप में जिम्मेदार हैं। परन्तु सरकार को अधिग्रहण-योजना बनाते समय इन सब तत्त्वो के समावित व्यवहार तथा प्रतिक्रिया को ध्यान मे रखना चाहिए था। जैसी वर्तमान स्थितियाँ हैं, अधिग्रहण की सापेक्ष असफलता यद्यपि निश्चित रूप से चिन्ता की बात है परन्तु किसी भी तरह आश्चर्य की बात नही।

ध्यान रहे कि राशन अथवा उचित कीमत वाली दुकानो के माध्यम से अन्न-वितरण-प्रणाली बहुत सीमित है। देहात मे निर्धन लोग तो खुले बाजार से ही अनाज खरीदते है। शहरो मे भी राशन की व्यवस्था सन्तोषप्रद नही। अतएव शहर के लोग भी अपनी आवश्यकताओ के बडे भाग की पूर्ति खुले बाजार से ही करते हैं चाहे वहाँ अनाज किसी भाव पर मिले। अतः जबतक सरकार कृषकों से सारा विक्रेय अधिशेष खरीदने या वसूल करने में समर्थ नही होती और उसकी वितरण-व्यवस्था पूर्ण सक्रिय तथा सक्षम नही बन जाती, तब तक दोहरी बाजार व्यवस्था ही उपयुक्त है। वास्तव मे, इसके बिना कोई चारा ही नही। वितरण-व्यवस्था को हाथ मे लेने से प्रशासन-व्यय मे भारी वृद्धि स्वाभाविक है। इसकी आर्थिक प्रतिक्रिया को भी ध्यान मे रखना होगा। पर्याप्त प्रबन्ध किए बिना थोक व्यापार का अधिग्रहण उचित नही।

परन्तु क्या सरकार अपनी नीति मे परिवर्तन करने का साहस बटोर सकेगी और अनुकूल समय आने तक प्रतीक्षा कर सकेगी? खाद्यान्न-नीति को, जिसके दक्ष सचालन पर असख्य निर्धन लोगो का जीवन निर्भर है, प्रतिष्ठा का प्रश्न नही बनने देना चाहिए। आर्थिक समस्याओ को विशुद्ध आर्थिक आधार पर ही हल करना चाहिए। गलत नीतियों को सुधारने मे कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिए। परन्तु यदि सरकार यह समझती है कि उसे अनाज

के थोक व्यापार को अपने हाथों मे लेने की नीति पर अटल रहना चाहिए–मतलब यह कि चावल के थोक व्यापार का भी राष्ट्रीयकरण होना चाहिए तो सरकार को उपरोक्त खामियों को दूर करने के लिए हर प्रयास करना होगा। उस स्थिति मे हर नागरिक के लिए उचित कीमत पर अनाज की उचित मात्रा की व्यवस्था करना केवल मात्र सरकार की जिम्मेदारी होगी। हाँ, इतनी बड़ी जिम्मेदारी लेने से पहले सरकार को पूरी तरह ठडे दिमाग से सोच विचार कर लेना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि लोगो के लिए निर्धारित उचित दाम इतने कृत्रिम न हों कि उन्हे बनाए रखने के लिए खजाने पर अधिक बोझ डालना पड़े जो हानि-कारक स्फीती-परिस्थितियों को जन्म दे। ज्ञातव्य हो कि सरकार ने खरीफ की वसूली के लिए धान की वसूली कीमत ५६ रु० से बढा कर ६३ रु० प्रति क्विटल करदी है। परन्तु कीमत बढ़ाना ही काफी नही। अन्य उपाय भी कड़ाई से लागू करने होगे। सरकारी खाद्य नीति के और अधिक अध्ययन के लिए अध्याय १० के अतिम चार परिच्छेद भी देखें।

अनुलेख—भारत सरकार ने हाल ही मे १९७४–७५ की रबी ऋतु के लिए अपनी खाद्य नीति मे परिवर्तन कर लिया है। थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण की नीति को छोड़ दिया गया है। अब व्यापारी गेहूँ का थोक व्यापार कर सकेंगे परन्तु पजाब, उतरप्रदेश, *हरियाणा, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान मे उन्हे खरीदे गए गेहूँ का ५० प्रतिशत सरकार को* १०५ रुपये प्रति क्विटल पर देना पड़ेगा।

अध्याय १०

कृषि-कीमतें तथा कीमत-नीति

१०.१ आर्थिक सवृद्धि की सकल्पना

पिछले अध्यायो मे हमारे विवेचन से सुस्पष्ट है कि उत्पादन के विभिन्न उपादानो की उत्पादन-दक्षता मे चहुँमुखी सुधार तथा प्रमुख प्रौद्योगिकीय परिवर्तन व नवक्रियाएँ कृषि क्षेत्रक के रूपातरण तथा द्रुतविकास के लिए बहुत जरूरी हैं। कृषि-क्षेत्रक की सफलता का माप इसके आर्थिक सवृद्धि मे योगदान की सीमा द्वारा निर्धारित होता है। आर्थिक सवृद्धि विशेषकर के उच्च जीवन-स्तर, उन्नत आहार तथा आवास, बेहतर शिक्षा, उन्नत चिकित्सा, परिवहन तथा सचार-सुविधाओ, ग्राम-विद्युतीकरण तथा सामान्य कल्याण सबधी अन्य अभिलाषाओं से प्रकट होती है। सक्षेप मे, आर्थिक सवृद्धि आय मे वृद्धि को बतलाती है और सामान्यत उपभोग के बेहतर स्वरूप मे परिलक्षित होती है। कृषि क्षेत्रक तभी दक्ष कहलाएगा जबकि वह 'स्थिरता-सहित आर्थिक सवृद्धि' को सुनिश्चित कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि उच्च उत्पादन-दक्षता उच्च आय में परिणत होनी चाहिए, तभी यह कृषको की आर्थिक स्थिरता मे योगदान दे सकती है। अन्य शब्दो मे, कृषक की अपनी आय को बढाने की कुशलता तथा योग्यता ही उसकी आर्थिक स्थिरता को लाती है।

आर्थिक स्थिरता के ध्येय की प्राप्ति कृषकों को आर्थिक प्रेरणाओ की उपलब्धता तथा इन प्रेरणाओ के प्रति उनकी सकारात्मक अनुक्रिया पर निर्भर है। कृषको को अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। अतः यह सरकार का कर्त्तव्य है कि वह कृषको की अपनी आय को बढाने और स्थिर करने हेतु उपायो को अपनाने मे सहायता करे तथा उनका अधिक उत्पादन करने हेतु मार्गदर्शन करे ताकि वे आर्थिक स्थिरता प्राप्त कर सकें। आर्थिक स्थिरता कृषको की, उपलब्ध ससाधनो का दक्षता से आवटन करने मे, सहायता करती है और फलस्वरूप उनकी उत्पादन-दक्षताओं का सवर्द्धन करती है और वाछनीय आय-सुरक्षा को सुनिश्चित करती है। वास्तव मे कृषकों की उत्पादन-दक्षता, आय-सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता निकट रूप से सम्बद्ध हैं तथा आर्थिक सवृद्धि के प्रक्रम के अनिवार्य अग (पाट) हैं। कृषक की आय-सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता, अपने व्यापक सदर्भों मे, कृषि-कीमतो, कृषि वित्त तथा उधार की उपलब्धता तथा खेती के पैमाने से सम्बन्धित हैं और उनके द्वारा प्रभावित होती हैं।

हम अगले कुछ पृष्ठो मे कृषि-विकास मे कृषि-कीमतो के कार्यों व महत्त्व तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अभीष्ट कीमत-नीति का विवेचन करेंगे। यह ध्यान रहे कि कृषक की उपज का उचित तथा तर्कसंगत प्रतिफल ही उसकी स्थिति को सुदृढ़ तथा सुरक्षित बना सकता है और उसे अपने भावी उत्पादन का विवेकपूर्ण ढग से आयोजन करने के योग्य

बना सकता है । इस सदर्भ मे कृषि-कीमतो का प्रसग महत्त्वपूर्ण है ।

१०.२ कृषि-कीमतों के कार्य

कृषि-कीमतें अनेक कार्य सम्पन्न करती हैं जिनमे से कुछ एक आर्थिक सवृद्धि के प्रक्रमों के लिए विशेष महत्त्व के हैं । कृषि-कीमतो के मुख्य कार्य ये हैं :—

(क) कीमत-आय-वितरक के रूप में—कृषि-कीमतें केवल विभिन्न व्यक्तियो तथा आय वर्गों में आय वितरण मे ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी कार्य नही करती बल्कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रको मे भी आय-वितरण को प्रभावित करती हैं । कृषि-कीमतो मे परिवर्तन सब वर्ग के लोगों—उत्पादकों एव उपभोक्ताओ—को प्रभावित करती हैं । उत्पादको की आय उनके द्वारा विक्रय (विके : मार्केटेड) माल अर्थात् उपज के उस भाग के अनुपात मे प्रभावित होती है जो वे बाजार में बेचते हैं । दूसरी ओर, उपभोक्ताओ की वास्तविक आय उनकी आय के उस भाग के अनुपात मे प्रभावित होगी जो वे कृषि-पदार्थों पर व्यय करते हैं । अतः कीमतो मे वृद्धि लघु कृषक की (जो उपज का बहुत कम भाग विक्रय के लिए बचा सकता है) अपेक्षा बृहत् उत्पादक (जिसके पास काफ़ी विक्रेय अधिशेष होता है) के लिए बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध होती है । निम्न आय नगरीय उपभोक्ता अपनी आय का अधिकांश भाग खाद्य पदार्थों की खरीद पर व्यय करते हैं और कृषि-कीमतों मे वृद्धि से उनकी वास्तविक आय में काफी कमी होगी । हो सकता है कि बढ़ती हुई कीमतो के फलस्वरूप उन्हे अपनी घरेलू खपत मे कमी करनी पड़े जो बिल्कुल वांछनीय नही है । कृषि-कीमतो मे वृद्धि आय का कृषीतर क्षेत्रक (नॉन-एग्रीकल्चरल सैक्टर) से कृषि-क्षेत्रक की ओर कृषि-पदार्थों के विपणन के अनुपात मे अतरण करती है । कीमतों मे गिरावट हर प्रकार के कृषको को क्षति पहुँचाती है क्योंकि इससे सब वर्गों की आय स्तर मे कमी होती है । लघु कृषक निर्वाह मात्र के लिए भी आय प्राप्त नही कर सकते । कीमत मे मामूली सा परिवर्तन भी ऐसे कृषको को गम्भीर संकट मे डाल सकता है और उनकी चालू पूँजी को कम कर सकता है । लघु जोतदारो तथा भूमिहीन कृषको की बहुत बड़ी सख्या को कीमतों मे वृद्धि के कारण कष्ट उठाना पड़ता है क्योंकि उन्हें सारा वर्ष नकद खाद्य पदार्थ खरीदने होते हैं । अत खाद्यान्नों की ऊँची कीमतें कृषको की अपेक्षा व्यापारियों के लिए अधिक लाभप्रद हैं । सक्षेप मे, कृषि-कीमतों मे परिवर्तन कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रकों मे आय-वितरण पर विरोधी प्रभाव डालते हैं ।

(ख) कीमत-पूँजी-निर्माण के उद्दीपक के रूप में—कृषि कीमतें सवृद्धि के लिए अतिरिक्त ससाधनों के उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण योग देती है । वे इस कार्य को पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करके निभाती हैं । ऊँची कीमतों के परिणामस्वरूप उत्पादन का मूल्य बढ जाता है और निवेश के अधिक प्रतिफल प्राप्त होते हैं । इससे बचत तथा निवेश-दरें तेज हो जाती हैं । ऊँची कीमतों के फलस्वरूप प्राप्त ऊँची आय कृषक की बचाने तथा उधार लेने की क्षमता को बढाती है, उसे अधिक उधार पात्र बनाती है और इस प्रकार अधिक निवेश को प्रोत्साहित करती है । यह ध्यान रहे कि आय मे वृद्धि सदैव अधिक बचत या निवेश का कारण नही बनती । लघु कृषक जिनके पास बहुत कम विक्रेय अधिशेष होता है, अपना पेट काटकर बचत करने की अपेक्षा अपने उपभोग स्तर मे वृद्धि करने की ओर अधिक प्रवृत्त होंगे । उन कृषको

की आय में जिनके पास काफी अधिक विक्रेय अधिशेष होता है (अर्थात् जो अपनी उपज का काफी बड़ा भाग बेचते हैं), काफी अधिक आनुपातिक वृद्धि होगी जिससे वे अपनी बचत-निवि को बढ़ा सकेंगे। संक्षेप मे, कृषि-क्षेत्रक मे निवेश मे वृद्धि उपज उस अनुपात पर निर्भर है जो बाज़ार में बेचा जाता है अर्थात् कृषि क्षेत्र मे निवेश मे वृद्धि विक्रेय (बिकाऊ) पण्यों द्वारा प्रभावित होती है।

इसकी तुलना मे, ऊँची कृषि-कीमतें औद्योगिक क्षेत्रक में निवेश पर विरोधी प्रभाव डालती है। बढती हुई खाद्य-कीमतें नगरीय क्षेत्रो मे निर्वाह खर्च बढा देती हैं जिससे राजनैतिक अशांति उत्पन्न होती है और फलस्वरूप नकद मज़दूरी पर उपरिमुखी दबाव पड़ता है। विनिर्माण उद्योग मे ऊँची मज़दूरी तथा ऊँची कच्चा माल-लागतें उत्पादन-लागतो को बढाती हैं और औद्योगिक लाभो का अधिसकुचन करती हैं जिससे औद्योगिक क्षेत्रक की लाभकारिता कम हो जाती है और परिणामस्वरूप इस क्षेत्रक मे बचत तथा निवेश-दरें मद हो जाती हैं। बढती हुई खाद्य कीमतें सेवा-क्षेत्रक मे नकद मज़दूरी पर सरकारी व्यय मे वृद्धि करती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक सवृद्धि को बढ़ावा देने हेतु उपलब्ध सरकारी निधियो मे कमी हो जाती है। निम्न-आय नगरीय उपभोक्ताओ के लिए रियायती दरो पर अनाज नगरीय क्षेत्रो मे निर्वाह खर्च को कम करने मे सहायक हो सकता है तथा इस प्रकार **उच्च लोचदार श्रम-पूर्ति** की परिस्थितियों के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो से अधिक *श्रमिको का आकर्षण करके मज़दूरी-वृद्धि की पेशबदी की जा सकती है।* इससे औद्योगिक लाभो मे वृद्धि होगी और इन क्षेत्रको मे बचत तथा निवेश-दरें बढ जाएँगी।

कीमतो मे वृद्धि होने पर कृषक कृषीतर क्षेत्रक मे उत्पादित निविष्टि कारकों का अधिक उपयोग करने की ओर प्रवृत्त होगे क्योंकि उन्हे इस निवेश से उचित लाभाश प्राप्त होने की आशा होगी। उच्च कृषि-कीमतो के परिणामस्वरूप निविष्टि-उपदानो की माँग में यह वृद्धि इन उद्योगों मे निवेश के पक्ष मे जाएगी। परन्तु ऐसा केवल अल्पावधि के लिए हो सकता है क्योंकि इन उद्योगो मे सीमात उत्पादन-लागत बढ़ने पर लाभ अन्ततः अवश्य कम हो जाएँगे। इसी प्रकार कृषि-क्षेत्रक मे ऊँची आय के कारण कृषीतर-क्षेत्रक मे उत्पादित माल की माँग भी बढ़ जाएगी जिसके फलस्वरूप इन उद्योगो मे भी केवल अल्पावधि के लिए ही निवेश को प्रोत्साहन मिल सकेगा।

हमे अपने वर्तमान अध्ययन के लिए इन वस्तुओ की बढी हुई माँग के फलस्वरूप इनकी कीमतो मे वृद्धि के परिणामो तथा प्रभावो का विवेचन करने की आवश्यकता नही क्योंकि यहाँ हमारा सम्बन्ध अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रको मे कीमतो के सापेक्ष, कृषि-कीमतो में परिवर्तन तथा उनके स्तर से है।

(ग) कीमत-संसाधनों के आवंटक के रूप में—कृषि-कीमतो में सापेक्ष परिवर्तन समस्त कृषि-उत्पादन को कहाँ तक प्रभावित करते हैं और वे कृषि-पण्यों के उपभोग पर कैसा प्रभाव डालते हैं, ये कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषय है जिन पर सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। अतः अब हम कृषि-क्षेत्रक की समस्त पूर्ति तथा माँग-अनुक्रिया का अध्ययन करेंगे। इससे पूर्व हमे **कीमत-पूर्ति-लोच** तथा **कीमत-माँग-लोच** की परिभाषाओ को समझ लेना चाहिए।

किसी वस्तु की कीमत मे निर्दिष्ट परिवर्तन होने से जिस अनुपात मे उसकी पूर्ति मे परिवर्तन होता है, वह उसकी कीमत-पूर्ति लोच कहलाती है। अर्थात् किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी पूर्ति (अर्थात् उसके उत्पादन या क्षेत्रफल) में आनुपातिक परिवर्तन को **कीमत-पूर्ति-लोच** कहते हैं। तथा किसी वस्तु की कीमत में निर्दिष्ट परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी क्रीत मात्रा (अर्थात् उसके उपभोग) मे होने वाले आनुपातिक परिवर्तन को उसकी **कीमत-मांग-लोच** कहते हैं।

परम्परागत कृषि मे, क्षेत्रफल के एक बहुत बडे भाग मे प्रमुख खाद्य फसलें उपजाई जाती हैं *और इन फसलो के क्षेत्र मे और अधिक विस्तार करने की सीमा बहुत सीमित है।* उदाहरणतः भारत में कुल फसल क्षेत्र के ७५ प्रतिशत भाग मे खाद्य फसलें बोई जाती हैं। कृषकों की बहुत बड़ी संख्या क्रीत निविष्टियो का उपयोग करने मे समर्थ नही है। न ही अन्य क्षेत्रो मे (या अन्य क्षेत्रो से) श्रम-अंतरण की काफी सभावनाएँ मौजूद हैं। अतः सापेक्ष कीमत-परिवर्तनो के फलस्वरूप समस्त पूर्ति-अनुक्रिया बहुत ही कम है। इस स्थिति के लिए अन्य कारण भी हैं। **कृषकों की जोतें बहुत छोटी हैं जिनसे उन्हें बहुत कम आय प्राप्त होती है। वे सदा विभिन्न प्रभारों जैसे भू-राजस्व (माल गुजारी), कर, बीज, अनाज तथा यन्त्र खरीदने के लिए लिये गए ऋण तथा अन्य उत्तरदायित्वों से दबे होते हैं और वे कीमतें गिरने पर अपने सामान्य उत्पादन को कम नहीं कर सकते।** इसलिए अल्प-विकसित देशों में **न्यून-पूर्ति-लोच** *अशत कृषको की परिस्थितियो तथा अभिवृत्तियो के कारण और अशतः कृषि के* विशिष्ट स्वरूप व प्रकृति के कारण होता है। कृषक भलीभाँति जानते हैं कि उनकी न्यून आय मे और अधिक कमी उन्हे और अधिक दीन बना देगी। इसलिए कीमतो के गिरने पर भी उनका यही प्रयास होगा कि उत्पादन को कम करने की बजाय, उत्पादन को बढाएँ ताकि वे अपने आय-स्तरो को बनाए रख सकें। कीमतों के चढ़ने पर भी, कृषक अपनी बढ़ी हुई आय का उपयोग आधुनिक निविष्टियो के खरीदने पर नही कर सकते क्योंकि पहले वे अपने ऋणों तथा दायित्वो को चुकता करना चाहेंगे। इससे उनका उत्साह मंद हो जाता है और आय-वृद्धि उन्हे कोई तात्कालिक प्रेरणा नही दे पाती।

इसके अतिरिक्त फसल तैयार होने में समय लगता है और किसी भी कृषि-पदार्थ की *पूर्ति को अल्प अवधि मे नही बढ़ाया जा सकता क्योंकि उत्पादन सम्बन्धी निर्णय वास्तविक* सप्लाई से बहुत पहले लेने होते हैं। कृषि-पदार्थ सामान्यतः विनाशशील होते है और उनके एक बार उत्पादन होने पर उनकी सप्लाई को रोके नही रखा जा सकता। न ही कृषको के पास भडार को रोक कर रखने की शक्ति या क्षमता है। **संक्षेप में हम कह सकते हैं कि *निर्वाहमात्री फसलों की पूर्ति-लोचें न्यून होती हैं।*** *कुछ दशाओ मे कुछ फसलो, विशेषकर* कपास, पटसन और गन्ना जैसी व्यापारिक फसलो की पूर्ति-लोचें ऊँची होती हैं परन्तु सापेक्ष कीमत-परिवर्तनो के प्रति यह उच्च पूर्ति-अनुक्रिया प्रमुख खाद्य फसलो की कीमत पर होगी जिसका परिणाम यह होता है कि **समस्त पूर्ति अनुक्रिया अपेक्षाकृत कम होती है।** इसका अर्थ यह है कि कीमत-परिवर्तन समस्त कृषि-उत्पादन को बहुत अधिक प्रभावित नहीं करते।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऊँची कीमतें अकेले कृषि-उत्पादन मे वृद्धि नही ला सकतीं, जबतक उनका काफी हद तक आय-प्रभाव न हो और जब तक वे सिंचाई कुओं व

भू-सुधार आदि पूंजीगत सुधारो तथा आधुनिक निविष्टि कारकों में अधिक निवेश का साधन नही बन जाती । नीति के रूप मे **उच्च-कीमत निर्धारण द्वारा ऐसे प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों को बढ़ावा मिलना चाहिए जो प्रति इकाई उत्पादन-लागत कम करने और इस प्रकार लाभ कारिता (प्रोफिटेबिलिटी) को बढ़ाने में सहायक हों।** केवल इसी तरह कृषको को अपना उत्पादन बढाने के लिए प्रेरणा मिल सकती है। अन्यथा प्रो० राजकृष्ण के शब्दो के अनुसार ऐसी नीति ऋणात्मक सिद्ध होगी । वैसे इस कार्य को ऊंची कृषि-कीमतो की अपेक्षा उधार-सुविधाएँ अधिक अच्छी प्रकार से कर सकती है ।

ऊंची कीमते सभवतः कृषि-उत्पादन को बढा सकती हैं यदि वे श्रम की अधिक नियुक्ति को प्रोत्साहित कर सकें तथा कृषि पारिवारिक श्रम का विश्राम से कृषि कार्य की ओर अधिक अतरण ला सकें। यह तभी सभव है यदि कृषि रोजगार मे श्रम की सीमात उत्पादिताएँ सार्थक रूप मे धनात्मक हो । अत. कुछ अवस्थाओं मे चढती हुई कीमतों के कारण कृषि-उत्पादन मे अधिक श्रम के उपयोग की काफी सभावनाएँ होती हैं जिससे बेकारी तथा अल्प रोजगार कम करने के काफी अवसर प्राप्त होते हैं ।

इसके अतिरिक्त यदि अधिक कीमतो से ग्रामीण क्षेत्रक मे अधिक आय प्राप्त होती है तो इससे सरकार द्वारा किये जाने वाले विकास-प्रयासो को भी बढावा मिलेगा । क्योकि इससे सडको, बिजली सप्लाई, विस्तार, अनुसधान तथा कृषि मे प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की आधारिक सरचना के अन्य अशो मे अधिक निवेश की आवश्यकता होगी ।

किसी वस्तु की पूर्ति-अनुक्रिया केवल उस वस्तु की कीमत पर ही निर्भर नही रहती बल्कि उसके स्थानापन्न पदार्थों (सबस्टीट्यूट्स) की कीमत पर भी निर्भर होती हैं । अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल कीमत वाली फसलो के कुछ क्षेत्रफल के कम अनुकूल कीमत वाली फसलो की ओर अतरण की कुछ न कुछ सभावना तो अवश्य होती है । इस सदर्भ मे, **पूर्ति-अनुक्रिया का अर्थ, स्थानापन्न-पदार्थ की कीमत के सापेक्ष वस्तु की कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन या क्षेत्र में हुए परिवर्तन से होगा** तथा इसकी मात्रा (कोटि) पूर्ति मे स्थानापत्ति लोच (ईलास्टीसिटी आफ सबस्टीट्यूशन इन सप्लाई) द्वारा मापी जाती है । अत सापेक्ष कीमतों में निर्दिष्ट आनुपातिक परिवर्तन के फलस्वरूप सापेक्ष उत्पादन या क्षेत्र मे आनुपातिक परिवर्तन को **वस्तु की पूर्ति की स्थानापत्ति लोच** कहते हैं और इस सम्बन्ध को निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया जाता है :

$$\frac{A_x}{A_y} \text{ या } \frac{O_x}{O_y} = a + b\,\frac{P_x}{P_y}$$

अर्थात् $$\frac{\text{'क' फसल के क्षेत्र मे परिवर्तन}}{\text{'ख' फसल के क्षेत्रें में परिवर्तन}} \text{ या } \frac{\text{'क' फसल के उत्पादन मे अन्तर}}{\text{'ख' फसल के उत्पादन मे अन्तर}}$$

$$= \text{अ} + \text{ब} \times \frac{\text{'क' फसल की कीमत मे परिवर्तन}}{\text{'ख' फसल की कीमत मे परिवर्तन}}$$

अत. सापेक्ष कीमतो मे परिवर्तन से स्पर्धी फसलों के क्षेत्र मे भी परिवर्तन होगे । इससे पता चलता है कि कृषि-कीमतो मे परिवर्तनो का कृषि पण्यो के बीच ससाधनो के आवंटन पर काफी प्रभाव पड़ता है । ससाधनो का पुनः आवंटन परिवर्ती पूर्ति-लोचो द्वारा निर्धारित

होता है जो सापेक्ष लाभकारिता तथा विभिन्न स्थानों या समयों मे स्थित भौतिक, आर्थिक तथा कृषि सम्बन्धी (मृदा, जलवायु, स्थलाकृति, कृषि के प्रकार आदि) परिस्थितियो पर निर्भर है।

दूसरी ओर निम्न आय वाले देशों मे खाद्यान्नों के लिए कीमत-माँग-लोच काफी ऊँची होती है। विशेषकर कृषि-पण्यों की समस्त माँग के संदर्भ मे तो ऐसा ही है। आनुभाविक साक्ष्यो से पता चलता है कि बढती हुई कीमतें कृषि-पण्यों के उपभोग पर, विशेषकर निम्न आय वर्गों द्वारा उपभोग पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। भारत मे खाद्यान्नों की अनुमानित कीमत-माँग-लोच — ०.५५ है। इससे स्पष्ट है कि निर्धन वर्गों को बढती हुई कीमतों के फलस्वरूप अनाज के उपभोग को कम करना पडता है। यह कथन इस तर्क से सगत है कि अनाज की कीमतों मे वृद्धि होने से निम्न आय वाले उपभोक्ताओं की वास्तविक आय काफी कम हो जाती है और वे अपने पहले वाले घटिया आहार की और घटी हुई मात्रा खरीदने पर बाध्य होते हैं। समाज कल्याण की दृष्टि से निर्धन वर्गों के लिए खाद्यान्न की माँग काफी बेलोच होनी चाहिए।

१०.३ देशीय व्यापार-स्थिति तथा आर्थिक विकास

कृषि कीमतों मे सापेक्ष उतार-चढाव का विश्लेषण करके ही हम कृषि तथा उद्योग क्षेत्रकों मे व्यापार की स्थिति मे परिवर्तन का निर्धारण कर सकते हैं तथा अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्रक से दूसरे क्षेत्रक मे आय के अन्तरणो का अध्ययन कर सकते है। कृषि-कीमतो मे सापेक्ष उतार-चढाव पूँजी-निर्माण तथा ससाधनो के आवटन और आर्थिक संवृद्धि के स्वरूप व दर के निर्धारण को प्रभावित करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। कृषि तथा औद्योगिक कीमतो मे सबधो का अध्ययन उत्पादन के स्वरूप तथा स्तर के निर्धारण में सहायक है तथा सापेक्ष लाभकारिता को प्रभावित करता है।

सारणी १२ १ भारत मे १९६०-६१ से १९६९-७० की अवधि मे उद्योग मे कीमतो के सापेक्ष कृषि-कीमतो मे उतार-चढाव को दर्शाती है। सापेक्ष कीमते एक श्रेणी के थोक-कीमतो के सूचकाकों को दूसरी श्रेणी के सूचकाको द्वारा विभाजित कर प्राप्त की जाती हैं। यह अनुपात दोनों क्षेत्रको मे कीमतो के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

आँकडो के परीक्षण से स्पष्ट है कि १९६० से १९६३ तक की अवधि मे कृषि-कीमतें अपेक्षाकृत गिरी हैं अर्थात् कृषि कीमतो मे कृषीतर कीमतो की अपेक्षा कमी हुई है। विशुद्ध कीमत के विचार से यह कमी उद्योग क्षेत्रक के विकास के लिए अधिक अनुकूल दशा तथा कृषि-उत्पादन के प्रोत्साहन के लिए कम अनुकूल दशा की द्योतक है। १९६३ से १९६९ तक की अवधि मे कृषि-पण्यो की सापेक्ष कीमतो मे वृद्धि हुई है, जिससे इस बात का आभास मिलता है कि इस अवधि मे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हेतु कीमत प्रेरणा काफी होती रही होगी। एक ही साथ मजदूरी तथा लाभो पर बढ़ते हुए दबाव ने व्यापार की स्थिति को उद्योग क्षेत्रक से हटा कर कृषि क्षेत्रक के पक्ष मे कर दिया होगा। सरकारी चालू-व्यय का नियतन उद्योग क्षेत्रक की अपेक्षा कृषि क्षेत्रक के अधिक अनुकूल होना चाहिए। वास्तव मे मुद्रा सप्लाई भी विभिन्न वस्तुओ की कीमतो मे उतार-चढ़ाव का एक कारण है।

सारणी १०१ समस्त कृषि तथा उद्योग में सापेक्ष कीमतों के आकलन : १६६०-६१ से
(१६५२-५३=१००)

वर्ष	कीमत सूचकांक			अनुपात	
	कृषि	उद्योग	कच्चा माल	कृषि/उद्योग	कच्चा माल/उद्योग
१	२	३	४	५	६
१६६०-६१	१२३	१२४	१४५	६६.२	११६.६
१६६१-६२	१२३	१२७	१३७	६६.६	१०७.६
१६६२-६३	१२३	१२६	१३७	६५.३	१०६.२
१६६३-६४	१३१	१३१	१५६	१०० ०	११६.१
१६६४-६५	१५६	१३७	१६३	११३.६	११६.०
१६६५-६६	१६६	१४६	१८६	११३.४	१२६.८
१६६६-६७	१६६	१६३	२२६	१२२ १	१४०.५
१६६७-६८	२२१	१६६	२१६	१३३.१	१३१ ६
१६६८-६६	२१०	१६६	२२४	१२४.३	१३२ ५
१६६६-७०	२२८	१८३	२५७	१२४.६	१४०.४

स्रोत रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया तथा आर्थिक सलाहकार कार्यालय पर आधारित

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि व्यापार स्थिति-विनिर्माण (अर्थात् उद्योग) की तुलना में औद्योगिक कच्चे माल के प्रति अधिक अनुकूल रही है। यह ध्यान रहे कि विनिर्माण की कीमतें उनके कच्चे माल की कीमतों से सम्बद्ध हैं और औद्योगिक कच्चे माल की फसलों का इस तुलना में विशेष महत्त्व है। विनिर्माण के विरुद्ध औद्योगिक कच्चे माल के पक्ष में व्यापार-स्थिति के होने का अर्थ है—ऊँची लागतें, जिनका परिणाम लाभों तथा निवेश-सम्भाव्यताओं का कम होना है। अत जहाँ कच्चे माल की उच्च उपनति (हायर ट्रैण्ड ऑफ रॉ मैटिरियल्स) औद्योगिक माल की सापेक्ष कीमत को बढाने की ओर प्रवृत्त होती है, वहाँ दूसरी ओर मुद्रा-पूर्ति (सप्लाई) का सकुचन इन कीमतों को नीचे लाता है। ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की विपरीत दिशा में काम करती हैं और सापेक्ष कीमतों में नेट शेष प्रभाव के लिए जिम्मेदार हैं। औद्योगिक कीमतों के सापेक्ष कच्चे माल की फसलों की ऊँची कीमतें कृषि-आय के लिए लाभदायक हैं। कृषि-क्षेत्रक अपनी फालतू आय का उद्योग-क्षेत्रक में अतरण करके उद्योग-क्षेत्रक के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है। इस प्रक्रम को तेज़ करने के लिए सरकार कृषि-आय पर कर लगा सकती है और इस प्रकार प्राप्त राजस्व का औद्योगिक पूँजी निर्माण के लिए उपयोग कर सकती है। साथ ही कृषक को अधिक बचत करने और अपनी बचतों को सीधे उद्योग क्षेत्रक में निवेशित करने के लिए भी प्रेरित करना चाहिए।

१०.४ कृषि-उत्पादन, कीमतें तथा आय

पिछले परिच्छेद में हमने कीमत-परिवर्तनों के आय-प्रभावों का विवेचन किया है।

परन्तु कृषि-ग्राय काफ़ी हद तक कृषि-उत्पादन द्वारा भी प्रभावित होती है। वास्तव मे कृषि-ग्राय पर कृषि-उत्पादन का प्रभाव कीमतो के प्रभाव की अपेक्षा बहुत अधिक है। सारणी १०.२ इस विषय पर रोचक प्रकाश डालती है।

सारणी १०.२ उत्पादन, कीमतो तथा ग्राय के सूचकांक

वर्ष	१९६०-६१	१९६८-६९	% परिवर्तन
उत्पादन (१९५०-५१=१००)	१४८.७	१६६.०	११.६
कीमतें (१९५२-५३=१००)	१२३.०	२१०.०	७०.७
ग्राय (कृषि)(१९६०-६१=१००)	१०० ०	१०९ ६	९ ६

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि कृषि-उत्पादन मे १० प्रतिशत परिवर्तन के पीछे, भारत मे वास्तविक कृषि-ग्राय मे ८.३ प्रतिशत का परिवर्तन हुग्रा है, जबकि कृषि-कीमतो मे १० प्रतिशत परिवर्तन के पीछे वास्तविक कृषि-ग्राय मे केवल १ ४ प्रतिशत का परिवर्तन हुग्रा। यह ध्यान रहे कि उन ग्रर्थव्यवस्थाग्रो मे, जिनमे उपज का ग्रधिकाश भाग घरेलू खपत के काम मे लाया जाता है ग्रौर जहाँ बिक्री के लिए बहुत कम भाग बचता है, कीमतो मे परिवर्तन वास्तविक ग्राय की उत्पत्ति में सहायक नही होता। कीमतें वास्तविक ग्राय के उत्पादन के सदर्भ मे तभी प्रासगिक हो सकती है यदि विक्रेय ग्रधिशेष काफी मात्रा में हों। कीमत मे परिवर्तन, उपज के घरेलू खपत वाले भाग के लिए, वास्तविक ग्राय मे कोई योग नही देता क्योंकि इस भाग का तुष्टिगुण समान रहता है ग्रौर समय बीतने पर परिवर्तन नही होता है। ग्रतः निम्न ग्राय वाले देशो मे, जहाँ विक्रेय-ग्रधिशेष ग्रधिक नही होता, बाजार कीमत का प्रभाव उपज के बहुत थोड़े भाग पर होता है। सक्षेप मे, कीमतें उत्पादन के केवल विकाऊ भाग के ग्रनुपात मे ही ग्राय को प्रभावित करती है।

इस विवेचन से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

(i) निम्न ग्राय वाले देशों मे कृषि-पण्यो की कीमत-माँग-लोच काफी ग्रधिक है।

(ii) निम्न ग्राय वाले देशो में कृषक की उपज का ग्रधिकाश भाग घरेलू उपयोग के काम ग्राता है ग्रौर उपज का थोडा-सा भाग ही बिक्री के लिए बाज़ार मे भेजा जाता है।

ग्रतः कीमत-माँग-लोच, उत्पादन का विक्रय भाग (प्रोपोर्सन ग्रॉफ ग्राउटपुट मार्केटेड) ग्रौर उत्पादन में परिवर्तनो के फलस्वरूप इनमे परिवर्तन, कृषि-ग्रायो पर उत्पादन परिवर्तनो का ग्रध्ययन करने हेतु महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व हैं।

कीमत-माँग लोच का ग्रनुमान **कीमत-नम्यता गुणांक**(प्राइस फ्लैक्सीबिलिटी कोएफीसियेन्ट) से ज्ञात किया जाता है जो **माँग में एक इकाई प्रतिशत परिवर्तन होने के फलस्वरूप, कीमत में होने वाले ग्रानुपातिक परिवर्तन का माप** है। जार्हन डब्ल्यू, मेल्लर तथा ग्रशोक दँर ने भारत मे खाद्यान्नो के लिए कीमत-नम्यता-गुणाक –१ ८३ परिकलित किया है जिसका ग्रर्थ यह हुग्रा कि माँग मे १ प्रतिशत परिवर्तन होने से कीमत सूचकाक में १·८३ प्रतिशत का

परिवर्तन होगा । कीमत नम्यता-गुणाक का प्रतिलोम (इनवर्स) (अर्थात् १/–१'८३=–'५५ कीमत-माँग-लोच का अनुमान है । कीमत नम्यता गुणांक ज्ञात करते समय सकल उत्पादन तथा उपभोग को ध्यान मे रखा जाता है ।

निम्न उदाहरण मे हमने उत्पादन मे परिवर्तनो के कृषि-आयो पर प्रभाव का परीक्षण किया है । यह अध्ययन निम्नलिखित पूर्वधारणाओ पर आधारित है :—

(१) प्रथम धारणा यह है कि घर मे उत्पादित घर मे उपर्युक्त अनाज का वास्तविक मूल्य समय बीतने पर नहीं बदलता तथा इस घटक को स्थिर वास्तविक कीमत पर माना गया है ।

(२) साधारणतया उत्पादन परिवर्तन के साथ साथ प्रतिलोमी कीमत-परिवर्तन होता है । मानलो अनाज की कीमत माँग लोच –'५५ है जो कि –१'८३ के कीमत नम्यता-गुणाक के सगत है । इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन मे ११ प्रतिशत की वृद्धि सापेक्ष कीमतो मे लगभग २० प्रतिशत की कमी लाएगी तथा उत्पादन मे ११ प्रतिशत की कमी से बाजार-कीमतो मे २० प्रतिशत की वृद्धि होगी ।

(३) हम यह भी कल्पना करते हैं कि भारत मे औसतन, कृषक अपनी उपज का २५ से ३० प्रतिशत तक भाग विक्रय करते हैं ।

सारणी १० ३ उदाहरण निम्न आय अर्थव्यवस्थाओं में उत्पादन में परिवर्तन का कृषि आय पर प्रभाव (कीमत नम्यता गुणाक=–१ ८३, बिकाऊ उत्पादन २५% अर्थात् उत्पादन में ११% प्रतिवर्तन के साथ कीमत में २०% प्रतिलोमी परिवर्तन)

माडल	आधारिक स्थिति			परिवर्तित स्थिति			आय में परिवर्तन
	इकाइयाँ	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	इकाइयाँ	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	
I				(उत्पादन मे वृद्धि)			
उत्पादन	१००	—	१००.००	१११	—	१०५४५	+५.४५
बिकाऊ	२५	१.००	२५.००	२७.७५	०.८०	२२.२०	—२.८०
घरेलू खपत	७५	१.००	७५.००	८३.२५	१.००	८३.२५	+८.२५
II				(उत्पादन मे कमी)		४५	
उत्पादन	१००	—	१००.००	८९		९३.	—६.५५
बिकाऊ	२५	१.००	२५.००	२२.२५	१.२०	२६.७०	+१.७०
घरेलू खपत	७५	१.००	७५.००	६६.७५	१.००	६६.७५	—८.२५

नोट—(१) सर्वोपयुक्त विमर्श के लिए देखिए—

मिलर : 'द फक्शन आफ द एग्रीकल्चरर्स प्राइसेज इन इकोनोमिक डेवलपमेंट' कर्नेल युनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क, १९६९

(२) सारणी १०.३, १०.४ तथा १० ५ लेखक द्वारा दिए गए परिकल्पित उदाहरण हैं । व्याख्या जॉन. डब्ल्यू. मिलर के अध्ययन पर आधारित है ।

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि जब उत्पादन में ११ प्रतिशत की वृद्धि होती है तो कीमत मे २० प्रतिशत की कमी होते हुए भी वास्तविक कृषि आय मे ५.४५ प्रतिशत की वृद्धि होती है। परन्तु मॉडल II मे, कीमतों में २० प्रतिशत वृद्धि होने पर भी वास्तविक कृषि-आय मे ६.५५ *प्रतिशत की कमी हुई है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कृषकों की वास्तविक आय* उत्पादन से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित है। उच्च उत्पादन-परिस्थिति मे निम्न उत्पादन-परिस्थिति की अपेक्षा वास्तविक आय अधिक होती है। अत. निम्न आय-अर्थव्यवस्था मे उत्पादन में वृद्धि का परिणाम कृषकों की वास्तविक आय वृद्धि मे परिणत होती है चाहे यह उत्पादन-वृद्धि अच्छे मौसम के कारण हो या प्रौद्योगिकीय परिवर्तन द्वारा। उच्च आय-अर्थव्यवस्थाओं मे उत्पादन तथा वास्तविक आय मे प्रतिलोमी सम्बन्ध है। देखिए सारणी १०.४।

सारणी १०.४. (उदाहरण) उच्च आय-अर्थव्यवस्था मे कृषि आय पर उत्पादन परिवर्तनो का प्रभाव

(कीमत नम्यता-गुणाक = —१.८३. बिकाऊ उत्पादन ७५%)

मॉडल	आधारिक स्थिति			परिवर्तित स्थिति			आय मे परिवर्तन
	इकाइयाँ	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	इकाइयाँ	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	
III				(उत्पादन मे वृद्धि)			
उत्पादन	१००	—	१००.००	१११	—	९४.३५	—५.६५
बिकाऊ	७५	१.००	७५.००	८३.२५	०.८०	६६ ६०	—८.४०
घरेलू खपत	२५	१.००	२५.००	२७.७५	१.००	२७.७५	+२ ७५
IV				(उत्पादन मे कमी)			
उत्पादन	१००	—	१००,००	८९.०	—	१०२.३५	+२.३५
बिकाऊ	७५	१.००	७५ ००	६६.७५	१.२०	८०.१०	+५.१०
घरेलू खपत	२५	१.००	२५.००	२२.२५	१.००	२२.२५	—२.७५

अतः उच्च आय-अर्थव्यवस्थाओ मे कृषि-उत्पादन में न्यूनता के होने से कृषि-आय मे वृद्धि होती है और कृषि-उत्पादन मे वृद्धि का परिणाम वास्तविक कृषि-आय मे कमी के रूप मे प्रकट होता है। यही स्थिति बड़ी जोतों वाले कृषकों पर भी लागू होती है।

उपरोक्त उदाहरणो से यह रोचक तथ्य प्रकट होता है कि अधिक उत्पादन की स्थिति मे कृषक की नकद आय न्यून होती है और कम उत्पादन की स्थिति मे कृषक की नकद आय अधिक होती है। यह बात तभी सत्य होगी यदि उत्पादन का बेचा जाने वाला भाग वही रहे अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन न आए। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि उत्पादन में वृद्धि की हालत में कृषक अपने विक्रेय अधिशेष के अनुपात को भी बढ़ा देंगे और उत्पादन मे कमी होने पर वे बेचे जाने वाले भाग को कम कर देंगे। सारणी १०.५ में इन्ही पूर्वधारणाओं को ध्यान मे रखा गया है।

सारणी १०.५ (उदाहरण) निम्न ग्राय-ग्रर्थव्यवस्था मे उत्पादन मे परिवर्तनो का कृषि-ग्राय पर प्रभाव (कीमत नम्यता-गुणाक—१.८३, विकाऊ उत्पादन मे परिवर्तन ५%)

मॉडल	आधारिक स्थिति			परिवर्तित स्थिति			आय में परिवर्तन
	इकाइयां	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	इकाइयां	प्रति इकाई वास्तविक मूल्य	कुल मूल्य	
V				(विकाऊ २५%मे ३०%)			
उत्पादन	१००.००	—	१००.००	१११	—	१०४ ३४	+४ ३४
बिकाऊ	२५.००	१.००	२५.००	३३.३	०.८०	२६ ६४	+१.६४
घरेलू खपत	७५ ००	१.००	७५.००	७७.७	१.००	७७.७०	+२.७०
VI				(विकाऊ २५% से २०%)			
उत्पादन	१०० ००	—	१००.००	८६	—	९२.५६	—७.४४
बिकाऊ	२५.००	१ ००	२५ ००	१७ ८	१.२०	२१.३६	—३.६४
घरेलू खपत	७५.००	१.००	७५.००	७१.२	१.००	७१.२०	—३.८०

मॉडल I तथा मॉडल V की तुलना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कृपक ग्रपनी बिकाऊ-उपज का ग्रनुपात बढा कर ग्रधिक नकद ग्राय प्राप्त कर सकते हैं यद्यपि इससे कुल वास्तविक ग्राय मे थोडी-सी कमी ग्राएगी।

१०.५ कीमत-नीति

उपरोक्त विश्लेषण का मूल निष्कर्ष यही है कि ग्रार्थिक सवृद्धि को उद्दीपित करने के यन्त्र के रूप मे कृषि-कीमत-नीति केवल सीमित तथा सहायक योग ही दे सकती है। ग्रार्थिक **संवृद्धि के जनन हेतु कोई भी सार्वजनिक नीति उत्पादन एवं बाज़ार प्रधान होनी चाहिए। यही कारण है कि कृषि-रूपांतरण तथा विकास के यन्त्र के रूप में प्रौद्योगिकीय (तकनीकी) परिवतन कृषि-कीमत-नीति से बढ़ कर है।**

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन, निविष्टियो के उपयोग की दक्षता मे वृद्धि करता है ग्रौर इस प्रकार उत्पादन की प्रति इकाई लागत को कम करके लाभकारिता को बढाता है। इससे कृषि-उत्पादन को बढाने मे उसी प्रकार से प्रेरणा मिलती है जिस प्रकार कीमतो के बढने से प्राप्त होती है। इसके ग्रतिरिक्त जहाँ कीमत वृद्धि विक्रय-ग्रधिशेष के ग्रनुपात में लाभ पहुँचाती है, वहाँ प्रौद्योगिकीय परिवर्तन सकल उत्पादन के ग्रनुपात से लाभ पहुँचाता है। हाल ही मे विकसित ग्रधिक पैदावार देने वाली किस्मो जैसे नवक्रियाएँ क्रीत निविष्टियो के बृहद् उपयोग को ग्रधिक लाभप्रद बनाती हैं। ग्रत: एक प्रभावी कीमत-नीति प्रौद्योगिकीय परिवर्तन से सबधित होनी चाहिए। इस संदर्भ मे **निविष्टियों का उचित कीमत-निर्धारण बहुत महत्त्वपूर्ण है।** कृषि-कीमत-नीति प्रौद्योगिकीय परिवर्तन को तीव्र करने में उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका ग्रदा कर सकती है। एक उत्तम कीमत-नीति वस्तुत: प्रभावी उत्पादन-नीति ही है। तभी यह कृषि-विकास के ग्रादर्श-यन्त्र के रूप में कार्य कर सकती है।

१०.६ कीमतों में उतार-चढ़ाव के कारण

इस परिच्छेद मे हम कृषि-कीमतों मे उतार-चढाव के कारणों तथा आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए कीमतों को स्थिर करने के उपायो का विवेचन करेंगे। निम्न आय वाले देशो मे कृषकों की बहुत बड़ी सख्या के पास विक्रय के लिए बहुत कम विक्रेय अधिशेष होता है और उनके पास पर्याप्त क्रय-शक्ति नही होती जिसका परिणाम यह होता है कि कीमतों मे मामूली उतार-चढ़ाव भी उनके लिए सकारात्मक रूप मे हानिकारक सिद्ध होते हैं। कीमतो मे वृद्धि निर्वाहमात्री कृषकों तथा भूमिहीन श्रमिकों के, जिनकी सख्या बहुत अधिक है, कष्टो को बढाती है। कीमतो में गिरावट कृषकों की वास्तविक आय मे गिरावट लाती है। कीमतो मे उतार-चढ़ाव के कारण आय मे उतार-चढाव होता है जो कृषि निवेश-निर्णयों की अलाभ-कर-प्रणाली का कारण बनते हैं और अनिश्चितता तथा अदक्षता को जन्म देते हैं।

कीमतों मे अनिश्चितता के कारण कृषक अपने उत्पादन के आयोजन के लिए विवेकपूर्ण नीति नही अपना सकता जिससे संसाधन-उपयोग मे अपव्यय होता है। वह विभिन्न कृषि-सक्रियाओं मे उपलब्ध संसाधनो का प्रभावपूर्ण ढग से आवटन नही कर सकता। इसके अति-रिक्त कृषक उस फसल के उत्पादन का जोखिम उठाने के लिए कम तैयार होंगे जिसकी कीमतों में उतार-चढाव काफी होता है। कृषि मे अनुवर्ती निवेश के अभाव मे सारे समाज को हानि होती है। सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि कीमत-अनिश्चितता हमारी कृषि की अदक्षता तथा पिछड़ेपन का एक कारण है और उन कारको को निष्फल करने के लिए जो कीमतो मे उतार-चढाव लाते हैं, कड़े उपाय करने होंगे। तभी कृषि का आधुनिकीकरण किया जा सकता है।

कीमत उतार-चढ़ाव की व्याख्या व्यापार चक्र के एक भाग के रूप में की जा सकती है। कीमतों मे उतार-चढ़ाव व्यावसायिक समृद्धि तथा मदी की प्राकृतिक उपनतियो के कारण होता है। समृद्धि तथा मदी हर प्रकार की आर्थिक गतिविधि का मुवद्ध भाग हैं। व्यापार चक्र की साधारणत: चार स्थितियाँ हैं— तेजी, शिथिलता (प्रतिसरण) मदी, पुनरुत्थान। अतः कीमत-परिवर्तन चक्रीय उतार-चढ़ाव के कारण होते हैं जिनकी दो मुख्य दशाएँ हैं— तेजी तथा मदी अर्थात् व्यापार-चक्र के अधिकतम तथा न्यूनतम बिन्दु। तेजी स्फीतिकारी परिस्थितियों को व्यक्त करती है तथा माँग और कीमतो की बहुमुखी वृद्धि मे दिखाई देती है। दूसरी ओर मदी माँग और कीमतो की चहुँमुखी गिरावट मे प्रदर्शित होती है। वास्तव मे उग्र मौसमी अथवा वार्षिक उतार-चढ़ाव उत्पादक तथा उपभोक्ता, दोनों के लिए हानि-कारक होते हैं। इसमे कोइ शक नहीं है कि उत्पादक तथा वितरक इन उतार-चढावो को रोकने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इस उपनति को पूर्णत: अवरुद्ध करने मे सामान्यत. वे असफल रहते हैं। फिर भी चक्रीय विरोधी नीतियाँ चक्रीय उतार-चढ़ाव को निरस्त कर सकती हैं।

निम्न आय वाले देशो में कृषि-पदार्थों की पूर्ति-लोच तुलनात्मक रूप मे कम है और कृषक पूर्ति को माँग के अनुरूप समायोजित करने की स्थिति मे नही हैं। अत: कृषि-पदार्थों की पूर्ति की लोचहीनता द्रुत कीमत उतार-चढ़ाव का एक अन्य कारण है।

इसके अतिरिक्त, कृषि एक अनिश्चित उद्योग है। सूखा, बाढ़, अकाल तथा अधड़ भारत में बार-बार घटित होते है और फसलो व जान-माल की अत्यधिक क्षति के कारण कीमतो में कष्टदायक वृद्धि होती है जो कृषको की कठिनाइयो व मुसीबतों को और अधिक बढ़ाती है। कीमतो मे तेज उतार-चढ़ाव के अन्य कारण हैं– जनसख्या का तेजी से बढ़ना तथा सरकारी नीति मे एकरूपता तथा सगति का अभाव। कीमतों में उतार-चढ़ाव थोक व्यापारियों द्वारा की जाने वाली सट्टेबाज़ी, चोर बाज़ारी तथा जमाखोरी के कारण भी होता है।

दूसरी ओर कीमतो मे स्थिरता उन कृषको की आय-वृद्धि मे योगदान देती है जिनके पास काफी विक्रेय अधिशेष है और इस प्रकार निवेश को बढावा देती है जिससे सारी अर्थ-व्यवस्था और समाज को निश्चितता की दृष्टि से बल प्राप्त होता है। यह ध्यान रहे कि कृषि-उत्पादन मे वृद्धि निवेश पर निर्भर है और इसलिए सब निम्न आय वाले देशों में कीमत स्थिरता-उत्पादन-दक्षता, आय-सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता के लिए जरूरी है।

स्थिर कीमते निर्वाहमात्री जोतदारो के लिए सदा ही लाभदायक नही होतीं। परन्तु वे इसलिए न्यायसगत हैं क्योकि वे उनके वर्तमान आय-स्तर को स्थिरता प्रदान कर उनके हितों की रक्षा करती हैं। यह भी ध्यान रहे कि अल्पकाल के लिए कीमतों मे स्थिरता उचित ससाधन-आवटन की निश्चित गारटी नही है जबतक इसके साथ-साथ कृषि-उत्पादन मे भी वृद्धि न हो। परन्तु कटाई के समय कीमतों में मंदी को रोकने के लिए, मौसमी कीमतो में सामान्य से अधिक वृद्धि को रोकने के लिए और फसल कटाई के समय कीमतों को स्थिरता प्रदान करने के लिए कीमत स्थिरीकरण नीति का होना आवश्यक है।

बिचौलियों द्वारा कमाए जाने वाले बृहत् लाभ तथा कीमत-स्थिरीकरण की जरूरत राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक बना देते है। कीमतो में उतार-चढ़ाव को कम करने तथा कीमतो को उचित स्तर पर स्थिर रखने के लिए राज्य द्वारा पग उठाए जाने चाहिए ताकि उत्पादको तथा उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की जा सके।

कृषि-पण्यों के सबध मे कीमत-नीति इस प्रकार से निर्धारित होनी चाहिए जिससे कृषि क्षेत्रक मे तेजी से बढती हुई उत्पादिता की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। एक ओर तो उत्पादकों द्वारा प्राप्त की जाने वाली कीमत इतनी आकर्षक होनी चाहिए जो उन्हें अधिक श्रम लगाने और अधिक निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करे और दूसरी ओर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपभोक्ताओं को अत्यधिक अनुचित कीमतें अदा न करनी पड़े।

संक्षेप में कीमत-संरचना ऐसी होनी चाहिए जो उत्पादक को अधिक प्रतिफल दिलवाए, बेकार जनशक्ति की कृषीतर क्षेत्रक में स्थायी रोजगार पाने में सहायता करे और कृषि क्षेत्रक में तकनीकी ज्ञान तथा कौशल के अधिक उपयोग को प्रोत्साहन दे।

१०.७ नीति-संबंधी उपाय तथा कार्यक्रम

प्राथमिक उत्पादकों द्वारा प्राप्त की जाने वाली कीमतों अथवा आय को स्थिर करने के लिए अनेक प्रकार की नीतियों की रचना की गई है जिनमे से कुछ एक का वर्णन नीचे किया जाएगा। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के उपाय करने होगे। उदाहरणतः यदि कीमतो मे उतार-चढाव चक्रीय दशा के एक भाग के रूप मे होता है, तो चक्रीय विरोधी

उपाय प्रभावी होंगे। मंदी अर्थात् कीमतों में हर तरह गिरावट की स्थिति मे ग्रामीण क्षेत्र मे उपयुक्त लोक-निर्माण-कार्य, निवेश की उच्च दर को बनाए रखने तथा उपयुक्त वित्त तथा मुद्रा-नीतियो के कार्यान्वयन सबधी कार्यक्रम चालू करने होंगे। मंडी मे मौसमी बहुतायत के फलस्वरूप कीमतो मे गिरावट की स्थिति मे नीति यह हो सकती है कि सरकार नियत कीमतो पर फालतू भंडार को खरीद ले। इसी प्रकार यदि पदार्थ को कम क्षेत्र पर उपजाया जाए या उत्पादन मे कमी की जाए तो कीमतो के बढ़ने की समावना है परन्तु यह उपाय निम्न आय वाले देशो मे अत्यधिक अव्यावहारिक है। कई बार उत्पादन को सीमित करने के लिए जुताई मे कमी की जाती है और इसके उपलक्ष मे कृषको को आर्थिक सहायता दी जाती है। चरम परिस्थितियो मे फालतू अनाज को जला दिया या नष्ट कर दिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से उपाय या कार्यक्रम का निम्न कोई भी निर्दिष्ट रूप हो सकता है :—

(क) सुरक्षित भंडार का निर्माण : खाद्य अर्थव्यवस्था को स्थिर करने मे सुरक्षित भंडार के निर्माण का बडा महत्त्व है। सुरक्षित भंडार प्रतिकूल वर्षों मे उत्पादन कम होने पर बाज़ारी अभाव को पूरा करने के लिए ही जरूरी नही बल्कि कीमत को अन्तर-मौसमी स्थिरता प्रदान करने के लिए भी जरूरी है। **कीमतों का नियंत्रण क्रय-भंडारण-विक्रय कार्यक्रम द्वारा किया जाता है।** जब कीमतो के गिरने की प्रवृत्ति होती है, तो सरकार कीमत-समर्थन हेतु अपने भंडारो को बढ़ा लेती है और विलोमतः जब परिस्थितियाँ कीमत वृद्धि की ओर प्रवृत्त हों, तब सरकारी एजेंसी औसत कीमत को बनाए रखने के लिए अपने भंडारो मे से अनाज को बेचती है।

अतः निर्धन देशों मे पर्याप्त आकार का सुरक्षित भंडार उनकी खाद्य-नीतियों का केन्द्रीय अंग होगा। अनुमान है कि भारत में ५० लाख टन अनाज का सुरक्षित भंडार अपसामान्य उतार-चढाव को छोडकर शेष सब प्रकार की स्थिति का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त होगा। परन्तु ऐसे सुरक्षित भंडार के निर्माण के लिए काफी भंडारण, प्रशासनिक तथा वित्तीय ससाधनो की आवश्यकता होगी। हो सकता है इस कार्यक्रम से सामान्य विपणन-माध्यम अव्यवस्थित या अस्त व्यस्त हो जाएँ। भारत में यह प्रबन्ध भारतीय खाद्य निगम द्वारा किया जाता है।

(ख) सुरक्षित निधि की स्थापना—इस कार्यक्रम मे एक सुरक्षित निधि की स्थापना की जाती है जिसका *एक क्षतिपूर्ति व कराधान की योजना द्वारा कीमतों तथा आय को स्थिर करने हेतु उपयोग किया जाता है।* इस योजना के अधीन सरकारी या संस्थागत अभिकरण (जैसे उत्पादक सहकारी समिति) उपज को निर्दिष्ट या लक्ष्य कीमत पर खरीदने का वायदा करता है और उसे उत्पादको की ओर से बाज़ार मे बाज़ार कीमत पर बेचता है। यदि एजेंसी द्वारा प्राप्त बाज़ार कीमत निर्दिष्ट स्तर से नीची है तो उसकी क्षतिपूर्ति उस निधि से की जाती है। यदि प्राप्त बाज़ार कीमत औसत या लक्ष्य कीमत से अधिक हो तो अतिरिक्त प्राप्ति के बराबर कर लगाया जाता है और कर-राशि-निधि मे डाल दी जाती है। यदि लक्ष्य कीमत ठीक प्रकार से नियत की जाए तो कर राशि क्षति पूर्ति-राशि के बराबर होगी तथा निधि का औसत मान शून्य होगा। परन्तु औसत कीमत-निर्धारण करने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। योजना की सफलता इस कार्यक्रम मे भाग लेने वाली एजेंसी के

सदस्यों की ईमानदारी पर निर्भर है ।

(ग) कीमत-विभेद तथा द्वि-कीमत कार्यक्रम–कीमत विभेद कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न माँग लोचो वाली विभिन्न मंडियों में भिन्न-भिन्न कीमतें नियत की जाती हैं। इस कार्यक्रम का कार्यान्वयन करने वाले अभिकरण को बाजारों को पृथक्-पृथक् करने का पर्याप्त एकाधिकार दिया जाता है। योजना के अधीन बृहत् फसल के एक भाग को न्यून लोचदार माँग वाले बाजार से अधिक लोचशील बाजार में भेजा जाता है। यह दिक्परिवर्तन स्थिरता में वृद्धि लाता है। ज्ञात हो कि खाद्यान्नो के लाने-लेजाने पर क्षेत्रीय प्रतिबन्धों से अन्तर क्षेत्रीय अथवा *अन्तर्राज्य कीमत-अन्तर* उत्पन्न होते है।

हमे ज्ञात है कि कीमतो मे वृद्धि के फलस्वरूप निर्धन नगरीय उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में बहुत कमी हो जाती है। इसलिए उचित यही है कि ऐसे उपभोक्ताओं को रियायती *दरो या सामान्य कीमत (अर्थात् वह कीमत जो सामान्य फसल के होने पर होती है)* पर अनाज सप्लाई किया जाए। इसमें राशनिंग की आवश्यकता होगी। उन उत्पादको पर जो कीमतो में वृद्धि से लाभान्वित होगे, सरकारी उपदान की क्षतिपूर्ति के लिए कर लगाए जा सकते है। कृषकों पर इस बोझ को कम *किया जा सकता है यदि सरकार उपज के एक भाग* को ही अनिवार्य वसूली करे और उन्हे शेष अनाज को खुले बाजार मे बेचने की आज्ञा हो। इसका परिणाम यह होगा कि खुले बाजार मे कीमते बहुत चढ़ जाएँगी।

इस प्रणाली में प्रत्येक मूल पदार्थ के लिए द्वि-कीमत नियन्त्रित बाजार होगा। इसमे निर्धन लोगो को कम कीमतो पर न्यूनतम सप्लाई की गारन्टी मिल जाती है जबकि वे लोग जो अधिक मात्रा का उपयोग करते है और अधिक कीमत दे सकते हैं, बाजार से ऊँची कीमत पर खरीद सकेंगे।

एक बेहतर विकल्प यह है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे सार्वजनिक वितरण (राशनिंग) प्रणाली चालू की जाए तथा उत्पादन न करने वाले ग्रामीण निर्धनों को रियायती दरो पर अनाज वितरित किया जाए। उदाहरणार्थ सरकार चीनी को नियत राशन मात्रा मे उचित मूल्यो की दुकानो के माध्यम से नियन्त्रित कीमतो पर वितरित करती है जबकि खुले बाज़ार मे इसकी कीमत काफी ऊँची है। चीनी के आंशिक विनियन्त्रण अथवा नियन्त्रण का प्रोग्राम वास्तव मे कीमत-विभेद (या द्विकीमत) का प्रोग्राम है। चीनी मिलो को खुले बाजार मे बेचे जाने वाली चीनी पर उत्पादन शुल्क के रूप मे विशेष लेवी देनी पड़ती है। अतः कीमत विभेद का कार्यक्रम सकल सरकारी आय को बढाने मे भी योगदान देता है। खुले बाजार मे चीनी की सप्लाई सरकार द्वारा आवधिक मोचन के अनुसार होती है। स्कीम की सफलता कमज़ोर वर्गों को पर्याप्त मात्रा में अनाज के दक्ष वितरण पर निर्भर होगी। दक्ष वितरण के लिए पर्याप्त सुरक्षित भंडार का निर्माण करना होगा।

(घ) पेशबंदी तथा जिन्स वायदा सट्टाबाजारों को विकसित करना (हैर्जिंग एण्ड डेवलपिंग कमोडिटी फ्यूचर्स मार्केट्स)—किसी विशेष उद्देश्य हेतु पण्यवर्त (जिन्स) संविदा (अनुबद्ध : मर्केन्डाइजिंग कॉन्ट्रेक्ट) के स्थान पर अस्थायी प्रतिस्थायी के रूप मे वायदा (फ्यूचर्स) संविदा (अनुबद्ध) का उपयोग पेशबंदी कहलाती है। यह जोखिम को दूर करने अथवा कम करने की एक युक्ति है। इस संदर्भ मे बुआई के समय ही अर्थात् उत्पादन पूरा होने से पहले ही

उत्पादक वायदों (फ्यूचर्स) के विक्रय-अनुबन्ध करके पेशबदी कर लेते हैं। यह खास जिन्सों की जिनकी उपज हो रही होती है, वायदा बिक्री के प्रतिस्थायी का काम करती है। पेशबंदी का उद्देश्य चालू कीमतों का लाभ उठाना होता है या भिन्न-भिन्न वैकल्पिक उपायों के चुनाव द्वारा अर्थव्यवस्था मे कुछ फायदा प्राप्त करना होता है। 'पेशबदी' या क्षति अवरोधक 'बिक्री' चालू कीमतो पर पण्यों की वायदा बिक्री को बढावा देती है और उत्पादक को उपज की भावी कीमत-अनिश्चितताओ से छुटकारा दिलाती है। सरकार सविदाओं की उपयुक्त खरीद व बिक्री करके तथा कृषकों का फसल फेल होने जैसी कुछ क्षतियो का बीमा करके उत्पादक पेशबदी को प्रोत्साहन कर सकती है। स्थिर भावी वायदा सट्टाबाजारी कीमत की सकल्पना मे 'वायदा कीमत' का नियतन शामिल है।

अतः वायदा कीमतो का नियतन कृषि-नीति की पहली शर्त है। सरकार को समय-समय पर वायदा कीमतों की घोषणा करनी चाहिए जो कम से कम एक उत्पादन-अवधि तक लागू रहे। इससे कीमत-निश्चितता प्राप्त होगी, कृषि-आय स्थिर होगी और कृषि में अधिक ससाधन-दक्षता उत्पन्न होगी। जहां कम कीमतें अधिक उत्पादन करने के उत्साह को समाप्त कर देती हैं, वहाँ स्थिर कीमतें अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित करती हैं। इससे आयोजन मे अधिक यथार्थता आती है।

स्थिरता प्रदान करने के अन्य कार्यक्रम हैं—विक्रेय उपज की गुणवत्ता का नियमन या अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु विनिमय द्वारा व्यापार करना। कई बार सरकार स्थिरता प्रदान करने के लिए अन्य देशो के साथ व्यापार करार करती है। आम तौर पर विभिन्न परिस्थितियो मे चलाए जाने वाले कार्यक्रम उपरोक्त उपायो या विधियो के विभिन्न रूप होते हैं।

१०.८ समर्थित (टेक) कीमतें तथा समर्थन-स्तर

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसी फसल, जिसकी स्थिति मे कीमत-अनिश्चितता काफी अधिक होती है, के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए कीमत की गारन्टी का कार्यक्रम आवश्यक है। वास्तव मे उपरोक्त सब कार्यक्रम-नीतियाँ उपज के लिए प्रेरणात्मक कीमत की संकल्पना के इर्द-गिर्द घूमती हैं। न्यूनतम कीमतो का निर्धारण कृषि-उत्पादन हेतु प्रेरणा के रूप में महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार उचित उपभोक्ता कीमतो की सकल्पना हेतु उच्चतम कीमत सीमाओं के निर्धारण की भी आवश्यकता है। यही कारण है कि निम्नतम निर्धारित कीमतें तथा उच्चतम निर्धारित कीमतें कीमत-नीति के अनिवार्य अंश व सिद्धांत हैं। एक विवेकपूर्ण कीमत नीति वह होगी जिसमे प्रत्येक कृषि जिन्स की विपणन-कीमत को समर्थन प्राप्त होगा। यह ध्यान रहे कि सरकारी खरीद के विभिन्न स्थितियों मे विभिन्न उद्देश्य हैं। कमी के समय मे सरकार की खरीद 'वसूली' (प्रोक्योरमैंट) का रूप लेगी जबकि अधिकता के समय यह खरीद-कीमत समर्थन के उद्देश्य से की जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक वर्ष भिन्न-भिन्न समर्थित कीमतें नियत करनी होंगी। यहाँ समर्थित कीमतो व वसूली (समाहरण) कीमतो मे अन्तर को समझ लेना चाहिए।

न्यूनतम समर्थित कीमत एक प्रकार की बीमा कीमत है। एक बार समर्थित कीमत घोषित होने पर सरकार उस कीमत पर फसल की असीमित मात्रा को खरीदने मे बाध्य

होगी चाहे फसल कितनी भी हो और चाहे बाज़ार-कीमत कुछ भी क्यो न हो। न्यूनतम समर्थित कीमत मे प्रति इकाई उत्पादन लागत कवर हो जानी चाहिए। प्रचालन-लागतो मे मानव-श्रम, पशु तथा मशीन-श्रम बीज, उर्वरक, कीटनाशी तथा सिंचाई प्रभार शामिल हैं। बंधी लागतो मे निजी भूमि का लगान-मूल्य, पट्टे पर ली हुई भूमि का किराया, भू-राजस्व व अन्य कर तथा स्थायी परिसम्पत्ति पर ब्याज व मूल्यह्रास आते हैं। इसके अतिरिक्त न्यूनतम समर्थित कीमतो मे कृषक के सामान्य लाभाश का भी समावेश होना चाहिए। उदाहरणत यदि उत्पादन बहुत अधिक हो और बाजार कीमतो मे मन्दी आ जाए, यहाँ तक कि वे न्यूनतम समर्थित कीमतो से भी नीचे चली जाएँ, तो किसानो को कोई विशेष चिन्ता नहीं होनी चाहिए क्योकि सरकार घोषित समर्थित कीमत पर फसल को लेने के लिए बाध्य है। सरकार को चाहिए कि वह प्रत्येक प्रमुख फसल के लिए बुआई से बहुत पहले न्यूनतम समर्थित कीमतो की घोषणा कर दे ताकि कृषको को प्राप्त होने वाली बीमा मात्रा का ज्ञान हो सके। इससे ससाधनो के दक्ष आवटन मे सहायता मिलेगी।

समर्थन-स्तर वर्तमान पूर्ति एव माँग-स्थिति के मूल्याकन द्वारा निर्धारित किया जाता है। माँग-अनुमान जनसख्या तथा प्रतिव्यक्ति आय के बहिर्वेशन, आय-माँग-लोच-अनुमान तथा मुद्रा पूर्ति जैसे अन्य कारको पर आधारित होते हैं। पूर्ति का अनुमान प्रौद्योगिकीय निविष्टियो तथा मौसम मे परिवर्तनो को ध्यान मे रखकर प्रतिदर्श सर्वेक्षण अथवा बहिर्वेशन द्वारा लगाया जाता है। साधारणतः समर्थन-स्तर फसल के साईज़ का व्युत्क्रमानुपाती (सपोर्ट लेवल वेराइज इनवर्सली विथ द साइज ऑफ द क्रॉप) है। वसूली या समाहरण-कीमतो का ध्येय समर्थित कीमतो से कुछ भिन्न है। जब कृषक स्वय अपने अनाज को सार्वजनिक एजेंसियो के पास बेचना चाहते हैं जैसे अधिक उत्पादन होने पर, तब समर्थित कीमतो की सार्थकता है परन्तु जब सरकार अपनी ओर से कृषकों से अनाज खरीदना चाहती है अर्थात् जब सरकार बाज़ार मे फसल की उपलब्ध पूर्ति के एक भाग को प्राप्त करने की बड़ी ज़रूरत अनुभव करती है तो वसूली कीमतो के निर्धारण की आवश्यकता है। यदि वसूली कीमतें वास्तविक बाज़ार कीमतों की तुलना मे बहुत कम होगी, तो किसान या व्यापारी स्वेच्छा से अपने भण्डार को सरकार के पास नही बेचेंगे। दूसरी ओर अनाज की वसूली का मुख्य उद्देश्य समाज के उन कमज़ोर वर्गों को, जो अभाव के समय चालू बाज़ार-कीमत पर अनाज नही खरीद सकते, उचित कीमतो पर अनाज का सप्लाई करना है। अतः वसूली का ध्येय समाप्त हो जाएगा यदि वसूली-कीमत वही हो जो बाज़ार कीमत हो। वसूली-कीमत सामान्यतः समर्थित कीमत के स्तर से कुछ अधिक हो सकती है परन्तु यह बाज़ार कीमत के बराबर नही हो सकती। क्योकि बाज़ार की परिस्थितियो को यथार्थता से फसल की कटाई के ही बाद आँका जा सकता है, इसलिए वसूली कीमत की विपणन-समय के समीप आने पर ही सिफारिश की जा सकती है। अत. समर्थित कीमतों की घोषणा बुआई से कुछ समय पूर्व तथा वसूली कीमत को कटाई से तुरन्त पहले की जानी चाहिए। सीमांत अवस्था मे, जब बाज़ार मे अनाज की बहुलता हो, तो वसूली कीमत न्यूनतम समर्थित कीमत की ओर झुकती है। अन्य मौसमों मे, यह कुछ अधिक होगी। दोनो कीमतो मे अन्तर बाज़ार की वास्तविकताओ तथा सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था की आवश्यकताओ द्वारा निर्धारित होगा।

कृषि कीमत कार्यक्रमों के सचालन में यह जरूरी है कि इनमे भण्डारण-लागतो को पूरा करने के लिए पूर्णतः पर्याप्त मौसमी कीमत-वृद्धि की व्यवस्था की जाए। इसी प्रकार विशिष्ट मण्डियो मे कीमतों मे पूरी परिवहन-लागतो का समावेश होना चाहिए। घरेलू कृषि-कीमतो का नियतन अपनाई जाने वाली व्यापारिक नीतियो के अनुरूप होना चाहिए। उपभोक्ता कीमतो का नियतन निम्न सोपानों से सम्बद्ध होना चाहिए।

(i) उत्पादकों के लिए उचित तथा आर्थिक कीमतें (ii) उचित थोक विक्रेता लाभ (iii) उचित फुटकर विक्रेता का लाभ अथवा सरकारी अधिग्रहण की अवस्था में संचालन-व्यय तथा (iv) उपभोक्ता के लिए उचित कीमत। कई बार कमजोर वर्गों की सहायतार्थ सरकार को रियायती दरो पर अनाज देना पड़ता है। इस हेतु सरकार को उपदान या सबसिडी की व्यवस्था करनी पडती है। यह ध्यान रहे कि बहुत अधिक सबसिडी जहां सरकारी खजाने पर अनावश्यक बोझ डालती है वहाँ स्फीतिकारी शक्तियो को जन्म देती है। इसलिए कीमत निर्धारित करते समय उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो वर्गों के हितो मे सामजस्य होना जरूरी है।

१० ६ सारांश : समर्थन-कार्यक्रमों के ध्येय तथा विशिष्ट समर्थन उपाय

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कृषि-कीमत समर्थन-कार्यक्रमो का मूलभूत उद्देश्य कृषि आय-स्तर मे वृद्धि लाना है। उद्देश्य यह है कि फार्म-परिवारों की आय फार्मेतर-परिवारो के अनुरूप हो जाए अर्थात् फार्म तथा फार्मेतर परिवारो की औसत आय बराबर हो जाए। आय-क्षमता (इनकम पैरिटी) के ध्येय को पूरा करने के लिए यह जरूरी है कि कृपकों को संरक्षण दिया जाए क्योंकि वे अपनी उपज को अत्यधिक स्पर्धात्मक बाजार मे बेचते हैं जबकि उन्हें एक सरक्षित तथा आंशिक रूप मे एकाधिकारी बाजार मे से खरीद करनी पडती है।

समर्थन का दूसरा ध्येय कृषक के लिए अधिक आय-सुरक्षा प्रदान करना है। फार्म-कीमतें मांग तथा पूर्ति मे परिवर्तनो से इतनी प्रभावित होती हैं कि एक भरपूर फसल या मांग मे कमी कीमतों तथा आय को बहुत अधिक कम कर सकती हैं। इसलिए उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए निम्नतम समर्थित कीमतो को नियत करना जरूरी है। कहने का अभिप्राय यह है कि कीमतो का स्थिरीकरण ही कृपक को आय-सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

समर्थन-कार्यक्रमो का तीसरा ध्येय उत्पादन-समायोजन को प्रेरित करना है। फार्म कीमतें इतनी अनिश्चित हैं कि कृषक उपभोक्ताओ की मांग के अनुरूप अपने भावी उत्पादन का निर्णय नही कर सकते। इसलिए समय से पहले ही कीमत-समर्थनो की घोपणा कर दी जानी चाहिए ताकि वे मांग मे परिवर्तन के अनुसार अपने ससाधनो के उपयोग को समायोजित कर सके। वायदा कीमतें कृपको का उत्पादन सम्बन्धी मार्गदर्शन करती हैं।

कृषि-कीमतो के समर्थन के तीन उपाय हैं—पूर्ति मे न्यूनता, कीमतो मे कमी के बदले प्रत्यक्ष अदायगी तथा मांग-विस्तार।

सरकार समर्थित कीमतो पर बाजार द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से अधिक उपज को खरीदकर पूर्ति मे कमी कर सकती है। दूसरा उपाय उत्पादन पर नियत्रण का है। परन्तु यह ध्यान रहे कि एक विशिष्ट पदार्थ के उत्पादन में कमी करना तभी उचित है यदि इस

न्यूनता के कारण निर्मुक्त भूमि, श्रम तथा पूँजी आदि ससाधनो का उपयोग किसी अन्य पदार्थ के उत्पादन मे उतनी ही वृद्धि के लिए किया जाए ताकि सामाजिक उत्पाद अधिकतम किया जा सके। नवीन निविष्टियों तथा नवक्रियाओं के कारण उत्पादिता मे इतनी वृद्धि हो जाती है कि क्षेत्र को कम करके उत्पादन-नियन्त्रण कीमत-समर्थन का प्रभावी उपाय नहीं रहा। *आयात-प्रतिबन्ध लगा कर या निर्यात-उपदान* देकर भी घरेलू पूर्ति को कम किया जा सकता है और कृषि-कीमतो का समर्थन किया जा सकता है। यदि बाजार कीमत समर्थन-स्तर से कम हो तो कृषक को इस अन्तर की अदायगी करके भी पूर्ति को कम किया जा सकता है। **निर्यात आर्थिक सहायता का आधार यह है कि ऐसे पदार्थों की अधिक मात्रा को विश्व की मंडियों में कम कीमत पर बेचा जाए और घरेलू मंडियों में घटी हुई पूर्ति को ऊँची कीमत पर बेचा जाए।** इनमे से किसी भी कार्यक्रम को कृषि-कीमत नीति के अन्तर्गत प्रयोग मे लाया जा सकता है। अगले परिच्छेद मे भारत मे कीमत नीति सम्बन्धी कृषि-कीमत-आयोग के कार्य की समीक्षा की जा रही है।

१०.१० कृषि-कीमत आयोग तथा नीति उपाय

(क) नीति के ध्येय—कीमत-नीति की किसी भी समीक्षा को शुरू करने से पहले अधोवर्णित ध्येयों को भलीभाँति समझ लेना चाहिए। इनका कथन कृषि-कीमत-आयोग (एग्रीकल्चरर प्राइस कमीशन : एपीसी) के, जिसकी स्थापना १९६५ मे हुई, उद्देश्य-पत्र मे मिलता है। *कृषि-कीमत-आयोग से कहा गया कि वह अर्थव्यवस्था की समग्र आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य मे तथा उत्पादको व उपभोक्ताओ के हितो को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न* कृषि-पदार्थों के लिए सापेक्ष कीमत-सरचना के माध्यम से सरकार को कीमत नीति पर सलाह दे। आयोग को यह भी जतलाया गया कि वह कीमत नीति की सिफारिश करते समय उत्पादकों को प्रेरणा देने की आवश्यकता तथा भूमि का विवेकपूर्ण उपयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता को ध्यान मे रखे। उन्हे इस बात पर भी विचार करना होगा कि उनके द्वारा सुझाई हुई कीमत-नीति का शेष अर्थव्यवस्था पर क्या संभावित प्रभाव होगा ? कृषि कीमत आयोग काफी हद तक *अपनी सिफारिशो मे इन बातो का ध्यान रखता रहा है परन्तु ये कभी भी नीति निर्माताओं* (मुख्यमन्त्रियो) द्वारा स्वीकार नही की गईं। कई बार यह आभास होता है कि कही सरकारी कीमत-नीति के वास्तविक उद्देश्य उपरोक्त घोषित उद्देश्यो से भिन्न तो नही ? इसका विश्लेषण हम नीचे कर रहे हैं।

(ख) नीति-उपाय (।) कीमत-संरचना : (दी प्राइस स्ट्रक्चर)—सिद्धान्ततः एव व्यवहार मे कीमत ढांचा (सरचना) तीन सोपानों से निर्मित हैं—प्रथम न्यूनतम समर्थित कीमत, द्वितीय वसूली या समाहरण कीमत तथा तृतीय-बाजार कीमत। चतुर्थ सोपान *कानूनी अधिकतम कीमत का हो सकता है परन्तु व्यापक चोर बाजारी की उपस्थिति मे इसकी कोई सार्थकता* नहीं। इस कीमत-सरचना के सकल्पनात्मक ढांचे को आसानी से समझा जा सकता है। न्यूनतम समर्थित कीमत लागतों को पूरा करेगी तथा इसमे सामान्य लाभ भी सम्मिलित होगे। वसूली (समाहरण) कीमत बाजार कीमत से कम परन्तु समर्थन स्तर से ऊपर होनी चाहिए। अत. वसूली को अनिवार्य रूप मे एक कर माना जाना चाहिए।

यदि मुख्य ध्येय कीमत में कमी हो, तो उपरोक्त योजना सही है। परन्तु यदि उद्देश्य कीमतों को उच्चतम सीमा तक बढाना हो तो वसूली कीमत की बाजार-कीमत से कम होने की कोई जरूरत नही। वसूली कीमतें बाजार-कीमतों के पीछे नही रह सकती। वे एक दूसरे के सदा समीप रहेंगी। उस स्थिति में अच्छे वर्षों मे भी समर्थित कीमतो का कोई रोल नही होगा। १९७३ मे गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण के असफल होने से पूर्व तक सरकार स्वयं भी समर्थित तथा वसूली कीमतो मे अन्तर को स्वीकार नही करती रही। सरकार द्वारा १९६८–६९ मे यह निर्णय कि क्योंकि सरकार बिक्री के लिए प्रस्तुत अनाज की किसी भी मात्रा को वसूली कीमत पर खरीदने के लिए बाध्य है, इसलिए न्यूनतम समर्थित कीमतों की घोषणा करने की कोई आवश्यकता नही, इस बात की पुष्टि करता है। बड़े कृषकों का सरकार पर यह दबाव रहा कि वह **बुआई से पहले वसूली कीमतों की घोषणा कर दे** ताकि वे अपने उत्पादन-प्रोग्राम को बनाने से पहले इसे जान सकें। क्योंकि थोक व्यापार-अधिग्रहण के बाद सरकार ही प्रमुख क्रेता होगी और सरकार द्वारा कृषि-कीमत-आयोग को रबी १९७३ की वसूली कीमतो को सितम्बर, १९७२ मे ही घोषित करने के लिए बाध्य करना इस बात को सिद्ध करता है कि सरकार की दृष्टि मे कीमत-नीति के रूप में न्यूनतम समर्थित कीमतो का निर्धारण अनावश्यक था। खरीफ १९७३ के लिए भी यही नीति अपनाई गई है और आयोग को अपनी रिपोर्ट जून, १९७३ मे देने के लिए बाध्य होना पड़ा। एक ऐसे समय पर वसूली कीमतो के स्तर का निर्धारण करना जबकि बुआई की परिस्थितियो का ज्ञान तक न हो, सही नही कहा जा सकता। आयोग द्वारा सुझाई गई वसूली कीमतों को न्यूनतम समर्थित कीमतें मान लेना आर्थिक चिन्तन के अभाव को प्रकट करता है। तथा इससे *निहित स्वार्थ वाले तत्वो को सरकार पर दबाव डालने का अवसर मिलता है।* इसका परिणाम यह होता है कि फसल की असफलता के समय सरकार अनाज की पूरी वसूली नही कर सकती। थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण की असफलता के कारणो का विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। उस समय इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला गया था। *सफल फसल वर्षों मे वसूली (समाहरण) अनिवार्य रूप में एक समर्थन क्रिया ही है।* यह प्रबन्ध कीमतो मे कमी करने की वांछित नीति से कितना सगत है, इस पर अधिक टिप्पणी की आवश्यकता नही है। कीमत नीति के यन्त्र के रूप मे 'वसूली' प्रोग्राम का मूल्यांकन करने के लिए हमें नीति के एक अन्य यन्त्र *'खाद्य-गति पर प्रतिबन्धों' का भी अध्ययन करना होगा।*

(ii) मण्डलन अर्थात् अनाज की गति पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध–मण्डलन की अर्थात् खाद्यान्नों के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे लाने ले जाने पर प्रतिबन्धो की नीति के पक्ष में एकमात्र तर्क यह है कि प्रत्येक राज्य को अनाज का क्षेत्र बना देने से सरकार के लिए फालतू अनाज *वाले राज्यो मे अनाज की बड़ी मात्राओ को खरीदना आसान हो जाएगा।* मण्डलन तथा कीमत–निर्धारण–नीतियों की अन्तिम कीमतों पर प्रभाव की सीमा वसूली कीमत, वसूली मात्रा तथा समाहृत अनाज के वितरण के स्थान तथा कीमत पर निर्भर होगा। ये तीन तत्त्व औसत अखिल भारतीय कीमत को बढा भी सकते हैं और घटा भी सकते हैं। सरल आनुभविक नियम यह है कि *'अच्छे वर्षों मे प्रतिबन्धो मे ढील' दे देनी चाहिए।* यह नीति विक्रेताओ के लिए हितकर होगी क्योंकि अनाज की बेरोक टोक गति प्रचुर फसल वाले

वर्षों मे कीमतो मे गिरावट के विरुद्ध सर्वोत्तम नीति है जबकि कठोर मण्डलन या क्षेत्रीय प्रतिबन्ध, कीमतों मे काफ़ी कमी ला सकते हैं। समर्थित कीमत के रूप मे वसूली क़ीमतें इस नीति को दृढता प्रदान करती हैं। अच्छे वर्षों मे क्षेत्रीय प्रतिबन्धों में ढील समर्थन-नीति के तुल्य ही है। दोनो उपाय कृषकों के पक्ष मे जाते है। बृहत् मण्डलो का कीमतो पर कोई प्रभाव नही होता अर्थात् वे प्रभावहीन सिद्ध होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनाज के लाने लेजाने पर प्रतिबन्धो मे ढील पजाब तथा हरियाणा जैसे फालतू अनाज वाले राज्यों के किसानो के पक्ष मे है परन्तु उत्तर प्रदेश जैसे आयात करने वाले राज्यो के किसानों के लिए मण्डलन (जोनिंग) ही हितकर है क्योकि ऐसे राज्यो मे मण्डलन की नीति फसल के समय की कीमतो मे वृद्धि कर सकती है। यह ध्यान रहे कि पजाब व हरियाणा मे कुल विक्रेय अधिशेष का ७५ प्रतिशत भाग फसल के समय (अप्रैल-जून) ही मडियो मे आ जाता है जबकि उत्तर प्रदेश मे यह आमद ५० प्रतिशत है। अक्तूबर से मार्च की कमी वाली अवधि मे पजाब व हरियाणा मे कुल विक्रेय अधिशेष का केवल ८ प्रतिशत भाग ही मडियो मे आता है जबकि उत्तर प्रदेश में २० प्रतिशत अधिशेष इन्ही महीनो मे मडियो मे लाया जाता है। वस्तुतः समर्थित कीमतें हर जगह के कृषको के लिए लाभप्रद है यद्यपि वे पजाब तथा हरियाणा के कृषकों के अन्य राज्यो के किसानो की अपेक्षा अधिक अनुकूल हैं। इससे अन्तर्राज्य-अन्तरो मे वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि समर्थन नीति फसल-कटाई के समय कीमतो को बढाती है तथा अमौसमी कीमतो को बिना छेड़े सामान्य स्तर पर रहने देती है।

(ग) वसूली (सरकारी खरीद) कीमत तथा उत्पादन-लागत—इससे पूर्व कि हम उत्पादन-लागतो तथा वसूली कीमतो के बीच सम्बन्धो का अध्ययन करें, पिछले कुछ वर्षों मे सरकार द्वारा निर्धारित समर्थित तथा वसूली-कीमतो का ज्ञान होना जरूरी है। सारणी १०·६ इन पर प्रकाश डालती है।

सारणी १०.६ वरित कृषि पण्यो की समर्थित तथा वसूली कीमतें

(रुपये प्रति क्विटल)

फसल	वर्ष	गारन्टीकृत समर्थित कीमतें	वसूली कीमतें (सरकारी खरीद)
धान	१९६९–७०	४५·००	४५·०० से ५६.२५
	१९७०–७१	४६·००	४६·०० से ७४·००
	१९७१–७२	—	५६·००
	१९७२–७३	—	५६·००
	१९७३–७४	*६३·००	७०·००
चावल (मिल का)	१९६९–७०	—	७२·६९ से ९९·००
	१९७०–७१	—	
	१९७१–७२	—	
	१९७२–७३	—	

ज्वार	१६६९-७०	४४·००	५२.००
	१६७०-७१	४५·००	
	१६७१-७२		
	१६७२-७३		
गेहूं	१६७०-७१	—	७१ से ७६
	१६७१-७२	—	७१ से ७६
	१६७२-७३	—	७६
	१६७३-७४	—	७६
	१६७४-७५	८०·८५	१०५+

नोट. *सरकार ने जून, १६७३ में धान की वसूली कीमत ६३ रु० निर्धारित की, परन्तु बाद में इसे समर्थित कीमत मान लिया गया। + समर्थित एवं वसूली कीमत

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित ही होगा कि आज से कुछ वर्ष पहले तक प्रमुख फसलों के लिए *न्यूनतम समर्थित कीमतें तथा वसूली-(अर्थात् सरकारी खरीद) कीमतें* पृथक्-पृथक् नियत की जाती थी परन्तु बाद मे वसूली-कीमत ही वास्तव में समर्थित कीमत बन गई। मुख्य मन्त्रियों ने इस सम्बन्ध मे यह तर्क दिया कि क्योंकि सरकार स्वयं ही गेहूँ तथा चावल की प्रमुख क्रेता है, समर्थित कीमत के नियतन का कोई अर्थ नहीं। अतः सरकार ने न्यूनतम समर्थित कीमत निर्धारित करना बन्द कर दिया। सरकार द्वारा गेहूँ के थोक व्यापार के अधिग्रहण तक यही स्थिति थी। उस समय सरकार इस स्थिति पर जमी रही तथा अनेक ओर से सुदृढ माँग के बावजूद उसने वसूली कीमत मे कोई भी परिवर्तन करने से इनकार कर दिया। इसी स्थिति पर रहते हुए सरकार ने जून १६७३ मे ही खरीफ (धान) की फसल के लिए ६३ रु० प्रति क्विंटल की वसूली कीमत की घोषणा कर दी। परन्तु उस समय सारी स्थिति बदल गई जब मुख्य मन्त्रियो ने केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय की सहमति से कीमत आयोग द्वारा खरीफ फसल के लिए वसूली कीमत की सिफारिशों को न्यूनतम समर्थित कीमतों मे बदलने का निर्णय ले लिया। इस संदर्भ मे कृषि-कीमत आयोग के विचार स्पष्ट हैं:—

कृषि कीमत आयोग का कहना है कि 'अधिग्रहण के निर्णय के बाद **'न्यूनतम समर्थित कीमत'** की धारणा का उपयोग अनुकूल नहीं बैठता। इसका अभिप्राय है—नियत कीमत पर गेहूँ की एकाधिकार खरीद। एक ऐसे बाजार की अनुपस्थिति मे, जिसमे माँग तथा पूर्ति शक्तियाँ कीमतो मे परिवर्तन लाती हैं, बाजार कीमतों को समर्थन प्रदान करने का प्रश्न ही नही उठता।'—खैर नाम कुछ भी हो, कृषको को बुआई की ऋतु से पहले उसकी उपज के प्राप्त होने वाली गारन्टी-कीमत का पता लगना ही चाहिए।

विचित्र बात तो यह है कि अभी दो महीने पहले ही ये मुख्यमन्त्री 'न्यूनतम समर्थित कीमतो' को निर्धारित करने के विरुद्ध थे। कृषि कीमत आयोग ने जिसकी सिफारिशें प्रायः विशुद्ध आर्थिक कारको पर आधारित होती हैं, इसी बात को ध्यान मे, रखते हुए खरीफ की वसूली-कीमत ५६ रु० प्रति क्विंटल से बढ़ाकर ६३ रुपये प्रति क्विंटल कर दी थी। परन्तु मुख्य

मंत्रियों द्वारा इस कीमत को न्यूनतम समर्थित कीमत के रूप में स्वीकार करना इस बात का द्योतक था कि खरीफ फसलो की वसूली कीमतें इससे भी काफ़ी अधिक होगी। अक्तूबर, १९७३ मे सरकार द्वारा धान की खरीद कीमत ७० रुपये प्रति क्विंटल निर्धारित की गई। अभी मई १९७३ मे ही मुख्य मंत्री धान की वसूली कीमत ६५ रु० प्रति क्विंटल निर्धारित करने की माँग कर रहे थे। सरकार के इस निर्णय के दो ही कारण हो सकते हैं– एक यह कि सरकार गेहूँ के थोक व्यापार के अधिग्रहण-कार्यक्रम की असफलता के बाद किसी प्रकार का जोखिम नही उठाना चाहती और अपने वसूली लक्ष्य को पूरा करने के लिए किसी भी कीमत को देने के लिए तैयार है। दूसरे शब्दो मे यह निर्णय व्याप्त संकट तथा आतंक का परिणाम था। दूसरे यह कि सरकार किसान लॉबी तथा अन्य निहित स्वार्थ वाले तत्त्वों के दबाव द्वारा प्रभावित हुई है। जो कुछ भी हो धान की वसूली कीमत मे १४ रुपये प्रति क्विंटल की अत्यधिक वृद्धि (१९७२ मे ५६ रु० प्रति क्विंटल से बढकर १९७३ मे ७० रु प्रति क्विंटल) किसी भी तरह न्यायोचित नही। कम से कम इतनी अधिक वृद्धि का कोई आर्थिक आधार नहीं। अब सरकार ने १९७४-७५ के लिए गेहूँ की न्यूनतम समर्थित कीमत ८५ रु० प्रति क्विंटल निर्धारित की है। वसूली-कीमत की कटाई से पहले घोषणा की जाएगी। इस निर्णय से कीमत-निग्रह (प्राईस रेस्ट्रेन्ट) के ध्येय को काफी धक्का लगा है। 'कीमतो मे इतनी वृद्धि उपभोक्ता के हितों को कहाँ तक रक्षा करती है?' यह विचारणीय है। मार्च, १९७४ मे सरकार ने १९७४-७५ के लिए गेहूँ की समर्थित एव वसूली कीमत १०५ रुपये प्रति क्विंटल रखी है जबकि कृषि कीमत आयोग ने ९५ रुपये प्रति क्विंटल का सुझाव दिया था। एक ही वर्ष मे कीमत मे ७६ रुपये से १०५ रुपये तक की यह अत्यधिक वृद्धि (३७ प्रतिशत) निर्धन उपभोक्ताओ के हितो की घोर उपेक्षा ही मानी जाएगी।

यह कहा जाता रहा है कि सरकार द्वारा निर्धारित गेहूँ की वसूली-कीमतें इसकी उत्पादन-लागत को पूरा नहीं करती तथा गेहूँ कृषि को फलदायक तथा लाभदायक बनाने के लिए अधिक कीमत तथा अतिरिक्त प्रेरणाओं की आवश्यकता है। विशेष रूप मे सरकार द्वारा गेहूँ के थोक व्यापार के अधिग्रहण के समय इस बात को बहुत उछाला गया। इस तर्क की सत्यता की जाँच करने के लिए यह आवश्यक है कि गेहूँ की उत्पादन लागत से संबंधित तथ्यो का अध्ययन किया जाए।

कृषि-कीमत-आयोग ने १९७१–७२ की गेहूँ की फसल से संबंधित उत्पादन लागत के अनुमान लगाए हैं। ये अनुमान क्षेत्र आँकडो पर आधारित हैं जिनका संग्रहण तथा संकलन पंजाब, हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश के विश्वविद्यालयो, कृषि-अर्थ अनुसंधान केन्द्रों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा किया गया। लागत के परिकलन मे चार उपादानों को ध्यान मे रखा गया।

(i) पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश मे गेहूँ की नकद जिन्स लागतें (पेड आउट कॉस्ट्स) क्रमश: २७.०७ रुपये, २३.५७ रुपये तथा १९.४८ रुपये प्रति क्विंटल थी। नकद जिन्स लागतो मे मानव-पशु-श्रम का भाड़ा, बीज, खाद, उर्वरक, कीटनाशी, सिंचाई आदि पर व्यय, उपकरणो तथा कृषि भवनो का मूल्यह्रास, फसल-ऋणो पर ब्याज, भूराजस्व तथा अन्य कर सम्मिलित हैं।

(ii) यदि नकद लागतों मे कृषकों द्वारा पट्टे पर ली गई भूमि का किराया जोड़ दिया

जाए तो पंजाब, हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश में उत्पादन लागत क्रमशः २८.४४ रुपये, २४.०७ रुपये तथा १६.६४ रुपये प्रति क्विंटल हो जाएगी।

(iii) यदि उपरोक्त लागत में निजी भूमि का किराया तथा निजी अचल पूंजी का ब्याज भी जोड़ दिया जाए तो औसत लागत पंजाब में ५४.३४ रुपये, हरियाणा में ४१.३६ रुपये तथा उत्तर प्रदेश में ४२.३४ रुपये हो जाएगी।

(iv) और अन्त में यदि परिवार-श्रम का आरोपित मूल्य (मजदूरी) भी इन लागतों में जोड़ दिया जाए तो, औसत व्यापक (समस्त) लागत पंजाब में ६१.०४ रुपये, हरियाणा में ४८.१० रुपये तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ४६.६८ रुपये प्रति क्विंटल तक पहुँच जाती है।

इसके आधार पर यह स्पष्ट है कि ७६ रुपये, प्रति क्विंटल की निर्धारित वसूली कीमत (तथा सरकार द्वारा कृषक को उसका गेहूँ इस कीमत पर खरीदने का आश्वासन) किसान को काफ़ी अच्छा लाभ सुलभ कराती है तथा किसान के लिए उत्पादन व उत्पादिता में वृद्धि हेतु आकर्षक प्रेरणा प्रस्तुत करती है। अतः वसूली-कीमत केवल उत्पादन-लागत को ही पूरा नहीं करती बल्कि कृषक को कृषि के व्यवसाय को अपनाने के लिए सामान्य लाभ भी प्राप्त कराती है।

इन्हीं अध्ययनों के आधार पर कृषि-कीमत-आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि गेहूँ की वसूली-कीमत किसान के लिए न्याय संगत है। किसान का अपना लाभ कुल लागत का लगभग २५ प्रतिशत होता है जो कम नहीं कहा जा सकता।

सामान्यतः वसूली कीमतों का निर्धारण उत्पादन की औसत लागत के आधार पर किया जाता है परन्तु उत्पादन की औसत लागत की यह आधारिक संकल्पना भी विवाद रहित नहीं है[1]। ऊँची वसूली कीमत की माँग करने वालों का तर्क यह है कि अब तक कीमत स्तर का धारण करते समय हम उत्पादन की औसत लागत को ही आधार मानते आए हैं। उनके अनुसार ऐसा करना ठीक नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों तथा भिन्न-भिन्न खेतों के लिए उत्पादन-लागत भिन्न-भिन्न होती है और औसत उत्पादन-लागत पर आधारित कीमतें केवल उन थोड़े-से बड़े कृषकों को ही प्रोत्साहित कर सकती हैं जो अधिक धनी तथा अधिक दक्ष हैं। परन्तु कृषकों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिए जिनकी लागत औसत लागत से अधिक होती है, ये कीमतें प्रेरणा-विहीन सिद्ध हो सकती हैं। (जरूरी नहीं यह धारणा ठीक हो), उनका मत है कि अभाव की स्थिति में कीमत ऐसी होनी चाहिए जो दोनों प्रकार के कृषकों की उत्पादन-लागतों को पूरा करे। अतः कीमत-नीति में उत्पादन की औसत लागत की संकल्पना को अत्यधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं तथा कीमत इस प्रकार से निर्धारित की जानी चाहिए जिसमें सीमा के उत्पादन की लागत पूरी हो सके। उनके अनुसार गेहूँ की कीमत १३० रुपये प्रति क्विंटल होनी चाहिए क्योंकि अनके कृषकों की उत्पादन लागत १३० रु० प्रति क्विंटल है। ध्यान रहे कि उत्पादन की औसत लागत केवल ६१.४७ रु० है। दूसरे शब्दों में उनका कहना यह है कि कीमत इसलिए अधिक होनी चाहिए क्योंकि कृषकों का एक वर्ग दूसरे वर्ग की अपेक्षा कम दक्ष है और उसके उत्पादन की लागत अपेक्षाकृत

१ देखिए एस. एस. जोल : ह्वीट प्राइस पॉलिसी (फाइनैंशल एक्सप्रेस, १६७४)

अधिक है। यह एक विचित्र तर्क है और अदक्षता के लिए बोनस की मांग के तुल्य है। वास्तव मे हर कृषक का यह प्रयत्न होना चाहिए कि वह कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन करे और अपनी दक्षता को बढाए। कीमत इतनी होनी चाहिए जिससे उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो वर्गों के हितो की रक्षा हो। श्रेयस्कर यह होगा कि कृषको को उचित दामो पर निविष्टियो की सप्लाई की जाए ताकि उनकी उत्पादन-लागत अधिक न हो। इनके वितरण की वर्तमान व्यवस्था को भी अधिक सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

वसूली कीमत को बढाने की मांग के लिए एक दलील यह दी जाती है कि इन वर्षों मे निविष्टि-कीमतो मे काफी वृद्धि हो गई है परन्तु वसूली-कीमतें १९७१–७२ व १९७२–७३ मे वही रही है। यह ध्यान रहे कि कुल व्यापक लागत का ६२.६६ प्रतिशत प्रचालन-लागतें हैं जबकि बँधी लागतो का भाग ३७.३४ प्रतिशत है। बीज, खाद, उर्वरक तथा कीटनाशी पदार्थों पर कुल लागत का २० प्रतिशत व्यय होता है। सिंचाई प्रभार ८.६६ प्रतिशत है। कहने का अभिप्राय यह है कि निविष्टि-लागतें कुल लागत का अपेक्षाकृत लघु भाग है। कृषि कीमत-आयोग के परिकलनो के अनुसार निविष्ट-कीमतो मे १९७२–७३ मे १९७१–७२ के स्तर की तुलना मे ६.६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यदि कुल निविष्ट लागतें ३० प्रतिशत भी हो अर्थात् पंजाब मे ये लागतें १८.३० रु० प्रति क्विटल हो और इनकी कीमतों मे ६.६ प्रतिशत वृद्धि की गुंजायश भी कर दी जाए तो कुल लागत मे केवल १ २१ रु० प्रति क्विटल की वृद्धि होगी और पजाब मे कुल लागत ६२.२५ रु० प्रति क्विटल होगी। उस स्थिति मे ७६ रुपये प्रति क्विटल की वसूली कीमत कम नही कही जा सकती। इसलिए अधिक कीमत की माँग को निहित स्वार्थ वाले तत्वो के भ्रामक प्रचार से बल मिला है। वैसे ७६ रु० प्रति क्विटल की कीमत कम नही है। अतः १९७४ रबी की फसल के लिए ८५ रुपये प्रति क्विटल समर्थित कीमत के निर्धारण मे कृषि-कीमत-आयोग का निर्णय कुल लागत पर ही आधारित नही अपितु वह अनेक अन्य कारको द्वारा भी प्रभावित हुआ है जिनका उल्लेख आयोग ने स्वय अपनी रिपोर्ट मे भी किया है। इस सम्बन्ध मे आयोग के जो विशेषज्ञों तथा विशुद्ध अर्थ-शास्त्रियों की समिति है, विचार स्पष्ट तथा मार्गदर्शी हैं। इनका वर्णन हम आगे करेंगे। मार्च १९७४ में कीमत-आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे १९७४–७५ के लिए गेहूँ की वसूली कीमत ९५ रु० प्रति क्विटल रखने की सिफारिश की है। आयोग का कहना है कि विश्व के बाजारों मे गेहूँ की मात्रा मे कमी और फलस्वरूप कीमत अधिक होने के कारण सरकारी खरीद कीमत का बढ़ाना आवश्यक हो गया है। ध्यान रहे कि आयोग द्वारा सुझाई गई सरकारी खरीद की यह कीमत इसके द्वारा घोषित ८५ रु० प्रति क्विटल की समर्थित कीमत से १० रु० प्रति क्विटल अधिक है और आयोग का यह कहना है कि पिछले वर्ष की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए और खाद व ईधन आदि निविष्टियो की कीमतो मे वृद्धि के कारण होने वाली उत्पादन लागत मे वृद्धि को यह बढ़ोतरी पूरा कर सकेगी। यह वृद्धि निविष्टि-लागतो मे ४० प्रतिशत तक की वृद्धि को पूरा करती है। १९७३–७४ मे निविष्ट कीमतो मे इससे अधिक वृद्धि तो नही हुई ?

जैसे कि ऊपर बताया गया है कृषि-कीमत-आयोग एक सलाहकार समिति है, नीति-

विवान करने वाली नही। इसलिए जहाँ इसकी सिफारिशें अधिकाश आर्थिक चिन्तन से प्रेरित होती हैं, वहाँ मुख्यमन्त्री, जो वास्तविक रूप मे नीति-निर्धारक हैं, आर्थिकेतर कारकों द्वारा भी प्रभावित होते हैं और ऐसी स्थिति मे समाज के आर्थिक कल्याण के वास्तविक उद्देश्यो के दृष्टि से ओझल होने की अधिक सभावना होती है। यह ध्यान रहे कि जहाँ तक कीमतों के निर्धारण का सम्बन्ध है उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ के हित कुछ हद तक एक दूसरे के विरोधी होते हैं। भारत मे उत्पादक-वर्ग उपभोक्ताओ की तुलना मे काफी अधिक शक्तिशाली हैं। इसीलिए यदि कीमत-नीति का निर्धारण उनके दबाव मे आकर किया जाएगा तो कमजोर वर्गों के हितों की क्षति होगी। इसलिए अल्प आय वाले देशो मे वही कीमत-नीति सफल सकती है जिसमे उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ दोनो वर्गों के हितो का सामजस्य हो, अन्यथा आर्थिक अशान्ति, राजनैतिक अशान्ति अथवा अराजकता को जन्म देती है।

इसमे कोई शक नही कि कृषि-कीमत-आयोग की सिफारिशें चालू आर्थिक परिस्थितियो तथा कीमत-नीति के उद्देश्यो के अनुरूप होती हैं और उनमे बिना ठोस कारण कोई भी परिवर्तन उद्देश्य-पूर्ति में बाधा डालता है और जहाँ तक हो सके उनमे कोई बहुत बडा परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये।

परन्तु सरकार द्वारा सदा से ही कृषि-कीमत-आयोग तथा उसकी सिफारिशों की उपेक्षा की गई है और जैसे कि सारणी १०७ से स्पष्ट है सरकार ने आयोग की सिफारिशो को कभी भी स्वीकार नही किया।

सारणि : १०.७ गेहूँ की वसूली कीमते (विपणन मौसम)

(रुपये प्रति क्विटल)

वर्ष	राज्य	सामान्य देसी		मैक्सीकन	
		×कृ.की.आ.	सरकार+	कृ.की.आ.	सरकार
१९६७–६८	हरियाणा	६१.५०	७६.००		
	पंजाब	६१ ५०	८५ ००		
	उ.प्रदेश	६१.५०	७६ ००		
१९६८–६९	सब राज्य	७० ००	७६ ००	६६ ०० से ७ ००	७६.००
१९६९–७०	सब राज्य	७०.००	७६.००	७० ००	७६.००
१९७०–७१	सब राज्य	७२ ००	७६.००	७२.००	७६.००
१९७१–७२	सब राज्य	७४.००	७६.००	७४.००	७६ ००
१९७२–७३	सब राज्य	७२.००	७६.००	७२.००	७६.००
१९७३–७४	सब राज्य	७६.००	७६.००	७६.००	७६.००
१९७४–७५	सब राज्य	९५	१०५.००	९५	१०५ ००

×कृषि कीमत आयोग की सिफारिशें
+राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित कीमतें
स्रोत : कृषि कीमत आयोग के प्रतिवेदन

ज्ञातव्य है कि पिछले वर्षों मे गेहूँ के उत्पादन मे काफी वृद्धि के बावजूद इसकी कीमत मे कोई विशेष कमी नही हुई। कीमतो मे इस उपनति के लिए सरकार द्वारा अपनाई गई नीतियाँ जिम्मेदार हैं। सरकार की वसूली तथा अनाज की गति पर प्रतिबन्ध सम्बन्धी नीति ऐसी रही है जो वडे कृपकों, विशेषकर पजाब तथा हरियाणा क्षेत्र के बड़े कृपको के पक्ष मे रही है और इससे वड़े कृपको के हितो की ही रक्षा हुई है। इस प्रकार के पक्षपाती हस्तक्षेप से अन्तर्राज्य तथा अन्तर्क्षेत्रीय असमताओ को बढावा मिलता है और कीमतो मे वृद्धि से आय वितरण पर दुष्प्रभाव पडता है। इससे सिद्ध होता है कि सरकार द्वारा अपनाई गई नीति कीमत-नीति के घोषित उद्देश्यो के सदर्भ मे सगत नहीं है।

प्रश्न उठता है कि क्या सरकारी उपेक्षा के कारण कृषि-कीमत-आयोग जैसी गैर सरकारी विशेषज्ञ सस्था द्वारा अपनी जिम्मेदारी का परित्याग उचित माना जाएगा? कदापि नही। इस स्थिति मे आयोग के काम का महत्त्व तथ्यो को अनावृत करने तथा सरकारी नीति के लक्ष्यो की उलझनो की व्याख्या तथा इस सम्बन्ध मे सरकार को सतर्क करने मे निहित है। और इस सदर्भ मे कृ. की आयोग का नवीनतम प्रतिवेदन सही मार्गदर्शन करता है। अपनी सिफारिशो के सम्बन्ध मे आयोग ने लिखा है :—

"देश में वर्तमान कठिन खाद्य-स्थिति, तथा सुरक्षित भंडार की दुबारा पूर्ति की आवश्यकता की दृष्टि से अच्छी न कही जाने वाली स्थिति की मध्यकालिक सम्भावनाओ को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि बुआई के मौसम से पहले घोषित की जाने वाली गेहूँ की गारण्टीकृत कीमत उस कीमत के लगभग सन्निकट होनी चाहिए जिस पर सम्भवतः वसूली की जानी है। इस कीमत का अनुमान, १९७२–७३ की गेहूँ फसल की घोषित वसूली एव समर्थित कीमत मे निविष्टि-कीमतो मे उत्तरवर्त्ती परिवर्तनो का समायोजन करके, तथा इस बात के लिए कि कृपको को गेहूँ के थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण के परिणामस्वरूप अपना विक्रेय अधिशेष नियत कीमतो पर बेचना पडेगा, अतिरिक्त लाभ प्रदान कर के लगाया जा सकता है।" यह ध्यान रहे कि मुक्त व्यापार की स्थिति मे एक कृपक अनाज के अभाव के समय मे अपनी उपज के लिए वसूली एव समर्थित कीमत से अधिक कीमत प्राप्त कर सकता है और अधिग्रहण की स्थिति मे उसे इस अतिरिक्त लाभ से वचित होना पड़ेगा, इसलिए उसे अतिरिक्त लाभ दिया जाना चाहिए।

आयोग ने लिखा है कि 'इस आधार पर बुआई की ऋतु से पहले घोषित की जाने वाली गेहूँ की उचित गारंटीकृत कीमत ८५ रु० प्रति क्विटल होगी।

कृषि-कीमत आयोग ने आगे लिखा है कि 'जहाँ तक सम्भव हो सिफारिश की गई कीमतों को विपणन-मौसम से तुरन्त पहले न छेड़ा जाए और इन्हे ही वसूली-कीमत के रूप में रखा जाए।' इसकी पुष्टि मे आयोग का कहना है कि वर्तमान स्थिति मे जब देश का कमजोर वर्ग स्फीति-दबावों के भार से कराह रहा है, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के गेहूँ की बिक्री कीमत में वृद्धि करने की भी एक सीमा है।'

"इस प्रतिबन्ध तथा स्फीति-ज्वार-भाटे को रोकने के लिए एक उपाय के रूप मे सरकारी उपदान (सबसिडी) को सीमित करने की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए आयोग इस बात की आवश्यकता पर बल देता है कि विपणन-मौसम से पहले वसूली कीमत में किसी

भी और वृद्धि के विचार मे अत्यधिक सयम बर्ता जाए।" क्या सरकार इस सिफारिश को ध्यान मे रखेगी ?—यह निश्चित नहीं है।[1]

हम विभिन्न कीमत-स्थिरीकरण कार्यक्रमो के प्रमुख तत्त्वो का अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ यह लिखना उचित ही होगा कि कीमत-स्थिरीकरण-योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए बृहत् प्रशासनिक ढाँचे की आवश्यकता होती है और इन समाधनो मे काफी अधिक व्यय होगा।

कृषि कीमतों की समस्याओ तथा नीतियो से सम्बन्धित कोई अध्ययन भी पूरा नही होगा जबकि **कृषि-निविष्टियों के कीमत-निर्धारण** (प्राइजिंग ऑफ इनपुट्स फॉर एग्रीकल्चरल) का विवेचन उस अध्ययन का महत्त्वपूर्ण भाग न हो । यद्यपि क्रीत निविष्टियो पर व्यय कुल लागत का थोडा-सा भाग ही है परन्तु इनकी कीमतो का कृषको के निर्णयो पर काफी प्रभाव पड़ता है। इस विषय पर निम्न सक्षिप्त नोट हमारे अध्ययन के लिए पर्याप्त है।

१०.१० निविष्टियों का कीमत-निर्धारण

नवीन टैक्नॉलोजी के अनुप्रयोग के परिणामस्वरूप क्रीत निविष्टियो का महत्त्व बहुत बढ गया है। उपादान-उत्पाद कीमत-सम्बन्धों मे परिवर्तनो का कृषि-आयो पर काफ़ी प्रभाव पडता है। निविष्टियो की बढती हुई कीमतो तथा इनके उपयोग की तीव्रता के परिणामस्वरूप किसान लोग **लागत-कीमत अधिसकुचन** अनुभव करते हैं तथा फलस्वरूप उनको नेट आय मे कमी होती है। कृषक अपनी वार्षिक कृषि आय का काफी बड़ा भाग फार्म सुधारो मे निवेशित करते आ रहे है। निवेश की गति को बनाए रखने के लिए यह ज़रूरी है कि कृषको को पर्याप्त लाभाश से आश्वासित किया जाए और कई मौसम पहले न्यूनतम गारटी-कीमतो की घोषणा की जाए। क्योंकि उत्पादको की प्रेरणाएँ क्रीत निविष्टियो की कीमतो तथा उपज की कीमतो दोनो द्वारा प्रभावित होती हैं, इसलिए कीमत-नीति की रचना इस प्रकार से होनी चाहिए कि दोनो के बीच लाभप्रद सम्बन्ध स्थापित हो जाएँ।

विशिष्ट निविष्टियों (जैसे जल, उर्वरक, बीज आदि) की कीमतों से सम्बद्ध अध्ययन हम विस्तारपूर्वक अध्याय ३, ४ तथा ५ मे कर चुके है। यहाँ इतना लिख देना काफ़ी है *कि निविष्टियों से सम्बन्धित कीमत अनिश्चितताओं को जहाँ तक हो सके कम करना चाहिए* ताकि कृषक उनके उपयोग को अधिक मात्रा मे स्वीकार कर सकें तथा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके। निविष्टियो की कीमतें भी स्थिर की जानी चाहिएँ । निविष्टियो को खरीदने के लिए उन्हें उधार दिया जाए जिसे वे जिन्स मे या उपज कीमत से सबद्ध नकद राशि द्वारा लौटा सकें। वितरण-माध्यमो की दक्षता तथा प्रतियोगिता भी निविष्टियो की कीमत को प्रभावित करती है।

---

१. अनुलेख इस परिच्छेद के लिखने के कुछ देर बाद ही सरकार ने १६७४-७५ के लिए गेहूँ की समाहरण कीमत १०५ रु० प्रति क्विटल निर्धारित की है। यह बात हमारे उपरोक्त विश्लेषण तथा आशका की पुष्टि करती है।

१०.११ भारत में सरकारी खाद्य-नीति : उद्देश्य एवं साधन

कीमत-नीति का सरकारी खाद्य नीति से सीधा सम्बन्ध है। इसलिए अध्याय का समाप्त करने से पूर्व उसके स्वरूप पर भी प्रकाश पडना आवश्यक है। चौथी योजना मे खाद्य-नीति के मुख्य उद्देश्य हैं :—

(१) उपभोक्ता कीमतो को स्थिर करना, विशेषकर निम्न आय वर्ग के लोगों के हितो की रक्षा करना;

(२) उत्पादको को उचित कीमतो की प्राप्ति तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन सुनिश्चित कराना;

(३) उल्लिखित दोनो उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए खाद्यान्नो के पर्याप्त सुरक्षित भडारो (बफर स्टाक) का निर्माण करना।

ऊपर निर्दिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति हेतु उपलब्ध खाद्य-साधनो, कीमत-उपनतियो आदि पर निर्भर रहते हुए खाद्य-समरण का दक्ष प्रबन्ध करना तथा लचीली नीति अपनाना आवश्यक है। आवश्यक उपाय निम्न दिए गए हैं :—

(क) सार्वजनिक वितरण प्रणाली को जारी रखना;

(ख) सुरक्षित भडार तथा सार्वजनिक वितरण-प्रणाली की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनाज के विक्रेय अधिशेष के काफी बड़े भाग को सरकारी खरीद द्वारा वसूल करना;

(ग) वसूली लक्ष्यो को पूरा करने के लिए या अभाव की स्थिति मे कीमतों मे अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यकतानुसार खाद्यान्नो के लाने-लेजाने पर प्रतिबन्ध लगाना;

(घ) सट्टेबाजी तथा जमाखोरी पर रोक लगाने के लिए बैंक अग्रिम ऋणों तथा निजी व्यापार का नियमन;

(ङ) वायदा व्यापार (फोरवर्ड ट्रेडिंग) पर लगाई गई रोक को जारी रखना।

फिलहाल, इन सभी उपायो को नीति के तत्वों के रूप मे अपनाया जा रहा है। स्थिति के अनुसार इन तत्वो द्वारा किए जाने वाले कार्यों मे परिवर्तन किया जा सकता है। उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इन तत्वो का उचित समन्वय तथा सयोजन आवश्यक है। सरकारी नीति के अनुसार कि '**उत्पादन में वृद्धि काफी मात्रा में सुरक्षित भंडार का निर्माण, आंतरिक वसूली (खरीद) तथा विस्तृत सार्वजनिक वितरण-प्रणाली के दक्ष संचालन द्वारा ही खाद्यान्न कीमतों की स्थिरता को सुनिश्चित किया जा सकता है।** खाद्यान्न तथा व्यापक उपभोग के अन्य पदार्थों के सहकारी वितरण को भी बढावा देने की आवश्यकता है। कीमतो की कुंजी अस्फीतिकारी ससाधनो के जुटाव (मोबिलाइजेशन ऑफ नॉन इनफ्लेशनरी रिसोर्सेज) तथा उत्पादन-वृद्धि के लिए सतत प्रयासो मे निहित है।'

१०.१२ साराश : उचित कृषि-नीति की सकल्पना

'कृषि-कीमत-नीति कैसी हो' यह एक विवाद का विषय है। कृषि-कीमत-नीति मुक्त व्यापार से लेकर मुक्त व्यापार की पूर्ण समाप्ति तक कोई भी रूप ले सकती है। किसी भी देश

मे नीति उपाय दीर्घकालिक कृषि-कीमत-नीति की आवश्यकताओं के सदर्भ मे सुविचारित ढग से लागू किए जाने चाहिएँ। इस सबध मे खाद्य-नीति-समिति ने अपने प्रतिवेदन मे १९४७ में कहा था '**समस्या का वास्तविक समाधान आयात या समाहरण तथा वितरण पर नियंत्रण मे नहीं है बल्कि घरेलू उत्पादन में वृद्धि करके ही देश की खाद्य-समस्या को हल किया जा सकता है।**' खाद्य-उत्पादन मे असफलता के कारण ही इस शताब्दी के छठे दशक मे वितरण पर नियत्रण करने की आवश्यकता अनुभव हुई जिसके कारण बाद में मुक्त व्यापार का पूर्णतः अत हो गया।

हमने यह देखा है कि विक्रेय अधिशेष की आशिक या पूर्ण अनिवार्य वसूली की नीति असफल रही है क्योंकि निर्धारित कीमतें बाजारी शक्तियो की उपेक्षा करती रही हैं। बडे-बडे नगरो मे कानूनी राशनिंग के कारण सरकार का कार्य बढ़ गया तथा वितरण के लिए इसे आयातित अनाज पर निर्भर रहना पडा। व्यापक रूप में चोर बाजारी के कारण स्थिति और भी बिगडती गई और सरकार की खाद्य-नीति विवाद का केन्द्र बन गई। यह आवश्यक है *कि वर्तमान वितरण-व्यवस्था को सुधारा जाए या पूर्णतः बदल दिया जाए। हमारी वर्तमान* खाद्य-नीति बाजार-पूर्तियो को जुटाने तथा परिणामस्वरूप देशीय अनाज बाजार को स्थिरता देने मे असफल रही है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि खाद्यान्न-सबधी सरकारी नीतियो जैसे मडलन, वितरण, समाहरण (वसूली) उच्चतम कीमतो का नियतन आदि का मुख्य उद्देश्य इनकी कीमतो को नीचे रखना रहा है जबकि दालो, तिलहन तथा अन्य नकदी जिन्सो की कीमतो के बारे कोई नीति नही अपनाई गई है। परिणामस्वरूप जहाँ इन वस्तुओ की कीमतें मुक्त बाजार-शक्तियों के कारण बढती-घटती रही हैं, खाद्यान्नो की कीमतें नियत्रित रही हैं। ऐसी स्थिति मे यदि *वाणिज्यिक फसलो की कीमतो को खाद्यान्नो की कीमतों की अपेक्षा बढने दिया जाए तो खाद्य* फसलो मे उपयोग की जाने वाली निविष्टियों का उपयोग अखाद्य फसलो के उत्पादन के लिए होने लगेगा। इससे खाद्यान्नो की कीमतो के बारे मे अनिश्चितता भी बढेगी। अत यह जरूरी है कि कृषि-कीमत-नीति के ध्येयो को निश्चित किया जाए। खाद्य-कीमतों के नियंत्रण तथा वाणिज्यिक फसलो के लिए मुक्त बाजार का परिणाम यह होगा कि अखाद्य फसलों के उत्पादन मे खाद्य फसलों की कीमत पर वृद्धि होगी तथा खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता का लक्ष्य पूरा नही हो सकेगा। **यदि लक्ष्य खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना है तो खाद्यान्नों तथा अन्य कृषि फसलो की कीमतों मे समता लानी पड़ेगी।** इससे ससाधनो का खाद्य *फसलो मे अधिक आवटन होगा। मुक्त बाजार मे अनाज की माँग में वृद्धि ऊँची कीमतों के* प्रभाव से नियत्रित हो जाएगी।

जैसाकि हम ऊपर बता चुके हैं **कि खाद्यान्नो की कीमत में वृद्धि या आर्थिक शब्दों में 'व्यापार-स्थिति का कृषि-क्षेत्रक के पक्ष' में होना ही काफ़ी नहीं है।** प्रो० राजकृष्ण ने 'व्यापार-स्थिति को कृषि' के पक्ष में करने की नीति को 'ऋणात्मक नीति का नाम दिया है। (सुन्दर विवरण व समीक्षा के लिए साउथवर्थ जानस्टन द्वारा संपादित पुस्तक एग्रीकल्चरल डेवलपमेंट एन्ड इकोनोमिक ग्रोथ, कार्नेल विश्वविद्यालय, न्यूयार्क, १९६८ में राजकृष्ण का कृषि-कीमत-नीति तथा आर्थिक विकास नामक लेख देखें)। हम इस नीति के गुण-दोषो की

व्याख्या कर चुके हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि देशीय व्यापार की स्थिति यद्यपि कृषि-क्रांति लाने मे सफल न हो परन्तु वह तकनीकी परिवर्तनों द्वारा लाए जाने वाले सवृद्धि-दर को तेज *या कम कर सकती है। वितरण-प्रक्रियाएँ इस सबध मे महत्त्वपूर्ण हैं।*

कृषि-कीमत-नीति को अनेक कार्य करने होते हैं जैसेकि कृषि तथा कृपीतर-क्षेत्रो के बीच ससाधनो का आवटन, कृषि क्षेत्र के अन्दर ससाधन-आवटन, बचत तथा निवेश दरों को बढ़ाना तथा क्षेत्रो, क्षेत्रको तथा वर्गों मे आय का वितरण आदि।

उन उपायो का जो कृषि कीमतो को ऊँचा करने के लिए किए जाते हैं, परिणाम यह होता है कि *ससाधन कृषि क्षेत्र में उपयोग होने लगते हैं और अन्य क्षेत्रको की सवृद्धि मंद हो* जाती है। ऐसी नीति से जहाँ कृषि को लाभ होता है वहाँ अन्य क्षेत्रो को हानि होती है। **सामान्यतः कृषि-कीमतों में वृद्धि कीमत-नीति की असफलता की प्रतीक है।**

अल्पविकसित देशों मे बढती हुई जनसंख्या, निम्न औद्योगिक विकास, मद गति से बढती हुई प्रति व्यक्ति आय तथा तकनीकी रूप मे गतिहीन कृषि के परिप्रेक्ष्य मे कृषि-कीमतो का बढ़ना स्वाभाविक ही है जबतक कि कृषि-पदार्थों की माँग को कृत्रिम रूप मे कम न किया जाए या जबतक कृषि पदार्थों का आयात न बढाया जाए।

यदि माँग को नियत्रित कीमतो या राशनिंग द्वारा कम किया जाता है तो क्रय-शक्ति का *उन पण्यो मे अतरण हो जाएगा जो दुर्लभ विदेशी मुद्रा का उपयोग करते हैं या उन* पदार्थों मे जो उपभोक्ता-माल-उत्पादन मे ससाधनो का अतरण करते है। दोनो स्थितियो मे पूँजीगत माल मे कमी होगी। यदि आयात किया जाता है तो विदेशी मुद्रा का व्यय करना पड़ेगा और आयातित पूँजीगत माल के अभाव के कारण विकास धीमा पड जाएगा।

यदि कृषि-कीमतो की माँग को, कम करके या आयात को बढाकर, कम नही किया जाता तो ससाधन अर्थव्यवस्था के कृषीतर क्षेत्रक से कृषि-क्षेत्रक की ओर चले जाएँगे। कृषि मे तकनीकी गतिहीनता की स्थिति मे इन ससाधनो के घटते हुए प्रतिफल प्राप्त होंगे जिनसे कृषि क्षेत्र मे उत्पादन लागतें बढ जाएँगी। फलस्वरूप बढ़ती हुई नकद मजदूरी तथा कृषि आधारित कच्चे माल की लागतें औद्योगिक क्षेत्रक मे सवृद्धि-दर को मद कर देती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कृषि-क्षेत्रक मे तेज गति से प्रौद्योगिकीय प्रगति हो। इस संकल्पना का विश्लेषण अध्याय १२ मे रेनिस-फे के मॉडल मे भी किया गया है।

आदर्श कृषि कीमत-नीति वह है जो उत्पादन व बाजार प्रधान हो तथा **विवृत बाजार क्रियाओं व संरक्षित भडारों पर निर्मित** हो। इस नीति के कारण अच्छी फसल के समय कृषि-कीमते नही गिरेंगी क्योकि सरकार फालतू अनाज समर्थित कीमतो पर स्वय खरीद लेगी जिसका उपयोग अभाव के समय मे औद्योगिक श्रम और निर्धन वर्गों को उचित मूल्य पर देने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार की नीति निश्चितता प्रदान करेगी। आयात *पर बहुत अधिक निर्भर रहना भी उचित नही है क्योकि ठीक समय पर आयातित अनाज का* प्राप्त न होना अनिश्चितता उत्पन्न करता है। ऐसी उच्चतम तथा निम्नतम कीमतो का नियतन जो बाजारी शक्तियो की उपेक्षा करे, कृषको व व्यापारियो द्वारा अनाज की जमा-खोरी करने को बढ़ावा देता है और अस्थिरता और आशका उत्पन्न करता है जबकि सरकारी

नीति का मुख्य उद्देश्य स्थिरता प्रदान करना होता है।

किसी भी नीति की सफलता के लिए दक्ष प्रशासन का होना आवश्यक है। सरकारी नीति ऐसी होनी चाहिए जिसमे उत्पादक व उपभोक्ता दोनो के हितों को रक्षा हो। संक्षेप में नीति ऐसी होनी चाहिए जो कृषि मे तेजी से तकनीकी परिवर्तन लाकर उत्पादन मे वृद्धि ला सके।

अध्याय ११

फार्म-परिमाप तथा भूमि-सुधार

११.१ परिचय :

आधुनिक रीतियो तथा नवक्रियाओं का पूर्ण लाभ तभी उठाया जा सकता है जब कृषक का अपनी उत्पादन-निविष्टियो तथा ससाधनो पर पर्याप्त नियन्त्रण हो। कृषक के लिए *भूमि उत्पादन का अनिवार्य उपादान है, अतः सबसे महत्त्वपूर्ण निविष्टि है।* यह कृषक का अपनी भूमि पर पैतृक अधिकार तथा नियन्त्रण ही है जो उसे अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित करता है और परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित करता है। भूमि उसे आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है जो उसकी उत्पादन-निविष्टियो व आकार तथा अपने उपज के विपणन व उपभोग पर बेहतर नियन्त्रण रखने मे सहायक होती है। यही कारण है कि **'खुदकाश्त प्रणाली'** (ओनर कल्टीवेशन सिस्टम) को सबसे अधिक पसन्द किया जाता है। उत्पादन तथा उपभोग-स्वरूपों पर सुदृढ नियन्त्रण के कारण ससाधनो का अच्छी प्रकार से आवटन होता है और परिणामस्वरूप उत्पादन-दक्षता मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त फार्म की दक्षता कृषक द्वारा जोते जाने वाले **फार्म के परिमाप** (क्षेत्रफल) पर भी निर्भर है। **संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कृषि-उत्पादिता कृषि के पैमाने तथा कृषक के अपने खेत पर अधिकार तथा नियंत्रण के स्वरूप द्वारा प्रभावित होती है।**

(क) जोत का परिमाप—सरल प्रश्न यह है कि जोत का परिमाप (क्षेत्रफल) कितना हो जिससे कृषि की अधिकतम दक्षता सुनिश्चित की जा सके और जिससे कृषक तथा उसके परिवार को उचित जीवन-स्तर प्राप्त हो सके ? इस प्रकार के परिमाप का निर्धारण अनेक कारकों जैसे भूमि की उर्वरता, कर्षण की तीव्रता, बोई गई फसल, कृषि-रीति व उसका सगठन, लागतो, प्रतिफलों तथा निर्वाह लागतो आदि पर निर्भर है। उत्पादन-दक्षता, आय-सुरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता एक दूसरे से निकटतः सम्बद्ध हैं और अन्तिम दो लक्ष्यों की पूर्ति प्रथम लक्ष्य को प्राप्त किये बिना नही हो सकती। एक दक्ष फार्म के परिमाप के निर्धारण तथा उस फार्म पर कृषक को अधिकार तथा नियत्रण देने के लिए भूमि का पुनर्वितरण करना पड़ेगा। भूमि का पुनर्वितरण सामाजिक न्याय तथा क्षमता प्रदान करने के लिए *जरूरी तथा* वाछनीय है। निम्न आय वाले देशो मे ठोस भूमि नीतियां तथा व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तन (ओरगनाइजेशन चेन्जेज) कृषि-उत्पादिता मे काफी वृद्धि लाने मे सहायक हो सकते हैं। हम इस प्रसग का भारत के सदर्भ मे अध्ययन करेंगे।

११.२ कृषि का पैमाना तथा प्रतिफल

पिछले पन्द्रह वर्षों मे देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे कृषि-प्रबन्ध के अर्थतन्त्र का अध्ययन

करने हेतु तथा लाभकारी उपादान-उत्पाद सम्बन्धो को ज्ञात करने के लिए और निविष्टियो तथा उत्पत्ति के बीच सम्बन्ध व्युत्पन्न करने के लिए अनेक अन्वेषण किए गए हैं। ये अध्ययन भारत मे कृषि-अर्थव्यवस्था की सरचना तथा कार्यविधि के बारे मे मूल तथ्यो पर प्रकाश डालते है। साथ ही ये अन्वेषण प्रति एकड उत्पादन-लागत तथा प्रति इकाई उत्पादन लागत के आँकडे सप्लाई करते हैं और इस प्रकार फार्म के परिमाप तथा फार्म-दक्षता के बीच सबधो को प्रस्तुत करते हैं। जोत का परिमाप (क्षेत्रफल) सम्भवत. कृषि-प्रतिफलो को प्रभावित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण उपादान है। फार्म-परिमाप को क्षेत्रफल या उपज की मात्रा मे व्यक्त किया जा सकता है। फार्म-दक्षता के निम्न माप हो सकते हैं :—

(१) **प्रति एकड़ (या प्रति हैक्टर)**—उत्पादन या उपज प्रति इकाई क्षेत्रफल (अर्थात् उत्पादिता द्वारा)।

(२) **प्रति एकड़ कृषि व्यवसाय आय**—कृषि-व्यवसाय-आय कुल उपज मे से नकद व जिन्स व्यय घटाने पर प्राप्त होती है।

(३) **प्रति एकड़ नेट लाभ** (अर्थात् लाभकारिता द्वारा)—नेट लाभ कुल उपज मे से कुल निविष्टियो (अर्थात् नकद व जिन्स व्यय तथा आरोपित लागत) घटाने पर प्राप्त होता है।

(४) **लागत प्रति इकाई उत्पादन**—(अथवा नकद लागत प्रति इकाई उत्पादन)।

(५) **प्रति एकड़ परिवार-श्रम-आय**—परिवार-श्रम-आय कुल उपज मे से नकद व जिन्स व्यय, बधी पूँजी पर ब्याज तथा निजी भूमि के लगान मूल्य को घटाने से निकाली जाती है।

ज्ञातव्य है कि उत्पादन के उपादान के रूप मे भूमि पूर्णतः विभाज्य है। इसी प्रकार से श्रम, जल, उर्वरक, बीज तथा कीटनाशी पदार्थ आदि निविष्टियाँ भी विभाज्य हैं और भूमि के क्षेत्रफल के अनुपात व हिसाब से इनकी भिन्न-भिन्न मात्राओ का उपयोग किया जा सकता है। अतः यह नही कहा जा सकता है कि बडे फार्म छोटे फार्मों की अपेक्षा अवश्य ही अधिक दक्ष होगे। यह बात रोचक लगेगी कि कृषि के क्षेत्र मे अभिनव प्रौद्योगिकीय प्रगति बड़े पैमाने की कृषि के लिए अरक्षित नही है और परम्परागत कृषि के रूपातरण के लिए आवश्यक निवेश का स्वरूप ऐसा नही है जिसके लिए बड़े फार्मों की स्थापना की ही आवश्यकता हो। फार्मों का परिमाप या क्षेत्रफल कृषि-रूपातरण के फलस्वरूप बदल सकता है और सक्रियाओ के पैमाने के संदर्भ मे छोटे फार्म तकनीकी रूप मे अधिक दक्ष बन सकते हैं। अत.' **फार्म के पैमाने तथा इनके प्रतिफल' हमारे अध्ययन के बुनियादी विषय हैं जिन पर विचार करना जरूरी है।**

यदि कृषि क्षेत्रक मे फार्म के पैमाने के सदर्भ मे वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हों तो फार्म-दक्षता की दृष्टि से बडे फार्म छोटे फार्मों की अपेक्षा अधिक वाछनीय है। दूसरी ओर यदि पैमाने के सदर्भ मे समानुपातिक या स्थिर प्रतिफल प्राप्त हो तो छोटे फार्म अपेक्षाकृत बडे फार्मों की तुलना मे अधिक दक्ष सिद्ध होगे। निम्न-आय वाले देशो मे प्रतिफल सामान्यतः फार्म के पैमाने के समानुपाती या स्थिर होते हैं और अधिकतम उत्पादन-दक्षता की शर्त तभी पूरी की जा सकती है यदि भूमि को लघुतम सभव इकाइयो (स्मालेस्ट फीसेबिल यूनिट्स)

मे सगठित किया जाए । जहाँ तक भारतीय कृषि का सम्बन्ध है यह निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता कि यहाँ पैमाने के सदर्भ मे वर्द्धमान, प्रतिफल प्राप्त हो रहा है या ह्रासमान अथवा स्थिर ? हमारे तर्क पिछले पन्द्रह वर्षों में किये गये कुछ एक फार्म-प्रबन्ध-अध्ययनो के परिणामो तथा निष्कर्षों पर ही आधारित हैं, यद्यपि इनका साख्यिकीय आधार सबल नही है ।

११ ३ फार्म-परिमाप तथा फार्म-दक्षता मे सम्बन्ध

फार्म-प्रबन्ध-अध्ययनो के परिणाम सक्षेप मे इस प्रकार सकलित किए जा सकते हैं :—

(१) अधिकाश हालतो मे, फार्म के क्षेत्रफल तथा उत्पादिता मे व्युत्क्रम सम्बन्ध होता है । अर्थात् जोत के क्षेत्रफल के साथ प्रति एकड उपज कम होती जाती है । जैसे जैसे फार्म के क्षेत्रफल मे विस्तार होता है प्रति एकड पूरे उत्पादन मे गिरावट आती है । छोटे फार्मों पर प्रति एकड़ उच्च उत्पादन उनमे कृषि की सघनता तथा तीव्रता का परिणाम है । कृषि की सघनता तथा तीव्रता, प्रति एकड उच्च श्रम-निविष्टि तथा एक ही जोत पर बहुफसली या रिले खेती से प्रकट होती है । इसका अर्थ यह हुआ कि फार्म-परिमाप तथा कुल उत्पादन-लागत (जिसमे परिवार श्रम का आरोपित मूल्य तथा निजी भूमि का लगान मूल्य सम्मिलित है) के बीच प्रतिलोमी सम्बन्ध है । अन्य शब्दो मे छोटे फार्मों मे प्रति एकड़ (या प्रति हैक्टर) समग्र फसल क्षेत्र बड़े फार्मों की तुलना मे अधिक होता है, (क्योकि छोटे फार्मों मे एक ही जोत पर एक से अधिक फसलें उपजाई जाती हैं) । इसका परिणाम यह है कि छोटे फार्मो मे उत्पादन दरे ऊँची होती हैं । छोटे फार्मों द्वारा बडे परिमाप-व्यवसाय के लाभ प्राप्त करने के लिए यह सबसे अधिक सरल तथा प्रभावी विधि है ।

(२) अधिकाश रूप मे, फार्म परिमाप तथा प्रति एकड (या प्रति हैक्टर) कृषि-व्यवसाय-आय (फार्म बिजनेस इनकम) के बीच व्युत्क्रम सम्बन्ध है अर्थात् फार्म के परिमाप के साथ प्रति एकड़ कृषि-व्यवसाय-आय [(समग्र उत्पादन—नकद-जिन्स व्यय) / फार्म का क्षेत्रफल] कम होती जाती है । सक्षेप मे जैसे-जैसे फार्मों के क्षेत्रफल मे विस्तार होता है, प्रति एकड़ कृषि-व्यवसाय-आय मे कमी होती है । कृषि-व्यवसाय-आय की सकल्पना की अध्याय २ मे व्याख्या विस्तार से की जा चुकी है ।

(३) प्रति एकड (या प्रति हैक्टर) लाभ तथा फार्म के परिमाप मे धनात्मक या प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है । जैसे-जैसे फार्म के क्षेत्रफल मे विस्तार होता है, प्रति एकड नेट लाभ (अर्थात् लाभकारिता) बढता जाता है । लाभकारिता श्रम के आरोपित मूल्य समेत लागतो पर कुल उत्पादन की बेशी है । फार्म-परिमाप की आरभिक श्रेणियो मे प्रति एकड़ औसत लागत प्रति एकड उत्पादन-मूल्य से अधिक होती है जिसके कारण इन दशाओ में हानि होती है । छोटे फार्मों की दशा मे प्रति एकड़ निम्न नेट लाभ (अथवा हानि) ऊँची औसत लागतो का परिणाम है क्योकि कृषि

में काम कर रहे परिवार-श्रम का आरोपित मूल्य चालू मजदूरी दरों पर गिना जाता है तथा निजी भूमि की लगान-कीमत मनमानी रूप में आरोपित की जाती है। क्योंकि अधिकांश जोतें छोटी इकाइयों में सचालित की जाती हैं इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि अधिकांश भारतीय कृषि अलाभकारी दिखाई देती है। फार्म-प्रबन्ध-अध्ययनों में काफी दशाओं में लाभ के ऋणात्मक आँकडों अर्थात् हानि की यही व्याख्या दी जा सकती है।

उपरोक्त विश्लेषण से पता चलता है कि जहाँ तक भूमि की उत्पादन-क्षमता या किसान-परिवार की न्यूनतम आय का सम्बन्ध है बड़े पैमाने पर खेती जरूरी नहीं है। किसी हद तक यह उत्पादन-दक्षता एव आय-सुरक्षा दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। न्याय की दृष्टि से भी यह वाछनीय नहीं। दूसरी ओर बहुत अधिक छोटी जोतें भी बिल्कुल अलाभकर तथा अनार्थिक होंगी, और यह भी वाछनीय नहीं है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि जोत का परिमाप इतना अनार्थिक नहीं होना चाहिए कि उत्पादन-निवेशों का पर्याप्त लाभ प्राप्त भी न हो, और न ही यह फार्म-श्रम की उपलब्धता के सदर्भ में बहुत बडा होना चाहिए। यही कारण है कि कृषि क्षेत्रक की भावी सगठनात्मक सरचना के केन्द्रक के रूप में ऐसी 'आर्थिक दृष्टि से' सक्षम छोटी कृषि जोतों की सिफारिश की जाती है जिन्हें दक्ष कृषि-इकाइयों में ढाला जा सके। हम बाद में इस विषय पर पुनः विचार करेंगे।

हम परिमाप (क्षेत्रफल) के अनुसार जोतों के स्वामित्व के वितरण के सम्बन्ध में पहले ही बता चुके हैं। हम यह बता चुके हैं कि देश में अधिकांश सख्या बहुत ही छोटी जोतों की है। इन जोतों का आगे अत्यधिक विखडन हो चुका है। ७२ प्रतिशत भू-स्वामियों में से प्रत्येक के पास २.०२ हैक्टर से भी कम भूमि है जो आगे एक से छः टुकडों में बटी हुई है। ये कृषक कुल क्षेत्र के केवल २० प्रतिशत के स्वामी हैं। दूसरी ओर केवल ३ प्रतिशत जोतदार २८ प्रतिशत भू-क्षेत्र के स्वामी है और उनमें से प्रत्येक के पास १०.१२ हैक्टर से भी अधिक भूमि है। लगभग २० प्रतिशत परिवारों में से प्रत्येक ०.४ हैक्टर (१ एकड) से भी कम भूमि का स्वामी है जबकि कुल कृषि कामगारों में से २४ प्रतिशत भूमिहीन श्रमिक हैं। इस असंतुलन को दूर करने के लिए उपाय करने होंगे। इनमें कृषि-जनसख्या के विभिन्न वर्गों में भूमि का पुनर्वितरण भी सम्मिलित है।

इसके अतिरिक्त लगभग ७० प्रतिशत श्रमजीवी शक्ति कृषि में लगी हुई है और अपने निर्वाह के लिए भूमि पर निर्भर है। कृषीय कामगारों में व्यापक बेकारी तथा अल्प रोजगार भूमि पर जनसख्या के अत्यधिक दबाव को दर्शाते है और उनकी गरीबी का मूल कारण हैं।

११.४ जोतों के प्रकार

अतः भूमि एक अल्प पूर्ति वाला साधन है और इसका क्षेत्र आसानी से नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह असम वितरित (अनइक्विनली डिस्ट्रिब्यूटेड) है। दूसरी ओर हमारे देश में श्रमिकों की काफी फालतू सख्या है और इनमें से अधिकांश को कृषि में ही खपाना पड़ेगा। समानता तथा सामाजिक न्याय इस बात की माँग करता है कि भूमि का राशन किया जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज के सुसमृद्ध वर्गों (अर्थात् बड़े कृषकों)

को एक निश्चित सीमा (अधिकतम निर्धारित सीमा) से अधिक अपनी भूमि के भाग का परित्याग कर देना चाहिए ताकि इस प्रकार प्राप्त फालतू भूमि को समाज के कमजोर वर्गों में बाँटा जाए। इससे भूमि के स्वामित्व में असमानताओं को कम करने में काफी सहायता मिलेगी। परन्तु इससे पूर्व की हम ऐसी सीमा के जो कि एक व्यक्ति या परिवार जुताई के लिए रख सके, निर्धारण की कसौटियों का विवेचन करें और इसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों में भूमि के पुनर्वितरण के पक्ष-विपक्ष में अपने तर्क दें, विभिन्न प्रकार की जोतों की परिभाषाओं तथा संकल्पनाओं का ज्ञान उचित होगा।

(क) **पारिवारिक जोत**—पारिवारिक जोत, जो कि न्यूनतम संभव इकाई मानी जाती है, भूमि का वह संचालन क्षेत्र है जिससे एक विशेष औसत आय प्राप्त हो सके। पारिवारिक जोत वह क्षेत्र है जो स्थानीय परिस्थितियों तथा चालू तकनीकी दशाओं के अन्तर्गत बैलों की एक जोडी का प्रयोग कर रहे एक औसत साईज के परिवार के लिए (अर्थात् पति, पत्नी व तीन अवयस्क बच्चों के लिए) कार्य इकाई या हल इकाई के तुल्य हो। १९५५ में पारिवारिक जोत की परिभाषा करते हुए यह बताया गया कि यह भूमि का वह टुकडा है जो परिवार के लिए उस समय की कीमतों पर १२०० रु० की नेट वार्षिक कृषि आय प्रदान कर सके। परिवार-सदस्य-संख्या के आधार पर इसमें छूट दी जा सकती है। वर्तमान कीमतों पर इससे २७०० रु० से ३००० रु० की नेट वार्षिक आय प्राप्त होनी चाहिए। संक्षेप में पारिवारिक जोत भूमि का वह क्षेत्र है जो एक सामान्य परिवार को पूर्णतया काम पर लगाए रखे या उचित नेट आय (२७०० रु. या अधिक) प्रदान कर सके या बैलों की एक जोडी को जो सबसे व्यापक कर्षण इकाई है पूरी तरह काम पर लगाए रख सके। ४ से ६ हैक्टर की सिंचित जोतें बैलों की जोडी, परिवार रोजगार तथा निम्नतम आय के उसूलों की जाँचों पर पूरा उतरती हैं।

(ख) **आर्थिक जोतें**—निम्न आय वाले देशों में फार्म अत्यधिक छोटे, बिखरे हुए तथा अनार्थिक हैं और इन देशों में यह धारणा (अर्थात् आर्थिक जोत) व्यापक रूप में प्रचलित है। यह वह क्षेत्र है जो अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में कृषि की एक ऐसी मॉडल इकाई है जिसका एक औसत परिवार या एक व्यक्ति द्वारा संचालन होना चाहिए। **आर्थिक जोत भूमि का वह टुकड़ा है जो औसत साईज के परिवार (पति, पत्नी तथा तीन अवयस्क बच्चों) को उचित जीवन स्तर तथा पूर्ण रोजगार प्रदान कर सके तथा क्षेत्र में कृषि-अर्थव्यवस्था के उपादानों के अनुरूप हो।** एक आर्थिक जोत कृषक को उसके और उसके परिवार के निर्वाह तथा अपने सब खर्च निकाल कर सुख से रहने के लिए पर्याप्त आय (अथवा उत्पादन) प्राप्त कराएगी। वास्तव में, आर्थिक जोत अर्थशास्त्रियों की भावनात्मक संकल्पना (इकोनोमिस्ट एब्स ट्रेक्शन) है और इसका परिमाप भूमि की उर्वरता, जुताई की तीव्रता, फसल के स्वरूप, निर्वाह-व्यय, उत्पादन-लागतों तथा कीमतों द्वारा प्रभावित होता है। आर्थिक जोत का अनार्थिक जोत से भेद करने के लिए कोई पक्का नियम नहीं

है। विभिन्न क्षेत्रो में आर्थिक जोतो का क्षेत्रफल भिन्न-भिन्न होगा और वहाँ की अवस्थाओ तथा कृषि-जलवायु परिस्थितियो पर निर्भर है। एक आर्थिक जोत अनार्थिक बन सकती है यदि परिस्थितियाँ अनुकूल न हो। गुर यह है कि सबसे अधिक स्वाभाविक (नैसर्गिक) आर्थिक इकाई वह है जो पारिवारिक जोत के तिगुनी हो। वर्तमान सदर्भ मे भूमि की राशनिग योजना में आर्थिक जोत भूमि का *अधिकतम राशन है अर्थात् यह भूमि की वह उच्चतम सीमा है जिसे एक औसत* परिवार को रखने का अधिकार होना चाहिए।

(ग) **आधारभूत जोत**—यद्यपि भूमि का कृषि की आर्थिक इकाइयों में पुनर्गठन एक आदर्श प्रबन्ध होगा परन्तु ऐसा करना न व्यावहारिक है और न ही सामाजिक दृष्टि से वाछनीय है। निम्न आय वाले देशो मे अधिकाश जोते बहुत छोटी हैं और उपरोक्त बातो पर आधारित भूमि के पुनर्गठन से अवसीमात (सबमार्जिनल) छोटे किसानो की हालत और भी बिगड जाएगी क्योकि इस पुनर्वितरण के परिणाम स्वरूप वे कृषि से बाहर फेंक दिए जाएँगे। इससे गाँव वालो की मुसीबतें तथा दु:ख बढेगे और उनमे अशान्ति फैलेगी जिसके भयानक परिणाम होगे।

हमारे देश मे जोत का औसत क्षेत्रफल २ ६३ हैक्टर (६.५७ एकड) है। लगभग ४२ प्रतिशत जोतदार १.०१ से ४.०५ हैक्टर (२.५० से १० एकड) के बीच की जोत-इकाइयो का सचालन करते हैं। इनका संचालन क्षेत्रफल कुल का एक तिहाई है। इनमें से बहुत कम जोते आर्थिक कही जा सकती हैं। कृषि की वर्तमान तकनीक के अनुसार इनमें से अधिकाश अनार्थिक हैं। हम सब अवसीमात तथा अनार्थिक इकाइयो (सबमार्जीनल एण्ड अन इकानोमिक यूनिट्स) को समाप्त नही कर सकते। परन्तु साथ ही भूमि के उन बहुत छोटे-छोटे टुकडो पर जो कि ०.२० हैक्टर (०.४६ एकड) से भी कम की इकाइयो मे सचालित किए *जाते है मानव तथा भौतिक ससाधनो को बरबाद करना भी मूर्खता होगी।*

कहने का अभिप्राय यह है कि आर्थिक जोत से छोटी जोतें भी वर्तमान सामाजिक परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए कायम रहेंगी और उन्हे छेडा नही जाएगा चाहे आर्थिक दृष्टि से यह उचित न भी हो। फिर भी हमें ऐसी आधारभूत जोत के क्षेत्रफल का निर्धारण करना ही होगा जिससे कम की किसी भी जोत को कायम नही रखा जाएगा। यह आधारभूत जोत भूमि के न्यूनतम राशन अर्थात् जोत की निम्नतम सीमा का निरूपण करेगी। **आधारभूत जोतों से बड़ी अनार्थिक जोतो को सहकारिताओं में संगठित किया जाना चाहिए।** आधारभूत जोतो से छोटी जोतो द्वारा सचालित क्षेत्रफल का सामूहिकीकरण किया जा सकता है या इसको फालतू भूमि समझा जा सकता है क्योकि इन जोतदारो की हालत किसी भी दशा मे भूमिहीन कृषको से अच्छी नही है। गुर यह है कि आधारभूत जोत एक पारिवारिक जोत की एक तिहाई होनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत मे फार्म-जोतो का भूमि की उच्चतम-निर्धारित तथा निम्नतम-निर्धारित सीमाओं की योजना द्वारा पुनर्गठन करना पड़ेगा। *निम्न अनुच्छेदों मे हम उपरोक्त लक्ष्यों को पूरा करने हेतु उच्चतम सीमा के निर्धारण के लिए कसौटियो की व्याख्या करेंगे।*

११.५ उच्चतम स्तर के निर्धारण हेतु कसौटियाँ

भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव इस बात की माँग करता है कि भू-तल का विन्यास (ले ग्राउट) तथा उपयोग सुनियोजित तथा विवेकपूर्ण ढग से होना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है कि भूमि के स्वामित्व मे असमानताओ को बहुत कम कर दिया जाए। किसी भी व्यक्ति को भूमि की असीमित मात्रा के रखने तथा इसके फलस्वरूप उन लोगो का जो इसकी कृषि पर निर्भर हैं, शोषण करने का दैवीय अधिकार नही है। अतः सार्वजनिक हित तथा सामाजिक न्याय के लिए एक व्यक्ति द्वारा रखी जाने वाली भूमि की मात्रा की उच्चतम सीमा नियत करना जरूरी है। समाज के निम्न तथा उच्च वर्गों मे वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक असमताओ को कम करने के लिए तथा प्रगतिशील स्थिर ग्राम-अर्थव्यवस्था का निर्माण करने के लिए भूमि की उच्चतम सीमा का निर्धारण अनिवार्य है। भूमि की उच्चतम सीमा के निर्धारण का विषय लगभग तय हो चुका है। परन्तु भूमि का पुनर्गठन तभी आर्थिक कल्याण का साधन बन सकता है जब वह निम्न शर्तों तथा कसौटियो को पूरा करे :

(१) जोत की उच्चतम सीमा इस प्रकार से निर्धारित होनी चाहिए जिससे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि सुनिश्चित हो सके और जिसमे कृषि-ससाधनो का अधिकतम उपयोग हो अर्थात् जिसमे उत्पादन-दक्षता मे वृद्धि हो। कृषि अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन की कोई भी योजना जिससे उत्पादन-दक्षता पर दुष्प्रभाव पडे सामाजिक न्याय के आधार पर भी उचित नही ठहराई जा सकती। साथ ही, इससे ग्राम-जनसख्या मे जो अपने निर्वाह के लिए भूमि पर निर्भर है या जिसके पास भूमि नही है, प्रच्छन्न बेरोजगारी (डिसगाइज्ड अनएम्प्लायमेंट) को कम करने और यदि सभव हो सके तो समाप्त करने मे सहायता मिलनी चाहिए। आवश्यकता एक ऐसी कृषि-प्रणाली के विकास करने की है जिसमे प्रति एकड़ अधिक उपज प्राप्त करने के लिए श्रम-ससाधनो का अधिकतम उपयोग हो सके। ससाधनो के आर्थिक उपयोग के लिए हमे उत्पादिता बढाने के लिए ऐसी रीतियाँ अपनानी चाहिए जिनमे बहुल श्रम-ससाधनो का अधिकतम उपयोग हो परन्तु पूँजीगत व्यय न्यूनतम हो।

(२) अनार्थिक जोतें भारतीय कृषि की सबसे गम्भीर समस्या है। जहाँ तक हो सके जोतो का पुनर्गठन इस प्रकार से होना चाहिए कि कृषको तथा उनके परिवारो को पर्याप्त आय-सुरक्षा प्राप्त कराई जा सके। उच्चतम सीमा इस प्रकार से निर्धारित की जानी चाहिए कि जोत मे किसान तथा उसके परिवार को उचित जीवन-स्तर से आश्वस्त किया जा सके। इससे पर्याप्त आय प्राप्त होनी चाहिए ताकि कुआँ खोदने या पम्प सैट लगाने जैसे भूमि-उन्नति के कार्यों मे निवेश लगाया जा सके।

(३) फार्म से कृषक को बिक्री के लिए पर्याप्त अधिशेष प्राप्त होना चाहिए ताकि वह कृषि मे पर्याप्त निवेश करने के योग्य हो सके। सक्षेप मे फार्म का परिमाप बहु-उद्देश्य-पूर्ति जैसे उत्पादन दक्षता, बेकारी तथा अल्प बेरोजगारी के न्यूनीकरण हेतु श्रम के अधिक उपयोग, कृषक परिवार के लिए आय-सुरक्षा तथा खाद्यान्न के

पर्याप्त विक्रेय अधिशेष आदि के सदर्भ मे निर्धारित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त फार्म का परिमाप चाहे कैसे भी निर्धारित हो, आर्थिक दृष्टि से जीवन-क्षम (वाइएबिल) होना चाहिए।

वह संचालन जोत जिसकी उपज का मूल्य उपभुक्त परिवार-श्रम समेत सब निविष्टियोंके मूल्य को अपने में समेटे रहे या निविष्टियों के मूल्य से बढ़ जाए, जीवनक्षम जोत (वाइएबिल होल्डिंग) मानी जाती है। परन्तु इस परिभाषा मे कृषक के परिवार की जीवन-निर्वाह सबधी आवश्यकताओ की उपेक्षा की गई है। जीवन-निर्वाह एक प्रकार की बधी लागत है। एक फार्म केवल इसलिए जीवन-क्षम नही माना जा सकता क्योंकि उसका नेट लाभ लागत से अधिक है जबकि यह लाभ फार्म परिवार का पेट भी न भर सके। निर्वाह व्यय लागत का भाग माना जाना चाहिए। हम देख चुके हैं कि कृषि की नवीन व्यूहरचना के सदर्भ मे, **सिंचाई की सहायता से,** अपेक्षाकृत छोटी जोत भी जीवनक्षम इकाई बन सकती है। अतः **सिंचाई का स्रोत तथा इसकी निरन्तरता (पेरीनिएलटि बाहरमासी प्रकृति) का उच्चतम स्तर के निर्धारण में विशेष महत्त्व है।**

उपलब्ध आँकडो से पता चलता है कि छोटे फार्म तकनीकी रूप मे फार्मो से अधिक दक्ष हैं। **अभिनव अध्ययनों के अनुसार, सिंचित क्षेत्र की प्रतिशतता, शस्य प्रतिशतता (क्रॉपिंग इन्टेंसिटि) प्रति एकड़ श्रम-निविष्टि तथा उपज निश्चित रूप से छोटे फार्मो में बड़े फार्मों की अपेक्षा अधिक हैं।** इसका अर्थ यह हुआ कि **विशाल फार्मों** का सिद्धात अर्थात् कृषि मे जितनी उत्पादन-इकाई बडी होगी, उतनी ही वह अधिक दक्ष होगी, **भारतीय परिस्थितियों में लागू नहीं होता** तथा जोतो की निम्न उच्चतम सीमा नियत करने मे कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिए। जोतो की निम्न उच्चतम सीमा नियत करने से उत्पादिता तथा सकल उत्पादन मे वृद्धि होगी। इसके साथ-साथ ग्राम समाज के कमजोर वर्गों मे पुर्नवितरण के लिए अतिरिक्त भूमि भी उपलब्ध होगी। उच्चतम सीमा को इतना नीचा अवश्य रखना होगा जिससे श्रम के फार्म यन्त्रीकरण द्वारा प्रतिस्थापन को बढावा न मिले। परन्तु यहाँ पर उच्चतम सीमा के निर्धारण के विरुद्ध तर्को का विवेचन भी कर लेना चाहिए।

११.६ उच्चतम सीमाओ के निर्धारण के विरुद्ध तर्क

(१) आलोचको का मत है कि यह एक प्रतिसारी कदम है। उनका तर्क है कि निम्न उच्चसीमाओ का नियतन उत्पादन पर अवश्य ही बुरा प्रभाव डालेगा क्योकि इससे यन्त्रीकृत कृषि जो केवल मात्र अधिक अन्न-प्रदान कर सकती है, की गति मद हो जाएगी। इसके अतिरिक्त बडी जोतो के छोटी इकाइयो मे द्विशाखन के परिणाम-स्वरूप अनेक अनार्थिक जोतो का जन्म होगा जिससे स्थिति और भी अधिक बिगड़ जाएगी।

(२) उच्चतम सीमा के निर्धारण से बड़ी जोतें टूट जाएँगी और इनमे लगे हुए बड़ी सख्या में कृषि श्रमिक बेकार हो जाएँगे जिससे उनका दुःख व कष्ट और अधिक बढ़ेगा।

(३) यह समस्या का स्थायी समाधान नही है। ये जोतें उत्तराधिकारी नियमों के

संचालन के अधीन हैं और धीरे-धीरे ये छोटी अनार्थिक इकाइयों में बंट जाएंगी जिससे उत्पादन में रुकावट आएगी ।

(४) यह भी तर्क दिया जाता है कि सीमा-निर्धारण के फलस्वरूप होने वाला उप-विभाजन आर्थिक संवृद्धि की संचयी प्रक्रिया (क्यूमीलेटिव प्रोसेस) में कोई योग नहीं दे सकेगा क्योंकि कुल आय में वृद्धि होने पर निम्न आय वर्गों द्वारा उपभोग भी बढ जाएगा और विक्रेय अधिशेष कम हो जाएगा ।

(५) यह भी तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार के पुनर्गठन से प्रबन्धकीय कुशलता व योग्यता की गुणवत्ता का ह्रास होगा और यह परिवर्तन और भी बिगाड करेगा । परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए 'कि क्षेत्रफल का सीमा नियतन योग्यता या दक्षता का सीमा-नियतन नहीं है । एक बार इस आधार पर भूमि का पुनर्वितरण होने पर, उन जोतों से होने वाली आय में वृद्धि पर कोई सीमा नहीं होगी । कोई भी बात कृषकों को अपनी आय को दुगुना या तिगुना करने से नहीं रोकती और बेहतर कृषि ढंग अपना कर ऐसा किया जा सकता है ।

(६) इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पुनर्वितरण का संभाव्य प्रौद्योगिकीय उन्नति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडेगा क्योंकि यह प्रौद्योगिकीय नवक्रियायाओं के उपयोग तथा यन्त्रीकरण की संभावनाओं को कम करता है ।

(७) यह भी कहा जाता है कि मात्र भूमि जोतों पर इस प्रकार की प्रतिबद्ध प्रकृति की सीमा लगाना जबकि भूमि तथा सम्पत्ति के स्वामित्व पर ऐसी कोई रोक नहीं है, अन्यायपूर्ण तथा भेद मूलक है । उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भूमि की पूर्ति पूर्णत. लोचहीन है जबकि उत्पादन के नगरीय साधन ऐसे नहीं है । इसलिए आरोही करों के अतिरिक्त ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे नगरीय आय पर पूर्ण भौतिक सीमा लगाना संभव हो सके । हमें ज्ञात है कि कृषीतर-साधनों से प्राप्त आय पर कर लगता है, जबकि कृषि-आय पर कर नहीं लगता जो कि असमानता का एक स्रोत है । अतः एक विशेष क्षेत्रफल से ऊपर वाली सब जोतों पर भारी कर लगाने का ठोस कारण मौजूद है, विशेषकर सघन कृषि को सुनिश्चित करने के लिए बडी जोतों पर कर लगाना जरूरी है । **अत. भूमि सीमा नियतन संकल्पनात्मक रूप में कृषि पर सम्पत्ति-कर के तुल्य है** और इसे इस प्रकार से ही माना जाना चाहिए ।

अब हम भूमि की उच्चतम सीमा के वास्तविक निर्धारण का विवेचन करेंगे ।

११.७ उच्चतम सीमा तथा सरकारी नीति

हम यह बता चुके हैं कि आर्थिक जोत भूमि की वह उच्चतम सीमा है जिसे एक औसत परिवार (पति, पत्नी तथा तीन अवयस्क बच्चे) को रखने का अधिकार होना चाहिए । हम यह भी बता चुके हैं कि सामान्यतः यह उच्चतम सीमा पारिवारिक जोत की तिगुनी होती है, इन जोतों का परिमाप भूमि की कृषि-जलवायु-परिस्थितियों अर्थात् भूमि की उर्वरता, जुताई की तीव्रता, सिंचाई सुविधाओं, निविष्टियों की मात्रा, फसल के स्वरूप आदि पर निर्भर

है और भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे उच्चतम सीमा भी भिन्न-भिन्न होगी । व्यावहारिक स्तर पर इस बात का काफी प्रमाण है कि एक कृषक २ या ३ हैक्टर सिंचित भूमि से जो वर्ष मे दो फसलें देने वाली हो, नवीन निविष्टियों की सहायता के साथ अपने परिवार का पेट पाल सकता है । यदि कृषक की भूमि वर्ष मे एक फसल देने वाली हो और जल की व्यवस्था हो तो पारिवारिक जोत ४ से ५ हैक्टर की होगी । अंततः ८ हैक्टर से १० हैक्टर का असिंचित फार्म (शुष्क क्षेत्र) कृषक के परिवार को उचित निर्वाह स्तर प्रदान कर सकता है ।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जोतों की सीमाएँ निम्न होनी चाहिएँ :—

(I) **उच्चतम सीमाएँ**—(आर्थिक जोत)—(क) वर्ष मे दो फसलें देने वाली सिंचित भूमि : ६ हैक्टर से ९ हैक्टर (अर्थात् १५ एकड़ से २२½ एकड)

(ख) वर्ष मे एक फसल देने वाला क्षेत्र (सिंचित) : १२ हैक्टर से १५ हैक्टर (अर्थात् २७ एकड़ से ३७½ एकड)

(ग) शुष्क क्षेत्र—२४ हैक्टर से ३० हैक्टर (६० एकड से ७५ एकड)

(ii) **निम्नतम सीमाएँ** (आधारभूत जोत)—(क) दो फसली सिंचित क्षेत्र ' ०.६७ हैक्टर से १ हैक्टर (१.६७ एकड से २.५ एकड)

(ख) एक फसली सिंचित क्षेत्र—१.३४ हैक्टर से २ हैक्टर (३.३५ एकड़ से ५ एकड़)

(ग) शुष्क क्षेत्र—२.६७ हैक्टर से ३.३४ हैक्टर (६.७ एकड से ८.३३ एकड)

भूमि पर जनसख्या के अत्यधिक दबाव को देखते हुए सरकार के लिए भूमि की जोत *की निम्नतम सीमा निर्धारित करना राजनैतिक दृष्टि से खतरे से खाली नही है* और कोई भी सरकार इस जोखिम को नही उठाना चाहेगी चाहे आर्थिक चिन्तन उसके पक्ष मे ही हो । सम्भवतः यही कारण है कि जोत की निम्नतम सीमा के निर्धारण को सिद्धाततः स्वीकार नही किया गया जबकि भूमि की उच्चतम सीमा का निर्धारण हमारी भूमि नीति का अनिवार्य अंग है । अगले पृष्ठों में हम इस सदर्भ मे सरकारी नीति का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे ।

(I) **भूमि-सीमा सम्बन्धी सरकारी नीति (१९५८–१९७१) तथा उसकी असफलता के कारण**—पिछले २५ वर्षों मे अधिकाश राज्यो मे एक व्यक्ति या एक परिवार द्वारा रखी जाने वाली भूमि या भविष्य मे अधिग्रहण की उच्चतम सीमा से सम्बन्धित अनेक कानून बनाए गए हैं । उच्चतम सीमा के अनुप्रयोग की इकाई (व्यक्ति या परिवार), 'हस्तांतरण तथा छूट सम्बन्धी धाराएँ भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न रही हैं । केरल, तामिलनाडु, प. बगाल तथा आसाम मे उच्चतम सीमाओं को बाद मे बढ़ा दिया गया । १९७२ से पहले बनाए गए नियमो का विवरण, अनुमानित फालतू भूमि तथा इसके वितरण का विवरण सारणी ११.१ मे दिया *गया है ।*

सारे देश मे केवल १०.७५ लाख हैक्टर (२६.९ लाख एकड़) फालतू भूमि घोषित की *गई जिसमे से ५ लाख हैक्टर (१२.५ लाख एकड़) भूमि का वितरण किया गया ।*

कुछ भी हो, इन पारित नियमों से वाछित परिणाम प्राप्त नही हुए क्योंकि कानून मे

सारणी ११.१ जोतो की उच्चतम सीमाएँ तथा फालतू भूमि का वितरण

राज्य	वर्ष	उच्चतम निर्धारित सीमा (एकडो मे)	इकाई	फालतू अधिगृहीत भूमि	वितरित (००० हैक्टर में)
आंध्र प्रदेश	१९६१	२७ से ३२४	जोतदार	३०	—
आसाम	१९५८	२५	जोतदार	२७	०.४
बिहार	१९६२	२० से ६०	जोतदार	—	—
गुजरात	१९६१	१९ से १३२	परिवार के सब सदस्य	२०	१०
हरियाणा*	१९६१	२७ से १००	जोतदार	७३	२२
हिमाचल प्रदेश*	१९६१	२७ से १००	जोतदार	२.६	—
जम्मू व कश्मीर	१९५१	२२$\frac{3}{4}$	जोतदार	१८०	१८०
केरल	१९७०	१२ से १५	परिवार	—	—
मध्य प्रदेश	१९६१	२५ से ७५	जोतदार	३४	७
महाराष्ट्र	१९६१	१८ से १२६	जोतदार	१५२	४७
मैसूर	१९६९	२७ से २१६	परिवार	—	—
उड़ीसा	—	२० से ८०	जोतदार	—	—
पंजाब*	१९६१	२७ से १००	जोतदार	७१	२५
राजस्थान	१९६३	२२ से ३३६	परिवार	२४	५
तामिलनाडु	१९६२	१२ से ६०	परिवार	११	६
उत्तर प्रदेश	१९६१	४० से ८०	जोतदार	९७	५५
प० बंगाल	१९७१	१२४ से १७.३	जोतदार	३५४	१४०
			कुल	१०७५.६	५००.४

स्रोत : भारत १९७१–७२ सारणी १२५।

न्यूनताओं के कारण निहित स्वार्थ वाले तत्वो ने विभिन्न चतुर युक्तियों द्वारा इन नियमो की धाराओं को निष्फल बना दिया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की ड्राफ्ट रूप रेखा (१९६६) मे भूमि सीमाओं के कार्यान्वयन पर स्पष्ट निर्णय यह था : "भूमि सीमा का यह मुख्य ध्येय कि योजना बद्ध आधार पर भूमिहीनो को उचित कीमत पर भूमि का पुनर्वितरण किया जाए, अधिकांश रूप मे असफल हो गया है।"

इस असफलता के अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि स्वयं कानूनों मे अनेक न्यूनताएँ तथा खामियाँ थी। उच्चतम सीमाओं के स्तर मनमाने ढंग से निर्धारित किए गए। सामान्यतः ये सीमाएँ काफी ऊँची थीं तथा अनेक अनुपूरक धाराओं, अपवादों तथा छूटो ने वास्तविक व्यवहार में उन्हे विफल कर दिया था। यद्यपि उच्चतम सीमा का नियतन सिद्धान्ततः

बिल्कुल उचित तथा सार्वजनिक हित की दृष्टि से तर्क सगत है परन्तु इस सम्बन्ध मे बनाए गए कानूनो का उन लोगों द्वारा जो इससे दुष्प्रभावित होगे, विरोध स्वाभाविक ही है। इसके साथ-साथ ये सीमाएँ भूमिहीन तथा सीमांत कृषको को पुनर्वितरित करने हेतु अभीष्ट फालतू भूमि के परिमाण के अनुरूप नही थीं। अधिकाश राज्यों मे सीमा की इकाई 'व्यक्ति' थी, 'परिवार' नही थी जिससे परिवार के सदस्यो मे भूमि के 'गुप्त अतरण' को बढ़ावा मिला।

यह ध्यान रहे कि भूमि सीमा सम्बन्धी कानूनों को लागू करने मे महत्वपूर्ण वित्तीय, प्रशासनिक तथा प्रबन्धकीय समस्याएँ उठ खडी होती हैं। अधिग्रहण की हुई फालतू भूमि के लिए मुआवज़ा देना होगा। पिछले वर्षों मे वैधानिक धाराओं को कार्यान्वित करने मे विलम्ब अदक्षता तथा भ्रष्टाचार का बोल बाला रहा है। यह कथन इस बात से स्पष्ट है कि सीमा नियमो के लागू होने के लगभग १० वर्ष बाद भी केवल १० लाख हैक्टर भूमि ही फालतू घोषित हो पाई। यह कुल बोये क्षेत्र के ०८ प्रतिशत से भी कम था। २० हैक्टर से अधिक जोतों के कुल क्षेत्रफल का यह केवल ८ प्रतिशत था। एलाटियों को चुनने मे प्रशासनिक आलस्य के अतिरिक्त फालतू भूमि के पुनर्वितरण के कार्य मे भूमिदारो की मुकदमेबाजी तथा भूस्वामियो द्वारा दी गई भूमि की निकृष्ट गुणवत्ता के कारण भी रुकावट आई है। यह बडा जरूरी है कि स्वीकृत सीमा को अधिक विवेकपूर्ण ढग से, अधिक शुद्धता, ईमानदारी तथा अधिक प्रभावी ढग से लागू किया जाए। अभीष्ट परिणामो को प्राप्त करने के लिए सीमाओं को एक व्यक्ति की अपेक्षा परिवार पर लागू करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो विभिन्न राज्यो के राज्य नियमो मे व्यापक रूप मे एकसमानता होनी चाहिए और इस उद्देश्य हेतु राज्यो को विशेष निर्देश दिए जाने चाहिएँ। साथ ही राजस्व-प्रशासन को जो *इस कानून को लागू करने वाली एजेंसी है, सुदृढ करना होगा तभी ध्येय को प्राप्त किया जा सकेगा।*

(ii) *उच्चतम सीमा-निर्धारण सम्बन्धी नवीन निर्देश*—जुलाई, १९७२ मे राज्य मुख्य-मत्रियो की सहमति से रचित कृषि जोतो के परिमाप पर नये निर्देश व्यापक एकसमानता लाने की दिशा मे ही एक कदम है। यह निर्णय किया गया कि नये सीमा सम्बन्धी नियमों को पूर्वव्यापी प्रभाव देकर जनवरी, १९७१ से लागू किया जाए। राज्यों को इससे पहले की किसी तिथि से इन्हे लागू करने की छूट थी। मुख्यमंत्री इस बात पर भी सहमत हुए कि भूमि पर उच्चतम सीमा को वर्ष के अन्त तक लागू कर दिया जाए। नवीन निर्देशों का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) यह निर्णय किया गया कि आश्वासित सिंचाई तथा वर्ष में दो फसलें देने वाली भूमि पर, भूमि तथा सम्बद्ध उपादानों की गुणवत्ता को ध्यान मे रखते हुए, उच्चतम सीमा १० से १८ एकड़ (४ से ७.४ हैक्टर) तक निर्धारित किया जाए। निजी स्रोतो से सिंचित भूमि के लिए २५ प्रतिशत की छूट दी जाएगी परन्तु उच्चतम सीमा किसी भी अवस्था मे १८ एकड से अधिक नही होगी।

(२) वर्ष में एक फसल के लिए आश्वासित सिंचाई वाली भूमि की उच्चतम सीमा २७ एकड़ (लगभग ११ हैक्टर) होगी। इसमें निजी जल स्रोतो के लिए कोई छूट नही होगी।

(३) बारानी (शुष्क) भूमि के लिए उच्चतम सीमा ५४ एकड़ होगी। मरु तथा पर्वतीय क्षेत्रो मे यह सीमा ५४ एकड़ से अधिक हो सकती है परन्तु यह छूट केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय से सलाह मशवरे के साथ दी जाएगी।

(४) वर्तमान फलोद्यानों की दशा मे सामान्य सीमा से ५ एकड की रियायत दी जाएगी या उन्हे बारानी भूमि के बराबर माना जाएगा और उच्चतम सीमा को ५४ एकड तक बढाया जा सकेगा। ये रियायतें भावी फलोद्यानों के लिए भी उपलब्ध होगी।

(५) उच्चतम सीमा परिवार पर लागू होगी। परिवार पति, पत्नी तथा तीन अवयस्क बच्चो से निर्मित माना जाएगा। बडे परिवारो के लिए अतिरिक्त भूमि की छूट दी जाएगी परन्तु किसी भी अवस्था मे जोत मानक साइज के परिवार की जोत के दूने से अधिक नही होगी। **वयस्क बच्चो को, चाहे वे विवाहित हों या अविवाहित, निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत, स्वयं अपनी जोतें रखने का अधिकार होगा।**

(६) अश्वशालाओ, गौशालाओ, डेरी फार्मों तथा बागानो के लिए दी जाने वाली छूट के प्रश्न का निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित विशेषज्ञों की समिति द्वारा किया जाएगा।

(७) नवीन स्कीम के अन्तर्गत, राज्य सरकारें इस बात का निर्णय करेंगी कि धार्मिक न्यासों तथा शिक्षा-सस्थाओ की भूमि को सीमा-नियमो से छूट दी जाएगी या नही। पुण्यार्थ न्यासो को तभी छूट मिल सकेगी यदि वे सार्वजनिक हित के उद्देश्यों मे लगे होगे। यन्त्रीकृत फार्मों, सुव्यवस्थित फार्मों, वीरता-पुरस्कार के रूप मे मिली भूमि तथा मिलो द्वारा सचालित गन्ना-फार्मों पर कोई छूट प्राप्त नही होगी।

(८) उच्चतम सीमा से अधिक भूमि के लिए मुआवजा बाजार-कीमत पर नहीं दिया जाएगा। एक खण्ड-पद्धति अपनाई जाएगी जिसमे कम फालतू भूमि के लिए *अधिक फालतू भूमि की अपेक्षा अनुपातत: ऊँची दर पर मुआवजा दिया जाएगा।* मुआवजे का नियतन राज्यों पर छोड दिया गया है। परन्तु आशा है कि भू-राजस्व या उचित लगान का कोई गुणज होगा।

(९) *यह भी बताया गया कि जहां तक सभव हो फालतू भूमि को भूमिहीनो मे बांटा जाए।*

इन सिफारिशो के पक्ष तथा विपक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। उदाहरणतः उच्चतम सीमा का निर्धारण करते हुए सिंचाई के स्रोत तथा इसकी निरन्तरता पर जरूरत से अधिक जोर दिया गया है। प्रासगिक यह नही है कि सिंचाई का स्रोत क्या है या सिंचाई निरन्तर है या नही, **बल्कि एक ईमानदार, परिश्रमी, प्रगतिशील किसान को भूमि की खुद-काश्त से कितनी अधिकतम सामाजिक अनुमेय आय (मैक्जिमम सोसियली परमिसीबिल इनकम) प्राप्त होनी चाहिए।** एक बार आय की सीमा निर्धारित होने पर, प्रत्येक प्रकार की भूमि बारानी या मौसमी या निरन्तर सिंचित की औसत उत्पादिता के आधार पर रूपातरण-अनुपात (कनवरसन रेशियो) निकाले जा सकते हैं और इसका भूमि-तुल्य ज्ञात

किया जा सकता है। उच्चतम सीमा स्तर के निर्धारण की अन्तिम कसौटी आय ही होनी चाहिए।

यह भी कहा जा सकता है कि 'परिवार' की, जो कि उच्चतम सीमा की इकाई होगी, परिभाषा में परिवर्तन बड़े जोतदारों के लिए बहुत बड़ी रियायत है तथा इससे नवीन स्कीम का उद्देश्य विफल हो जाएगा और भूमिहीनों में भूमि पुनर्वितरण के क्षेत्र का विस्तार नहीं हो सकेगा। उग्र तत्त्व इन निर्देशों को 'कृषक लाबी' के सामने आत्म-समर्पण कह सकते हैं। 'परिवार' की नई परिभाषा वयस्क बच्चों को, चाहे वे विवाहित हो या अविवाहित, स्वयं अपनी जोत रखने का अधिकार देती है। अतः एक परिवार, जिसमें पति, पत्नी, तीन वयस्क तथा दो अल्पवयस्क बच्चे हों, दो फसलों के लिए आश्वासित सिंचाई वाली ४० से ७२ एकड़ भूमि तक या एक फसल वाली १०८ एकड़ सिंचित भूमि तक का अधिकारी होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि गुजरात, केरल, मैसूर, राजस्थान तथा दिल्ली जैसे राज्यों में, जहाँ पहली सीमाओं की इकाई 'परिवार के सब सदस्य थे' पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध अतिरिक्त भूमि पहले सीमा-नियमों में घोषित अतिरिक्त भूमि से बहुत कम होगी। इसके अतिरिक्त नई योजना वयस्क बच्चों के पक्ष में जाती है और अल्प वयस्कों के हितों की रक्षा नहीं करती क्योंकि उत्तराधिकारी नियम समान उत्तराधिकार के सिद्धांत पर आधारित है। परिवार में पिता की मृत्यु पर भूमि अल्प वयस्क बच्चों में समान रूप में बाँटी जाएगी। यह उनके साथ घोर अन्याय है। इसके अतिरिक्त लड़कियाँ भी अपने पिता द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति में कानूनी रूप में अपने भाग की अधिकारी है। परिणाम में भूमि का विखण्डन तथा उपविभाजन होगा जिससे अनार्थिक तथा जीवन-अक्षम जोतों का जन्म होगा।

११.८ भूमि-सीमा से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण

भूमि की उच्चतम सीमा का नियतन विभिन्न वर्गों में असमानताओं को दूर करने के लिए तथा सामाजिक दृष्टि से ही न्याय संगत नहीं बल्कि उत्पादन में वृद्धि हेतु जोतों की उत्पादन-दक्षता में वृद्धि करने के लिए तथा बेरोजगारों को रोज़गार देने के लिए भी ज़रूरी है। परन्तु इस सारी योजना का केन्द्रक बिन्दु इसके परिणामस्वरूप प्राप्त **'अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण'** है और इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर है कि अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण कैसे किया जाता है अर्थात् यह पुनर्वितरण उपरोक्त उद्देश्यों को कहाँ तक पूरा करता है।

भूमि सीमा-सम्बन्धी नए निर्देशों में इस बात की सिफ़ारिश की गई है कि जहाँ तक सम्भव हो, निर्मुक्त अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन कृषकों में बाँटा जाए। प्रश्न उठता है कि क्या इन कानूनों के लागू होने पर इतनी अतिरिक्त भूमि प्राप्त हो सकेगी जिससे भूमि की भूख को दूर किया जा सके और क्या अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों में पुनर्वितरण आर्थिक दृष्टि से तर्कसंगत है? ज्ञातव्य है कि भारत में १९७२ से पहले के भूमि सीमा-नियमों के परिणाम-स्वरूप केवल ११ लाख हैक्टर भूमि ही अतिरिक्त भूमि घोषित की जा सकी जिसमें से लगभग ५ लाख हैक्टर भूमि ही बाँटी जा सकी।

भारत में लगभग १ करोड़ ६० लाख भूमिहीन कृषक परिवार है। यदि एक परिवार

को एक हैक्टर भूमि भी दी जाए तो केवल भूमिहीन परिवारों के लिए ही १९० लाख हैक्टर भूमि की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त लगभग २ करोड़ परिवार ऐसे हैं जिनके पास एक एकड़ (०.४ हैक्टर) से भी कम भूमि है और उनकी दशा भी भूमिहीनो के तुल्य ही है। यह भूमि प्राय: बेकार ही जाती है क्योकि न तो इतनी छोटी जोतों पर ढग से कृषि हो सकती है और न ही इनसे उन परिवारो का पेट भर सकता है। स्वाभाविक ही है कि उनकी गिनती भी कृषि-श्रमिको मे की जाएगी। इसलिए यदि गरीबी को दूर हटाना है और कृषि का उद्धार करना है, तो भूमि की उच्चतम सीमा के साथ-साथ निम्नतम सीमा भी निर्धारित की जानी चाहिए। आर्थिक सवृद्धि, आर्थिक सिद्धातों की उपेक्षा करके प्राप्त नही की जा सकती। आर्थिक सिद्धातो को ताक पर रखने या उल्टा टाँगने से गरीबी दूर नही हो सकती। निम्नतम सीमाएँ भी भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि के लिए भिन्न-भिन्न होगी। डाडेकर तथा रथ ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी इन इडिया' मे विभिन्न राज्यो के लिए ०.४ हैक्टर से लेकर ४ हैक्टर के बीच निम्नतम निर्धारित सीमाओ के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि केवल वर्तमान जोतो को निम्नतम सीमा वाली जोतो तक लाने के लिए २ करोड हैक्टर अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता होगी। यह ध्यान रहे कि ये निम्नतम परिमाप की जोते भी आर्थिक नही होगी और अनार्थिक ही कही जाएँगी। सारणी ११.२ मे हमने वर्तमान जोतों को एक एकड तथा एक हैक्टर वाली निम्नतम जोतो मे लाने के लिए अभीष्ट अतिरिक्त भूमि का अनुमान लगाया है। इस आधार पर भूमिहीन परिवारो के लिए अभीष्ट भूमि का भी समावेश किया गया है।

सारणी ११.२ निम्नतन-सीमा-नियतन तथा पुनर्वितरण हेतु अभीष्ट अतिरिक्त भूमि

क्रमाक	जोत का क्षेत्र हैक्टर	जोतो की सख्या (लाखो में)	कुल क्षेत्रफल लाख हैक्टर	अभीष्ट अतिरिक्त भूमि निम्नतम निर्धारित सीमा ०.४ हैक्टर	१ हैक्टर लाख हैक्टर मे
१.	०.००	१९०.०	०	७६.००	१९०.००
२.	० ०० से ० २०	१९०.०	७.०१	६८.९९	१८२.९९
३.	०.२० से ० ४०	४५ ७	१३.४८	४·८०	३२.२२
४.	०.४० से १.०१	११४.८४	७७ १५	—	३७.६९
			कुल	१४९.७९	४४२.९०

स्रोत: निजी जोतों का वितरण, एन एस. एस. रिपोर्ट १४४ के आधार पर

सारणी से स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक कृषक-परिवार (भूमिहीन तथा सीमात) के पास एक एकड (अर्थात् ० ४० हैक्टर) की जोत का ध्येय रखा जाए तो इसके लिए लगभग १५० लाख हैक्टर फालतू भूमि की आवश्यकता होगी। यदि निम्नतम जोत एक हैक्टर की हो तो लगभग साढे चार करोड़ हैक्टर भूमि की जरूरत पडेगी जो देश के नेट कृषि-क्षेत्र का लगभग एक तिहाई बनता है। क्या नवीन भूमि सीमा-नियमो के फलस्वरूप इतनी भूमि प्राप्त हो

सकेगी। विशेषकर के जबकि परिवार की नवीन परिभाषा बड़े समृद्ध परिवारों को वर्तमान भूमि से भी अधिक भूमि रखने की अधिकारी बनाती है? यदि सीमा के निर्धारण का उद्देश्य सब भूमिहीनो को भूमि देने हेतु फालतू भूमि प्राप्त करना ही है, तो उच्चतम सीमाओं को उपरोक्त सिफारिशो में दी गई सीमाओं से बहुत कम रखना होगा। वर्तमान सीमाएँ निर्धनों को ऊँचा उठाने मे कोई विशेष सहायक नही होंगी। सबके लिए भूमि जुटाना सम्भव नही है और न ही यह मार्ग कृषि-विकास के विचार से वांछनीय दिखाई देता है।

भारत में इस समय लगभग ३ करोड ५० लाख जोतें अनार्थिक है। यदि भूमि-सीमा कानूनो से प्राप्त होने वाली फालतू भूमि का भूमिहीन कृषकों मे पुनर्वितरण किया गया तो अनार्थिक जोतो की सख्या मे भारी वृद्धि होगी। अत. फालतू भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ो के भूमिहीन किसानो मे वितरण से न तो भूमिहीनों की भलाई होगी और न ही भूमि का विकास हो सकेगा।

देखा जाए तो अभ्यर्पित तथा पुनर्वितरित भूमि सामान्यतः निकृष्ट होगी। छोटे-छोटे टुकडों मे वितरित इस भूमि पर कृषि करना किसी के लिए भी लाभकर नही होगा। इन भूमियो का विकास करना भी नए जोतदारो के बस की बात नही होगी। सहकारी समितियों अथवा राष्ट्रीयकृत बैंको से उपलब्ध दीर्घ अवधि या अल्प अवधि ऋण की कोई भी राशि इन अनार्थिक जोतों को जीवन-क्षम नही बना सकती। बहुत हद तक यह सभव है कि नए जोतदार अपनी भूमि को बेच देंगे और फिर भूमिहीन बन जाएँगे और इस प्रकार भूमि-पुनर्वितरण की सारी प्रक्रिया विफल हो जाएगी। यदि इस भूमि का विक्रय निषिद्ध होगा तो छोटे कृषक अपनी भूमि बड़े कृषको को पट्टे पर दे देंगे और लगानदारी (टेनेंसी) नया तथा उत्क्रम (रिवर्स) रूप ले लेगी। लघु अनार्थिक जोतदार अपनी भूमियो को गिरवी रखने पर बाध्य होंगे क्योंकि उन पर कृषि करने का कोई लाभ नही होगा। प्रत्यक्षत अलाभकर प्रस्थापना को कानून द्वारा बनाए रखा नही जा सकता। अत उच्चतम सीमा के न्यूनीकरण के फलस्वरूप प्राप्त फालतू भूमि के भूमिहीनो मे पुनर्वितरण से किसी भी लाभदायक उद्देश्य की पूर्ति नही होगी क्योंकि

(१) इससे निर्धनता की समस्या का समाधान नही होता।

(२) भारत मे उत्पादन के साधनो पर निजी स्वामित्व है और इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे क्रियमाण आर्थिक शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में आर्थिक दृष्टि से यह समस्या का व्यावहारिक हल नहीं। उच्चतम सीमा के निर्धारण से कृषक भूमि मे निजी निवेश करने मे अनुत्साहित होंगे। यदि नई जोतों में निजी निवेश की अनुमति नही दी जाती तो इनके विकास की जिम्मेदारी स्वयं राज्य पर होगी। क्या राज्य इस जिम्मेदारी को अपने ऊपर ले सकेगा?

(३) इससे कृषि-विकास मे अभिनव प्रौद्योगिकीय प्रगति द्वारा प्रदत्त अभिप्रेरणा समाप्त हो जाएगी। यह प्रेरणा तभी दी जा सकती है यदि फार्म-व्यवसाय को बढने के अवसर प्रदान किए जाएँ। जोतो के बड़े परिमाप पर निजी कृषि उपयोगी सिद्ध होती है।

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि फालतू भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ो मे भूमिहीन

कृपकों में वितरण गरीबी को हटाने में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकता। दूसरी ओर यह भूमिहीन कृपकों को 'न छोड़ने, न जोतने' की स्थिति में डाल देगा जिससे कृषि-विकास में वृद्धि नहीं होगी। इसलिए आर्थिक दृष्टि से श्रेयस्कर यह होगा कि अतिरिक्त भूमि का उपयोग इस प्रकार से हो कि वर्तमान जीवन-अक्षम (नान वाइएबिल) जोतों की अधिक से अधिक संख्या को जीवन-क्षम स्तर तक लाया जा सके। कृषि-उत्पादन के सगठन के विचार से यह सुदृढ़ तथा ठोस प्रस्थापना है। इस प्रकार यदि बहुत छोटी जोतों को बड़ा बना दिया जाएगा तो सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करना भी आसान हो जाएगा और वे नवीन कृषि-प्रविधियों का भी लाभ उठा सकेंगे। परन्तु अधिकांश लोगों का विचार यह है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त अतिरिक्त भूमि प्राप्त नहीं हो सकेगी।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि लघु अनार्थिक जोतों को जीवन क्षम फार्मों में सगठित नहीं किया जा सकता तो उन नई अनार्थिक जोतों का भविष्य क्या होगा जो फालतू भूमि के भूमिहीन किसानों में पुनर्वितरण के परिणामस्वरूप बनेंगी? अतः भूमि-सीमा कानूनों से प्राप्त होने वाली फालतू भूमि के पुनर्वितरण में अत्यधिक छोटे कृषकों तथा भूमि-हीन किसानों को भूमि देने से कोई लाभ नहीं होगा और इनको इस स्कीम से बाहर ही रखना चाहिए। अच्छा यह होगा कि फालतू भूमि का पुनर्वितरण करते समय उन छोटे कृषकों पर अधिक ध्यान दिया जाए जिनकी जोतें थोड़ी-सी अतिरिक्त भूमि मिलने पर जीवन क्षम बन सकती हैं। वास्तव में वर्तमान परिस्थितियों में उच्चतम सीमाओं के साथ-साथ जोत की निम्नतम सीमाएँ (फ्लोअर्स) भी निर्धारित की जानी चाहिए और उच्चतम सीमा से ऊपर की फालतू भूमि का उपयोग सब ग्रामीण परिवारों में पुनर्वितरण के लिए करने की जरूरत नहीं है बल्कि इसका उपयोग सीमांत-जोतों की अधिकतम संख्या को निम्नतम निर्धारित सीमा तक लाने में किया जाना चाहिए। उदाहरणतः यदि जोत की निम्नतम सीमा एक हैक्टर निर्धारित की जाए, तो फालतू भूमि का उपयोग इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि इससे छोटी जोतों की अधिकाधिक संख्या को एक हैक्टर की जोतों में सगठित किया जा सके। निम्नतम निर्धारित सीमा से अत्यधिक छोटी जोतें स्वयं ही समाप्त हो जाएँगी या उन्हें बाहर धकेलना पड़ेगा।

बड़े फार्मों से छोटे तथा सीमांत फार्मों में भूमि तथा पूँजी संसाधनों के पुनर्वितरण से कुल उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होगी क्योंकि लघु फार्मों में प्रति इकाई भूमि-क्षेत्र तथा पूँजी व श्रम की उपलब्धता अधिक होती है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि—

(१) जोतों की उच्चतम तथा निम्नतम दोनों सीमाएँ निर्धारित की जानी चाहिए।

(२) भूमि-सीमा नियतन से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का उपयोग तथा पुनर्वितरण लघु जोतों को जीवनक्षम बनाने तथा सीमांत जोतों को निम्नतम निर्धारित सीमा तक लाने के लिए किया जाना चाहिए।

(३) निम्नतम निर्धारित सीमा से बड़ी परन्तु जीवन-अक्षम व अनार्थिक जोतों को जीवनक्षम सहकारी फार्मों (वाइएबिल कोऑपरेटिव फॉर्मस्) में संगठित किया जाना चाहिए। सहकारी कृषि से अभिप्राय है—भूमि का पूलन तथा सयुक्त प्रबन्ध ताकि प्रबन्ध की इकाई को बढ़ाया जा सके और उपलब्ध ससाधनों तथा नवक्रियाओं का पूर्ण लाभ उठाया जा सके।

(४) लघु तथा सीमांत कृषकों को मुर्गी-पालन तथा दुग्ध-उद्योग जैसे रोजगार-अभिमुख धन्धों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए ताकि वे रोजगार के साथ-साथ अतिरिक्त आय भी प्राप्त कर सकें। इससे इन वर्गों की बेकारी तथा अल्प बेरोज़गारी भी दूर हो सकती है।

(५) सीमाओं के अन्तर्गत फार्मों को विकास तथा वृद्धि की समुचित सुविधाएँ दी जाएँ ताकि कृषि-श्रमिकों को उनमें नियमित तथा बेहतर वेतन पर रोजगार प्राप्त हो सके। सब लोगों को भूमि पर नहीं बसाया जा सकता, इसलिए ऐसे लोगों के लिए, जिन्हें कृषि-मजदूरी रोजगार से बाहर फेंक दिया जाएगा, कृषि से बाहर के क्षेत्रों में रोजगार के अवसर देने के लिए निश्चित रूप से कुछ न कुछ करना होगा। इस दिशा में ग्रामोद्योग तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास करना होगा। श्रमिकों को रोजगार देने के लिए ग्राम-निर्माण तथा विकास कार्य भी हाथ में लिए जा सकते हैं।

(६) योजना की सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि इसका कार्यान्वयन करने के लिए प्रशासनिक ढाँचा कितना दक्ष व ईमानदार है। सीमा-नियमों को प्रभावी बनाने के लिए प्रशासनिक ढांचे को सुदृढ़ करना होगा।

(ख) भूमि-सुधार—आर्थिक तथा सामाजिक संगठन का प्रत्येक स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपनी भूमि की समस्या को कैसे हल कर सकते हैं। अतः भू-स्वामित्व का प्रश्न आज कृषि-विकास तथा पुनर्निर्माण की मूलभूत समस्या है। ग्राम-सुधार तथा सामाजिक विकास भूमि-सुधारों से सम्बन्धित हैं। सामान्यतः हमारी भूमि नीति ऐसी होनी चाहिए जो निम्न आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करे:—

(१) भूमि-नीति ऐसी होनी चाहिए जो कृषि-उत्पादन में वृद्धि तथा उन्नत एवं विविध ग्राम्य अर्थव्यवस्था को सुनिश्चित कर सके।

(२) इसे सम्पत्ति तथा आय की असमानताओं को दूर करना चाहिए।

(३) इसे किराएदारों तथा श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए तथा उनके शोषण को समाप्त करना चाहिए।

(४) इससे ग्राम्य समाज के विभिन्न वर्गों को समान अवसर तथा स्तर की प्राप्ति होनी चाहिए।

उपरोक्त लक्ष्य निम्न भूमि-सुधारों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं?

११.६ भूमि-सुधार-उपाय :

जहाँ भूमि सीमा-नियतन का मुख्य उद्देश्य भूमि का पुनर्वितरण तथा भूमिजोतों में असमताओं को दूर करना है, वहाँ कुछ सम्बद्ध सुधार उपाय ऐसे हैं जो कृषि-आय का पुनर्वितरण भी कर सकते हैं और कृषि क्षेत्रक के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

एक कृषक अपनी उत्पादिता में वृद्धि नहीं कर सकेगा यदि (१) भूमि-ससाधनों पर उसके भावी नियन्त्रण के सबंध में अनिश्चितता बनी रहेगी तथा (२) यदि उसे इस बात का भय बना रहेगा कि उसके ससाधनों के उपयोग में किए गए उस द्वारा प्रयासों का आनुपातिक

फल उसे नही मिलेगा । ये बातें कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के रास्ते मे रुकावटें हैं । अतः भूमि-नीति का मुख्य ध्येय यह होना चाहिए कि कृषि-उत्पादन वृद्धि मे कृषिक सरचना मे से उत्पन्न होने वाली बाधाओं को दूर किया जाए तथा कृषिक प्रणाली मे मौजूदा शोषण तथा सामाजिक अन्याय के तत्त्वों को निरस्त कर दिया जाए । यह तभी सभव हो सकता है यदि कृषक का भूमि पर पूर्ण अधिकार हो या उसके अधिकारो की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके ।

भूमि के स्वामित्व, लगानदारी तथा उत्तराधिकारित्व का नियमन करने वाले अधिकारों के स्वरूप को भूमि-पट्टा संरचना कहते हैं । भूमि पट्टा-संरचनाएँ विकास प्रक्रम के महत्त्वपूर्ण साधन है और ये अवरोधको या प्रोत्साहको के रूप मे कार्य करती हैं । कृषिक सरचनाओं मे परिवर्तन आर्थिक सवृद्धि, सामाजिक उन्नति तथा राजनैतिक स्थिरता के लिए जरूरी हैं ।

भूमि पट्टा-सरचनाएँ प्रेरणाओ, तकनीकी तथा प्रबन्धकीय नवक्रियाओं तथा पूँजी निर्माण को प्रभावित करती हैं । ये प्रति श्रमिक उत्पादिता को प्रभावित कर कृषीतर पदार्थो तथा सेवाओ के लिए शक्य बाजार तथा अन्य क्षेत्रको के लिए छोडे जाने वाले श्रम तथा पूँजी के परिमाण को भी प्रभावित करती हैं । इस प्रकार भूमि-पट्टा-सरचनाएँ देश के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकती हैं । **वे पट्टा-प्रबन्ध जो किराएदार को उत्पादन-प्रक्रम में उसके द्वारा लगाई गई निविष्टियो के अनुपात में फल प्रदान नहीं करते, किराएदार को अधिक उत्पादन करने के लिए या अपनी उत्पादिता मे वृद्धि करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते । अतः कृषक का अपनी भूमि पर अधिकार तथा नियन्त्रण अर्थात् उसके पट्टा-अधिकारो की सुरक्षा तथा भूमि से उचित तथा न्याय संगत प्रतिफल की प्राप्ति का आश्वासन भूमि-सुधारो का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए ।** भारत मे राज्य तथा कृषक के मध्य में अनेक प्रकार के बिचौलिये रहे है जिनका किसी न किसी रूप मे भूमि पर अधिकार रहा है और इसके फलस्वरूप कृषको के साथ सामाजिक न्याय नही हो पाया । इसलिए भारत मे भूमि-सुधारो के मुख्य लक्ष्य तथा कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) बिचौलियो के पट्टो का उन्मूलन अर्थात् जमीदारी के मध्यम स्तरों को समाप्त करना,

(२) पट्टेदारी व्यवस्था का सुधार अर्थात् पट्टे की सुरक्षा प्रदान करना, किराए (लगान) को कम करना, किराएदारो को स्वामित्व के अधिकार दिलाना ताकि निजी सम्पत्ति की प्रेरणाएँ सुलभ हो,

(३) भू-स्वामित्व की अधिकतम सीमा का निर्धारण, तथा

(४) कृषि का पुनर्गठन अर्थात् चकबन्दी, उपविभाजन तथा विखण्डन को रोकना, सेवा-सहकारिताओ का विकास करना तथा सहकारी कृषि का सीमित प्रोत्साहन ।

११·१० मध्यवर्ती पट्टेदारियाँ (जमीदारी प्रथा) तथा उनका उन्मूलन

जमीदारी प्रथा जिसे जमीदारी, जागीरदारी, बिस्वेदारी तथा इनाम आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है, वास्तव मे ब्रिटिश शासन की देन थी और लगभग देश के ४० प्रतिशत क्षेत्र मे प्रचलित थी । आरम्भ मे अंग्रेजों ने भू-राजस्व (मालगुजारी) के सग्रह को नियमित

तथा सुव्यवस्थित करने के लिए इस प्रथा को चालू किया। इस प्रथा मे जमीदार जो भूमि का स्वामी माना जाता था, स्वय खेती नही करता था बल्कि काश्तकारो (या मुजारो) से खेती करवाता था। सरकार को मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व जमीदार पर होता था जिसे वह अपने पास से नही देता था बल्कि यह भू-राजस्व जमीदारो द्वारा उन काश्तकारो से प्राप्त किया जाता था जो भूमि पर वास्तविक रूप मे कृषि करते थे। इस प्रणाली का आधार वह ब्रिटिश प्रथा थी जिसमें जमीदार स्वय गाँव मे रहता था, भूमि के सुधार के लिए धन व्यय करता था; तथा काश्तकारो को बीज, खाद तथा यन्त्रो आदि की सहायता देता था। परन्तु भारतीय जमीदारो ने ऐसा कोई कार्य न किया। शुरू-शुरू मे ये जमीदार मात्र 'भूराजस्व उगाहक' (रेवेन्यू कलेक्टर्स) थे। क्योकि सरकार के लिए प्रत्येक किसान से अलग-अलग मालगुजारी प्राप्त करना सभव नही था, इसलिए सरकार ने किसान तथा सरकार के बीच 'जमीदारो' के रूप मे एक मध्यवर्ती वर्ग स्थापित कर दिया। अतः भू-राजस्व सम्बन्धी करार सीधे वास्तविक काश्तकारो के साथ नही थे बल्कि उन 'वरिष्ठ अधिकारियो व जोतदारो' के वर्ग के साथ किए गए जो असल मे भू-राजस्व कर्मचारी थे। उनके अधीन वास्तविक काश्तकारो के कोई स्पष्ट तथा निश्चित अधिकार नही थे, इसलिए वे जमीदारों के 'पट्टेदार' माने जाने लगे। ये जमीदार कृषक से काफी अधिक लगान प्राप्त करते और उसका कुछ भाग सरकार को मालगुजारी के रूप मे दे देते। इस प्रकार किसान के खून पसीने की कमाई मे जमीदार *व्यर्थ का भागीदार बन बैठा। दूरवासी जमीदार जो कृषि-उत्पादन की* प्रक्रिया में कोई भाग भी नही लेता था, उत्पादन के एक बडे भाग का घर बैठे ही स्वामी बन जाता था। कई धनी लोगो ने जमीदारी-अधिकार खरीद लिए और जमीदार बन गए। यह प्रणाली असम, बगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, उडीसा, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास तथा मध्यप्रदेश के कई क्षेत्रों मे प्रचलित थी।

क्योकि इस प्रथा के अधीन वास्तविक काश्तकारों अर्थात् *'रैयतों'* के अधिकार स्पष्ट तथा निश्चित नही दे, इसलिए उनके पट्टेदारी तथा जमीदारो को देय लगान से सम्बन्धित अनेक विकट समस्याएँ उठ खडी हुई। **मनमानी बेदखलियाँ, अत्यधिक लगान का बलात् ग्रहण तथा बेगार लेना सामान्य बातें हो गई।** अत जमीदारो के अधीन जोतदारो के अधिकारो को निश्चित करने के लिए तथा पट्टे की शर्तो तथा किराए की शर्तों मे उनको सुरक्षा प्रदान करने के लिए कई पट्टेदारी नियम बनाए गए। १९४० तक, जमीदारों की हालत पुन मालगुजारी उगाहको की सी हो गई।

भूमि-पट्टा-कानूनों का मुख्य लक्ष्य जमीदारो के अधीन सब वास्तविक काश्तकारो को सरक्षण प्रदान करना था परन्तु 'पट्टेदार' की कानूनी परिभाषाएँ इतनी प्रतिबन्धात्मक थी कि अनेक वास्तविक काश्तकारों (कृषको) को कोई संरक्षण प्राप्त न हुआ। बीते वर्षों में कुछ सरक्षित पट्टेदारो ने 'बिचौलिया' बनना लाभकर समझा और उन्होंने अपनी भूमि उप-पट्टे पर दे दी। जमीदारो ने भी अपने अधीन बेमियादी किराए के जोतदारो के एक नए वर्ग का निर्माण किया जो बाद मे भू-स्वामी बन गए। अतः सरकार तथा वास्तविक काश्तकार के बीच अनेक मध्यवर्ती स्तरो का विकास हुआ जो काश्तकारो द्वारा दिए जाने वाले

भू-राजस्व में साझीदार बन गए जबकि यह सारी की सारी राशि सरकार के पास जानी चाहिए थी।

अतः देश की स्वतन्त्रता के बाद यह स्वाभाविक था कि सुधार की ओर पहला कदम यह हो कि इन 'बिचौलियों' का उन्मूलन किया जाए, जो कि केवल मात्र 'मालगुजारी उगाहक' होते हुए काफी लाभ हड़प कर रहे थे और कृषकों का कई प्रकार से शोषण कर रहे थे। १९५४ तक विभिन्न राज्यों ने आवश्यक कानून पास कर दिए थे। यह सुधार लगभग पूर्ण हो चुका है। सब तरह की मध्यवर्ती पट्टेदारी का उन्मूलन किया जा चुका है। लगभग दो करोड़ कृषकों का राज्य से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो चुका है और उन्हें भूमि का मालिक बनने के योग्य बना दिया गया है।

मौलिक रूप में 'मध्यवर्तियों का उन्मूलन' भू-राजस्व-प्रशासन सम्बन्धी सुधार है परन्तु यह सामाजिक न्याय की दृष्टि से समतावादी समाज की स्थापना में सहायता भी देता है। प्राय सारे देश में बिचौलियों की पट्टेदारियों को समाप्त कर दिया गया है परन्तु कुछ गैर-रैयतवारी पट्टेदारियां अभी भी हैं। असम में अस्थायी रूप से दी गई जागीरों, और केरल, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु, गोआ, दीव तथा दादर व नगरहवेली में कुछ इनामों तथा पट्टेदारियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाने शेष थे। आशा है तिलगाना क्षेत्र, गुजरात के देवस्थान में तथा उत्तरपूर्वी भाग में मुत्तादारी तथा मालगुजारी पट्टेदारियों से सम्बन्धित कानून जल्दी बना लिए जाएँगे।

कुछ बिचौलियों ने ऐसी भूमि अभी भी हथिया रखी है जो सरकार के पास होनी चाहिए थी अथवा जिस पर पट्टेदारों का अधिकार होना चाहिए था। ऐसे मामलों की जाँच तथा मध्यवर्तियों की समाप्ति से सम्बन्धित कानूनों के प्रभावशाली कार्यान्वयन के लिए कड़ी कार्रवाही की जानी चाहिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जमीदारी का उन्मूलन करते समय सरकार ने उनकी भूमियों को जब्त नहीं किया है बल्कि सरकार ने अतिरिक्त भूमि के बदले उचित मुआवज़ा देकर उसे अपने अधिकार में लिया है। बड़े जमीदारों को मुआवजा दीर्घकालीन ऋण-पत्रों के रूप में दिया गया है जिन पर नियमित ब्याज मिलेगा और जिन्हें १५ से ४० वर्ष पश्चात् भुनाया जा सकता है। छोटे जमीदारों को क्षतिपूर्ति की राशि नकद दी गई है। इसके अतिरिक्त उन्हें पुनर्वास-अनुदान भी दिया गया है। मुआवज़े की दर सभी राज्यों में एक समान नहीं है। भिन्न-भिन्न राज्यों में मुआवजे की दर तथा रीतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। कुछ राज्यों में मुआवजा देने की गति धीमी रही है। कुछ एक राज्यों में क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण तथा अदायगी होना शेष है। अनुमान है कि मुआवजे की कुल राशि ६४० करोड़ रुपये होगी। इस समय तक लगभग ४०० करोड़ रुपये अदा किए जा चुके हैं।

'जमीदारी का उन्मूलन' एक क्रांतिकारी उपलब्धि है। इससे इन क्षेत्रों में ग्राम्य समाज की सामंतवादी संरचना का लोप हो गया है और इसके साथ ही काश्तकारों का शोषण तथा उनके साथ होने वाला अन्याय तथा दुर्व्यवहार भी समाप्त हो गया है। बहुत से राज्यों में, विशेषकर, पश्चिमी बंगाल में, जमीदारी-उन्मूलन तथा भूमि-सीमा सम्बन्धी नियमों के लागू होने के फलस्वरूप सरकार को काफी अकृष्ट परन्तु कृष्य भूमि प्राप्त हुई है। एक अनु-

मान के अनुसार इस भूमि का क्षेत्रफल लगभग २४ लाख हैक्टर है। विचार यह था कि इस भूमि का भूमिहीन श्रमिको मे पुर्नवितरण किया जाए। इसमे से काफी क्षेत्र ऐसा है जिसका उपयोग मे लाने से पहले काफी विकास करना पड़ेगा। इस भूमि के पुर्नवितरण की प्रगति बडी धीमी रही है और इस दिशा में पेश आने वाली त्रुटियों को शीघ्र दूर किया जाना चाहिए। एक बात स्पष्ट है कि भूमि उसी की होनी चाहिए जो उसे जोते।

जमीदारी के उन्मूलन के बाद के नवीन उत्तरदायित्वो, बेकार भूमि, वनों, मछली-पालन *तथा लघु सिंचाई निर्माण से सम्बन्धित कार्यो को पूरा करने, किराया उगाहने तथा भूमि* रेकार्डों की देखभाल करने के लिए आवश्यक भूराजस्व-प्रशासन की स्थापना करनी होगी। तभी इस सुधार का उचित लाभ उठाया जा सकेगा।

११.११ पट्टेदारी अर्थात् लगानदारी व्यवस्था में सुधार

देश के अन्य भागो मे प्रारभिक भू-राजस्व बन्दोबस्त वास्तविक काश्तकारो के साथ किया गया था और कोई मध्यवर्ती तत्त्व नही थे। सरकार एक सरकारी एजेंसी द्वारा प्रत्येक *गाँव के काश्तकारों से लगान वसूल करती थी और स्वय ही उनका रेकार्ड रखती थी।* आंध्रप्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू, कश्मीर, केरल, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, पजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बगाल तथा देश के अन्य भागो मे प्रचलित इस प्रथा को 'रैयतवारी प्रथा' कहते हैं। अतः जमीदारी उन्मूलन के बाद देश में लगभग सब क्षेत्रों मे 'रैयतवारी प्रथा' प्रचलित हो गई।

परन्तु कई 'रैयत' भी स्वय खेती नही करते थे और उन्होने अपनी भूमि को आगे पट्टे पर या बटाई पर देना लाभप्रद समझा। इसी प्रकार जमीदारी प्रथा मे भी अनेक पट्टेदारो व काश्तकारों ने अपनी भूमि आगे पट्टे पर दे दी थी। यद्यपि विभिन्न कानूनो में पट्टेदार की स्थिति सुरक्षित हो गई थी परन्तु विधान भी 'उप-पट्टेदारों' जैसे "बटाईदार, बरगादार, अधियार, साझी" आदि वर्गों को किराएदार नही मानता था। इस प्रकार खेती करने वाले काश्तकार दो प्रकार के होते हैं। एक तो मौरूसी काश्तकार (आकूपेन्सी टीनेंट) और दूसरे गैर-मौरूसी काश्तकार (टीनेंट एट विल)।

मौरूसी काश्तकार को भूमि पर कृषि करने का अधिकार स्थायी तथा पैतृक होता है। लगान निश्चित होता है और इसकी नियमित अदायगी होने पर उसे भूमि से बेदखल नही किया जा सकता। वह किराए पर ली हुई भूमि को आगे ठेके पर दे सकता है। इस प्रकार इन काश्तकारो के अधिकार सुरक्षित हैं। परन्तु गैर-मौरूसी काश्तकार का पट्टा स्थायी नही होता। जमींदार जब चाहे, उसे बेदखल कर सकता है। उसका लगान भी निश्चित नही होता और उसे बढाया जा सकता है। **अतः इस वर्ग के लिए पट्टे की सुरक्षा तथा लगान का बोझ भारी समस्याएँ हैं और इसी वर्ग को संरक्षण की सबसे अधिक आवश्यकता है।** जहाँ तक साझियो तथा बटाईदारो का सम्बन्ध है, उनकी दशा और भी निराशाजनक तथा शोचनीय है क्योकि उनके साथ कोई लिखित अनुबन्ध नही होता। पट्टा या बटाई मौखिक होती है जिसका कोई कानूनी मूल्य नही होता। इस दशा में सुधार के लिए विस्तृत भूमि-रेकार्ड की जरूरत होती है। अनेक राज्यो मे किराएदारो को सुरक्षा देने तथा लगान को नियमित करने

के लिए कानून बनाए गए हैं परन्तु प्रगति सन्तोषजनक नही हुई । यह भी अनुभव किया गया कि अच्छा यही होगा कि 'पट्टेदारी' की प्रथा को ही समाप्त कर दिया जाए और भूमि का स्वामित्व कृषि करने वाले किराएदारो को दे दिया जाए ताकि 'जो कृषि करे वही भूमि का मालिक हो' के उसूल को चरितार्थ किया जा सके । इस प्रकार के पट्टेदारो तथा उप-पट्टेदारो (शिकमी और दर शिकमी काश्तकारो) को स्वामित्व प्रदान करने के लिए कई राज्यो मे कानून बनाए गए हैं । उद्देश्य यह है कि 'दूरस्थ स्वामित्व' (एबसेन्टी ऑनरशिप) की पद्धति समाप्त हो ।

(क) **पट्टे की सुरक्षा तथा लगान का नियमन**—जब भूमि का स्वामी स्वय कृषि नही करता बल्कि अन्य काश्तकारो को निश्चित किराए और शर्तों पर जोतने के लिए दे देता है, उसे लगानदारी या पट्टा खेती कहते हैं । काश्तकार के लिए पट्टे की सुरक्षा अत्यन्त महत्व की है । यह सुरक्षा उसे विभिन्न निविष्टियो को प्राप्त करने मे सहायता देती है और वह प्रभावपूर्ण ढग से कृषि-उत्पादन कार्यो मे भाग ले सकता है । अनेक राज्यो मे पट्टे की सुरक्षा प्रदान करने के लिए कानून बनाए गए हैं । कई एक राज्यो मे भूस्वामियो को 'व्यक्तिगत कृषि' के लिए अपनी भूमि को पुनर्ग्रहण की अनुमति दे दी गई है । कुछ राज्यो मे ऐसी स्थिति मे पट्टेदारो तथा बटाईदारो को अतरिम सरक्षण दिया गया है । अनेक दूसरे राज्यो मे भू-स्वामियो को पुनर्ग्रहण के अधिकार से अनिश्चितता उत्पन्न हो गई है जिससे 'पट्टेदारो' से सबधित धाराओ का उल्लघन हुआ है । यह ध्यान रहे कि 'व्यक्तिगत अथवा निजी कृषि' के तीन अनिवार्य तत्त्व होते है (i) व्यक्तिगत श्रम (ii) कृषि का जोखिम (iii) भू-स्वामी या उसके परिवार के सदस्यो द्वारा व्यक्तिगत निरीक्षण । प्रयास यह होना चाहिए कि पट्टेदार भूमिहीन न बन जाएँ ।

पट्टे की सुरक्षा की समस्या से भूस्वामी को खेतिहर पट्टेदार द्वारा दिए जाने वाले लगान के विनियमन का प्रत्यक्ष रूप मे सबध है । पट्टे की सुरक्षा के लिए किए जाने वाले प्रयास तब सार्थक नही होते जब लगान निरंकुश हो और वे पट्टेदार के सामर्थ्य के बाहर हो । ऐसे मामलो मे पट्टेदारो को बकाया लगान की राशि देनी होती है । इस स्थिति मे भू-स्वामी द्वारा उससे पट्टे का स्वेच्छा-समर्पण करवाया जाता है । किराया नकदी मे होना चाहिए और भू-राजस्व का गुणक हो । यह उपज का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ से अधिक नही होना चाहिए ।

अतः पट्टे की सुरक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त लगान का नियमन भी जरूरी है । इसके साथ-साथ ऐसी ऋण-व्यवस्था की भी जरूरत है कि पट्टेदार अपनी भूमि के सुधार के लिए सुविधापूर्वक ऋण प्राप्त कर सके और अनिवार्य बेदखली होने पर उसे भूमि-सुधार पर किए गए व्यय के लिए मुआवजा मिल सके । उसे सहकारिताओ के पास ऋण के बदले मे अपनी भूमि गिरवी रखने की भी अनुमति होनी चाहिए । वे अपनी पट्टे वाली भूमि को खरीद सकें, इस बात की व्यवस्था भी होनी चाहिए । पट्टेदारो को आसान शर्तों पर स्वामित्व के अधिकार प्रदान किए जाने चाहिएँ और भूमि बधक बैंको तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों से इस हेतु वित्तीय सहायता प्राप्त होनी चाहिए । विभिन्न राज्यों मे हुई प्रगति का वर्णन नीचे किया गया है ।

(ख) **विभिन्न राज्यों में लगानदारी सुधार—(i) आंध्र प्रदेश**—पहले वाले आंध्र क्षेत्र में पट्टे की सुरक्षा की वर्तमान व्यवस्थाएँ अस्थायी तथा अतर्गिम है और सब पट्टों की बेदखली स्थगित कर दी गई है। सिंचित भूमि के लिए लगान कुल उपज के ५० प्रतिशत और शुष्क भूमियों के लिए उपज के ४० प्रतिशत से अधिक नही होगा। तिलगाना क्षेत्र में लगान सिंचित भूमि के लिए उपज के एक चौथाई से अधिक नहीं होगा। अन्य दशाओं मे ⅕ भाग अथवा भू-राजस्व का ३ से ५ गुना लगान लिया जाएगा। सरक्षित पट्टेदारो को अनिवार्य स्वामित्व-अधिकार भी दिए गए है। लगभग ३५००० पट्टेदारों ने ये अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। नवीन लगानदारियों का निर्माण अनियमित छोड दिया गया।

(ii) **असम**—असम मे भू-स्वामी को व्यक्तिगत (निजी) कृषि के लिए भूमि पुनर्ग्रहण का अधिकार दे दिया गया था और इस अधिकार को छोड़ कर उप-रैंयतो तथा अधियारों (बटाईदारो) के पट्टे स्थिर कर दिए गए। परन्तु प्रत्येक उप-रैयत तथा अधियार के पास ३⅓ *एकड़ भूमि उस समय तक रहेगी जबतक कि उन्हें स्थानीय क्षेत्र मे तुल्य मूल्य की वैकल्पिक* भूमि नियत नही हो जाती। पुनर्ग्रहण के अधिकार १८ फरवरी, १९६३ को समाप्त हो गए और अब अधियारो तथा उपरैयतों को पट्टे की पूर्ण सुरक्षा प्राप्त है। लगान उपज के ⅓ तथा ¼ भाग के बीच होगा।

(iii) **बिहार**—लगानदार को भूमि पर १२ वर्ष कब्जे के उपरान्त मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। लिखित पट्टे वाले पट्टेदार की पट्टे की अवधि समाप्त होने पर बेदखली हो सकेगी। मौखिक पट्टे वाले लगानदारों को बेदखल नही किया जा सकता बशर्ते कि वह भूमि का कुप्रयोग न करे या किराया न अदा करे। अधिकांश बटाईदार भूमि को मौखिक पट्टे पर रखे हुए हैं इसलिए कानून मे उन्हे पट्टे की सुरक्षा प्राप्त है। **व्यवहार में वे गैर-मौरूसी पट्टेदार हैं**। भूस्वामी को निजी खेती के लिए भूमि-पुनर्ग्रहण का अधिकार है। पट्टेदार को कुछ न्यूनतम क्षेत्रफल रखने की अनुमति है। उप-रैयतों को इस सीमा से अधिक भूमि के लिए पट्टे की स्थिरता प्रदान की गई है। लगान कुल उपज के ¼ से अधिक नहीं होगा। गैर-मौरूसी पट्टेदार अधिकतः असुरक्षित हैं।

(iv) **गुजरात**—भूस्वामियो को इस शर्त पर निजी कृषि के लिए भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार दिया गया कि किरायेदार पट्टे के क्षेत्र का आधा भाग अपने पास रख सकेगा। भूस्वामियो द्वारा अधिकार प्राप्त करने की अवधि समाप्त हो चुकी है। किराया कुल उपज के १/६ या भू-राजस्व के २ से ५ गुना से अधिक नही होगा।

पहले के बम्बई वाले क्षेत्र मे ९.२० लाख लगानदार स्वामित्व प्राप्त करने के अधिकारी थे। उन्हे भूमि के लिए खरीद-कीमत देनी थी। कीमत-नियतन का कार्य लगभग पूरा हो चुका है। कई पट्टेदार इसलिए स्वामित्व-अधिकार प्राप्त नही कर सके क्योंकि उनके पास पर्याप्त धन उपलब्ध नही था। अनेक लोग भूमि को खरीदना नहीं चाहते थे। उन्हे ऐसा करने के लिए एक और अवसर दिया गया। उन पट्टेदारों को जो भूमि को नही खरीद सकते ऋण सुविधाएँ सुलभ करानी चाहिए।

(v) **जम्मू व कश्मीर**—भूस्वामी सीमित क्षेत्र का पुनर्ग्रहण कर सकता है। इस अधिकार के अन्तर्गत लगानदारो का पट्टा स्थिर कर दिया गया है। लगान उपज के ¼ तथा

$\frac{1}{3}$ के बीच है। छोटे भूस्वामी उपज का आधा भाग किराए के रूप में ले सकते हैं। काबिज पट्टेदार भूमि को खरीद सकते हैं। इस उद्देश्य हेतु सरकार उनको तकावी देती है। नए पट्टेदार अभी भी असुरक्षित हैं।

(vi) केरल—भू-स्वामियो की केवल विशेष दशाओं में ही भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त लगानदारो का पट्टा स्थिर कर दिया गया। अपुनर्ग्रहणीय भूमि के स्वामित्व-अधिकारो के पट्टेदारो को अतरण की भी व्यवस्था की गई। स्वेच्छा-समर्पण तथा भूस्वामियो को नियमो का उल्लघन करने पर दण्डित करने की भी व्यवस्था की गई है। लगानदारों तथा कुडिकिडापुकारो की बेदखली स्थगित कर दी गई। धान की फसल के लिए किराया कुल उपज का $\frac{1}{4}$ भाग रखा गया। स्वेच्छा-समर्पित भूमि केवल सरकार को दी जा सकेगी।

(vii) मध्यप्रदेश—किराएदारो की भूमि के वर्गानुसार ५ एकड़ से लेकर २५ एकड़ तक भूमि के लिए पट्टे स्थिर कर दिए गए। इसके ऊपर भूस्वामी को भूमि के पुनर्ग्रहण का अधिकार था। लगान भू-राजस्व के २ से ४ गुना तक हो सकेगा। अपुनर्ग्रहणीय भूमि की दशा मे स्वामित्व-अतरण की व्यवस्था की गई है। चार लाख से अधिक पट्टेदारों को स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो चुके हैं।

(viii) मद्रास (तमिलनाडु)—बेदखलियो से किराएदारों को सरक्षण देने के लिए १९५५ मे अतरिम-नियम बनाया गया जिसे अब तक लागू किया जा रहा है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में भूस्वामी भूमि का पुनर्ग्रहण कर सकते हैं। सिंचित भूमि के लिए किराया उपज का ४० प्रतिशत होगा। अन्य दशाओं मे यह उपज का एक तिहाई होगा।

(ix) महाराष्ट्र—किराएदारो का पट्टा स्थिर कर दिया गया है। भूस्वामियो को निजी कृषि के लिए सीमित क्षेत्र का पुनर्ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था। किराया 'निर्धारित कर' के २ से ५ गुना अथवा कुल उपज के $\frac{1}{6}$ से अधिक नही हो सकता। पट्टेदारो को स्वामित्व अतरण की व्यवस्था भी की गई है। लगभग ७$\frac{1}{2}$ लाख पट्टेदारो को २१ लाख एकड़ भूमि के स्वामित्व-अधिकार दे दिये गये हैं। मराठवाडा क्षेत्र मे उन साधारण पट्टेदारों को जिनके कब्जे मे अपुनर्ग्रहणीय भूमि थी, अनिवार्य स्वामित्व प्रदान किया गया है।

(x) मैसूर कर्णाटक—मैसूर के पूरे पुनर्गठित राज्य पर लागू करने के लिए १९६१ में एक विस्तृत कानून बनाया गया जिनमे पट्टे को स्थिर करने की व्यवस्था की गई। भू-स्वामी को पट्टे के आधे क्षेत्र तक पुनर्ग्रहण करने का अधिकार दे दिया गया। उचित लगान कुल उपज के $\frac{1}{5}$ मे $\frac{1}{4}$ भाग के बीच होना चाहिए। विभिन्न त्रुटियो को १९६५ के सशोधित नियम में दूर किया गया है। हजारों लोगो ने पुनर्ग्रहण के लिए आवेदन किए हैं। इन पर निर्णयो के बाद ही पट्टेदार मालिक बन सकेंगे।

(xi) उड़ीसा—उडीसा मे भी १९६५ मे मैसूर की तरह का ही एक नियम बनाया गया है। किराया कुल उपज के $\frac{1}{4}$ से अधिक नही होगा। अपुनर्ग्रहणीय क्षेत्रो में पट्टेदारों को स्वामित्व-अधिकार देने की व्यवस्था है। भूस्वामी आधी से अधिक भूमि का पुनर्ग्रहण नही कर सकेंगे।

(xii) **पंजाब व हरियाणा**—पट्टेदारो को पट्टे की सुरक्षा प्रदान की गई है। भूस्वामी को पुनर्ग्रहण का अधिकार दे दिया गया परन्तु पट्टेदार के पास कम से कम ५ स्टैंडर्ड एकड भूमि उस समय तक रहेगी जबतक कि उसे राज्य द्वारा वैकल्पिक भूमि नही दे दी जाती। विशेष अवस्थाओ मे किराएदारो को भूमि खरीदने का ऐच्छिक अधिकार भी दिया गया।

(xiii) **राजस्थान**—किरायेदार को राज्य के विभिन्न भागो मे १५.६ एकड से १२५ एकड तक के न्यूनतम क्षेत्र के लिए पट्टे की पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई। इससे फालतू भूमि का भूस्वामी द्वारा पुनर्ग्रहण किया जा सकता है। अपुनर्ग्रहणीय क्षेत्र के स्वामित्व के अतरण की भी व्यवस्था की गई है। किराया कुल उपज के $\frac{1}{6}$ से अधिक नही होगा। नवीन पट्टेदारियाँ अनियमित ही छोड दी गई हैं।

(xiv) **उत्तर प्रदेश**—सब पट्टेदारों तथा उप-पट्टेदारो का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है और उन्हे पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई है। जमीदारी उन्मूलन नियम, १६५१ के अनुसार जमीदारो के पहले वाले पट्टेदारो द्वारा भूमि को आगे किराए पर देने की मनाही है परन्तु इसे बटाई पर देने पर कोई प्रतिबध नही लगाया गया। अत: बटाई की प्रथा को परोक्ष रूप मे स्वीकृति ही प्रदान नही की गई बल्कि बटाईदार अबतक पूर्णतः असुरक्षित रहे हैं।

(xv) **पश्चिमी बंगाल**—पश्चिमी बंगाल में सब लगान प्राप्ति के हितो का सरकार द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया और उपरैयतो तथा पट्टेदारो का सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया। बटाईदारों (बरगादारो) को पट्टेदार नही माना जाता परन्तु उनके पट्टे को इस शर्त पर स्थिर कर दिया गया कि भूस्वामी पट्टे के दो-तिहाई क्षेत्र का पुनर्ग्रहण कर सकते हैं। *यदि किसी व्यक्ति के पास ७$\frac{1}{2}$ एकड से कम भूमि हो, तो वह सारे क्षेत्र का पुनर्ग्रहण* कर सकता है। यदि भूस्वामी कृषि के व्यय को स्वय सहन करता है तो उसका भाग कुल उपज के आधे से अधिक नही होगा, वरन् यह ४० प्रतिशत से अधिक नही होगा। यह किराया *अब घटाकर एक चौथाई कर दिया गया है।* अब भूस्वामी उतनी ही भूमि का पुनर्ग्रहण कर सकेगा जिससे उसकी कृषि जोत ७$\frac{1}{2}$ एकड से अधिक न हो परन्तु बरगादार के पास कम से कम २ एकड भूमि अवश्य छोड़नी पड़ेगी। इस प्रकार बटाईदारो को भी कुछ सुरक्षा मिल गई है।

इसी प्रकार केन्द्र-शासित प्रदेशों मे भी नियम बनाए गए हैं और किराया उपज के $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ भाग के बीच नियत किया गया है। पिछले कुछ वर्षों मे केवल ३० लाख पट्टेदार, उप-पट्टेदार तथा बटाईदार ही २८ लाख हैक्टर भूमि की खरीद कीमत अदा करके स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर सके हैं। परन्तु इन उपायो के बावजूद भी स्थिति मे कोई बहुत अधिक सुधार नही हुआ। 'पट्टेदारी' नए रूप मे प्रकट हुई है। यह ध्यान रहे कि असुरक्षित पट्टेदारी से केवल अधिक उपज प्राप्त करने मे ही बाधा नही पड़ती बल्कि कुछ मामलो मे इससे सामाजिक तथा कृषि सम्बन्धी तनाव भी पैदा हुए हैं।

उपरोक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि इस समस्या पर उचित ध्यान नही दिया गया जिसके कारण अधिकाश राज्यो मे पास किए गए कानून प्रभावी सिद्ध नही हुए। यह स्वाभाविक

ही था कि गाँवो मे रहने वाले छोटे या बडे भूस्वामी इन उपायो का विरोध करेंगे क्योंकि इनसे उनके स्वामित्व-अधिकार समाप्त या सीमित हो जाते हैं। उनसे सहयोग की आशा नहीं की जा सकती परन्तु कार्यक्रम के कार्यान्वयन मे विफलता का एक मुख्य कारण यह है कि कानून बनाने मे पहले राजस्व-प्रशासन को जिस पर कि इन कानूनो को लागू करने का उत्तरदायित्व था, सुदृढ़ नही किया गया। इसके अतिरिक्त सरकार के पास भूमि के पर्याप्त रेकार्ड भी उपलब्ध नही थे।

अनेक राज्यो मे अधिकाश रूपो मे किराएदारी गैर कानूनो घोषित की गई है परन्तु यह अनेक गुप्त रूपो मे विद्यमान है और देश मे व्यापक रूप मे प्रचलित है। यद्यपि वर्तमान अनियमित लगानदारी प्रबन्धों मे छोटे कृषकों के लिए थोड़ी-सी अतिरिक्त भूमि प्राप्त करना कठिन है परन्तु बडे कृषक धडल्ले से अपने क्षेत्र को बढ़ा रहे है। अत: दो प्रकार के पट्टा-बाजार साथ-साथ चल रहे हैं– एक मे, बड़े कृषको (जो पट्टेदार हैं) का पट्टेकर्ताओ (छोटे कृषको) पर प्रभुत्व है और दूसरे मे पट्टाकर्ताओ (बडे कृषको) का पट्टेदारो (छोटे कृषकों) पर प्रभुत्व है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल कृषक-परिवारो मे पट्टेदार-परिवारो की सख्या २३ ५६ प्रतिशत है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण १९५३-५४ के अनुसार सचालित क्षेत्र का २० ३४ प्रतिशत पट्टे पर लिया गया था। १९६०-६१ मे यह अनुपात घट कर ८.९ प्रतिशत हो गया। परन्तु पट्टे पर लिए गए तथा पट्टे पर दिए गए क्षेत्रो के आँकड़ो मे अन्तर इतना अधिक है कि इस सर्वेक्षण के आँकडो पर विश्वास करना कठिन है। तो भी इन आँकडो से इतना सिद्ध अवश्य हो जाता है कि अभी भी काफी क्षेत्र पट्टे पर हैं और यह प्रथा किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। **पट्टेदारी के प्रभावहीन उन्मूलन से बेहतर यह है कि इस व्यवस्था को खुला रखा जाए परन्तु साथ ही प्रभावी ढंग से नियमित भी किया जाए।** सारणी ११.३ मे कुल सचालित क्षेत्र मे से पट्टे पर ली गई भूमि का अनुपात दिया गया है।

सारणी ११.३ भारत मे परिमाप अनुसार सचालित क्षेत्र तथा पट्टे पर लिया गया क्षेत्र (१९६०–६१)

फार्म का परिमाप (एकड)	सचालित क्षेत्र (लाख एकड)	पट्टे पर लिया गया क्षेत्र (लाख एकड)	प्रतिशत
(१)	(२)	(३)	(३) – (२)
०.१– २.५	२३३.२०	४०.०८	१७ %
२.५– ५ ०	४१६.६१	६०.०१	१४ %
५.०–१०.०	६६३.३३	८२.३८	१२ %
१०.०–२०.०	७८४.४५	५४.२२	७ %
२०.०–५०.०	७६६.३१	३३ ०७	४ %
५०.० तथा ऊपर	३६५.६५ —	२४.६४	७ %
कुल	३२९५ ८५	२९४.७०	८.९ %

स्रोत : राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण स. १७६ (१९६७), आर. ४६

लगानदारी के परिमाण में कमी पट्टेदारो की बेदखलियो तथा उनसे भूमि छिन जाने के कारण भी हो सकती है। कई भूस्वामी भाड़े के श्रमिको से भी खेती करवाने लगे है। परन्तु अनौपचारिक, अनियमित तथा प्रच्छन्न (इनफार्मल, इररेगूलर एण्ड डिसगाइज्ड) किराएदारी अब भी जारी है और इसके विस्तार का अनुमान लगाना कठिन है। अनौपचारिक पट्टेदारी तथा फसल-बटाई के अधीन भू-स्वामी भूमि के सुधार मे निवेश करने को बुद्धिमत्ता नहीं समझता जबकि पट्टेदार उर्वरक जैसी निविष्टियो मे निवेश करने के योग्य नही या निवेश करने से हिचकिचाता है। अतः कृषि-उत्पादन के नए सदर्भ मे स्वामित्व के प्रभावी अन्तरण की अब बहुत अधिक जरूरत है। कुछ भी हो पट्टेदारो तथा उप-पट्टेदारों में सुरक्षा की भावना जागृत करना अत्यावश्यक है। इस उद्देश्य के लिए निम्नलिखित उपाय किए जा सकते है:–

(i) *सभी पट्टेदारियो को अपुनर्ग्रहणीय तथा स्थायी घोषित किया जाए।* सेना मे कार्य कर रहे व्यक्तियो तथा विशिष्ट प्रकार की असमर्थता के शिकार लोगो को इससे छूट दी जा सकती है।

(ii) जहाँ पुनर्ग्रहण की अनुमति दी जा चुकी है, वहाँ इन मामलो का शीघ्र निपटारा किया जाना चाहिए। पुनर्ग्रहण के परिणामस्वरूप जहाँ बहुत बेदखली होने की सभावना हो, वहाँ पुनर्ग्रहण पर अधिक प्रतिबध लगाए जाएँ।

(iii) स्वेच्छा से पट्टेदारी छोडने का नियमन इस प्रकार किया जाए कि भूस्वामी इस समय पट्टे पर दी गई भूमि का पुनर्ग्रहण न कर सकें और सरकार अथवा स्थानीय अधिकारियो को यह अधिकार हो कि वे यह भूमि अन्य पट्टेदारो को दे सकें।

(iv) ऐसी भूमि के पट्टे की पूरी सुरक्षा की जाए जिस पर कृपको और श्रमिको ने अपने रहने के मकान बना रखे हैं।

(v) यह भी देखना जरूरी है कि उप-पट्टेदारो के पट्टों की सुरक्षा के लिये बनाए गए कानूनो को प्रभावी ढग से लागू किया जाए तथा उसके उपबधो का उल्लघन न किया जा सके।

(vi) गलत बेदखलियो के लिए दड की व्यवस्था होनी चाहिए।

(vii) पट्टे की शर्तें अधिक यथार्थ होनी चाहिए। जहाँ किराया इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि पट्टेदार उसे अदा करने मे असमर्थ हो या उसका औचित्य न हो, वहाँ यह इतना कम भी नहीं होना चाहिए कि भूस्वामी की भूमि सुधार मे कोई रुचि ही न रहे। याद रहे कि नई कृपि मे भूस्वामी तथा पट्टेदार केवल भूमि के भाग मे ही भागीदार नही बल्कि उन्हे अन्य निविष्टियो मे भी अपना-अपना भाग अदा करना है। पट्टे की शर्तें नियत करते समय इन बातो को ध्यान में रखा जाए।

(viii) ये करार किसी संस्थागत एजेंसी के माध्यम से किए जाने चाहिएँ ताकि वह ऐजेंसी भूस्वामी या पट्टेदार की मनमानी व्याख्या के विरुद्ध दोनो वर्गों के हितो की रक्षा कर सके।

सारणी ११.३ से पता चलता है कि पट्टे पर ली गई कुल भूमि का लगभग २० प्रतिशत बड़े कृपको के पास था। बडे कृपको द्वारा अपने हिस्से मे उत्तरोत्तर (विस्तार) फैलाव छोटे कृपकों की दशा को और भी शोचनीय बना रहा है। इसलिए उचित यही है कि केवल

छोटे कृषकों को ही भूमि पट्टे पर लेने की अनुमति हो। बड़े कृषकों को पट्टे पर भूमि प्राप्त करने की बिल्कुल अनुमति नहीं होनी चाहिए। एक आवश्यक सम्बद्ध उपाय यह है कि 'भूमि को गिरवी' रखने (लैंड मार्टगेज) की कानूनी रूप में मनाही की जाए।

वास्तव में काश्तकारी-व्यवस्था में सुधार का उद्देश्य स्वामित्व अथवा कृषि-जोतों का पुनर्वितरण नहीं है, बल्कि काश्तकार द्वारा जोती जाने वाली भूमि के उत्पाद में उसके लिए बेहतर भाग सुरक्षित कराना है ताकि भूमि पट्टे की सुरक्षा के साथ-साथ उसे भूमि-सुधार तथा अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा प्रदान की जा सके। जब पट्टेदारी को समाप्त करके स्वामित्व का अंतरण पट्टेदारों को किया जाता है तो स्वामित्वाधिकार की जोतों का अवश्य ही पुनर्वितरण होता है। इस दशा में भूस्वामियों से भूमि-मुआवज़ा देकर भूमि ले ली जाती है। दूसरी ओर भूस्वामियों द्वारा अपनी भूमि व्यक्तिगत कृषि हेतु पुनर्ग्रहण करने पर अनेक पट्टेदार भूमि से बेदखल हो जाते हैं। अत. पट्टेदारी की व्यवस्था के उन्मूलन का अनिवार्य नेट परिणाम यह होता है कि भूमि के स्वामित्व का अधिक समान वितरण हो जाता है। शोषण-विहीन श्रम-सहित खुद काश्त में विस्तार कृषि को लाभप्रद व्यवसाय बना सकता है। खुदकाश्त की व्यवस्था कृषि-विकास तथा उत्पादन-वृद्धि के लिए नवीन संभावनाएँ तथा अवसर प्रदान करती है। इससे कृषक भूमि सुधार और नवीन निविष्टियों के उपयोग की ओर प्रेरित होता है और वह अपने संसाधनों का अधिक अच्छी प्रकार से उपयोग कर सकता है। इससे कृषक की ऋण लेने की क्षमता भी बढ़ेगी और उसकी आर्थिक दशा भी सुधरेगी। अतः भावी कृषि विकास पूर्णत खुदकाश्त व्यवस्था द्वारा दी गई प्रेरणा पर निर्भर है क्योंकि इसमें प्रौद्योगिकीय नवक्रियाओं का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

भूमि-नीतियाँ एक प्रकार के सामाजिक नियंत्रण उपाय हैं जिनका उद्देश्य समुदाय द्वारा अपनी भूमि-समस्याओं का समाधान करना है। अतः इन समस्याओं के हल करने के लिए दो प्रकार की नीतियों की रचना करनी पड़ेगी। प्रथम प्रकार की नीतियों का सम्बन्ध मृदा-जलवायु तथा भूमि की उपयोग-क्षमताओं जैसे भौतिक उपादानों से है जबकि दूसरी प्रकार की नीतियाँ जनसंख्या-दबाव तथा सम्पत्ति-अधिकार-संरचनाओं जैसे मानवीय साधनों से संबन्धित हैं। हमारी अधिकांश नीतियों में द्वितीय प्रकार की समस्याओं के समाधान पर बल दिया गया है जबकि प्रथम प्रकार की समस्याओं की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। जल-निकास में बाधा, सेम, लवणता, क्षारीयता, मृदा-अवक्षय, भूक्षरण तथा अन्य कई प्रकार के संसाधन-अवक्षय इसी प्रकार की समस्याएँ हैं और भूमि की उत्पादन-निविष्टि के रूप में दक्षता इन समस्याओं के समाधान तथा सम्बन्धित क्षेत्रों में सुविचारित पूर्व-आयोजन पर निर्भर होगी। इनमें से कुछ सामान्य समस्याओं का अध्ययन हम विस्तार से पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उत्पादिता में वृद्धि करने के लिए केवल भूमि-पट्टे तथा अन्य सम्बद्ध समस्याओं का समाधान ही काफ़ी नहीं बल्कि भूमि-सुधार के साथ-साथ भूमि के उपयोग व संरक्षण तथा इसकी विकास आवश्यकताओं से सम्बन्धित समस्याओं को हल करना भी जरूरी है। देश के नव-निर्माण में दोनों प्रकार की नीतियाँ एक दूसरे की संपूरक हैं।

११.१२ चकबन्दी

भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव इस बात की माँग करता है कि भूमि की सतह का उपयोग तथा विन्यास विवेकपूर्ण तथा सुनियोजित ढग से किया जाए। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कृषि की नवीन व्यूहरचना के सदर्भ मे सिंचाई की सहायता से अपेक्षाकृत छोटी जोत भी एक जीवन-क्षम इकाई बन सकती है। देश के बहुत से क्षेत्रो मे जोते केवल छोटी ही नही बल्कि व्यापक रूप मे बिखरी हुई तथा विखडित हैं। न उत्तम कृषि और न ही दक्ष सिंचाई विखण्डन से मेल खाती है। पजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे कृषि मे हाल की उन्नति का एक कारण यह रहा है कि इन राज्यो में विखडित जोतों की चकबन्दी की दिशा मे प्रगति हुई है। जोतो की चकबन्दी के उन क्षेत्रों में परिणाम बहुत अच्छे निकले हैं जहाँ खेतो का आयतकरण तथा पुन: रूपण इस कार्यक्रम के अश हैं और जहाँ फार्म-सडकों तथा ग्रामीण आबादी के विस्तार की व्यवस्था की गई है। दूसरी ओर जहाँ चकबन्दी का अर्थ बिखरे हुए टुकडों की परस्पर अदला-बदली रहा है, वहाँ कृषि-उत्पादन मे वृद्धि का कार्यक्रम पूरा नही हुआ। भारत में जोतो की चकबन्दी के कार्यक्रम की प्रगति सारणी ११.४ मे दर्शायी गई है।

सारणी ११ ४ जोतो की चकबन्दी मे प्रगति

अवधि	चकबन्दी का क्षेत्रफल (लाख हैक्टर)		व्यय (करोड रुपये)
	आवधिक	सचयी	
१९५१ से पूर्व	१२ ५०	१२ ५०	—
१९५१–१९५६	३३ ००	४५.५०	—
१९५६–१९६१	७५.००	१२० ५०	१९ ०१
१९६१–१९६६	१२० २३	२४०.७३	१६.२०
१९६६–१९६९	५४ ९९	२९५.७२	१२.८८
१९६९–१९७४	९४.२४	३८९.९६	२८.३६

स्रोत : चतुर्थ पचवर्षीय योजना प्रारूप पृष्ठ १४०।

इस कार्यक्रम में महत्वपूर्ण बात यह है कि जोतो को एक बार चकबन्दी होने के बाद इनका पुनः विखण्डन न हो। जोतों का उप-विभाजन तथा विखण्डन उत्तराधिकारी नियमो की प्रक्रिया तथा अनियमित पट्टो व अन्तरणों का परिणाम है। जोतो मे ह्रास साधारणत: विभाजनो से होता है। यह कृषि उत्पादन के हित मे नही। इसलिए नीति यह होनी चाहिए कि अतरणो, विभाजनो तथा पट्टो का नियत्रण करके इस प्रवृत्ति को रोका जाए। इस उद्देश्य के लिए अनेक राज्यो मे कानून बनाए गए हैं। परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

अध्याय १२

कृषि-श्रम, बेरोज़गारी तथा रोज़गार-नीति

१२.१ गारंटीकृत अर्जक रोज़गार की आवश्यकता

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की आर्थिक सवृद्धि, सामाजिक प्रगति तथा राजनैतिक स्थिरता पर निर्भर होता है। अल्पविकसित तथा निम्न आय वाले देशो मे कृषि का वहाँ के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विकास के प्रथम चरणों मे उन देशो की आर्थिक सवृद्धि कृषि-विकास पर निर्भर होती है। यही कारण है कि अल्प-आय देशों मे उत्पादन-दक्षता, आय-सुरक्षा, आर्थिक स्थिरता तथा समाज-कल्याण कृषि-नीति के मुख्य ध्येय हैं।

भारत जैसी अल्प आय-अर्थव्यवस्था मे कृषि-श्रम ही मात्र फालतू ससाधन है। अन्य सब वास्तविक ससाधनो की पूर्ति न्यून है। कहना न होगा कि कृषि-श्रमजीवी जनसख्या की रोज़गार परिस्थितियाँ कृषि-विकास की गति को काफी हद तक प्रभावित करती हैं। उत्पादन-दक्षता श्रम की दक्षता पर निर्भर है तथा श्रम की दशा मे सुधार समाज-कल्याण तथा राज-नैतिक स्थिरता के लिए ज़रूरी है। वर्तमान अध्याय मे हम कृषि-श्रमजीवी जनसख्या तथा उनकी रोज़गार की परिस्थितियो का अध्ययन करेंगे तथा उनकी बेरोज़गारी को दूर करने के लिए विभिन्न नीतियों तथा सुझावों का विश्लेषण करेंगे।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि भारत मे प्रति व्यक्ति आय ससार मे अन्य देशो की अपेक्षा निम्नतम है। यह अल्प आय भी असमानरूप मे वितरित है। जनसख्या के निर्धनतम लोग औसत से बहुत कम आय प्राप्त करते हैं। करोडो लोग अभावग्रस्तता का जीवन बिता रहे हैं। वास्तव मे असख्य लोग अर्ध-अकाल राशन पर गुजारा कर रहे हैं। अनुमान है कि ग्रामीण क्षेत्र मे लगभग २१ करोड लोग 'निर्धनता-रेखा' (पावर्टी लाइन) से भी नीचे स्तर पर रह रहे हैं। उनकी परिस्थिति इतनी दयनीय तथा भयावह है कि विश्वास करना कठिन है। '७० प्रतिशत श्रमजीवी जनसख्या आधी से भी कम राष्ट्रीय आय का उपार्जन करे'– यह बात कृषि श्रमजीवियो की उत्पादन अदक्षता को ही जतलाती है।

निर्धनता का प्रकोप उन क्षेत्रो मे विकटतम है जहाँ भूमि पर जनसख्या का भारी दबाव है या जहाँ स्थानीय ससाधनो के अपूर्ण विकास के कारण उत्पादिता-स्तर कम है और सतत (अविराम) काम का अभाव है। अत. यह जरूरी है कि काम के अतिरिक्त अवसर सुलभ कराए जाएँ ताकि न्यूनतम आय वर्गों के लोग उत्पादक रोजगार द्वारा अपनी न्यूनतम आव-श्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त आय कमा सकें। इसके लिए तेज़ औद्योगीकरण की आवश्यकता है। तेज़ आर्थिक विकास के लिए सरचनात्मक परिवर्तन भी ज़रूरी हैं।

परन्तु जबतक औद्योगिक आधार अच्छी प्रकार से सुदृढ़ नहीं कर दिया जाता, शिक्षा तथा अन्य सामाजिक सेवाएं विकसित नहीं हो जातीं, उस समय तक अर्थव्यवस्था समग्र श्रम-शक्ति को उचित एवं पर्याप्त परिश्रम पर काम देने हेतु अभीष्ट संवृद्धि-दर को प्राप्त नहीं कर सकती। अतः कृषि-नीति का एक मुख्य तात्कालिक लक्ष्य यह है कि उन सब लोगो को, जिनके पास रोज़गार के पर्याप्त उत्पादन-साधन नही हैं और जो एक न्यूनतम मजदूरी पर कार्य करने के लिए तैयार हो, न्यूनतम मजदूरी पर रोजगार देने की गारटी दी जाए। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो काम की तलाश मे हो, 'अर्जक रोज़गार (गेनफुल एम्प्लायमेंट) सुलभ करना कृषि श्रम-नीति का मुख्य ध्येय है।

बेकारी वर्तमान कृषीय प्रणाली की गम्भीर कमजोरी तथा इसकी अस्थिरता का मुख्य स्रोत है। कृषि मे रोजगार मौसमी तथा आमदनी कभी-कभी अर्थात् आतरायिक होती है। वास्तव मे कृषको की बेकारी ही उनकी निर्धनता का कारण है। इस समस्या का विश्लेषण करने से पहले कृषि-जनसख्या तथा कृषि-श्रमिक शक्ति की सरचना व उनकी दशा का ज्ञान उपयोगी होगा।

१२.२ श्रमिक शक्ति व कृषि श्रमिक

१९७१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या ५४.७९ करोड थी जिसमे से ४३.८८ करोड अर्थात् ८१.१ प्रतिशत लोग गांवो मे रहते थे। नगरीय जनसख्या १०.९१ करोड़ थी। परन्तु सारी ग्राम-जनसख्या कृषि जनसख्या नही होती। कृषि-जनसख्या मे निम्नलिखित वर्ग शामिल है:

(१) वे कृषक जो भूमि के पूर्णतः या मुख्यतः मालिक है तथा उनके आश्रित,
(२) वे कृषक जिनकी भूमि पूर्णतः या मुख्यतः निजी नही तथा उनके आश्रित
(३) कृषि श्रमिक तथा उनके आश्रित
(४) लगान-ग्राही अर्थात् वे भू-स्वामी जो खेती नही करते (अकृषक भू-स्वामी)

इस आधार पर कि भारत में ७० प्रतिशत लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर आश्रित है, १९७१ मे भारत की कृषि-जनसख्या ३८.५३ करोड़ थी। अन्य वर्षों मे जनसख्या के आँकड़े अध्याय २ मे दिये गये हैं।

१९६१ की जन-गणना के अनुसार भारत की श्रमजीवी जनसख्या १८८४ करोड़ थी जिसमे से १३.१० करोड़ कृषि में काम करते थे। १९७१ मे कामगारो की कुल सख्या २३.६० करोड थी जिनमे से १६.४७ करोड कृषि वर्ग के हैं। पशुपालन, वनो, बागानो, फलोद्यानो तथा सम्बद्ध कार्यो मे लगभग ४६ लाख लोग (अर्थात् कुल श्रम शक्ति का १.९५ प्रतिशत) काम करते थे। पिछली तीन जन-गणनाओ मे कामगारो का वर्गीकरण सारणी १२.१ में दिया गया है।

सारणी १२.१ से स्पष्ट है कि १९७१ मे कुल श्रम-शक्ति मे कृषि के अंश मे १९६१ की अपेक्षा कुछ वृद्धि हुई है। विचित्र बात यह है कि पिछले १० वर्षों मे कृषको की आनुपातिक सख्या मे तेजी से कमी हुई है जबकि कृषि-श्रमिको का अश तेजी से बढा है। कृषि-श्रमिको

सारणी १२.१ भारत मे श्रम जीवी जनसख्या का वर्गीकरण
(१९५१, १९६१ तथा १९७१ मे)

	१९५१		१९६१		१९७१	
कामगारो का वर्ग	सख्या (करोडो मे)	कुल श्रम का प्रतिशत	सख्या (करोडो मे)	कुल श्रम का प्रतिशत	सख्या (करोडो मे)	कुल श्रम का प्रतिशत
कृषक	६.९८	५०.०	९.९५	५२.८	१०.२३	४३.३४
कृषि श्रमिक	२.७५	१९.७	३.१५	१६.७	६.२१	२६.३३
कुल कृषि श्रम शक्ति	९.७३	६९.७	१३.१०	६९.५	१६.४४	६९.६७
कृषितर श्रम शक्ति	४.२२	३०.३	५.७४	३०.५	७.१६	३०.३३
कुल श्रम शक्ति	१३.९५	१००.०	१८.८४	१००.०	२३.६०	१००.००

स्रोत सेंसस ऑफ इण्डिया, १९५१, १९६१, १९७१

के अनुपात मे इतनी वृद्धि ने १९७१ जनगणना के आँकडो को सदिग्ध बना दिया है। इसका एक कारण १९६१ तथा १९७१ की जनगणना से सबधित विभिन्न सकल्पनाओ की परिभाषाओ मे अन्तर भी हो सकता है। सभव है कि १९७१ मे कुछ अनिर्दिष्ट कार्य करने वाले व्यक्तियो को कृषि-श्रमिको मे शामिल कर लिया गया हो। कुछ भी हो कृषि-श्रमिक भारत की जनसख्या का महत्त्वपूर्ण अश हैं। कृषि श्रमिक ग्राम समाज की निम्नतम सीढी पर हैं और उनकी सामाजिक तथा आर्थिक दशा का समय समय पर सर्वेक्षण उनकी दशा को सुधारने मे सहायक हो सकता है। इस संबध मे अबतक हुए अन्वेषणो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

सर्वभारत स्तर पर कृषि-श्रमिको की दशा की प्रथम विस्तृत जाँच १९५०-५१ में की गई। **इस प्रथम कृषि-श्रमिक जाँच** (फर्स्ट एग्रीकल्चरल लेबर एनक्वायरी) के दौरान रोज़गार, बेरोजगारी, कृषि श्रमिक परिवारो से सबध रखने वाले कामगारो की व्यक्तिगत आय तथा ऐसे ही परिवारो की ऋणग्रस्तता से सबधित उपयोगी आँकड़े इकट्ठे किए गए।

प्रथम जाँच के समय देश मे आयोजन युग पूरे ज़ोर शोर से चालू नही हुआ था। प्रथम योजना की अवधि मे काफी विकास-व्यय किया गया था और इसके फलस्वरूप ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों मे काफी रोजगार का जन्म हुआ। अतः इस बात का पता लगाना जरूरी था कि इन विकास-कार्यों से कृषि श्रमिक कहाँ तक लाभान्वित हुए हैं। परिणामस्वरूप कृषि-श्रमिक-परिवारो से सबधित तुलनात्मक आँकडो का सग्रह करने के लिए १९५६-५७ के दौरान दूसरी कृषि-श्रमिक जांच की गई। आँकड़ो की सग्रह-प्रविधियो मे सुधार करने तथा अधिक यथार्थता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से दूसरी जांच की धारणाओं, परिभाषाओ तथा प्रक्रिया मे अनेक परिवर्तन किये गये। स्वाभाविक ही है कि दोनो जांचो के आँकड़ो में पूर्णतः

तुलना नही हो सकती ।

दूसरी पचवर्षीय योजना की अवधि में अधिक विकास प्रयास किया गया । दूसरी योजना का परिव्यय भी काफी अधिक था । इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में लोगो को प्रभावित करने वाले परिवर्तनो की गति भी काफी तेज हो गई । इसलिए यह जरूरी हो गया था कि इन परिवर्तनो के प्रभाव को मापने के लिए तथा कृषि-श्रमिको की सामाजिक व आर्थिक दशा के बारे मे अधुनातन सूचना प्रदान करने के लिए जाँच का एक अन्य चक्र हो ताकि उनकी दशा को अधिक बेहतर बनाने के लिए भावी कार्यक्रमो की रचना की जा सके । इस जांच मे कृषि श्रमिक परिवारों समेत सब ग्राम-श्रमिक-परिवारों से सबधित सूचना इकट्ठी की गई, इसलिए इस जाँच का नाम ग्राम-श्रमिक-जाँच रखा गया ।

यह जाँच पहली दो जाँचों से अधिक विस्तृत तथा व्यापक थी । इसमें (i) रोजगार तथा अल्प रोज़गार (ii) जीवन स्तर तथा ग्रामीण श्रमिक-परिवारों से सबधित श्रमिको के रोज़गार की दशाओं के सही अध्ययन पर विशेष बल दिया गया । रोजगार, बेरोजगारी, आय तथा ऋणग्रस्तता के आँकड़े अक्तूबर, १९६४ से सितम्बर १९६५ के दौरान इकट्ठे किए गए । क्षेत्र-अन्वेषण राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण निदेशालय द्वारा किया गया । इस जाँच के लिए अपनाई गई कुछ महत्त्वपूर्ण सकल्पनाएँ तथा परिभाषाएँ सक्षेप मे नीचे दी जा रही हैं ।

(i) **परिवार** (हाउसहोल्ड)—परिवार से अभिप्राय व्यक्तियो का वह वर्ग है जो सामान्यतः इकट्ठे रहते है और एक ही रसोईघर से भोजन प्राप्त करते हैं। अस्थायी अनुपस्थित व्यक्तियों को परिवार का सदस्य माना गया परन्तु अस्थायी अतिथियो को बाहर रखा गया ।

(ii) **श्रमिक परिवार** (लेबर हाउस होल्ड)—यदि परिवार को सर्वेक्षण से पहले वाले ३६५ दिनो के दौरान अधिकाश आय **शारीरिक श्रम की मजदूरी** से प्राप्त हो तो वह श्रमिक परिवार माना जाएगा । मजदूरी नकदी या जिन्स के रूप मे हो सकती है ।

(iii) **कृषि श्रमिक** (एग्रीकल्चरल लेबर)—वह व्यक्ति जो भाड़े के श्रमिक के रूप मे किसी भी कृषि-कार्य (खेती करना, जोतना, डेरी फार्म उद्योग कार्य, बागवानी-पदार्थों का उत्पादन-कार्य, पशु-पालन, मधु बनाना या मुर्गीखाने का कार्य आदि) को करे, कृषिक-श्रमिक कहलाएगा ।

(iv) **कृषि श्रमिक परिवार** (एग्रीकल्चरल लेबर हाउसहोल्ड)—यह वह परिवार है जिसकी सर्वेक्षण से पूर्व के ३६५ दिनों की अवधि मे अधिकाश आय कृषि-श्रम व्यवसाय से प्राप्त हुई ।

(v) **आय अथवा कमाई** (अर्निंग्स)—ये वे भुगतान हैं जो नकद या जिन्स अथवा नकद व जिन्स दोनो मे प्राप्त किये गये । जिन्स के रूप मे आय मे वे अनुलाभ सम्मिलित हैं जो रिवाज के मुताबिक काम के बदले मे दिए जाते है । आवर्ती अनुलाभों मे अनाज, पका हुआ खाना, तम्बाकू, चाय, आवास, कपड़े, जूते आदि शामिल हैं ।

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है पहली तथा दूसरी कृषि श्रमिक-जांच की

सकल्पनाओं, परिभाषाओं तथा अपनाई गई प्रविधियों में कुछ अन्तर था। इस प्रकार दूसरी कृषि श्रमिक-जाँच तथा ग्राम श्रमिक-जाँच में भी फर्क था। अन्तर इस प्रकार है :—

(क) कृषि श्रमिक परिवार—पहली जाँच में कृषि श्रमिक-परिवार वह था जिसके मुखिया या घर में कमाने वाले ५० प्रतिशत या इससे अधिक सदस्यो का मुख्य व्यवसाय कृषि-श्रम था। मुख्य व्यवसाय से अभिप्राय यह था कि व्यक्ति पिछले वर्ष आधे या आधे से अधिक दिनो के लिए उस व्यवसाय मे लगा रहा हो। अतः इसमे **मजदूरी पर रोजगार की मात्रा** (समय की कसौटी) श्रमिक परिवार की शर्त थी।

दूसरी कृषि-श्रमिक-जाँच तथा ग्राम-श्रमिक-जाँच मे कृषि श्रमिक परिवार वह था जिसकी अधिकाश आय कृषि-कार्यो मे मजदूरी से प्राप्त हो। अतः इन जाँचों मे **मजदूरी आय की मात्रा** (आय की कसौटी) को आधार माना गया।

(ख) रोजगार तथा बेरोजगारी के सन्दर्भ मे, प्रथम जाँच मे आधे दिन या इसमे अधिक के लिए मजदूरी पर रोजगार को पूरे दिन का रोजगार मान लिया गया तथा आधे दिन से कम काम को छोड दिया गया। वह व्यक्ति जिसने एक महीने मे एक दिन भी काम किया, अर्जक (कमाऊ) कामगार माना गया। दूसरी ओर बेरोजगारी के आँकडे केवल उन वयस्क पुरुष कामगारो के सदर्भ मे इकट्ठे किये गये जिन्होने प्रत्येक माम मजदूरी पर रोजगार के बारे मे रिपोर्ट की। जिन कामगारो ने मजदूरी-रोजगार की रिपोर्ट नही की उन्हे आधे समय के लिए स्वनियोजित (सेल्फ एम्प्लायड) तथा आधे समय के लिए बेरोजगार मान लिया गया। पहली जाँच मे स्वनियोजन सम्बन्धी आँकडे पृथक् से इकट्ठे नही किए गए थे बल्कि ३६५ मे से मजदूरी तथा बेरोज़गारी के दिन घटाकर प्राप्त किए गए थे।

दूसरी कृषि-श्रमिक-जाँच तथा ग्राम-श्रमिक जाँच मे विभिन्न प्रकार के कार्यों पर खर्च किए गए दिनो की सख्या का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया। आशिक रोजगार का सामूहीकरण उचित भारो के आवटन द्वारा किया गया। सामान्य कार्य के घटो के तीन चौथाई या इससे अधिक के कार्य को पूरा दिन माना गया। एक चौथाई से तीन चौथाई घटो तक काम के लिए १/२ का भार दिया गया। एक चौथाई घटो से कम कार्य के लिए $\frac{?}{}$ का भार निर्धारित किया गया।

(iii) प्रथम जाँच मे कामगारो को जिन्स के रूप मे दी गई मजदूरी के भुगतान का मूल्याकन परचून-कीमतो पर किया गया था जबकि दूसरी कृषि-श्रमिक-जाँच तथा ग्राम-श्रमिक-जाँच मे इन भुगतानो का मूल्याकन थोक कीमतो पर किया गया।

इन जाँचो के परिणाम, सारणी १२ २ में सक्षेप मे दिए जा रहे है।

सारणी १२.२ स्वतः स्पष्ट है। आय सम्बन्धी आँकडे बताते है कि श्रमिक की कृषि-कार्यों से आय कितनी निम्न है। इससे पूर्व कि हम कृषि रोजगार तथा बेरोज़गारी व अल्प बेरोज़गारी के परिमाण का अध्ययन करें, हमे बेरोजगारी की सकल्पना तथा इसके सैद्धातिक आधार का विवेचन कर लेना चाहिए। सारणी से स्पष्ट है कि इन १५ वर्षों मे श्रमिकों की दशा मे कोई विशेष सुधार नहीं हुआ।

सारणी १२.२ भारत में कृषि-श्रमिकों की रोजगार, आय तथा ऋणग्रस्तता सम्बन्धी आँकड़े

विषय	कामगारों का वर्गीकरण	प्रथम कृषि श्रमिक जाँच (१६५०-५१)*	दूसरी कृषि श्रमिक जाँच (१६५६-५७)*	ग्राम श्रमिक जाँच (१६६४-६५)
वार्षिक मज़दूरी प्राप्त रोजगार	पुरुष	२१८ दिन	२२२ दिन	२४२ दिन
	स्त्री	१३४ दिन	१४१ दिन	१६० दिन
स्व-नियोजन	पुरुष	७५ दिन	४० दिन	३० दिन
काम के अभाव के कारण बेरोज़गारी	पुरुष	७२ दिन	५६ दिन	४८ दिन
समग्र कृषि कार्य से औसत दैनिक आय	पुरुष	१ ०६ रु०	०.६६ रु०	१.४३ रु०
	स्त्री	०.६८ रु०	० ५६ रु०	०.६५ रु०
	शिशु	०.७० रु०	०.५३ रु०	०.७२ रु०
प्रति ऋणी परिवार औसत ऋण राशि	कृषि श्रमिक परिवार	१०५ रुपये	१३८ रुपये	२४३.८७ रुपये
प्रति परिवार औसत ऋण राशि	कृषि श्रमिक परिवार	४७ रु०	८८ रु०	१४७ ८६ रुपये
अनुमानित ग्राम परिवार संख्या	कुल ग्राम परिवार	५.८६ करोड	६.६६ करोड	७.०४ करोड
	कृषि श्रमिक परिवार	१ ७६ करोड (३०.३६%)	१.६३ करोड़ (२४.४७ %)	१ ५३ करोड (२१.७६%)

स्रोत . ग्राम श्रमिक जाँच पर आरम्भिक प्रतिवेदन प्रयोगशाला शिमला मार्च, १६७०

नोट प्रथम तथा द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच मे आय के आँकड़े अनियत श्रमिको से सम्बन्धित हैं।

१२.३ मज़दूरी-दर का निर्धारण तथा इसको प्रभावित करने वाले कारक

साधारण स्थिति मे जबकि श्रम तथा भूमि बाजार प्रतियोगी होते है, मजदूरी-दर श्रमिकों की माँग तथा पूर्ति के सतुलन द्वारा निर्धारित होता है। एक भूस्वामी अपनी अतिरिक्त भूमि को पट्टे पर भी दे सकता है तथा वह मज़दूरी के श्रमिकों की सहायता से स्वयं भी इस पर कृषि कर सकता है। इसी प्रकार एक श्रमिक के लिए तीन विकल्प है (१) या वह भूमि को पट्टे पर ले (२) या वह मजदूरी पर काम करे (३) या वह कृषीतर-क्षेत्र मे काम करे।

सिंचाई, फसल-प्रतिशतता, जैव-रासायनिक नव-क्रियाएँ तथा अन्य सम्बद्ध परिवर्तन उत्पादन की समावनाओ को बढ़ाते हैं और श्रम की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति मे क्योंकि भूमि पट्टे पर लेना अधिक लाभकारी होगा, इसलिए श्रमिक अधिक मजदूरी लेंगे। इसी प्रकार व्यस्ततम मौसमो मे श्रमिकों की माँग में वृद्धि होगी जिससे उनकी सौदा शक्ति बढ़ जाती है। जिन क्षेत्रों मे सिंचाई-सुविधाएँ तथा परिणामस्वरूप फसल-

प्रतिशतता (सघनता) अधिक होगी, वहां (यदि अन्य बाते समान हो) अन्य क्षेत्रों की तुलना मे मजदूरी-दरें अधिक होगी। यन्त्रीकरण तथा अन्य श्रम बचाऊ युक्तियां भी मज़दूरी को प्रभावित करती है।

यदि उत्पादन-सभावनाएँ अनिश्चित हो तो भूस्वामी भूमि को या तो पट्टे पर दे देंगे या श्रम बचाऊ कम सघन खेती करेंगे। ऐसी स्थिति मे मजदूरी-दरें कम होगी तथा कृषि-श्रमिक-क्षेत्र के बाहर या कृषीतर-रोजगार तलाश करेंगे। अत: कृषीतर क्षेत्रक मे रोज़गार की संभावनाएँ तथा इस क्षेत्रक मे मजदूरी दर कृषि क्षेत्रक मे मजदरी दर को प्रभावित करती है। औद्योगीकरण व शहरीकरण तथा बागानोद्योगो की उपस्थिति मजदूरी दरो मे वृद्धि करती है।

श्रमिको की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि ग्रामीण श्रम-शक्ति का कितना भाग मुख्यत कृषि-मजदूरी-रोजगार पर निर्भर है। यदि किसी क्षेत्र मे यह सख्या बहुत अधिक है और कृषीतर-क्षेत्रक मे रोज़गार के अवसर बहुत कम हैं तो मज़दूरी दर बहुत कम होगी क्योकि ऐसी स्थिति मे उनकी सौदा-शक्ति बहुत कम होती है। यदि श्रमिक ऋणग्रस्त हैं तो भी उनकी सौदा-शक्ति कम होगी, परन्तु यदि आय अधिक हो तो अधिक ऋणग्रस्तता सौदा-शक्ति को प्रभावित नही करती। कृषि श्रमिको का बेहतर सगठन उनकी सौदा-शक्ति को बढाता है जबकि श्रमिक सघ आदोलन की अनुपस्थिति नियोजको मे एकाधिकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करती है।

कई बार श्रम की माँग मज़दूरी दर को प्रभावित नही करती बल्कि रोजगार की सीमा तथा मज़दूरी आय को प्रभावित करती है।

उपरोक्त अध्ययन की सहायता से हम मजदूरी-दरो मे अन्तर्राज्य-अतरो का विश्लेषण कर सकते है। सारणी १२ ३ मे विभिन्न राज्यो मे १९५६—५७ तथा १९७०—७१ मे मजदूरी दरों तथा अन्य चरो से सम्बन्धित आकडे दिये गये हैं जो अन्तर्राज्य-अन्तरो की व्याख्या मे सहायक हो सकते है।

विभिन्न राज्यो मे कृषि मज़दूरी के दरो मे अतर को सिंचित क्षेत्र-नेट फसल क्षेत्र-अनुपात, कुल श्रमशक्ति मे कृषि श्रमिको की सख्या के अनुपात तथा कृषीतर क्षेत्रक मे मजदूरी-दरों आदि कारको के सदर्भ मे स्पष्ट किया जा सकता है। उन क्षेत्रो मे जहां सिचाई की सुविधाएँ अधिक हैं, कृषि-श्रमिकों की सापेक्ष सख्या कम है और कृषीतर-धन्धो मे मजदूरी-दर अधिक है, कृषि की मजदूरी-दरें अधिक होने की सभावना होती है। पजाब तथा आसाम मे कृषि मजदूरी की दरें ऊँची है क्योकि इन राज्यो मे सिंचित क्षेत्र का अनुपात अधिक है, कृषीतर-क्षेत्रक मे मजदूरी-दर अधिक है तथा कृषि पर निर्भर कृषि-श्रमिको का अनुपात अपेक्षाकृत कम है। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा उडीसा मे सिंचाई-सुविधाओं का अभाव है, भूमिहीन-श्रमिको की सख्या बहुत अधिक है तथा कृषीतर-क्षेत्रक मे रोजगार के अवसर बहुत कम हैं, और यही बातें कृषि-मजदूरी की न्यून दरो का कारण दिखाई देती हैं। केरल मे सिंचित क्षेत्र के न्यून अनुपात तथा कृषि-श्रमिको की अत्यधिक सख्या होने के बावजूद कृषि मजदूरी की दरें अपेक्षाकृत अधिक हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ बागान होने के कारण औसत कृषीतर-मजदूरी दर अधिक है और वहां कृषि श्रमिक

सारणी १२.३ कृषि मजदूरी-दर मे अंतर-राज्य-विचरण तथा संबंधित चर

राज्य	१९५६-५७ पुरुष अनियत श्रमिक *				१९७०-७१ पुरुष कृषि श्रमिक+ (१५-४५ आयु वर्ग)			
	कृषि मज़दूरी दर (रु. प्रतिदिन	सिंचित क्षेत्र प्रतिशत	कृषि श्रमिक परिवार ग्रामीण परिवार (अनुपात प्रतिशत)	कृषीतर मजदूरी दर (रु प्रतिदिन)	कृषि मजदूरी दर (रु. प्रतिदिन)	सिंचित क्षेत्र प्रतिशत	कृषि श्रमिक श्रमशक्ति अनुपात प्रतिशत	कृषीतर मजदूरी दर , रु. प्रतिदिन
आंध्रप्रदेश	० ८७	२५.२	३५ ५९	०.९७	२.२२	२७ ७	३१ ३९	१.८६
आसाम	१.५४	२८ ९	१८.१८	१.६८	३.७८	२५.७	१०.७५	४.४१
बिहार	०.६१	२२.९	२९ ५५	०.९९	२.२९	२७.१	३५.६३	२.६६
बम्बई गुजरात	·०.८७	५.४	२६.०३	०.९९	२.४५	१२.३	२२.४३	२.२७
केरल	१.२८	१८.३	२२.७३	१.३६	४.२५	१९.५	२८ ४०	४.३५
मध्यप्रदेश	०.७६	५ ३	२४.५३	०.९०	१.६८	७.८	२१.७३	२.४१
मद्रास (ता. ना.)	०·८४	३८ ३	३६.५४	०.९१	२.४२	४१.३	३० ८०	३ ६९
मैसूर (कर्नाटक)	०.८४	७.४	२७.२७	१.१२	१.९१	११.२	२४ ४२	३.२५
उड़ीसा	०.८०	१७.४	२९ ४१	०.९०	१.९०	१६.९	२६.७४	२.०८

१	२	३	४	५	६	७	८	९
पंजाब	१.६८	४० २	६.३८	१.३८	४.६७	७०.४	२४ ६२	५ ८४
राजस्थान	०.६८	११.४	६ ६०	१.२५	३.०३	१५ ७	८.३३	२.६६
उत्तरप्रदेश	०.६२	२७.३	१७ २४	०.६६	२.४७	३६.१	१८ ८६	२ ८५
प. बंगाल	१.४३	२३ ५	२५.००	१.२७	—	—	—	—
महाराष्ट्र	—	—	—	—	२.२८	७.५	२६.६०	२.६०

* स्रोत : दूसरी कृषि श्रमिक जाँच रिपोर्ट तथा खाद्य तथा कृषि मंत्रालय

× स्रोत : राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण, २५वाँ चक्र (१९७०-७१) तथा भारत की जनगणना

अच्छी प्रकार से संगठित है ।

जिन क्षेत्रों मे श्रमिको की सख्या बहुत अधिक है वहाँ श्रमिक प्रवसन द्वारा स्थिति में सुधार किया जा सकता है, परन्तु इसकी सभावनाएँ बहुत कम होती है । अन्तर-राज्य विषमताओं को दूर करने के लिए तथा निर्धनता को हटाने के लिए यह ज़रूरी है कि उन क्षेत्रों का जो अल्प विकसित है तथा जहाँ बेरोजगारी घर किए हुए है, तेज़ी से विकास किया जाए तथा इस उद्देश्य हेतु सतत प्रयास किए जाएँ ।

परन्तु इससे पूर्व कि हम बेरोजगारी की समस्या का अध्ययन करे, हमें बेरोज़गारी की सकल्पना तथा इसके सैद्धातिक आधार का विवेचन कर लेना चाहिए ।

१२.४ बेरोज़गारी का स्वरूप तथा इसका सैद्धांतिक आधार

अल्प विकसित देशों मे कृषि-क्षेत्रक मे जनशक्ति के अपूर्ण उपयोग की समस्या महत्त्वपूर्ण है । ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोज़गारी निम्न रूपो मे विद्यमान है :

(i) पूर्ण, अविराम तथा खुली बेरोज़गारी

(ii) विवृत अल्प रोज़गार अथवा मौसमी रोज़गार (ओपन अन्डर एम्प्लायमेट और सीजनल एम्प्लायमेट)

(iii) प्रच्छन्न बेरोज़गारी (डिसगाईज्ड अनएम्प्लायमेंट)

(i) **पूर्ण बेरोजगारी**—भारत में कृषि-श्रमजीवी जनसख्या के दो मुख्य वर्ग हैं—कृषि-श्रमिक तथा कृषक । जहाँ तक कृषि-श्रमिकों का सम्बन्ध है वे या तो नियोजित होते हैं या बिल्कुल बेरोज़गार । परन्तु कृषकों की अवस्था मे ऐसा नही है । भारत मे कृषि एक मौसमी व्यवसाय है और यहाँ कृषि-उत्पादन का विशिष्ट स्वरूप ऐसा है कि मौसम के अनुसार कार्यभार (वर्क लोड) भी भिन्न-भिन्न होता है और परिवार द्वारा अत्युत्तम प्रबन्ध करने पर भी कार्यभार को सारा वर्ष एक समान नही किया जा सकता इसलिए कई बार उपलब्ध मानव शक्ति के पूर्ण उपयोग से कम का उपयोग होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि **स्वनियोजित परिवार** मानवशक्ति के लिए (अर्थात् सैल्फ एम्प्लायड फैमिली मैन पावर) कृषक-कृषि : (पीजेन्ट एग्रीकल्चर) वाली अर्थव्यवस्था मे पूर्णरूपेण बेरोजगारी बहुत कम होती है परन्तु मौसमी बेरोजगारी तथा अल्प बेरोज़गार बहुत अधिक होता है ।

सक्षेप मे, एक कृषक-कृषि-अर्थव्यवस्था मे बहुत कम लोग नियमित रूप मे बेरोज़गार होते हैं और यह कार्य उपलब्धता की अनियमितता ही है जो बेकारी की समस्या को जन्म देती है । **वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी तथा अल्प रोजगार साथ-साथ विद्यमान हैं,** और उनमे कोई विशेष अन्तर नही है । गाँवो मे बेरोजगारी साधारणतः अल्प रोजगार का रूप ले लेती है । देश के अनेक भागों मे व्यस्त कृषि मौसमों मे श्रम का अभाव प्रायः महसूस किया जाता है परन्तु वर्ष के एक बड़े भाग में कृषि-श्रमिकों का एक बहुत बड़ा भाग लगातार बिना किसी रोजगार के होता है । मजदूरो का गाँवो से नगरो की ओर गमन केवल मात्र ध्यान को गाँवो से नगरो की ओर आकर्षण का साधन है । नगरों मे बेरोजगारी की ऊँची दर पर ग्रामीण क्षेत्रों मे पर्याप्त काम के अवसरो के अभाव को ही व्यक्त करती है । वास्तव मे नगरीय तथा ग्राम्य बेरोज़गारी एक ही अविभाज्य समस्या के अग हैं ।

(ii) **अल्प रोजगार** (अर्थात् अल्प-बेकारी : अन्डर एम्प्लायमेंट) अल्प रोजगार या अल्प-बेकारी वह निष्क्रियता है जो प्राप्य श्रमजीवी संख्या के एक भाग पर कुछ समय के लिए (वर्ष, मास अथवा दिन के किसी भाग के लिए) कृषि परिस्थितियों द्वारा थोपी गई हो। इसे मौसमी रोजगार भी कहते हैं।

वास्तव मे अल्प रोजगार या अल्प बेकारी अधिक व्यापक संकल्पना है और यह **उपलब्ध स्व-नियोजित तथा पारिवारिक मानवशक्ति के अनुप्रयुक्त भाग को व्यक्त करती है।** इसमें उपलब्ध श्रम संख्या का वह भाग भी सम्मिलित है जिसकी सारे वर्ष न तो आवश्यकता पड़ती है और न ही उसका उपयोग किया जाता है। इसे **प्रच्छन्न बेकारी** (डिसगाइज्ड अनएम्लायमेट) या प्रच्छन्न अल्परोजगार भी कहते हैं। अत अल्परोजगार दो घटकों से निर्मित है :

(i) मौसमी अल्प रोजगार कृषि-धन्धों (कार्यों) में मौसमी अल्प रोजगार आवश्यक क्षति है।

(ii) प्रच्छन्न अल्प रोजगार अर्थात् वह श्रम जिसकी सारे वर्ष आवश्यकता नही पडती और न ही सारे वर्ष उसका प्रयोग किया जाता है।

(iii) **प्रच्छन्न बेरोज़गारी** (डिसगाइज्ड अनएम्लायमेंट)—कुछ अर्थशास्त्रियो की यह धारणा है कि अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं मे श्रम की निम्न उत्पादिता बेकारी के एक विशेष परिमाण को छुपाए हुए है जिसे **प्रच्छन्न बेकारी** कहा जा सकता है। यह बेकारी श्रम के अनुपूरक ससाधनो की कमी के कारण उत्पन्न होती है। उनका मत यह है कि उन लोगों मे से, जो काम मे नाममात्र को लगे हुए होते हैं परन्तु अपने आपको पूर्णतः या आशिक रूप मे नियोजित समझते है, कुछ एक की उत्पादिता इतनी निम्न होती है कि यदि सामाजिक उत्पादन मे उनके योगदान को आँका जावे तो प्रभाव की दृष्टि से वे बेरोजगार कहे जा सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि इन लोगो को कृषि के क्षेत्र से हटा लिया जावे तो कृषि-उत्पादन मे कोई कमी नही आएगी। पारिभाषिक शब्दावली मे हम कह सकते है कि **इस श्रम का सीमांत उत्पाद शून्य है।**

प्रत्यक्षत जितना कृषि का पुनर्गठन अधिक होगा और जितना पूँजी का अधिक प्रयोग होगा उतने ही अधिक लोगो का कृषि-उत्पादन को प्रभावित किए बिना कृषि-क्षेत्र से बाहर अतरण किया जा सकता है। अत· प्रच्छन्न अल्प रोजगार की सीमा टैक्नॉलोजी तथा श्रम की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले सास्थानिक उपादानो मे परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती है।

विशेषज्ञो ने **प्रच्छन्न बेरोज़गारी** की परिभाषा इस प्रकार की है :—

यदि अन्य सभी बातें समान रहें (अर्थात् पूँजी-भूमि-श्रम-अनुपात निश्चित हों) तो वह अवस्था जिसमें कृषि-श्रम का उत्पाद शून्य या उपेक्षणीय (नेग लीजीबिल) होता है, प्रच्छन्न बेरोजगारी की अवस्था कहलाती है। अतः प्रच्छन्न बेरोज़गारी श्रम की वह मात्रा है जिसे वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत (अर्थात् कृषि-उत्पादन में परिवर्तन के बिना : सेट्रिस पारीबस) कृषि-उत्पादन मे कमी किए बिना कृषि से हटाया जा सकता है। इसे बेशी श्रम या कृषिक-अधिकता (एग्रेरियन एक्सेस) भी कहते हैं। **संक्षेप मे प्रच्छन्न बेरोज़गारी श्रम शक्ति का वह भाग है जिसके निकास से उत्पादन में कोई कमी नहीं आती (जबकि कृषि-प्रविधियों**

में कोई परिवर्तन न किया जाए) ।

यहाँ कुछ प्रश्नों पर विचार करना इस संकल्पना के स्पष्टीकरण मे सहायक सिद्ध हो सकता है ।

(१) *यदि श्रमिक अनियोजित या अन्यथा बेकार जा रहा है तो ऐसी तकनीको को* क्यो नही अपनाया जाता जिनमे श्रम की अपेक्षा कम भूमि तथा पूँजी का उपयोग हो ? अर्थात् यदि श्रम बेशी है तो अधिक श्रम प्रधान तकनीकें क्यों प्रयोग मे नहीं लाई जाती ?

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि टैक्नॉलोजी की वर्तमान अवस्था मे श्रम का उस बिन्दु तक उपयोग क्यों किया जाता है जहाँ इसका कोई प्रतिफल प्राप्त न हो ? उन मजदूरों को, जिनका उत्पाद शून्य है, मजदूरी देने से नियोक्ताओ को हानि होगी *तथा उन स्वनियोजित कृषको के लिए जो कुछ भी उत्पादन नहीं करते, बेहतर यह* होगा कि वे मजदूरी करे । वे बेकार कृषि मे क्यों पड़े रहते हैं ?

(३) मजदूरी सीमान्त उत्पाद से अधिक क्यो है ? यदि लोगो की काफी सख्या कुछ भी उत्पादन नहीं करती या बहुत कम उत्पादन करती है, तो मजदूरी मे श्रमिक के सीमांत उत्पाद तक गिरावट क्यों नही आती ?

आर. एस. इकॉस ने अपने लेख 'अल्पविकसित देशों मे उपादान अनुपात' (*'फैक्टर प्रपोरशन्स इन अन्डरडेवलप्ड कन्ट्रीज' अमेरिकन इकॉनोमिक रिव्यू वाल्यूम ४५ सितम्बर, १९५५*) मे प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया है । उनका मत है कि अत्यधिक श्रम-प्रधान कृषि-प्रक्रिया मे भी प्रति इकाई श्रम, पूँजी की किसी न किसी न्यूनतम राशि की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् उसमे भी कोई न कोई न्यूनतम पूँजी-श्रम अनुपात होता है । बहुत से अल्प विकसित देशों मे इतनी पूँजी नही है कि वे अपनी सारी श्रम शक्ति का उपयोग कर सके इसलिए प्राप्य श्रम शक्ति का एक भाग अनुपयुक्त रह जाता है ।

कृषि श्रम के शून्य सीमात उत्पाद की व्याख्या करते हुए जारजैस्कू रोगन ने अपने लेख (इकोनोमिक थ्योरी एण्ड एग्रेरियन इकॉनोमिक्स. फरवरी, १९६०) में यह मत दिया है कि 'जनाधिक देश में न तो पूँजीवाद और न ही समाजवाद कृषि को सगठित करने का एक दक्ष रूप है ।' पूँजीवाद के अन्तर्गत श्रम का उस बिन्दु तक उपयोग किया जाएगा जहाँ इसका सीमात उत्पाद मजदूरी-दर के बराबर हो जाता है । परिणामस्वरूप श्रम-शक्ति का कुछ भाग बेकार रहेगा । इस दशा मे कुल कृषि-उत्पादन अधिकतम नही होगा । सामतवाद में परिवार का रोज़गार तब अधिकतम हो जाता है जब इसका सीमात उत्पाद मज़दूरी के बराबर होता है । अब सामंतवाद का स्थान व्यक्तिगत कृषक जोतो ने ले लिया है और उसका कुल कृषि-उत्पादन अब भी अधिकतम है क्योकि कृषक परिवार का रोजगार सीमात उत्पादिता के सिद्धात की अपेक्षा कुल पारिवारिक उत्पादन के अधिकतमकरण द्वारा निर्धारित होता है । अतः परिवार फार्म का कुल उत्पादन जब अधिकतम हो जाता है तो सीमात शून्य हो जाता है ।

रैगनर नर्से ने भी श्रम के शून्य सीमात उत्पाद को प्रच्छन्न बेरोज़गारी का नाम दिया है । उसका कहना है कि भूमि जोतों को चकबदी आदि द्वारा सगठित करने से कृषि-उत्पादन

मे कमी किए बिना श्रम के एक बड़े भाग को फार्मेतर (नान फार्म) कामों मे लगाया जा सकता है अर्थात् बेकार श्रम को बाँध-निर्माण तथा ग्रामीण-सड़कों के बनाने में लगाया जा सकता है।

'श्रमिक की मजदूरी सीमात उत्पाद से अधिक क्यो है और यह सीमांत उत्पाद तक क्यों नही गिरती'—इस प्रश्न का उत्तर ल्युइस ने अपने प्रसिद्ध लेख 'असीमित श्रमपूर्ति सहित आर्थिक विकास' (इकोनोमिक डेवलपमैंट विथ अनलिमिटेड सप्लाइज आफ लेबर,मई, १९५४) मे बड़ी अच्छी प्रकार से दिया है। उसका तर्क है कि कामगार अपने सीमात उत्पाद के बराबर मजदूरी प्राप्त नही करते बल्कि उससे अधिक एक पारम्परिक मजदूरी (ट्रेडीशनल वेज) प्राप्त करते हैं जो कि प्रति श्रमिक औसत उत्पाद द्वारा निर्धारित होता है।

कृषक कृषि-अर्थव्यवस्था मे परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार के औसत उत्पाद के बराबर प्राप्त करता है चाहे उसका अपना योगदान कुछ भी हो। क्योकि फार्म से बाहर परिवार फार्म पर प्राप्त औसत उत्पाद से अधिक मजदूरी प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध नही हैं, इसलिए वह फार्म को छोडने की ओर प्रेरित नही होता और औसत उत्पाद सीमात उत्पाद से अधिक होगा। यही कारण है कि जबतक निर्वाहमात्री क्षेत्रक (कृषि क्षेत्र) में बेशी श्रम होगा, उसे पूँजीमूलक क्षेत्रक (केपिटलिस्ट सेक्टर) मे भी पारम्परिक मजदूरी मिलती रहेगी। यह *मजदूरी श्रम के शून्य सीमात उत्पाद से अधिक होती है।* यहाँ आर्थिक विकास के सिद्धातो के रूप मे ल्युइस तथा रेनिस व फे के मॉडलो का विवेचन उपयोगी रहेगा।

(अ) **आर्थिक विकास संबंधी ल्युइस का मॉडल** (ल्युइस मॉडल रिगार्डिंग इकोनोमिक डेवलपमेंट)—एक अल्प विकसित अर्थव्यवस्था जिसमे श्रम का बाहुल्य हो परन्तु ससाधन का अभाव हो, जिसमें अधिकाश जनसख्या कृषि का धधा करती हो, जहाँ व्यापक प्रच्छन्न बेरोजगारी विद्यमान हो और जिसमे जनसंख्या की सवृद्धि-दर बहुत अधिक हो किस प्रक्रिया द्वारा गतिहीन अवस्था से स्व-धारणीय सवृद्धि की अवस्था (फ्राम कन्डीशन ऑफ स्टैगनेशन टु वन ऑफ सैल्फ सस्टेनिंग ग्रोथ) को प्राप्त कर सकती है? इस बात का विश्लेषण अनेक अर्थशास्त्रियो ने किया है। इस सबध मे ल्युइस तथा रेनिस व फे के मॉडलो का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

आर्थर डब्ल्यू ल्युइस मे आर्थिक विकास के अपने सिद्धात का प्रतिपादन अपने प्रसिद्ध लेख 'असीमित श्रम पूर्ति सहित आर्थिक विकास' (१९५४) मे किया है। ल्युइस अपने मॉडल में एक अल्प विकसित देश के निर्वाहमात्री क्षेत्रक तथा पूँजीमूलक क्षेत्रक मे सबध का विश्लेषण करता है। ल्युइस एक द्वि क्षेत्रक मॉडल (टू सैक्टर मॉडल) प्रस्तुत करता है और अर्थव्यवस्था को पूँजीमूलक अर्थात् प्रगतिशील तथा निर्वाहमात्री दो क्षेत्रको मे बाँटता है। ल्युइस के मॉडल *मे पूँजीमूलक अर्थात् उद्योग क्षेत्रक* को अपने विस्तार हेतु सस्ते श्रम की सप्लाई निर्वाहमात्री अर्थात् कृषि क्षेत्रक से प्राप्त होती है।

फालतू कृषि श्रमिको का (जिनका उत्पादन मे योगदान शून्य के समान या नगण्य होता है) उद्योग में विनिधान व पुन आवटन (जहाँ वे श्रमशक्ति के उत्पादक

सदस्य बन जाते हैं) विकास का द्योतक है। उद्योग में उनकी मज़दूरी कृषि में सस्थागत मज़दूरी के बराबर होती है। कृषि क्षेत्रक से उद्योग-क्षेत्रक की ओर फालतू श्रम के गमन की प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जबतक कि अति-शय कृषि-श्रम-शक्ति समाप्त नहीं हो जाती और औद्योगिक श्रम-पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर अग्रसर नही होता। यह अवस्था अर्थव्यवस्था के विकास का 'मोड़' (टर्निंग पोइन्ट) कहलाती है। औद्योगिक वास्तविक मजदूरी की उपरिमुखी गति अर्थव्यवस्था के 'वाणिज्जीकरण बिंदु' को व्यक्त करती है।

ल्युइस के अनुसार फालतू श्रम ग्रामीण तथा नगरीय दोनों क्षेत्रो मे विद्य-मान है। *ग्रामीण फालतू श्रम इस अर्थ मे प्रच्छन्न कहलाता है क्योंकि हर व्यक्ति* कार्य कर रहा होता है, परन्तु यदि इसका एक भाग कृषि से हटा लिया जाए तो उत्पादन मे कोई कमी नही होगी। शेष श्रमिक अधिक परिश्रम से काम करेंगे। नगरीय फालतू श्रम पूर्णतः बेकार होता है। ल्युइस का कहना है कि जबतक निर्वाहमात्री क्षेत्रक मे फालतू श्रम मौजूद है, पूंजीमूलक क्षेत्रक मे नियोजित श्रम को पारपरिक मजदूरी मिलती रहेगी। **न्यून तथा स्थिर मजदूरी के परिणाम-स्वरूप बृहत् लाभ प्राप्त होते हैं** और पूंजीमूलक क्षेत्रक मे शक्य पुनर्निवेश होता है। उद्योग क्षेत्रक के आकार के सापेक्ष लाभो मे अधिक वृद्धि होती है तथा अर्थव्यवस्था का विकास तेज़ी से होता है और राष्ट्रीय आय का वर्धमान अश पुनर्निवेशित होता है।

ल्युइस का कहना है कि उन देशो के लिए जिनके द्वारा हर प्रकार के यत्न के बावजूद अपनी माँग के अनुरूप तेजी से खाद्यान्न का उत्पादन नही किया जा सकता, श्रेयस्कर यह होगा कि वे विनिर्माण-पदार्थों के निर्यात को बढाएँ। कहने का *अभिप्राय यह है कि विनिर्माण-उत्पादन में विस्तार के लिए कृषि-उत्पादन मे* विस्तार आवश्यक नही है यदि विनिर्मित पदार्थों के निर्यात को बढ़ाया जा सके। भारत जैसे देश को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। निर्यात की संवृद्धि दर ही आतरिक विस्तार की सीमा का नियतन करती है। अल्पविकसित देशो को चाहिए कि वे उद्योग-क्षेत्रक के पदार्थों का अधिकाधिक निर्यात करें और इस *प्रकार वे अपनी आवश्यकताओं के लिए खाद्य पदार्थों का आयात कर सकते है।*

यद्यपि ल्युइस कृषि-उत्पादिता मे वृद्धि को अत्यधिक जनसख्या वाले देशों में आर्थिक विकास की पूर्व शर्त मानता है परन्तु उसके सुझाव के अनुसार कृषि-उत्पादन को बढ़ाने की इसलिए आवश्यकता है ताकि विनिर्मित पदार्थों के निर्यात को बढाने पर अधिक टेक न रखनी पड़े। वस्तुतः ल्युइस के माडल में कृषि-क्षेत्रक उपेक्षित रहा है और इसका महत्त्व केवल इतना है कि यह श्रम का भडार है। अतः ल्युइस निर्वाहमात्री अर्थात् कृषि-क्षेत्रक का सतोषजनक विश्लेषण प्रस्तुत करने में सफल नही रहा। यदि इस क्षेत्रक का विकास न हुआ तो समग्र व्यवस्था के अवरुद्ध होने का भय है। तेज़ आर्थिक विकास के लिए यह ज़रूरी है कि दोनों क्षेत्रकों की सवृद्धि में उचित संतुलन बनाए रखा जाए। इस उद्देश्य हेतु रेनिस

तथा फे ने ल्युइस के मॉडल मे संशोधन किए हैं और अपने मॉडल मे 'उपेक्षित कृषि क्षेत्रक' के महत्त्व संबंधी विश्लेषण पर बल दिया है। उन्होंने यह दर्शाया है कि कृषि तथा कृषीतर क्षेत्रक परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं और विकास की गति को तेज करने के लिए कृषि क्षेत्रक का महत्त्व कम नही है। रेनिस व फे के मॉडल का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(ब) **आर्थिक विकास का रेनिस व फे का सिद्धांत**—रेनिस व फे का मॉडल ल्युइस के मॉडल का उत्कृष्ट संशोधित रूप है और अल्प विकसित देशों की समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त नीति के निर्माण मे सहायक है उनके द्वि-क्षेत्रक मॉडल मे श्रमिको का कृषि से उद्योग की ओर प्रवसन व स्थानान्तरण वह केंद्रीय प्रक्रम है जिसके इर्द-गिर्द इस सिद्धात की रचना की गई है। सिद्धात की रचना करते समय आतरिक व्यापार की बिगडती हुई स्थिति, प्रच्छन्न बेकारी, सास्थानिक मजदूरी, वाणिज्यीकरण बिंदु, सतुलित सवृद्धि तथा प्रौद्योगिकीय परिवर्तन आदि अनेक आधारभूत समस्याओ को ध्यान मे रखा गया है।

रेनिस तथा फे श्रम-बहुल देशो के विकास को तीन चरणों मे बाँटते हैं। उनका यह विभाजन इस संकल्पना पर आधारित है कि कृषि-उत्पादिता तथा जनसख्या मे कोई विशेष परिवर्तन न हो।

(१) रेनिस व फे के अनुसार विकास के प्रथम चरण मे वे कृषि-श्रमिक जो कृषि-उत्पादन मे कोई वृद्धि नही कर रहे होते, औद्योगिक क्षेत्रक मे चले जाते हैं। अर्थव्यवस्था के वर्तमान मज़दूरी-स्तरो मे कोई भी वृद्धि नही होती क्योकि उनके जाने से फार्म-उत्पादन मे कोई कमी नही आती।

(२) दूसरे चरण मे, वे फार्म-श्रमिक भी औद्योगिक क्षेत्र मे चले जाते हैं जो कुछ न कुछ उत्पादन कर रहे होते हैं और जिनका उत्पादन उनकी मजदूरी से कम होता है। उनके प्रवसन के फलस्वरूप फार्म-उत्पादन मे कमी हो जाती है। व्यापार-स्थिति फार्म-क्षेत्रक के पक्ष मे बदल जाती है और औद्योगिक क्षेत्रक मे नकद मज़दूरी को बढ़ाने की आवश्यकता पडती है। विकास के इस चरण मे औद्योगिक क्षेत्रक मे व्यापार-स्थिति बिगडती जाती है क्योकि उद्योग पदार्थों के विनिमय हेतु कृषि पदार्थों मे सापेक्ष अभाव अनुभव किया जाता है। यह चरण काफी कठिन होता है क्योकि इसके दौरान कृषि पदार्थों की कमी होने लगती है। वस्तुतः दूसरा चरण कृषि-पदार्थों के अभाव से आरंभ होता है। इसलिए प्रथम तथा द्वितीय चरण की सीमा को 'अभाव-बिन्दु' का नाम दिया गया है।

(३) यदि श्रमिकों का प्रवसन जारी रहे तो एक बिंदु ऐसा पहुँच जाता है जहाँ वे श्रमिक भी जिनका उत्पादन उनकी मजदूरी के बराबर होता है उद्योग मे चले जाते हैं। यह 'वाणिज्यीकरण बिंदु' तीसरे चरण का प्रारभ है जबकि उत्कर्ष अवस्था (टेक ऑफ) का अंत होता है और स्वधारित सवृद्धि का आरंभ और हम ऐसी अवस्था मे प्रवेश करते हैं जबकि कृषि-क्षेत्रक वाणिज्यीकृत पूँजीमूलक प्रणाली का रूप धारण कर लेता है। इस चरण मे कृषि-क्षेत्रक मे सीमात-

उत्पादिता और वास्तविक मज़दूरी बराबर हो जाती है और प्रच्छन्न बेरोज़गारी समाप्त हो जाती है।

(४) रेनिस व फे का कहना है कि कृषि-उत्पादिता को बढ़ाकर कठिन दूसरे चरण की अवधि को कम किया जा सकता है, क्योंकि प्रवसन करने वाले श्रमिको की सीमात भौतिक-उत्पादिता मे वृद्धि होने से वे अपनी मजदूरी तक शीघ्र पहुँच सकते हैं और प्रति-प्रवासी-श्रमिक कृषि-वेशी भी अधिक होती है जिसके कारण बिगडती हुई व्यापार-स्थिति मे सुधार होता है। यदि उत्पादिता मे वृद्धि पर्याप्त हो तो पूर्ण दूसरे चरण को निरस्त किया जा सकता है और अर्थव्यवस्था सीधे ही स्वधारित-संवृद्धि की अवस्था मे प्रवेश कर जाती है।

(५) कृषि क्षेत्रक मे निवेश के अतिरिक्त औद्योगिक क्षेत्र मे निवेश की समकालिक प्रक्रिया की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। वास्तव में दोनो क्षेत्रक एक दूसरे पर निर्भर है। उत्पादन की दृष्टि से दोनों क्षेत्रको को एक दूसरे के पदार्थों के क्रय-विक्रय की व्यवस्था करनी होगी। निविष्टि की दिशा मे भी, उद्योग-क्षेत्र को कृषि-क्षेत्र द्वारा छोड़े गए श्रमिको को खपाना होगा। यही कारण है कि 'संतुलित सवृद्धि' विकास की केन्द्रीय सकल्पना है।

हैनरी टी. ओशीमा ने रेनिस व फे के मॉडल पर अपनी टिप्पणी मे मॉडल की समलोचना की है जिसका सार इस प्रकार है :

(क) ओशीमा का मत है कि रेनिस व फे ने अपने विश्लेषण मे विदेशी व्यापार के महत्त्व की उपेक्षा की है। एक खुली अर्थव्यवस्था मे उद्योग-पदार्थो के बदले मे दूसरे देशो से कृषि-पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यापार-स्थिति के बिगडने की सम्भावना नही होगी। एशिया मे कई देश अन्न की कमी वाले देशो को खाद्यान्न का आयात करते है। युद्ध से पूर्व जापान ने कोरिया तथा ताईवान से सस्ते फार्म-पदार्थों का आयात कर औद्योगिक क्षेत्रक के लिए व्यापार की स्थिति मे सुधार किया था। इसलिए रेनिस-फे मॉडल तभी स्वीकार किया जा सकता है यदि इसमे विदेशी व्यापार का समावेश किया जाए। विदेशी व्यापार के समावेश से कृषि-उत्पादिता मे तेज वृद्धि करना इतना आवश्यक नही रहेगा और सतुलित सवृद्धि तेज़ी से प्राप्त हो जाएगी।

रेनिस व फे का कहना है कि विदेशी सहायता 'अभाव बिंदु' के आगमन को स्थगित कर सकती है परन्तु विकास-प्रक्रिया किसी देश की घरेलू अर्थव्यवस्था के आकार तथा विदेशी व्यापार के अवसरों पर निर्भर करती है। भारत के सदर्भ में उनका कहना है कि बड़े अल्पविकसित देशो की समस्याओ को मूलत: देश के अन्दर ही हल करना होगा क्योंकि अनाज की घरेलू आवश्यकताएँ इतनी अधिक होगी कि आयात पर अधिक भरोसा रखना उपयोगी नही होगा।

(ख) रेनिस-फे के अनुसार 'वाणिज्यीकरण बिंदु' विकास प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण अवस्था है। इस समय तक काफी श्रमिक कृषि को छोड़ चुके होते हैं और ग्रामीण क्षेत्र मे श्रम का अभाव हो जाता है। भूस्वामियों को अब सीमात भौतिक उत्पादिता

(MPP) के अनुरूप मजदूरी देनी होगी और उद्योग-नियोजको से प्रतिस्पर्धा करनी होगी। अभिप्राय यह है कि इस बिंदु के बाद भी विदेशी व्यापार की अनुपस्थिति मे कृषि-उत्पादिता मे लगातार वृद्धि करनी पडेगी। तभी फार्म-जनसख्या मे गिरावट आ सकती है।

ओशीमा का कहना है कि बद अर्थव्यवस्था मे श्रम-प्रवसन से कृषि-पदार्थों में लगातार कमी होगी और यह अतिस्फीति (हाइपर-इनफ्लेशन) का आरम्भ होगा।

खुली अर्थव्यवस्था मे जहाँ उद्योग-पदार्थो के निर्यात के बदले मे खाद्यान्नो का आयात किया जा सकता है, निर्वाहमात्री क्षेत्रक तथा औद्योगीकृत क्षेत्रक एक दूसरे के साथ इकट्ठे रह सकते है।

इस सदर्भ मे रेनिस-फे का कहना है कि मोड़ की अवस्था इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रच्छन्न बेरोजगारी से पीडित श्रमिक अब उत्पादक सदस्य बन गए है। इसके बाद कृषि-क्षेत्रक का विकास बडा जरूरी है। शेष अर्थव्यवस्था के लाभ के लिए दोनो क्षेत्रको के सतुलित विकास की आवश्यकता है और ओशीमा की अतिस्फीति के आरम्भ की धारणा उचित नही है।

(ग) रेनिस व फे के मॉडल मे प्रच्छन्न बेरोजगारी तथा सास्थानिक वास्तविक मजदूरी के स्थिर दर की धारणाओं की भी आलोचना की जाती है। रेनिस व फे का मत है कि पाकिस्तान भारत व लका जैसे देशों मे फार्म श्रम-शक्ति का ३० प्रतिशत सीमात श्रमिक हैं जो बहुत कम या शून्य उत्पादन करते हैं। आलोचको का कहना है कि यह अश ५ प्रतिशत से अधिक नही है। रेनिस-फे के अनुसार भूमि का परिमाण निश्चित है और जनसख्या का एक भाग ऐसा अवश्य होगा जिसकी सीमात भौतिक उत्पादिता शून्य हो जाएगी। आलोचकों का मत है कि फालतू जनसख्या नगरो मे चली जाएगी और अल्पावधि के लिए विवृत् रूप मे बेकार होगी। समय रहते यह जनसख्या लघु उद्योगो मे खप जाएगी या वापस गावों मे आ जाएगी। आलोचकों के मत के अनुसार भूमि का परिमाण नियत नही है क्योंकि अप-सीमात भूमि (एक्सट्रा मार्जीनल लैंड) जैसे वन, जगल, पहाडी भूमि आदि पर भी खेती की जाने लगेगी। उनका मत है कि यद्यपि कुछ श्रमिको का प्रतिफल कम होगा परन्तु वह शून्य से अवश्य अधिक होगा। इसी प्रकार वे कहते है कि यदि वास्तविक मजदूरी का स्तर स्थिर है तो भू-स्वामियो तथा पट्टेदारो में सघर्ष क्यो होता है? उनका कहना है कि मजदूरी सीमात भौतिक-उत्पादिता से कम होती है न कि अधिक। इसलिए रेनिस-फे की उपरोक्त दोनो धारणाएँ स्वीकार्य नहीं हैं।

रेनिस-फे ने इस आलोचना का उत्तर देते हुए लिखा है कि इसमे कोई शक नही कि काफी जनसख्या फालतू है चाहे वह नगरो मे पूर्ण बेकार हो या ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रच्छन्न बेरोजगारी से पीडित हो। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि ऐसे बेकार श्रमिक विद्यमान हैं जो राष्ट्रीय उत्पाद का उपभोग तो करते हैं परन्तु उसमे उनका योगदान शून्य के बराबर है। स्थिर वास्तविक मज-

दूरी की आलोचना का उत्तर देते हुए वे लिखते है कि यदि मजदूरी सीमात भौतिक उत्पादिता से कम है तो भूस्वामी कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए इनको अधिकाधिक काम पर लगाएँगे। इससे जनसख्या मे वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा।

(घ) आलोचको का यह मत भी है कि यह धारणा 'कि विकास के प्रथम दो चरणो मे फार्म-उत्पादिता में वृद्धि के साथ-साथ फार्म-मज़दूरी में कोई परिवर्तन नहीं होगा' स्वीकार्य नहीं है। फार्म-उत्पादिता मे वृद्धि कृषक की वास्तविक आय मे वृद्धि मे परिणत होती है क्योकि कर वहुत ही कम हैं। फलस्वरूप काश्तकारों के निरपेक्ष भाग मे भी वृद्धि होगी। आलोचको का तर्क है कि उत्पादिता में वृद्धि के साथ-साथ मज़दूरी मे भी वृद्धि होती है। उनका कहना है कि मॉडल मे मे प्रच्छन्न वेरोज़गारी की सकल्पना को निकालने से कृषि-उत्पादिता को वढाने की आवश्यकता वढ जाती है।

उन्नीसवी शताब्दी के जापान का उल्लेख करते हुए रेनिस-फे ने लिखा है कि यद्यपि जापान में कृषि-उत्पादिता मे तेज़ी से वृद्धि हुई, वास्तविक मज़दूरी मे नाममात्र की वृद्धि हुई। यद्यपि राजकोषीय साधनों तथा जन कल्याण सम्बन्धी मिथ्या नीतियो से कुछ समय के लिए औद्योगिक वास्तविक मज़दूरी को वढाया जा सकता है परन्तु कृषि क्षेत्रक मे प्रचुर प्रच्छन्न वेरोज़गारी की उपस्थिति मे मज़दूरी मे वृद्धि को सतत वनाए रखने की कल्पना करना भी कठिन है।

जहाँ एक ओर उपरोक्त अर्थशास्त्रियों ने 'प्रच्छन्न वेकारी' की सकल्पना की मान्यता का समर्थन किया है वहाँ वाईनर, वारीनर तथा शुल्ज़ आदि अर्थशास्त्री प्रच्छन्न वेरोज़गारी के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। शुल्ज का कहना है कि ससार में किसी भी निर्धन देश से इस वात का प्रमाण नही मिलता कि अन्य वातें समान रहने पर वर्तमान श्रम-शक्ति के एक छोटे से अश को भी कृषि से हटाने पर कृषि-उत्पादन मे कोई कमी न आई हो। भारत तथा लातीनी अमरीका के देशों के उदाहरणो के आधार पर शुल्ज़ ने यह वताया कि कृषि-श्रम के हटाने से कृषि-उत्पादन मे कमी होती है।

परन्तु ल्युइस का कहना है कि ग्रामीण तथा नगरीय दोनों क्षेत्रो मे फालतू श्रम विद्यमान है। ग्राम श्रम वेशी इस अर्थ मे छिपी हुई है कि यहाँ हर व्यक्ति काम कर रहा होता है परन्तु यदि इसके कुछ भाग को निकाल लिया जाए तो उत्पादन कम नहीं होगा क्योंकि कृषि मे शेष रह गए श्रमिक अधिक परिश्रम से कार्य करेंगे।

यह ध्यान रहे कि मज़दूरों को पूर्ण एककों मे ही हटाया जा सकता है अर्थात् किसी व्यक्ति को कृषि मे वाहर ले जाने के लिए उसे पूरी तरह कृषि को छोडना पडेगा। व्यक्ति के हिस्से नही किये जा सकते। इसलिए प्रच्छन्न वेकार श्रम वह अल्प प्रयुक्त श्रम है जो दो भागो से निर्मित है। (१) वह वेशी श्रम (अर्थात् श्रमिकों की वह सख्या) जिसे कृषि से हटाया जा सकता है (२) वह अल्प प्रयुक्त आंशिक श्रम (फ्रेक्शनल लेवर) जिसे कृषि से हटाया नही जा सकता। अतः प्रच्छन्न वेकारी श्रमिकों की वह सख्या है जिसे कृषि से कृषि-उत्पादन मे कमी किये विना हटाया जा सकता है।

कृषि में प्रच्छन्न अल्प रोज़गार की मात्राका, श्रम उपलब्धता से सापेक्ष श्रम आवश्यकता

के आँकड़ो के आधार पर, पता लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक फार्म-परिवार की मानव-शक्ति का लेखा जोखा करना पड़ेगा। जब दोनो ओर का समायोजन पूरा होता है अर्थात् जब मानव शक्ति की इकाइयों (तथा श्रम-घटो) मे उपलब्ध श्रम की मात्रा श्रम की (तथा उत्पादन अवधि मे इसके वितरण की) अभीष्ट मात्रा के बराबर हो तो प्रच्छन्न अल्प रोजगार का प्रश्न ही नही उठता। अतः फालतू अथवा बेकार श्रम उपलब्ध श्रम तथा अभीष्ट श्रम का अन्तर है। बेरोज़गारी मानव शक्ति का वह परिमाण है जो व्यर्थ जाता है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि बेरोज़गारी श्रम की पूर्ति तथा मांग के अन्तर को कहते हैं। श्रम की पूर्ति जनसख्या तथा सहभागिता-दर (पार्टीसिपेशन रेट) का परिणाम है। यह ध्यान रहे कि अगले पन्द्रह बीस वर्षों मे श्रमिक बनने वालो का जन्म हो चुका है और जनसख्या की वृद्धि मे तुरन्त कमी का वर्तमान स्थिति पर कोई अन्तर पड़ने वाला नही है। हाँ, इन वर्षों मे हुई कमी का प्रभाव १५–२० वर्ष बाद श्रम की पूर्ति पर अवश्य पडेगा। श्रम की माँग पूँजी स्टाक तथा श्रम-प्रतिशतता (लेबर इन्टेसिटि) अर्थात् पूँजी-श्रम-अनुपात द्वारा निर्धारित होती है। सक्षेप मे निवेश-दर तथा तकनीकी परिवर्तन श्रम की मांग को प्रभावित करते है। श्रम की उपलब्धता (या पूर्ति) मे श्रम की काम करने की इच्छा निहित है।

१२.५ बेरोजगारी का माप

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि बेरोज़गारी तथा अल्प रोजगार (अथवा अल्प-बेरोजगारी) के परिमाण को मापने के लिए अनेक पैमाने हैं। किसी भी पैमाने को निश्चित कहना यथार्थ नही होगा। विभिन्न सकल्पनाओ के आधार पर परिकलित अनुमान भी भिन्न होगे और समस्या के समाधान के लिए नीतियाँ भी भिन्न-भिन्न होगी। अनेक बार बेरोजगारी का परिमाण ज्ञात करने के लिए एक से अधिक कसौटियो का सयोजन भी कर लिया जाता है। प्रो० राजकृष्ण ने अपने लेख 'अनएम्प्लायमेट इन इन्डिया' (इकोनोमिक एण्ड पालिटिकल वीकली, मार्च ३, १९७३) मे इनका विस्तृत विवेचन किया है।

जब हम बेरोजगारी का अनुमान लगाते हैं तो उसमे अल्परोजगार के कारण होने वाली बेकारी भी सम्मिलित होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि बेरोजगारी मे **पूर्ण बेकारी, अल्पबेरोजगारी तथा प्रच्छन्न बेरोजगारी** सब सम्मिलित हैं। अब हम बेरोजगारी की विभिन्न कसौटियो का संक्षेप मे वर्णन करेंगे।

(क) **समय की कसौटी**—एक व्यक्ति बेरोजगार कहा जा सकता है जबकि वह किसी भी अर्जक (कमाऊ) धन्धे मे लगा हुआ न हो या वह किसी अर्जक धधे मे सामान्य से कम समय के लिए कार्य कर रहा हो। यह सामान्य समय सामान्यतः पूर्ण रोजगार-समय या इष्टतम समय होता है। अर्जक व्यवसायी की परिभाषा भी भिन्न-भिन्न स्थितियो मे भिन्न-भिन्न हो सकती है। उदाहरणत. राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे द्वारा कुछ अध्ययनो मे वह व्यक्ति अर्जक व्यवसायी माना गया है जिसने एक सप्ताह मे एक घटे के लिए भी अर्जक कार्य किया अर्थात् एक घटे के लिए भी आय मे वृद्धि करने वाला कार्य किया। पूर्णत बेरोजगार वही व्यक्ति माना गया

जिसने सप्ताह मे एक घंटे के लिए भी अर्जक कार्य नहीं किया हो। इस परिभाषा मे एक सप्ताह की निर्देश अवधि (रेफ़ेरेन्स पीरियड) नियत की गई है। यह अवधि एक दिन, पखवाडा, मास या एक वर्ष भी हो सकती है। १९६१ की गणना मे इस उद्देश्य के लिए मौसमी काम की कार्यकारी ऋतु—(वर्किंग सीजन फॉर सीजनल वर्क) निर्देश- अवधि मानी गई। जितनी निर्देश अवधि अधिक होगी, परिभाषा के अनुसार व्यक्ति के बेरोजगार होने के (अर्थात् एक घंटा अर्जक काम करने के) अवसर अधिक होंगे और इस प्रकार बेरोजगारों की सख्या कम होगी। निर्देश-अवधि जितनी कम होगी, बेरोजगारो की संख्या अधिक होने की उतनी ही अधिक सभावना होगी। इसलिए बेकार या अल्प नियोजित व्यक्ति की परिभाषा मे अर्जक कार्य तथा निर्देश अवधि का विशेष महत्त्व है।

इसी प्रकार यदि पूर्ण रोजगार का प्रतिमान (नोर्म) प्रति सप्ताह ४२ घंटे का अर्जक कार्य हो तो वे व्यक्ति जो सप्ताह मे ४२ घंटे से कम कार्य कर रहे हैं, अल्पनियोजित (अन्डर एम्प्लायड) कहलाएँगे। अल्प रोजगार की सीमा आगे अर्जक कार्य के समय पर निर्भर होती है। जैसे सप्ताह मे २८ घंटे से कम काम करने वाले व्यक्ति को गम्भीररूप से अल्पनियोजित कहा जा सकता है जबकि प्रति सप्ताह २८ घंटे से अधिक परन्तु ४२ घंटे से कम काम करने वाला व्यक्ति परिमित अल्पनियोजित (मोडरेटली अन्डरएम्प्लायड) अर्थात् न अधिक और न कम अल्प रोजगार वाला व्यक्ति कहलाएगा।

(ख) **आय के संदर्भ में**—रोजगार आय उत्पन्न करने का साधन ही नही बल्कि आय-वितरण का साधन भी है। व्यक्तियो को काम करने से अर्थात् रोजगार से आय प्राप्त होती है और वे व्यक्ति बेरोजगार कहलाएँगे जो काम प्राप्त नही कर सके। अत. एक व्यक्ति बेरोजगार या अल्पनियोजित कहलाएगा यदि वह वाछित न्यूनतम से कम आय कमाता हो अर्थात् यदि उसका जीवन-स्तर वाछित न्यूनतम स्तर से भी न्यून हो। इस प्रकार वह व्यक्ति जो किसी अर्जक काम मे नही लगा हुआ है और काम की तलाश में है और साथ ही अपने संयुक्त परिवार से अधिकार के रूप मे आय प्राप्त कर रहा है, आय की दृष्टि से न नियोजित है और न ही वह बेकार माना जाएगा। परन्तु क्योकि उत्पादन मे उसका कोई योगदान नही है, इसलिए उत्पादन की दृष्टि से वह बेरोजगार है। इस धारणा के समर्थको का यह तर्क है कि रोजगार का स्तर कम से कम इतना अवश्य होना चाहिए कि जनसख्या को न्यूनतम आजीविका प्रदान की जा सके। व्यक्ति की बेकारी उसकी निर्धनता का मुख्य कारण है। आय-प्रदायक काम की अनुपलब्धता ही को बेरोजगारी कहते हैं। इसलिए व्यक्ति द्वारा एक वाछित न्यूनतम आय से कम आय की प्राप्ति अपूर्ण रोजगार को व्यक्त करती है। डाडेकर तथा रॅथ ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी इन इण्डिया' (१९७१) मे इस सकल्पना के सदर्भ मे समस्या का सुन्दर विश्लेषण किया है।

(ग) **बेरोजगारी अथवा उत्पादन की कसौटी**—उत्पादन की दृष्टि से वे व्यक्ति बेरोज़गार कहलाते है जिनके क्षेत्रक से निकास के परिणामस्वरूप उत्पादन पर कोई

प्रभाव नही पड़ेगा। वह व्यक्ति जिसकी उत्पादिता सामान्य उत्पादिता से कम है बेरोजगार माना जाएगा क्योकि उसके निकास से उत्पादन मे कोई कमी नही आएगी यदि मामूली तकनीकी परिवर्तनो द्वारा बाकी रह गये कामगारो की उत्पादिता को समान्य बनाया जा सके। हम इस बात का पहले ही विवेचन कर चुके हैं कि शून्य सीमात उत्पाद की विद्यमानता के स्पष्ट प्रमाण नही है और कामगार की पारम्परिक मजदूरी सीमांत उत्पाद से अधिक होती है। यह मजदूरी परिवार के औसत उत्पाद के बराबर होती है। परन्तु कामगार की निम्न उत्पादिता उसकी निम्न आय व निर्धनता का कारण है। इसलिए उत्पादिता का प्रतिमान आय का ही प्रतीक है।

(घ) **काम करने की इच्छा**—जहाँ तक कृषि-श्रमिको का संबध है, बेकार होने पर उनके पास इसके सिवाय और कोई चारा नही कि वे नये काम की तलाश करें परन्तु कृषक अपने फार्म पर स्व-नियोजन को प्राथमिकता देते हैं और अपने फार्म पर काम के कम होने पर भी वे मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार नही होंगे। इसी प्रकार स्त्रियाँ जिन्हे घर का काम भी करना पडता है समय की कसौटी से अल्प रोजगार मानी जाती हैं और वे गाँव से बाहर काम के लिए उपलब्ध नही होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि यह जरूरी नही है कि वे सब व्यक्ति जिनके पास पूरा काम नही है या जिनकी आय वाछित स्तर से कम है और अधिक काम की खोज करें। उदाहरणतः वे बेकार, व्यक्ति जिनके पास बचाई हुई पूँजी है या जिन्हे परिवार या सबधियो से आय सबधी सहायता प्राप्त है, कम मजदूरी वाला काम करने के लिए तैयार नही होगे और बेरोजगार रहना ही पसन्द करेगे जब तक कि उन्हे उच्च मजदूरी वाला काम नही मिल जाता। ऐसे व्यक्ति स्वेच्छा से बेरोजगार है।

वास्तव मे बेरोजगार वह व्यक्ति है जो वर्तमान की अपेक्षा अधिक काम करने का इच्छुक हो अर्थात् वह और अधिक काम की तलाश कर रहा हो या चालू मजदूरी पर (या वह मजदूरी जिसका वह आदी है) काम के लिए लभ्य हो। सक्षेप मे वे सब व्यक्ति जो निर्धन है या जिनके पास अर्जक काम है, बेकार, नही कहलाएँगे जबतक वे और अधिक काम करने के लिए इच्छुक नही हैं।

ऐसे भी व्यक्ति हैं जो पूरे समय के लिए काम करते है परन्तु उनकी आय इतनी कम है कि वे 'निर्धनता-रेखा' से भी नीचे के स्तर पर निर्वाह कर रहे है। समय के अनुसार वे बारोजगार हैं और अतिरिक्त समय के लिए लभ्य नही है। यह वह वर्ग है जो असगठित है तथा जिसकी सौदा करने की शक्ति कम है। इस वर्ग को कानून या सामूहिक सौदाकारी का सरक्षण प्राप्त नही होता जिसके कारण उसको मजदूरी कम होती है और वह निर्धन रहता है।

गरीबी के हटाने से सबधित नीतियाँ—यद्यपि बेरोजगारी गरीबी का मुख्य कारण है परन्तु लोगों की गरीबी हटाने की समस्या काम के लिए लभ्य लोगो की बेकारी को दूर करने की समस्या से बहुत विशाल है। विभिन्न वर्ग के लोगो की निर्धनता को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपनानी होंगी।। उदाहरणत अनियोजनीय वर्ग अर्थात् उन लोगो के

लिए जो रोजगार योग्य नहीं है, आर्थिक तथा सामाजिक सहायता या आय-अंतरण की जरूरत पड़ेगी जबकि स्व-नियोजित लोगों की निर्धनता दूर करने के लिए उन्हें उधार तथा अतिरिक्त निविष्टियों का उपयोग करने के लिए सुविधाएँ सुलभ करानी पड़ेगी। इस वर्ग में लघु कृषक तथा सीमांत कृषक आते हैं और उनकी समस्याओं का समाधान करने के लिए विभिन्न उपायों तथा नीतियों का अध्ययन हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके है।

वारोजगार नियोजित लोगों की निर्धनता को दूर करने के लिए प्रभावी श्रमिक संगठन तथा सम्पत्ति व भूमि सुधारों की आवश्यकता होगी। जबकि वेरोजगारो के लिए धन्धे की व्यवस्था करनी पड़ेगी या उनके लिए उत्पादन-साधनो का समान वितरण करना पड़ेगा। आने वाले अनेक वर्षों तक ग्रामीण क्षेत्रो मे मानव-शक्ति के ससाधनो का उपयोग कृषि-विकास, सड़क-निर्माण, ग्रामीण गृह-निर्माण तथा ग्राम्य सुविधाएँ सुलभ कराने सबधी कार्यक्रमो तथा परियोजनाओ मे किया जा सकेगा। वेरोजगारी को दूर करने से सबधित नीतियों का अध्ययन हम वाद मे करेंगे। पहले समस्या के फैलाव का विवेचन करेंगे।

१२.६ वेरोज़गारी के अनुमान

(1) उपरोक्त परिच्छेद मे 'वेरोजगारी' का अनुमान लगाने के लिए विभिन्न कसौटियों का अध्ययन किया गया है। कई बार इनका सयोजन भी किया जा सकता है। सक्षेप में उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :- (1) काम के कारण वेकार (२) निर्धन (आय-वेरोजगारी) (३) अधिक काम के लिए इच्छुक (४) वेकार तथा निर्धन (५) वेकार व इच्छुक (६) निर्धन व इच्छुक (७) वे जो वेकार भी है, निर्धन भी हैं और अधिक काम करने के लिए तैयार भी है। अंतिम वर्ग के लोगो की सख्या अन्य वर्गों की अपेक्षा सबसे कम होती है। निर्धनो की सख्या वेकारो से अधिक होती है और सब बेकार अतिरिक्त काम करने के इच्छुक नहीं होते। इसलिए रोजगार का प्रवन्ध तो केवल उन व्यक्तियो के लिए करने की आवश्यकता होगी जो काम करने के इच्छुक हों। इसी प्रकार सब निर्धन भी काम करने के इच्छुक नही होते। सबसे उत्तम नीति यह है कि सर्वप्रथम काम के इच्छुक निर्धन वेकारो को रोजगार सुलभ कराया जाए।

इच्छा (विलिंगनैस) की धारणा वेरोज़गारी की समस्या को वास्तविक परिप्रेक्ष्य मे आँकने मे सहायता करती है और समस्या के परिमाण को कम करती है। संक्षेप में बेरोज़गार व्यक्ति वह है जो निर्देश अवधि मे, सामान्य प्रतिमान से कम समय के लिए अर्जक काम करता हो और अधिक काम करने का इच्छुक हो। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षणों का आधारभूत दृष्टिकोण यही है। वेरोज़गारी से सबंधित आँकड़ो का अध्ययन नीचे किया जा रहा है।

ग्रामीण भारत मे वेरोजगारी के सरकारी अनुमानों के दो स्रोत है :— दशवर्षीय जनगणनाएँ तथा राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण (नेशनल सैम्पल सर्वेज N. S. S.)। १६५१ की जनगणना मे केवल तीन राज्यों के लिए वेरोज़गारी के आंकडे इकट्ठे किए गए। १६७१ की जनगणना मे वेरोज़गारो का कोई स्पष्ट वर्ग नही है। इसलिए १६६१ की जनगणना ही इस समस्या पर कुछ प्रकाश डालती है।

१९६१ की जन-गणना में दो निर्देश-अवधियाँ ली गई—बारहमासी कार्य के लिए निर्देश-अवधि १५ दिन रखी गई जबकि मौसमी कार्य के लिए कार्यशील मौसम (वर्किंग सीजन) निर्देश-काल रखा गया। यही कारण है कि १९६१ के बेरोज़गारी के आँकड़े अव-प्राक्कलित (अन्डर एस्टीमेटेड) हैं।

राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण (N. S. S.) ९वें चक्र (१९५५) से बेरोजगारी पर आँकड़े सग्रह करता रहा है। अन्तिम चक्र २५वें के आँकडे पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं। चौदहवें चक्र (१९५८–१९५९) से लेकर इक्कीसवे चक्र तक रा. सै. सर्व. की निर्देश-अवधि 'एक सप्ताह रही है। इनसे पहले चक्रो में यह अवधि एक दिन, एक वर्ष, एक सप्ताह भी रही है। इन सर्वेक्षणों में निम्न प्रकार के आँकडे एकत्र किये गये :–

(१) श्रम शक्ति (अर्जक-नियोजन, पूर्णतः बेरोज़गार, कुल)

(२) अर्जक (कमाऊ) नियोजित व्यक्तियों का समय-विन्यास

सारणी १२.४ ग्रामीण भारत में बेरोजगारी के अनुमान

वर्ष	अनुमानित श्रम शक्ति	रोजगार			बेरोजगारी		
		वर्ग	प्रतिशत	सख्या	वर्ग	प्रतिशत	सख्या
१९६१	१५.९० करोड	अर्जक		१५ १४	पूर्ण		०.७६ करोड़
		पूर्ण गम्भीर	५८.०२	८.७८	पूर्ण गम्भीर		०.७६ करोड़
		अल्प परिमित	२०.३२	३.०८	अल्प परिमित	५.५२	० ८४ ,,
		अल्प	२० ४४	३.०९	अल्प	४.०२	०.६१ ,,
					कुल		२.२१ करोड
१९७१	१९.८७ करोड	अर्जक		१९.०४	पूर्ण	४ १६	० ८३ करोड
					पूर्ण गम्भीर	४.१६	०.८३ करोड
					अल्प परिमित	५ ५४	१.१० ,,
					अल्प	३.४७	०.६९ ,,
					कुल	१३.१७	२.६२ ,,

नोट : १९६१ में दी गई प्रतिशतताएँ नियोजित श्रम की हैं जबकि १९७१ में दी गई प्रतिशतताएँ कुल श्रम शक्ति की हैं।

स्रोत : बेरोजगारी से सम्बन्धित कृषि विशेषज्ञों की समिति पर कार्यकारी वर्ग के नवम्बर १९७२ के प्रतिवेदन में एन. एस. एस. प्रतिवेदन १००, १५६, ११४ तथा १४० में उद्धृत।

(i) २८ घंटे या इससे कम काम करने वाले या गंभीर अल्पनियोजित
(ii) २६ घंटे से ४२ घंटे तक काम करने वाले अर्थात् परिमित नियोजित
(iii) ४२ या ४२ घंटों से अधिक काम करने वाले : पूर्ण रोज़गार

(३) अधिक काम के लिए लभ्य श्रम शक्ति · (i) गंभीर अल्पनियोजित तथा (ii) परिमित नियोजित कामगारों में से।

ये सब आंकड़े कुल जनसंख्या या कुल श्रम-शक्ति की प्रतिशतताओं में दिये गये हैं। सारणी १२.४ में ग्रामीण भारत में पूर्णतः बेरोजगार, गम्भीर अल्पनियोजित तथा परिमित नियोजित के अनुमान दिये गये हैं। १९६१ के अनुमानों के लिए चौदहवें, पंद्रहवें, सोलहवें तथा सत्रहवें चक्रों के आंकड़ों की औसत का प्रयोग किया गया है जबकि १९७१ के अनुमानों के लिए १७वें, १९वें तथा २१वें चक्रों से प्राप्त आंकड़ों की औसत ली गई है। बेरोजगार वे ही माने गये हैं जो अधिक काम करने के लिए इच्छुक हैं।

सारणी १२.४ में दिए गए आंकड़े ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी का न्यूनतम परिमाण हैं। १९६१ में १ करोड ९० लाख व्यक्ति पूर्ण बेरोज़गारी तथा गम्भीर अल्प बेरोज़गारी से पीड़ित थे जबकि १९७१ में इनकी संख्या १ करोड ९३ लाख थी। १९७१ में २ करोड़ ६२ लाख ग्रामीण व्यक्ति रोजगार के लिए लभ्य थे।

यदि बेरोज़गारी को तुल्य श्रम वर्षों में मापा जाए तो १९६१ में बेरोज़गारी को दूर करने के लिए १ करोड ५० लाख श्रम-वर्षों का कार्य उपलब्ध कराने की आवश्यकता थी। इसी प्रकार १९७१ में ग्रामीण क्षेत्रों में १.९८ करोड श्रम-वर्षों के तुल्य बेरोजगारी थी। ध्यान रहे कि यह परिमाण केवल उन लोगों तक सीमित है जो अधिक काम के लिए लभ्य हैं। बेरोजगारी का समग्र परिमाण बहुत अधिक है।

यदि सारा बेरोज़गार-श्रम अकुशल हो तो २.५० रु० प्रति श्रम दिन की मजदूरी के हिसाब से ३०० दिन (अर्थात् एक श्रम वर्ष कार्य) की मजदूरी ७५० रुपये होगी। इस प्रकार १.९८ करोड़ श्रम-वर्ष कार्य के लिए मजदूरी का कुल बिल लगभग १४.८५ करोड़ रुपये होगा। यदि बेरोज़गारों को न्यूनतम वाछित मजदूरी पर अर्जक काम प्रदान करने के लिए ऐसी परियोजनाओं को भी चालू किया जाए जिनका कम से कम ७५ प्रतिशत व्यय अकुशल-श्रम की मजदूरी पर हो, तो भी उपरोक्त परिमाण में कार्य प्रदान करने के लिए परियोजना-व्यय १९८० करोड़ रुपये वार्षिक होगा। यदि श्रम-दिन की मजदूरी ३ रु० हो तो यह परिव्यय २३७६ करोड़ रुपये वार्षिक होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि सब इच्छुक व्यक्तियों को अर्जक काम प्रदान करने के लिए अगले पाँच वर्षों में कम से कम १०,००० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे।

(ii) **प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय तथा रोज़गार-स्तर**—उपरोक्त धारणा पर आधारित अनुमानों की आलोचना करते हुए योजना आयोग द्वारा १९६८ में स्थापित विशेषज्ञ समिति ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में लिखा है—"........इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में सारे वर्ष के लिए पूर्ण या खुली बेरोज़गारी बहुत ही कम होती है परन्तु मौसमी बेरोज़गारी तथा अल्प रोज़गार बहुत अधिक है। अल्प रोजगार की विशालता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है परन्तु इसका श्रम-वर्षों को इकाइयों में मापन अनुपयुक्त है, क्योंकि अल्परोजगार वाले व्यक्तियों का

आयस्तर, उनके द्वारा इच्छित अतिरिक्त काम का स्वरूप तथा वे शर्तें जिन पर श्रम काम के लिए लभ्य है, भी समस्या के प्रासंगिक विषय हैं।"

इसी तर्क के आधार पर, डाडेकर तथा रँथ ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी इन इण्डिया' (इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, १९७१) मे 'बेरोजगारी के विस्तार' के विषय का विवेचन करते हुए लिखा है......"जैसे कि समिति का मत है यदि सारा वर्ष खुली बेरोजगारी की अपेक्षा अल्प रोजगार प्रधान विषय है और यदि इसके मापन मे अल्प-नियोजित व्यक्तियो की आय एक प्रासगिक पक्ष है तो उपभोक्ता-व्यय के आँकड़ो से देश में अल्प रोजगार के विस्तार का मापन किया जा सकता है।"

हम प्रथम अध्याय मे इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि ग्रामीण भारत मे ४० से ५० प्रतिशत जनसख्या 'निर्धनता-रेखा' से भी नीचे के स्तर पर निर्वाह कर रही है। इस पर टिप्पणी करते हुए डाडेकर तथा रँथ ने लिखा है 'कि इस स्थिति का इसके सिवाय और क्या कारण हो सकता है कि इस जनसख्या के श्रमजीवी सदस्य अल्प-नियोजित हैं'।

भारत सरकार द्वारा १९६२ मे स्थापित एक अध्ययन मडल ने यह सिफारिश की थी कि १९६०-६१ की कीमतो पर वाछनीय निम्नतम उपभोक्ता-व्यय २० रु० प्रति मास (अर्थात् २४० रुपये प्रति वर्ष) प्रति व्यक्ति होना चाहिए। १९६०-६१ मे लगभग २१ करोड़ लोग इस स्तर से कम स्तर पर निर्वाह कर रहे थे। इनमे से निर्धनतम १० प्रतिशत जनसख्या के बारे मे योजना आयोग (चतुर्थ पचवर्षीय योजना, १९६९-७४) का सुझाव है कि 'जनसख्या का यह अश (निर्धनतम दस प्रतिशत) अधिकाश दीनहीन, असमर्थ, पेंशन प्राप्त करने वालो तथा ऐसे अन्य व्यक्तियो से निर्मित है जो आर्थिक सक्रियता की धारा मे पूर्णत: भाग नही लेते। उनकी आय तथा उनके जीवन स्तरो मे अर्थव्यवस्था में सवृद्धि के फलस्वरूप कोई सुधार होने की प्रत्याशा नहीं है जबतक कि उन्हे कोई विशेष सहायता न दी जाए। शेष ९० प्रतिशत जनसख्या उत्पादन तथा रोज़गार मे सवृद्धि मे सीधे लाभान्वित होने की आशा कर सकती है।

डाडेकर तथा रँथ का तर्क है कि यदि निर्धनतम १० प्रतिशत जनसख्या को, जिन्हे योजना आयोग के सुझाव के अनुसार अतिरिक्त रोज़गार की बजाय सामाजिक सहायता की आवश्यकता है, छोड भी दिया जाए 'तो कम से कम ३० प्रतिशत ग्राम जनसख्या (जो निर्धनतम रेखा से कम स्तर पर रह रही है) की निर्धनता का कारण इसके श्रमजीवी सदस्यों के पास पर्याप्त रोजगार का अभाव है'। उनका कहना है कि "प्रति व्यक्ति उपभोक्ता-व्यय के न्यूनतम वाछनीय स्तर के राष्ट्रीय प्रतिमान की स्वीकृति स्वत ही हमे आय के रूप मे रोजगार के पर्याप्त स्तर के राष्ट्रीय प्रतिमान को प्रदान करती है'।

'यदि यह मान लिया जाए कि इस ३० प्रतिशत जनसंख्या के निम्न स्तर का कारण पर्याप्त रोजगार का अभाव है' तो प्रश्न उठता है कि 'इस जनसख्या को न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त कराने के लिए कितना अतिरिक्त रोजगार प्रदान करना पडेगा।' सक्षेप मे वह राशि जिसके मूल्य का अतिरिक्त रोजगार प्रदान करना पडेगा, ताकि ग्रामीण जनसख्या (निर्धनतम १० प्रतिशत को छोड़कर) न्यूनतम वाछनीय स्तर प्राप्त कर सके, अल्प-रोजगार (या अल्प बेरोजगारी) का माप है।

डांडेकर तथा रॅथ ने इस जनसंख्या को न्यूनतम निर्वाह प्रदान करने के लिए अतिरिक्त रोज़गार के रूप मे उनमे अल्प बेरोजगारी के विस्तार का प्राक्कलन किया है। उनका अनुमान इस धारणा पर आधारित है कि ग्रामीण भारत मे १९६०-६१ की कीमतों पर न्यूनतम वाछनीय प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय का राष्ट्रीय स्तर १८० रुपये प्रति वर्ष होना चाहिये। १९६८-६९ की कीमतों पर प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोक्ता-व्यय ३२४ रुपये होना चाहिए। डाडेकर तथा रॅथ के अनुसार निर्धनतम १० प्रतिशत जनसख्या को छोड़ कर अगली ३० प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या (१२.८५ करोड़) का १९६८-६९ मे औसत वार्षिक उपभोक्ता व्यय २६० रु० था। इसलिए इस जनसख्या के लिए औसत व्यय को ३२४ रु० के न्यूनतम व्यय तक लाने के लिए ६४ रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की अतिरिक्त आय की व्यवस्था करनी पड़ेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि इस जनसख्या को निम्नतम वाछनीय स्तर तक पहुँचाने के लिए (१२.८५×६४) अर्थात् ८२२.४ करोड़ रुपये के तुल्य का अतिरिक्त रोजगार प्रदान करना पड़ेगा और यही १९६८-६९ मे (अर्थात् चौथी योजना के आरम्भ में) व्याप्त ग्रामीण बेरोजगारी तथा अल्प बेरोजगारी की माप है। सक्षेप मे लगभग ८०० करोड़ रुपये के तुल्य अतिरिक्त रोज़गार के निर्माण करने की आवश्यकता होगी।

योजना आयोग ने (१९६०-६१ कीमतों पर) २४० रु० प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष न्यूनतम वाछनीय उपभोक्ता-व्यय की सिफारिश की थी। बी. एस. मिन्हस ने अपने एक अध्ययन मे २०० रुपये प्रति वर्ष को 'निर्धनता रेखा' माना है। यद्यपि ये सिफारिशें स्वेच्छ (अर्थात् मनमर्जी की) हैं परन्तु इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि डाडेकर-रॅथ का अनुमान अव-प्राक्कलित दिखाई देता है। उपरोक्त स्तरों के आधार पर डाडेकर-रॅथ के अध्ययन के सदर्भ मे सशोधित अनुमान सारणी १२.५ मे दिए गए हैं -

सारणी १२.५ न्यूनतम वाछनीय उपभोक्ता स्तर प्रदान करने हेतु अतिरिक्त आवश्यक राशि (३० प्रतिशत ग्रामीण जनसख्या) (१९६८–१९६९)

(१९६८-६९ की कीमतों पर)

क्रमांक	प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय स्तर		प्रति व्यक्ति अभीष्ट राशि	निर्धन जनसख्या	कुल अभीष्ट राशि
	औसत	न्यूनतम वाछनीय			
१	२६० रुपये	* ३२४	६४	१२.८५ करोड़	८२२.४ करोड़ रु०
२	२६० रुपये	३६०	१००	१२.८५ करोड़	१२८५.० ,,
	२६० रुपये	३९६	१३६	१२.८५ करोड़	१७४७.६ ,,
४	२६० रुपये	४३२	१७२	१२.८५ करोड	२२१०.२ ,,

* १. डाडेकर-रॅथ अनुमान

२. १९६०-६१ कीमतो पर वाछनीय स्तर क्रमश १८० रु०, २०० रु०, २२० रु., २४० रु० प्रतिवर्ष है।

सारणी १२.५ मे यदि प्रथम (डांडेकर-रॅथ) अनुमान अव-प्राक्कलित (अन्डर एस्टीमेटेड) माना जाएँ तथा अंतिम अनुमान अधि-प्राक्कलित हो तो दूसरे व तीसरे अनुमान उपयुक्त दिखाई देते हैं क्योंकि ये अनुमान रा० सॅ० सर्वेक्षण के बेरोजगारी के अनुमानो से मेल खाते

हैं। हम पुनः उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोगों की अल्प बेरोज़गारी और बेरोज़गारों की समस्या के समाधान हेतु प्रतिवर्ष कम से कम २००० करोड़ रुपये के तुल्य अतिरिक्त रोज़गार का निर्माण करना पड़ेगा। बेरोज़गारी की परिभाषा कुछ भी हो, **समस्या की गम्भीरता में कोई अन्तर नहीं आता।**

१२.७ रोजगार-नीति

श्रम-शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ उसके अनुरूप रोज़गार अवसरों का द्रुत विस्तार हमारी नीति का तात्कालिक ध्येय होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए हमें उन समस्याओं का समाधान करना होगा जो रोज़गार-संवृद्धि को प्रभावित करते हैं। वे तत्त्व हैं : जनसंख्या सवृद्धि दर तथा भाग-ग्रहण-दर, निवेश दर तथा तकनीकी परिवर्तन।

जहाँ तक श्रम-शक्ति के संदर्भ में जनसंख्या की सवृद्धि-दर को कम करने का प्रश्न है, इससे अगले १५–२० वर्षों में श्रम-शक्ति के प्रवेश दर पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। १५–२० वर्षों में श्रम-शक्ति मे प्रवेश लेने वाले लोगों का जन्म हो चुका है। इसलिए इस दिशा में किये गये प्रयासों का १५–२० वर्ष के बाद ही कोई प्रभाव होगा। जहाँ तक प्रवेश-दर को कम करने का प्रश्न है, वर्तमान परिस्थितियाँ इसके विपरीत हैं। स्त्री शिक्षा का प्रसार, भारी मँहगाई, उपभोग के उच्च स्तरों की प्रत्याशा, संयुक्त परिवार-प्रथा का खंडन आदि कारक प्रवेश दर को बढ़ाते हैं। हाँ, जहाँ तक हो सके बच्चों को श्रम-शक्ति से बाहर रखना चाहिए। यही कारण है कि रा० सैम्पल सर्वे के अनुमानों में श्रम-शक्ति १५–५६ वर्ष आयु वर्गों से निर्मित है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्रम-शक्ति के प्रवेश-दर को बहुत कम प्रभावित किया जा सकता है।

इसलिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि निवेश-सवृद्धि दर को अधिक से अधिक बढ़ाया जाए। साथ ही रोज़गार सवृद्धि-दर को बढ़ाने के लिए तकनीकी परिवर्तन के स्वरूप तथा दर को भी प्रभावित करना होगा। बेरोज़गारी के वर्तमान उच्च स्तरों पर लादी गई तेजी से बढ़ रही श्रम-शक्ति की तात्कालिक समस्या को हल करने के लिए आर्थिक विकास, विदेशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नवीन दृष्टिकोणों को अपनाने की जरूरत है। पुराने दृष्टिकोण अपर्याप्त हैं। पिछले कुछ वर्षों में अल्पविकसित देशों में औद्योगिक रोजगार में वृद्धि की दर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर से आधी रही है। फलस्वरूप आय-सवृद्धि-दर अपर्याप्त रही है और इसका लाभ भी चंद पूँजीपतियों तथा अधिक वेतन वाले पदों पर काम करने वाले थोड़े-से व्यक्तियों को रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि अधिक रोजगार प्रदान किया जाए और आय का व्यापक वितरण हो। इस उद्देश्य के लिए एक विशाल कार्य-गारन्टी विषयक कार्यक्रम की रचना इस प्रकार से करनी होगी जिससे स्थायी उत्पादक-परिसम्पत्ति का निर्माण हो सके।

ध्यान रहे कि विनिर्माण तथा सेवा-उद्योग ही विस्तारित रोज़गार के मुख्य अन्तिम स्रोत होने चाहिए। कृषकों की तेजी से बढ़ती हुई आय के फलस्वरूप औद्योगिक उपभोक्ता-पदार्थों की माँग बढ़ेगी और इन उद्योगों में निवेश हेतु अधिक बचतों से औद्योगिक रोज़गार में त्वरित सवृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा। लघु उद्योगों का तेज़ विस्तार रोज़गार में वृद्धि का एक

अत्यधिक प्रभावी साधन है। सिलाई मशीनें, साइकिलें, ट्राजिस्टर रेडियो, कृषि यन्त्र तथा अन्य छोटे औज़ार पूर्णतः या अंशतः लघु उद्योगो मे निर्मित किये जा सकते है। लघु उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा प्रति इकाई पूंजी अधिक नौकरियाँ प्रदान करते है। इसके अतिरिक्त कृषि-क्षेत्रक मे सगठित पूंजी बाजार तथा निवेश प्रधान कीमत तथा राजकोषीय नीतियों की अनुपस्थिति मे, लघु उद्योग कृषि-क्षेत्रक मे छोटी बचतो को जुटाने की दक्ष विधि प्रस्तुत करते है।

परन्तु जबतक औद्योगिक आधार सुदृढ नही हो जाता और बड़े व लघु उद्योगो का पूर्ण विकास नही हो जाता उस समय तक ग्रामीण क्षेत्रों में मानव शक्ति-ससाधनों का उपयोग कृषि-विकास के कार्यक्रमों, सडक विकास-परियोजनाओं, गृह-निर्माण तथा ग्राम सुविधाओ को प्रदान करने हेतु कार्यक्रमो मे करना पड़ेगा। जबतक लाखों परिवार कृषि-विकास-कार्यक्रमो मे भाग लेकर सतत प्रयास नही करते, कृषि-उत्पादन में वृद्धि को तेज कर पाना कठिन है।

अल्प रोजगार की समस्या के स्थायी समाधान के लिए जहाँ वैज्ञानिक कृषि को व्यापक रूप मे अपनाने की आवश्यकता है वहाँ ग्राम्य आर्थिक सरचना को सुदृढ़ करने तथा इसके विविधीकरण की भी जरूरत है। कुटीर तथा लघु उद्योगो का विकास, गाँवों की अर्थव्यवस्था को नगरीय केन्द्रों से सम्बद्ध करना, परिष्करण उद्योगो की सहकारी आधार पर स्थापना, ग्रामीण क्षेत्रो में नये उद्योगो को चालू करना कुछ ऐसे कार्यक्रम हैं जिन्हे तेज करने की आवश्यकता है। ग्राम-विद्युतीकरण के विस्तार से इन्हें बढावा मिलेगा।

जहाँ एक ओर इस प्रकार से ग्रामीण अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जाए, वहाँ दूसरी ओर सब ग्रामीण क्षेत्रो मे व्यापक तथा विस्तृत निर्माण कार्य शुरू करने की जरूरत है। ग्राम-निर्माण कार्य का व्यापक कार्यक्रम अतिरिक्त रोजगार अवसर प्रदान करने के लिए ही महत्त्वपूर्ण नही, बल्कि देश के तेज आर्थिक विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे उपलब्ध बृहद् मानवशक्ति का उपयोग करने के लिए भी एक जरूरी साधन है।

कृषि-संवृद्धि की द्रुत दर के संदर्भ में ग्राम लोक निर्माण-कार्यक्रम रोजगार-विस्तार की उत्तम सभावनाएँ प्रस्तुत करते है। श्रम प्रधान लोक-निर्माण कार्यों पर प्रतिफल-दर काफी अधिक होनी है और ये देश के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकते है।

देश के अनेक भागो मे, व्यस्त कृषि मौसमों मे प्राय श्रम का अभाव अनुभव किया जाता है परन्तु वर्ष के अधिकाश भाग मे कृषि-श्रमिकों तथा सम्बद्ध कार्यों मे लगे हुए व्यक्तियों को बहुत बड़ी सख्या के पास अविराम काम नही होता। अत ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोज़गारी तथा अल्परोजगारी साथ-साथ विद्यमान हैं और उनके बीच अतर रेखा खीचना कठिन है। यह भी ध्यान रहे कि बेरोजगारी की समस्या उन क्षेत्रो मे अधिक विकट है जहाँ जनसख्या का दबाव बहुत अधिक है और जहाँ स्थानीय ससाधनों के अल्प विकास के कारण उत्पादिता-स्तर न्यून है। इसके अतिरिक्त भारत मे कृपक-कृषि-अर्थव्यवस्था चालू है और कृपक द्वारा स्वनियोजन को महत्त्व देना उसकी गतिशीलता को कुप्रभावित करता है। वे काम के लिए गाँव को छोड़ना पसन्द नहीं करेंगे जबतक कि उनकी परिस्थितियाँ उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य न करदे। उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

(१) सर्वप्रथम रोजगार उन अल्पविकसित क्षेत्रो मे प्रदान करना होगा जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक है।

(२) रोज़गार उस समय सुलभ कराना होगा जिस समय कृपकों के पास करने को कोई काम न हो अर्थात् कृपको को कार्याभाव- (मन्दी) अवधि के लिए रोज़गार की ज़रूरत होती है।

(३) जहाँ तक सम्भव हो रोज़गार गाँव मे या गाँव के समीप दिया जाना चाहिए।

उपरोक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि अल्पविकसित क्षेत्रों मे ग्राम्य निर्माण कार्य रोज़गार के उत्तम अवसर प्रदान करते हैं। जहाँ एक ओर ये अल्प रोज़गार की समस्या का प्रभावी ढंग से समाधान कर सकते हैं, वहाँ वे स्थानीय संसाधनो को विकसित कर समग्र समुदाय के लिए उत्पादक परिसम्पत्ति का निर्माण कर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कायाकल्प कर सकते हैं।

एक ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम ग्राम-रोजगार के अवसर भी प्रदान कर सकते हैं और अधिक कृषि-उत्पादन के लिए उन्नत सुविधाओं का भी निर्माण कर सकते हैं। लघु सिंचाई, सिंचाई हेतु क्षेत्र-नालियाँ, भू-सरक्षण, भूमि-समतलन, जल निकास प्रणालियाँ, बाढ़-निरोध, ताल-निर्माण, सड़क-परियोजनाएँ, मडियो का विकास आदि कार्यक्रमो का प्रतिफल काफी अधिक होता है और वे फसल के स्थिर उत्पादन को सुनिश्चित करते हैं। ऐसा अनुमान है कि एक साधारण कच्ची सडक के निर्माण से परिवहन-लागतो मे ७० से ८० प्रतिशत तक कमी हो जाती है। ग्राम्य निर्माण-कार्य-परियोजनाएँ अपनी लागत को चन्द वर्षों मे ही पूरा नही कर लेंगी बल्कि बेरोजगार व्यक्तियों को बहुत-सा रोजगार भी मिलेगा।

इससे पूर्व कि हम उद्देश्य हेतु निर्मित विभिन्न कार्यक्रमो की प्रगति का अध्ययन करें, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कृषि मे प्रत्येक अल्पनियोजित व्यक्ति को निर्माण-कार्यक्रमो मे रोजगार देने की आवश्यकता नही। केवल उन्ही लोगो को पूर्ण रोजगार देने की आवश्यकता है जिनके जाने से शेष को पर्याप्त काम मिल जाएगा। यदि २० प्रतिशत गम्भीर अल्पबेरोज़गार व्यक्तियो को पूरे समय का रोजगार दिया जा सके तो शेष लोगो की बेरोज़गारी स्वत. समाप्त हो जाएगी।

१२.८ पंचवर्षीय योजनाएँ तथा रोजगार

(क) अल्पविकसित जनाधिक्य वाले देशो में रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करना आर्थिक आयोजन का प्रमुख उद्देश्य माना गया है। पहली योजना के अंतिम प्रतिवेदन मे योजना आयोग ने बेरोज़गारी की समस्या का उल्लेख करते हुए लिखा है 'ऐसे कृषि-कामगारो की बृहत् सख्या की विद्यमानता जिनके पास धारित व स्थिर रोजगार का अभाव है और जो प्राय. सामाजिक असुविधाओ से पीडित है वर्तमान कृषिक व्यवस्था मे गम्भीर कमज़ोरी तथा अस्थिरता का कारण है।'

बेरोज़गारी देश मे व्याप्त निर्धनता की ही जड नही है बल्कि आर्थिक विषमता का भी मूल कारण है जिससे अनेक गम्भीर राजनीतिक एव सामाजिक समस्याएँ उठ खडी होती हैं। इसलिए किसी भी देश के आर्थिक विकास हेतु रचित व्यूहरचना मे इस समस्या की उपेक्षा

नहीं की जा सकती। दूसरी योजना के मसौदे में लक्ष्यों पर प्रकाश डालते हुए योजना आयोग ने लिखा है :

"विकास का क्रम और आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे न केवल राष्ट्रीय आय और रोज़गार के अवसरों मे काफी बढ़ोतरी हो बल्कि विभिन्न वर्गों की आय में समानता आए और किसी वर्ग विशेष के पास धन इकट्ठा न हो……… आर्थिक विकास का लाभ समाज के कमज़ोर वर्गो को अधिकाधिक पहुंचे और आय, धन और आर्थिक शक्ति कुछ ही लोगो के हाथ मे न रह कर, समाज के बडे भाग के हाथ मे हो।"

सम्पत्ति, आय और आर्थिक शक्ति को कुछ ही हाथों मे केन्द्रित होने से रोकना और इसे अधिक से अधिक लोगो में वितरित करना तथा रोज़गार और शिक्षा की बेहतर व्यवस्था के द्वारा सामान्य लोगो और कमज़ोर वर्गों की दशा में सुधार करना—सामाजिक न्याय और समानता के दो मुख्य पहलू हैं।

जहां तक सम्पत्ति, आय और आर्थिक शक्ति को कुछ ही हाथों मे केन्द्रित होने से रोकने तथा इसके सम्यक् वितरण का प्रश्न है—दो प्रकार की नीतियां अपनाई जा सकती है। *प्रथम यह कि उत्पादन के साधनो का सम्यक् वितरण किया जाए अर्थात्* उन सब लोगो में, जो अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है, कृषि-भूमि का सम्यक् वितरण किया जाए तथा अर्थव्यवस्था मे वर्तमान उत्पादन-सरचना के उपयुक्त टैक्नॉलोजी को अपनाया जाए। *दूसरी नीति यह है कि उत्पादन के साधनो का सम्यक् वितरण किए बिना आय का सम्यक् वितरण किया जाए।*

अधिक रोजगार प्रदान करने के सदर्भ मे यह कहना उचित होगा कि पहली दो योजनाओं मे *प्रथम वर्ग की नीतियो को कार्यान्वित करने पर अधिक बल दिया गया है* और आय के सम्यक् वितरण की ओर उचित ध्यान नही दिया गया। इन योजनाओ में रोजगार अवसर देने हेतु जो नीतिया अपनाई गई हैं, उनमे भूमि-सुधार, भूमि की अधिकतम *सीमा का निर्धारण तथा फालतू भूमि का भूमिहीनो मे वितरण, पारपरिक ग्रामोद्योगो को* प्रोत्साहन तथा उनके उपयुक्त टैक्नॉलोजी का आविष्कार तथा उपयोग मुख्य हैं।

जहां तक उपलब्ध भूमि के भूमिहीन तथा निर्धन वर्गो मे वितरण का प्रश्न है, हम पिछले *अध्याय मे इसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। पिछले अनुभव के आधार* पर और हमारे अध्ययन के परिप्रेक्ष्य मे यह कहा जा सकता है कि इस नीति से उन लोगों का कोई विशेष भला होने वाला नही है और इन नीतियों के कार्यान्वियन मे बडे परिवर्तन करने की *आवश्यकता है। वास्तव मे इससे निर्धनता की यह विशाल समस्या हल नही हो सकती।* दूसरी ओर इस नीति से कृषि मे हाल की प्रौद्योगिकीय प्रगति के फलस्वरूप होने वाले कृषि-विकास को धक्का पहुंचेगा। यह नीति समस्या का आशिक रूप मे हल सिद्ध हो सकती यदि वितरण से उन लोगो को लाभ पहुंचाया जा सके जिनकी जोते अतिरिक्त भूमि मिलने पर आर्थिक हो सकेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधनों का वितरण उत्पादक-प्रकृति का होना चाहिये।

इसी प्रकार पहली तथा दूसरी योजना मे ग्रामोद्योगो द्वारा रोज़गार की उच्च सभावनाओ के महत्त्व को स्वीकार किया गया और समस्या के समाधान हेतु इन पर यथोचित ध्यान

दिया गया। परन्तु अनुभव से यह पता चलता है कि बेरोजगारी की समस्या इतनी विशाल है कि केवलमात्र इन उपायो द्वारा उसे हल नही किया जा सकता। इसलिए इस समस्या के समाधान हेतु हमारी नीति आय के सम्यक् वितरण पर आधारित होनी चाहिए। **इसके लिए यह जरूरी है कि उन सब साधन रहित लोगों को जो एक न्यूनतम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हैं, अर्जक रोजगार की गांरटी प्रदान की जाए।**

(ख) तीसरी योजना मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया कि बड़े तथा छोटे उद्योगों, *कृषि तथा आर्थिक व सामाजिक सेवाओ के विकास के कार्यक्रमो के साथ-साथ ग्राम्य* निर्माण कार्य का भी बडे पैमाने का कार्यक्रम चलाया जाएगा। ग्राम्य निर्माण-कार्यक्रम को विशेषकर घने आबाद क्षेत्रों मे अल्परोज़गार वाली अवधि के लिए उन कृषि-ऋतुओं मे चलाया जाएगा जबकि काम की कमी होती हैं।

योजना के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो के लिए निर्माण कार्यक्रम निम्न वर्गों के कार्यों से रचित होना था :

(१) वे परियोजनाएँ जो राज्यो तथा स्थानीय सस्थाओ की योजनाओ मे सम्मिलित की गई हैं और जिनमे अकुशल तथा अर्द्धकुशल श्रम का उपयोग होगा।

(२) *कानून के अतर्गत समुदाय अथवा फायदा पाने वालो द्वारा शुरू किए जाने वाले कार्य।*

(३) वे विकास कार्य जिनमे स्थानीय लोग श्रम दान देंगे जबकि कुछ सहायता सरकार द्वारा दी जाएगी।

(४) वे योजनाएँ जो ग्राम-समाज की लाभकारी परिसम्पत्ति के निर्माण मे सहायक हैं।

(५) अधिक बेरोजगारी से प्रभावित क्षेत्रो में सगठित की जाने वाली अनुपूरक कार्य-योजनाएँ।

जहाँ तक वर्ग २, ३, ४ मे उल्लिखित कार्य-योजनाओ का सम्बन्ध है, वे ग्रामीण क्षेत्रो मे विकास *की सामान्य योजनाओ का भाग हैं और सीमित मजदूरी रोज़गार प्रदान करते* हैं। इसलिए बडे पैमाने पर मजदूरी रोज़गार वर्ग १ तथा वर्ग ५ के अन्तर्गत आने वाले कार्यों द्वारा प्राप्त होगा।

अत. ग्रामीण कार्यों की अतिरिक्त योजना के लिए दो प्रकार के मुख्य वर्ग हैं जिनमें अकुशल तथा अर्द्ध कुशल श्रम का उपयोग किया जा सकता है

(i) *खड तथा गाँव के स्तर पर स्थानीय कार्य तथा*

(ii) वे बड़े कार्य जिनमे विभागो द्वारा तकनीकी निरीक्षण तथा आयोजन की आवश्यकता है।

इन योजनाओ मे अधिक बल इस पर दिया जाना था कि कार्य ऐसे हो जिनमे अधिक से अधिक लोगो को काम मिल सके जैसे सडक-निर्माण, लघु सिंचाई-योजनाएँ, भूमि-सरक्षण, ग्राम्य गृह निर्माण, ग्रामोद्योग व लघु उद्योग आदि।

इस बात का सुझाव भी दिया गया कि ब्लाक स्तर पर इन निर्माण कार्यों के लिए *निर्माण-संगठन तथा श्रमिक सहकारिताएँ गठित की जाएँ। ये सगठन-सस्थाएँ यन्त्रों का* भडार कर सकती हैं, ठेका ले सकती हैं, आवश्यक तकनीकी तथा प्रशासनिक सहायता प्राप्त

कर सकती हैं; प्रशिक्षित तथा कुशल कामगारों को संगठित कर सकती हैं तथा जिला अधिकारियो, पचायत समितियो तथा अन्य के सहयोग मे काम कर सकती हैं।

यह भी निश्चय किया गया कि इन विकास कार्यों मे लगने वाले कामगारो को उचित मजदूरी मिलेगी।

निर्माण कार्यों के गठन का अनुभव प्राप्त करने के लिए ३४ प्रायोगिक परियोजनाएँ (पाइलट प्रोजेक्ट) चालू की गईं। इनके अनुभव के आधार पर कार्यक्रम को बड़े पैमाने पर लागू करने का विचार था। आशा थी कि पहले वर्ष एक लाख व्यक्तियों को इन कार्यों से रोज़गार मिलेगा। दूसरे वर्ष मे ४ लाख व्यक्तियो को, तीसरे वर्ष मे १० लाख व्यक्तियो को तथा अन्तिम वर्ष मे २५ लाख व्यक्तियों को इन निर्माण-कार्यों में रोजगार दिया जा सकेगा। सारे कार्यक्रम पर १५० करोड़ रुपये परिव्यय का अनुमान था। परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण प्रत्याशित प्रयास न किये जा सके। ग्राम्य निर्माण-कार्यों के लिए १५० करोड़ रुपये के स्थान पर केवल १९ करोड़ रुपये ही उपलब्ध किए जा सके। योजना के अन्तिम वर्ष मे केवल ४ लाख व्यक्तियो के लिए वर्ष में १०० दिन के लिए काम दिया जा सका। १९६७-६८ तथा १९६८-६९ की वार्षिक योजनाओ मे इन कार्यों पर ११ करोड़ रुपये का व्यय किया गया। इन योजनाओ के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि कार्यक्रम विशाल ससाधनो तथा प्रयासो की माँग करता है। कार्यक्रम को ठोस आधार पर सुदृढ़ तथा पुनर्गठित करने की आवश्यकता है।

(ग) **चौथी योजना तथा ग्राम्य निर्माण-कार्य**—पहली योजना के प्रारम्भ मे बेरोज़गारों की कुल सख्या का अनुमान ३३ लाख था। पहली तीन योजनाओ के दौरान श्रम शक्ति मे ३ करोड ८० लाख व्यक्तियो की वृद्धि हुई जबकि नौकरियों की सख्या मे ३ करोड़ १५ लाख (२ करोड़ २५ लाख कृषीतर-क्षेत्रक में तथा ९० लाख कृषि क्षेत्रक मे) की वृद्धि हुई। इस प्रकार तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्त मे बेरोजगारों की सख्या ९८ लाख थी। चौथी योजना में श्रम-शक्ति मे २ करोड़ ३० लाख की वृद्धि होने का अनुमान है जबकि १ करोड़ ९० लाख अतिरिक्त नौकरियों के उत्पन्न होने की सभावना है। अतः १९७३-७४ के अन्त मे बेरोज़गार लोगो की संख्या लगभग १ करोड़ ३८ लाख हो जाएगी। इस प्रकार चौथी योजना की अवधि मे श्रम-शक्ति मे नेट वृद्धि तथा सभावित उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त रोज़गार मे ४० लाख का अन्तर था। "यदि रोज़गार मे इस प्रत्याशित अन्तर को ग्राम्य निर्माण-कार्यक्रम द्वारा पाटा जाना था तो कार्यक्रम इतना बड़ा अवश्य होना चाहिए जो ४० लाख व्यक्तियो को कम काम वाले कृषि मौसमो मे काम प्रदान कर सके"।

इस उद्देश्य के लिए कार्यक्रम को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा ठोस आधार पर चलाने के लिए चौथी योजना के मसौदे मे ये सुझाव दिए गए:

(१) ग्राम निर्माण-कार्यों के लिए क्षेत्र चुनते समय प्राथमिकता उन क्षेत्रों को दी जानी चाहिए जो अल्पविकसित हो और जहाँ काफी बेरोज़गारी हो—अर्थात् जहाँ मद सवृद्धि और जनसख्या के अत्यधिक दबाव के कारण कृषि तथा ग्राम-विकास को तेज़ करने हेतु उपलब्ध मानवशक्ति को उपयोग करने का विस्तृत क्षेत्र विद्यमान हो।

(२) यद्यपि ग्राम निर्माण कार्यक्रम एक प्रकार का अनुपूरक कार्यक्रम है परन्तु वास्त-

विक कार्यान्वयन में इसे जिला व खड स्तर के विकास कार्यक्रम के साथ एकीकृत किया जाना चाहिए। कार्यों का चुनाव करते समय स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाए। उद्देश्य यह होना चाहिए कि जहाँ तक हो सके फालतू मानव-शक्ति का उपयोग स्थानीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए किया जाए। अभावग्रस्त क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

(३) चुनिन्दा क्षेत्रों मे, निर्माण-कार्यक्रम उत्पादक-प्रकृति के छोटे कार्यों से निर्मित होना चाहिए। लघु सिंचाई, भू-सरक्षण, वन-रोपण, ग्रामीण सड़को आदि कार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाए।

(४) ग्रामीण युवकों के निर्माण हेतु नवीन कौशल का प्रशिक्षण दिया जाए और श्रम-सहकारिताओं के गठन को ग्राम निर्माण-कार्य के साथ सम्बद्ध किया जाए।

(५) क्योंकि इस कार्यक्रम मे होने वाले छोटे-छोटे निर्माण कार्य अनेक गाँवो में फैले होगे। इसलिए कार्यक्रम की सफलता इस बात पर निर्भर है कि इसका कार्यान्वयन कितनी दक्षता तथा तीव्रता से होता है। इस हेतु पर्याप्त सगठन का निर्माण करना होगा। विभिन्न गाँवो तथा खण्डो मे चलने वाले कार्यों के सचालन का उत्तरदायित्व जिला स्तर पर होना चाहिए।

कार्यक्रम के लिए केवल ६५ करोड़ रुपये के परिव्यय की व्यवस्था की गई। क्योंकि रोजगार सम्बन्धी इन कार्यक्रमों को कृषि-विकास के समग्र कार्यक्रम का ही एक भाग मान लिया गया, इसलिए ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम के लिए काफी राशि विकास की अन्य स्वीकृत मदों से प्राप्य है। अब इस सम्बन्ध मे संचालित कुछ विशेष कार्यक्रमों का विवरण दिया जा रहा है।

(१) **सूखाग्रस्त क्षेत्र-कार्यक्रम** (ड्राउट प्रोन एरियाज प्रोग्राम : D. A. P. A.)—यह कार्यक्रम इस समय ५४ जिलो मे चालू है। इसका मुख्य उद्देश्य उन शुष्क क्षेत्रो मे जहाँ ससाधनो का अभाव है ग्रामीण लोगो को रोजगार प्रदान करना और साथ ही ऐसी उत्पादक परिसम्पत्ति का निर्माण करना है जिससे अनावृष्टि (सूखा) के प्रभावो का हरण किया जा सके। इस कार्यक्रम को निरोधक तथा उपचारक दोनो रूपो मे कार्य करना था। उपचारक इसलिए कि अभाव-ग्रस्त क्षेत्रो मे राहत कार्यों के लिए पहले ही आयोजन किया जाएगा तथा निरोधक इस रूप मे कि भूमि तथा श्रम की उत्पादिता मे वृद्धि हेतु किये गये विकास-कार्य अततः अभाव को हरने मे योग देंगे। आरम्भ मे बल श्रमप्रधान स्थायी सिविल कार्यों के निर्माण पर था। कार्यक्रमो की मास्टर योजनाएँ राज्यो द्वारा इस आधार पर बनाई जानी थी जिन्हें भावी अभाव की अवधियों मे क्षेत्रो के सामान्य विकास के कार्यक्रमो में सम्मिलित किया जा सके। कार्यक्रम के कार्यान्वयन मे सबसे बड़ी रुकावट ससाधन-विभवो के बारे मे आधारभूत विस्तृत सूचना का अभाव है। हाल ही मे एक नया कार्यक्रम ग्राम्य इजीनियरिंग सर्वेक्षण चालू किया गया है जो समवतः ससाधन-स्थिति पर प्रकाश डाल सकेगा।

यह अनुभव किया जा रहा है कि सूखे की समस्या का दीर्घकालिक आधार पर समाधान करना होगा। अल्पकालीन उपाय समस्या का स्थायी हल नहीं हैं। योजना की रचना जिला या खड के स्तर पर क्षेत्र की आवश्यकताओं के सदर्भ मे की जानी चाहिए, न कि राज्य के

स्तर पर। इस विषय का विश्लेषण हम आगे चल कर करेंगे।

(ii) **ग्रामीण रोज़गार का त्वरित कार्यक्रम (क्रैश स्कीम फार रुरल एम्प्लायमेंट : C. S. R. E.)**—अभी तक किसी ऐसी योजना की रचना नहीं हुई थी जिससे सारे देश में ग्रामीण रोजगार पर थोड़ा-सा प्रभाव भी डाला जा सके। इस कमी को ध्यान में रखते हुए १९७१–७२ में ग्रामीण रोज़गार से सम्बन्धित एक त्वरित (क्रैश) कार्यक्रम का श्रीगणेश किया गया। इस योजना का मुख्य ध्येय प्रत्येक खंड में १०० व्यक्तियों के लिए या प्रत्येक ज़िले में १००० व्यक्तियों के लिए सारे वर्ष के लिए निर्माण-कार्यों पर रोज़गार प्रदान करना था। इस प्रकार प्रत्येक ज़िले में प्रतिवर्ष २.५ लाख श्रम दिन (१००० व्यक्तियों के लिए २५० श्रम-दिन) के कार्य का निर्माण करना था। उद्देश्य यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को निम्नतम जीवन-स्तर पर निर्वाह करने के लिए ऐसा रोज़गार दिया जाए जिससे उसे एक सौ रुपये मासिक आय प्राप्त हो सके।

योजना का एक अन्य लक्ष्य स्थानीय विकास योजनाओं के सामंजस्य में स्थायी प्रकृति की परिसम्पत्ति का निर्माण करना था ताकि श्रम-प्रधान परियोजनाओं द्वारा ज़िले के समग्र विकास में सहायता दी जा सके। ये परियोजनाएँ सड़क-निर्माण, भू-विकास, लघु सिंचाई, वनरोपण, स्कूल इमारतों में अतिरिक्त कमरों के निर्माण से सम्बन्धित हो सकती हैं। स्कीम के निर्देशों में यह बताया गया है कि त्वरित ग्रामीण निर्माण कार्य ज़िले में उन स्थानों पर चालू किए जाएँगे (i) जहाँ लघु कृषक विकास एजेंसी, सीमांत कृषक तथा कृषि-श्रमिक एजेंसी, सूखा प्रभावित लघु जोतदार स्कीम आदि कोई विशेष कार्यक्रम लागू न हो, (ii) जहाँ भूमिहीन श्रम की प्रतिशतता तथा बेरोजगारी का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हो तथा (iii) जो अपेक्षाकृत कम विकसित हों। योजना में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जहाँ एक ओर ग्रामीण लोगों के लिए रोज़गार उत्पन्न करने की जरूरत है वहाँ दूसरी ओर इस बात को सुनिश्चित करने की भी आवश्यकता है कि उनके श्रम का फल टिकाऊ हो और ज़िलों के विकास में सहायक भी हो।

१९७१–७२ में इस योजना पर ५० करोड़ रुपये के व्यय होने का अनुमान था परन्तु केवल ३२.३७ करोड़ रुपये व्यय हुए। अनुमान है कि कार्यक्रम में ८ करोड़ २० लाख श्रम दिनों के रोज़गार का निर्माण किया गया। स्कीम को चौथी योजना में सम्मिलित कर लिया गया है और योजना के अन्तिम दो वर्षों के व्यय की पूर्ति के लिए १०० करोड़ रुपये के परिव्यय की व्यवस्था की गई है।

स्कीम की सफलता या असफलता पर स्पष्ट रूप में कुछ कहना अभी संभव नहीं है। ग्रामीण रोज़गार त्वरित योजना के अधीन १५ चुने हुए खण्डों में एक प्रायोगिक सघन ग्रामीण रोज़गार परियोजना (पाइलट इन्टेंसिव रुरल एम्प्लायमेंट प्रोजेक्ट P. I. R. E. P.) चालू की गई है ताकि सम्बन्धित प्रश्नों का उचित रूप में अध्ययन किया जा सके।

परन्तु इस कार्यक्रम के पिछले दो वर्षों के कार्यान्वयन से प्राप्त सीमित अनुभव से पता चलता है कि इस योजना के लाभों को सारे ज़िले में विरल रूप में पहुँचाने का प्रयास किया गया है। वैसे भी यदि ग्रामीण भारत में बेरोज़गारों की भारी संख्या के सदर्भ व परिप्रेक्ष्य में इस योजना के लक्ष्यों का अध्ययन किया जाए, तो इसे एक छोटा-सा प्रयोग ही

कहा जा सकता है। जबतक भारी तथा भरपूर प्रयास न किए जाएँगे, इस योजना का ग्रामीण रोजगार पर प्रभाव स्पष्ट नही होगा। बड़ी समस्याओं को हल करने के लिए बड़े प्रयासों की आवश्यकता होती है। हां, इस योजना के परिणामो के आधार पर एक विशाल योजना की रूप रेखा की रचना की जा सकती है। इतने छोटे पैमाने पर चलाई गई कोई भी योजना कुछ व्यक्तियो को थोड़े दिनों के लिए रोजगार प्रदान कर सकती है परन्तु आर्थिक विकास के प्रक्रम मे सहायक नही हो सकती।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक क्षेत्र की परिस्थितियाँ तथा आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती है और किसी भी योजना को देश के सब क्षेत्रो मे एक समान लागू नही किया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक जिले के लिए समान राशि का निर्धारण तर्कसगत नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि रोजगार सबधी योजनाएँ व कार्यक्रम विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्ट समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए बनाए जाने चाहिए।

इसी प्रकार रोग का उपचार करने से पूर्व रोग का निदान आवश्यक है। कई क्षेत्रो में बेरोजगारी का कारण सिंचाई-सुविधाओं का अभाव या अदक्ष जल-प्रबन्धन या आधारिक सरचना (सड़कों, रेलवे, शिक्षा एवं स्वास्थ्य-सुविधाओं आदि) का अभाव है। सिंचाई होने से एक से अधिक फसलें उपजाई जा सकती हैं और अधिक लोगो को रोजगार प्राप्त हो सकता है। देखना यह है कि कौन-सा उपाय किया जाए जिससे स्थायी रूप में लोगो को अधिक रोजगार प्राप्त हो सके। कान्ता आहूजा ने अपने एक लेख (एग्रीकल्चरल अन्डर-एम्प्लायमेंट इन राजस्थान . इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल, वीकली, सेप्टेम्बर, १९७३)मे इस समस्या का सुन्दर विश्लेषण किया है। 'राजस्थान के पश्चिमी क्षेत्र मे जहाँ रोजगार प्रदान करने हेतु वन रोपण, सडक तथा बध-निर्माण आदि कई कार्य किए गए हैं, स्थिति मे कोई अतर नही आया। जल के अभाव मे झाड़ियाँ कैसे हरी भरी रह सकती हैं। कुछ समय के बाद बनाई गई सड़के रेत के नीचे दब जाती हैं और सारा क्षेत्र पहले की तरह ही मरुस्थल बन जाता है। कान्ता आहूजा का कहना है कि 'इस क्षेत्र की वास्तविक समस्या जल की है, अतः इस क्षेत्र को रोजगार कार्यक्रम की बजाय जल प्रबन्ध के एक जोरदार कार्यक्रम की आवश्यकता है। दक्षिणी राजस्थान के लिए भी समस्या जल-ससाधनो के उचित सदोहन की है ताकि दूसरी फसल सभव हो सके। यहां आधारिक संरचना भी विकसित नही है। जो छोटी ग्रामीण सड़के क्रैश कार्यक्रमों या राहत कार्य-योजनाओं में बनाई गईं, वे अगली वर्षा ऋतु मे बह गईं। पूर्वी राजस्थान मे वास्तविक समस्या जनसख्या का घनत्व है'। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक क्षेत्र की अपनी-अपनी विशिष्ट समस्याएँ है और रोजगार-योजना इन समस्याओ के समाधान की योजना का अग होनी चाहिए। अस्थायी मुसीबत के समय राहत एवं रोजगार-योजनाओं को चालू करना ही होता है'।

(घ) पांचवी योजना तथा रोजगार—पाँचवी पंचवर्षीय योजना की परिकल्पना में कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति के लिए आय का न्यूनतम स्तर निर्धारित करने का लक्ष्य तभी पूरा किया जा सकता है जब उपयोगी रोजगार के अधिकतम अवसर उपलब्ध करने का कार्यक्रम तैयार किया जाए। पाचवी योजना मे सामाजिक सेवाओ के विस्तृत कार्यक्रम के अन्तर्गत अधिक रोजगार की व्यवस्था के प्रश्न को यदि छोड़ दिया जाए, तो अधिक रोजगार

उपलब्ध करने वाले विकास-कार्यों मे ये कार्यक्रम आते हैं :- (१) लघु सिंचाई; (२) भू-सरक्षण; (३) क्षेत्र विकास; (४) दुग्धशालाएँ और पशुपालन; (५) वन-विकास; (६) मछली पालन; (७) गोदाम और विपणन-व्यवस्था; (८) ग्रामोद्योग तथा लघु उद्योग; (९) सड़कें तथा (१०) लघु कृषक-विकास-एजेंसी, सीमात कृषक एव कृषि श्रमिक एजेंसी, सूखा ग्रस्त क्षेत्र विकास, ग्रामीण रोजगार के त्वरित योजना जैसे कार्यक्रम।

इन मदो मे चौथी पंचवर्षीय योजना मे केन्द्र और राज्य सरकारो द्वारा (जिनमे संस्थागत वित्त-व्यवस्था भी शामिल है) लगभग ३६०० से लेकर ३६०० करोड़ रुपये तक व्यय किया गया। पाँचवी योजना में अधिक रोज़गार देने वाले इन कार्यक्रमों तथा निर्माण कार्यों, सड़क परिवहन, कृषि आदि कार्यों पर अधिक पूँजी लगाई जाएगी।

रोज़गार के अधिक अवसर उपलब्ध करने के सामान्य कार्यक्रमों के पूरक के रूप मे शिक्षित बेरोज़गारों की समस्या को हल करने के लिए विशेष कार्यक्रम चलाने होंगे और इन दोनो किस्म के कार्यक्रमों को समन्वित करना होगा। चौथी योजना मे शामिल किए गए विशेष कार्यक्रम इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त नही थे।

१४ वर्ष तक की उम्र के बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा, परिवार-नियोजन तथा बच्चों के लिए पौष्टिक आहार, समन्वित सार्वजनिक स्वास्थ्य-सुविधाएँ, गावो मे पीने के पानी की सप्लाई, भूमिहीन मज़दूरो को मकान बनाने के लिए जमीन, ग्रामीण सडकें, ग्राम-विद्युतीकरण आदि न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं से सबधित कार्यक्रमों तथा उपरोक्त विकास-कार्यक्रमों से अध्यापकों, डाक्टरों, चिकित्सा-सहायकों, "जीनियरों, पशु-चिकित्सकों, कृषि-वैज्ञानिकों और अन्य शिक्षित बेरोजगारो को काफी रोज़गार मिलेगा। इसके अलावा प्राकृतिक सम्पदा के सर्वेक्षण के कार्यक्रमों तथा विज्ञान और टैक्नालोजी के क्षेत्र मे चलाए जाने वाले कार्यक्रमों से भी शिक्षित लोगो को पर्याप्त मात्रा मे रोज़गार मिलेगा।"

पाँचवी योजना के दृष्टिकोण-पत्र मे रोज़गार की नीति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'तेज़ी से विकास और विषमताओं को दूर करने के लिए अधिक से अधिक लोगों के लिए उचित और उत्पादक रोज़गार देना आवश्यक है। रोज़गार-नीति ऐसी होनी चाहिए, जो वेतन पर अधिक से अधिक काम देने की व्यवस्था के साथ-साथ लोगो को स्वय अपने धंधे शुरू करने का भी प्रोत्साहन दे।

काम करने का अधिकार एक मूल अधिकार है। अतः गरीबी पर हमला करने के लिए रोज़गार की व्यवस्था करना समुद्र तट पर पुलिन की तरह है। ....कृषि-औद्योगिक क्षेत्र एक विकासशील क्षेत्र है। इसके लिए कच्चा माल कृषि से प्राप्त होता है। इसलिए कृषि तथा दुग्ध-उत्पादन, मछलीपालन, पशुपालन आदि सम्बद्ध क्रियाकलापो मे रोज़गार के और अवसर पैदा किए जाएँगे। क्योंकि कृषीतर-क्षेत्रक मे रोज़गार के अवसर सीमित होंगे, अतः ग्रामीण क्षेत्रो मे बढती हुई श्रम-शक्ति के काफी भाग को खेती बाडी में ही खपाना होगा। ऐसा करने से कुछ परिस्थितियाँ ऐसी पैदा होंगी जिससे लोग स्वय अपना धधा कर सकेंगे। ऐसा या तो उत्पादन के क्षेत्र मे या सामुदायिक सेवाओं के क्षेत्र मे हो सकेगा। यदि दृष्टिकोण-पत्र का ध्यान से अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि बेकारी-निवारण के प्रश्न पर योजनाकारो का स्वर बहुत ऊँचा नही। बेरोज़गारों के बारे में वे निराश लगते

हैं। पत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'इस समस्या का हल इतना सरल नहीं है जितना कि वह लगता है।""""पर इस समय औद्योगीकरण की जो गति है उससे लोगों का अधिक संख्या में खेती बाडी से हट कर उद्योगो मे जाना प्रायः संभव नही है इससे कुछ हद तक देहातों मे मजदूरों की समस्या और अधिक विकट हो जाएगी।'

योजना की नीति और कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए योजना आयोग का कहना है :–

" 'निर्धनता रेखा' स्तर से नीचे की गरीबी को हटाने और आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के दो मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो नीति अपनाई जाएगी, वह इस प्रकार है : रोजगार की सुविधाएँ निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति का राष्ट्रीय कार्यक्रम, निर्यात प्रोत्साहन और आयात प्रतिस्थापना तथा मूल्य-वेतन-आय नीति।

'योजना को कार्यान्वित करने की नीति में ये तत्व एक दृढ तर्क-संगत व्यवस्था से आपस मे जुडे हुए है। एक की पूर्ति दूसरे से सम्बद्ध है। यह योजनाओं का समूहमात्र नहीं है। यह एक योजना के अतर्गत परस्पर-सम्बद्ध कार्यक्रम है।"

'यद्यपि गरीबी हटाओ कार्यक्रम के लक्ष्य के रूप मे काम से न्यूनतम आय की गारटी देने की व्यवस्था करनी होगी, **फिर भी पांचवीं योजना के कार्य का आधार यह पता लगाना होगा कि प्रशासनिक, संस्थागत और वित्तीय प्रयासों को अधिकतम बढ़ाकर किस सीमा तक अतिरिक्त रोजगार के अवसर उपलब्ध किए जा सकते हैं।**

उपरोक्त विवेचन मे सरसरी तौर पर यह आभास होता है कि पचवर्षीय योजना मे इस सबध में एक शाब्दिक जाल बुना गया है और वास्तविक समस्या को टाल दिया गया है। आलोचकों के अनुसार योजना बेरोजगारी की समस्या पर सीधे प्रहार नहीं करती। इस पर प्रहार करने के लिए अभी तक हम केवल 'ठोस आधार' की ही तलाश की जा रही है और बेरोजगारो को कह दिया गया है कि वे अभी और इन्तजार करें। जरा प्रशासनिक, संस्थागत और वित्तीय ढाँचे को सुदृढ हो लेने दीजिए।'

परन्तु देखा जाए तो योजनाकारों ने पहली बार समस्या को उसके उचित परिप्रेक्ष्य मे देखा है। रोजगार की समस्या खैरात बाँटने या दान देने से हल नही होगी। इसे प्रत्येक क्षेत्र के सामूहिक विकास से जोडना होगा ताकि समस्या का स्थायी हल प्राप्त हो सके। इस सबध में आवश्यकता यह है कि कार्यक्रमो को ईमानदारी से और ठोस आधार पर लागू किया जाए। दृष्टिकोण-पत्र के अनुसार 'जहाँ तक व्यापक आधार और तेज गति से रोजगार देने के कार्यक्रम और न्यूनतम आवश्यकता-कार्यक्रम का सबध है, इन्हे लागू करने का महत्व स्वतः स्पष्ट है। **इनके कार्यान्वयन मे विलंब, अनुप्रयोग और बर्बादी से बचना आवश्यक है।**'

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि योजना आयोग इस बात के महत्त्व पर बल देता है कि कार्यक्रमो के आयोजन तथा कार्यान्वियन की व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। रोजगार कार्यक्रम की इकाई गाँव या खड होनी चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है 'कि कार्यक्रम के लिए बहुस्तरीय आयोजन की प्रभावशाली प्रणाली का निर्धारण करना होगा।'

योजनाकारो ने रोजगार प्राप्त करने के लिए 'स्वनियोजन' को बहुत महत्त्व दिया है

परन्तु निम्न आय, बढती हुई कीमतों और वित्त-सकुचन की उपस्थिति मे ऐसी सभावनाएँ बहुत कम हैं।

चौथी पंचवर्षीय योजना मे अधिक रोज़गार देने वाले विकास कार्यक्रमो पर लगभग ३६०० करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। इन कार्यक्रमो तथा पाँचवी योजना मे व्यापक स्तर पर रोज़गार सुलभ कराने के कार्यक्रमो के लिए इससे दुगुनी राशि खर्च की जाएगी। इसके अतिरिक्त न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रमो पर २८०० करोड रुपये खर्च किए जाएँगे। वे कार्यक्रम ऐसे हैं जिनमे बडी सख्या मे लोगो को रोज़गार दिया जा सकता है। अत न्यूनतम आवश्यकताओ एव ग्राम विकास सबधी कार्यक्रमो पर लगभग १०,००० करोड रुपये की आवश्यकता होगी अर्थात् प्रति वर्ष २००० करोड रुपये जुटाने होगे। जैसेकि हमने पिछले परिच्छेद मे अनुमान लगाया था यदि ये कायक्रम रोज़गार-उन्मुख हो, तो इस समस्या का समाधान निकल सकता है। हमारे विवेचन से इस बात का पर्याप्त सकेत मिल जाता है कि रोज़गार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराने और गरीबी हटाने के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए कितने बडे पैमाने पर प्रयास करना होगा। परन्तु इन कार्यक्रमो की सफलता के लिए प्रशासनिक ढाँचे मे मूलभूत परिवर्तन करने होगे। भ्रष्टाचार तथा अदक्षता को जड से समाप्त करना होगा। अन्यथा इतने अधिक परिव्यय के बावजूद न तो उत्पादन-क्षमता में पर्याप्त वृद्धि होगी, न ही सार्थक आय अतरण होगा और इससे ग्रामीण क्षेत्र मे विषमताएँ बढ़ेंगी।

१२ ६ रोजगार के अवसर तथा रोजगार-कार्यक्रमो के समर्थन हेतु धनराशि की व्यवस्था

अपने अध्ययन को समाप्त करने स पहले हम दो बातों का सक्षेप से वर्णन करेंगे। प्रथम यह कि क्या इतने लोगो को अतिरिक्त रोज़गार प्रदान करन के लिए पर्याप्त काम मिल सकेगा? दूसरे यह कि रोज़गार कार्यक्रमो को समर्थन प्रदान करने के लिए अतिरिक्त धन राशि कैसे जुटाई जा सकती है?

रोजगार के अवसर प्रदान करने वाले धन्धो का हम विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। यहाँ सक्षेप म इतना कहना काफी है कि कृषि-सवृद्धि दरो मे तेज वृद्धि रोज़गार विस्तार का तात्कालिक बोझ ग्रामीण सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर डाल देती है। क्रीत निविष्टियो (उर्वरको, कीटनाशी पदार्थों) की बढती हुई माग तथा अनाज का बढता हुआ विपणन, जो कि कृषि क्राति के साथ साथ चलते हैं, सडको, भूमि समतलन, सिंचाई-योजनाओ तथा ग्राम-विद्युतीकरण जैसे श्रम प्रधान निर्माण कार्यों के प्रतिफल दर मे काफी वृद्धि करत हैं। बढ़े हुए खाद्य उत्पादन के कुछ भाग का बढी हुई श्रम शक्ति का पेट भरने के लिए उपयोग किया जा सकता है। अनुमान यह है कि पाचवी योजना की अवधि मे भूमि-उद्धार, लघु सिंचाई, भू-सरक्षण तथा सडक निर्माण जैसे कार्यों मे लगभग १२ लाख व्यक्तियो को कार्य मिलेगा। अविराम रोज़गार के सदर्भ मे, सिंचाई के विस्तार से श्रम की माँग मे ८० प्रतिशत की वृद्धि होगी और १९७९ के बाद इससे लगभग २५ लाख व्यक्तियो को अविराम अतिरिक्त रोज़गार मिलेगा।

आर्थिक सवृद्धि के फलस्वरूप बढ़ते हुए रोज़गार और आय के कारण फलो, वनस्पतियो

तथा पशुधन से प्राप्त पदार्थों की मांग मे अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। इनके उत्पादन तथा परिष्करण मे काफी श्रम की जरूरत होती है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे 'हरित क्राति' के फलस्वरूप आय मे वृद्धि से अकेले 'दूध' की मांग इतनी बढ़ जाएगी कि १.५० करोड़ भूमिहीन श्रमिक परिवारो के वार्षिक रोजगार तथा आय में ५० प्रतिशत वृद्धि के तुल्य काम प्राप्त हो सकेगा। कृषि मे इन गौण विभवो मे काफ़ी सार्वजनिक निवेश की आवश्यकता होगी। ये निवेश अनुसधान, शिक्षा, उधार तथा बाज़ार-विकास के रूप मे होगे। इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि बेकार करने वाली नीतियाँ न अपनाई जाएँ। पट्टेदारो को बेदखलियों के विरुद्ध सुरक्षा-प्रदान करनी होगी। श्रमिकों को मशीनरी द्वारा ग़लत ढग से प्रतिस्थापित न किया जाए।

विनिर्माण तथा सेवा उद्योग रोजगार के मुख्य दीर्घकालिक स्रोत होगे। कृषको की तेजी से बढती हुई आय के कारण औद्योगिक उपभोग पदार्थों की माँग मे वृद्धि होती है। साथ ही अधिक बचतों के कारण अन्य उद्योगों में निवेश हेतु पूँजी सचय भी होता है। इनके कारण औद्योगिक रोजगार मे वृद्धि को बढावा मिलता है।

छोटे पैमाने के उद्योगो का तेज विस्तार रोजगार अवसरों में वृद्धि का प्रभावी साधन है। इनसे प्रति इकाई पूँजी अधिक नौकरियाँ प्राप्त होती है।

सक्षेप मे यदि रोज़गार अवसर प्रदान करने हेतु कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन जुटाए जा सकें तथा इन कार्यक्रमो को ठीक ढग से लागू करने के लिए दक्ष प्रशासनिक तथा सगठनात्मक ढांचे का निर्माण किया जा सके तो इस समस्या का समाधान हो सकता है परन्तु इसमे समय लगेगा और इसके लिए काफी प्रयास करना होगा। यह बोझ उन लोगो को सहन करना होगा जिनमे ऐसा करने की क्षमता है। निर्धनों का बोझ धनवानो को ही उठाना होगा।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि निवेश-दर का अधिकतमकरण रोज़गार नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है। निवेश हेतु अतिरिक्त ससाधनो को जुटाने के साधनो के बारे के समय-समय पर विशेषज्ञो न अनेक सुझाव दिए हैं। वान्चू समिति के अनुसार देश मे कम से कम ७००० करोड़ रुपये का काला धन है। लगभग ८४० करोड़ रुपये की कर तथा करेत्तर बकाया राशि ऐसी है जो सरकार को देय है। इसी प्रकार सार्वजनिक सस्थानो के प्रबन्ध मे सुधार करके लगभग ५०० करोड रुपये प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय प्राप्त की जा सकती है। ३०० करोड रुपये का सहकारी ऋण अतिदेय (ओवर ड्यू) है जिसकी वसूली को तेज किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि ईमानदारी से युद्ध स्तर पर कदम उठाए जाएँ तो रोज़गार कार्यक्रमों के समर्थन के लिए साधन जुटाए जा सकते हैं।

डाडेकर तथा रॅथ ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी इन इडिया (१९७१)' मे ८६६.५ करोड़ रुपये की राशि जुटाने के लिए ठोस सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उनका तर्क है कि प्रत्येक निर्धन व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने के लिए लगभग ८३० करोड रुपये प्रति वर्ष की आवश्यकता है। ऊपर वाले धनवान न्यूनतम वाछित स्तर से तीन चार गुना अधिक व्यय कर रहे हैं। इसलिए निर्धनो को न्यूनतम स्तर प्रदान करने का बोझ इन धनवानो को वहन करना चाहिए। उनका सुझाव यह है कि यदि सबसे अधिक ५ प्रतिशत धनी लोग अपने

व्यय में १५ प्रतिशत की कटौती करलें तथा दूसरे नम्बर के ५ प्रतिशत धनी लोग अपने व्यय मे ७.५ प्रतिशत की कमी करलें तो रोजगार हेतु निवेश के लिए ८६६.५ करोड़ रुपये (६३६.७ करोड़ रु० ग्रामीणों से तथा २२६.८ करोड़ रु० नगरीय जनसख्या से) की राशि जुटाई जा सकती है। धनिको के धन, निर्धनों के श्रम तथा सरकार व समुदाय के आवश्यक सगठन द्वारा सामुदायिक परिसम्पत्ति का सृजन होगा जिससे धनिकों समेत सारे समाज को लाभ होगा।

समृद्ध भूस्वामियो तथा कृषकों की तेज़ी से बढ़ती हुई आय रोज़गार कार्यक्रमों के समर्थन के लिए एक बृहद् तथा वर्धन कर-आधार प्रस्तुत करती है। हरितक्रांति से पहले भी भू-हित अव-करारोपित (अन्डर टेक्सड) थे। भारत में उपरि-आय वाले ग्रामीण लोग उसी आय वाले नगर-लोगों की तुलना में एक तिहाई कर अदा कर रहे थे।

भूमि-हितों वाले तत्त्व लोगों की निर्धनता के बावजूद ऊँची कृषि-कीमतें वसूल कर रहे हैं और ऐसे करों से बच रहे है जो कि रोजगार-कार्यक्रमो का समर्थन कर सकते हैं। स्थानीय कृषकों पर कर लगा कर-उत्पादक सार्वजनिक निर्माण कार्यों के लिए वित्त की व्यवस्था की जा सकती है क्योकि इन कार्यों से वे ही सबसे अधिक लाभान्वित होगे।

१९७२-७३ में लगभग १९०३३ करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय कृषि से प्राप्त हुई है। भारत मे ५ प्रतिशत बड़े ज़मीदार (८.०९ हैक्टर से अधिक) ३६ प्रतिशत भू-क्षेत्र के स्वामी हैं। इसी प्रकार ७ प्रतिशत जोतदारों द्वारा ३७ प्रतिशत भू-क्षेत्र सचालित किया जाता है। यही वे बड़े कृषक हैं जो कृषि-आय मे कम से कम ३५ प्रतिशत का योगदान करते हैं। इन कृषकों की कुल वार्षिक आय लगभग ६६५० करोड़ रुपये (१९०३३ का ३५ प्रतिशत) होती है। यदि इस आय में ४५ प्रतिशत की छूट दे दी जाय तो करयोग्य कृषि आय लगभग ३६५७.५ करोड रुपये होती है। यदि इस आय पर १७½ प्रतिशत के समान दर से कर लगाया जाए तो इससे राज्य को लगभग ६४० करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त होगा। *यह राशि लगभग उतनी ही है जितनी डाडेकर तथा रॅथ के अनुसार १० प्रतिशत धनी लोगों* द्वारा अपने व्यय मे कटौती करने से प्राप्त होगी। अतः आय-कर लगाकर या व्यय-कर लगाकर इतनी राशि जुटाई जा सकती है। क्या राजनीतिज्ञ तथा प्रशासक देश को सही नेतृत्व प्रदान कर समय की कसौटी पर खरे उतर सकेंगे? ग्रामीण रोज़गार मे विस्तार हेतु कृषि का सघन फसलो तथा पशुधन मे विविधीकरण करना होगा तथा साथ ही ग्रामीण सार्वजनिक निर्माण-कार्यक्रमों का विस्तार करना होगा और इसके लिए आतरिक उपलब्ध ससाधनों का अधिकतम सदोहन तथा उपयोग करना होगा। उच्च आय-वर्गों का हित इसी में है कि वे इसमे भरपूर योगदान दे।

अध्याय १३

कृषि तथा पूँजी-निर्माण

१३.१ अर्थव्यवस्था की पूँजीगत आवश्यकताएँ

आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं। अल्प विकसित देशो मे जनसख्या तथा प्राकृतिक ससाधनो के सापेक्ष पूँजी का अभाव होता है जिसके कारण श्रम तथा अन्य समाधनों का संदोहन तथा पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता। इसलिए एक विकास-शील अर्थव्यवस्था के उद्योग-क्षेत्र मे पूँजी का निर्माण आर्थिक सवृद्धि के लिए अनिवार्य है। उद्योग-क्षेत्र मे पिछड़ी हुई टैक्नॉलोजी के स्थान पर नवीन तकनीकें अपनाने के लिए भी पूँजी की काफी आवश्यकता होती है। कारखानों के चालू होने पर लोगों को रोज़गार प्राप्त होता है। पूँजी की आवश्यकता केवल फार्मेतर रोज़गार के प्रत्यक्ष सृजन के लिए ही नही होती बल्कि शक्ति के विकास तथा उच्च शिक्षा के प्रसार आदि अनेक सहायक कार्यों के लिए भी पडती है। अनुमान है कि लघु उद्योग मे प्रत्यक्ष रोज़गार मे प्रत्येक नौकरी के सृजन के लिए १०००० रु० के निवेश की जरूरत होती है जबकि भारी उद्योगों मे प्रत्येक नई नौकरी प्रदान करने के लिए २ ५ लाख रुपये निवेशित करने पडते हैं।

अल्प आय वाले देशों मे पूँजी दुर्लभ साधन है, इसके बावजूद प्रत्यक्ष निवेश की प्रतिफल-दर बहुत न्यून है। परिवहन, सचार तथा शक्ति का अभाव कामबदी का कारण बनते हैं कुशल मानव-शक्ति तथा प्रशासन के अभाव में पूँजी के उपयोग की दक्षता मे कमी आती है। परन्तु परिवहन, सचार तथा शक्ति के विकास तथा शिक्षण व प्रशिक्षण सुविधाओ के विस्तार के लिए भी तो पूँजी की जरूरत होती है।

वास्तव मे निम्न आय वाले देशो मे पूँजी के सदर्भ मे अल्पकालिक कल्याण-कार्यों तथा दीर्घकालिक कल्याण-कार्यों मे सघर्ष होता है। उदाहरणतः 'घर' (आवास) व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता है। निम्न आय वाले वर्ग के लिए 'जनता टाईप' के नगरीय मकान की लागत लगभग दस-बारह हज़ार रुपये है। लघु उद्योग में 'एक नौकरी' का सृजन करने के लिए भी इतनी ही राशि का निवेश करना पड़ेगा। कौन-से कार्य के लिए पूँजी जुटाई जाए? यदि 'रोज़गार' के दीर्घकालिक ध्येय को प्राथमिकता दी जाए तो नगरीय आवास (गृह निर्माण) की उपेक्षा करनी पड़ेगी। इससे नगरों में स्वास्थ्य की समस्याएँ उठ खड़ी होंगी जो श्रम को अदक्ष बना देंगी और औद्योगीकरण की गति मद हो जाएगी।

इसके अतिरिक्त कृषि के विकास व आधुनिकीकरण के लिए नवीन टैक्नॉलोजी अर्थात् क्रीत-निविष्टियो तथा नव-क्रियाओ का उपयोग जरूरी है जिसके लिए काफी पूँजी निवेश की आवश्यकता होगी।

आर्थिक विकास के लिए पूँजी तीन स्रोतों से प्राप्त हो सकती है : (१) विदेशी सहायता (२) विदेशी वाणिज्यिक निवेश (३) घरेलू बचतें ।

विदेशी सहायता का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे घरेलू खपत पर बिना दबाव पड़े पूँजी प्राप्त होती है । शुरू-शुरू मे निम्न आय वाले अल्पविकसित देशो मे जटिल मशीनरी तथा तकनीकी एव प्रशासनिक योग्यता प्राप्त व्यक्ति देशीय स्रोतों से प्राप्त नही होते । इनके लिए इन देशो को विदेशी सहायता पर निर्भर होना पड़ता है । परन्तु विदेशी सहायता के परिणामस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक तथा आर्थिक प्रतिबध देश के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं । वैसे भी विदेशी सहायता की अधिकता सहायता-प्राप्त देशों के लिए कोई गौरव की बात नही है ।

जहाँ तक विदेशी वाणिज्यिक निवेशो का सबध है, वे भी एक प्रकार के विदेशी ऋण ही हैं जिन्हे अततः ब्याज समेत लौटाया जाना होता है । विकास के आरभिक चरणो मे विदेशी निवेश अधिक परिमाण में उपलब्ध नही होता क्योकि उस अवस्था मे उस पर प्रतिफल-दर बहुत ही कम होता है । शुरू-शुरू मे विदेशी वाणिज्यिक निवेश खनिज-निष्कर्षण (मिनरल ऐक्सट्रैक्सन)तथा अन्य ऐसे उद्योगो के लिए सीमित होता है जिन्हे विदेशी ही चला सकते हैं । विनिर्माण-उद्योग मे विदेशी-निवेश के समर्थन मे बड़े परिमाण मे देशीय निवेश की भी *आवश्यकता है और किसी भी देश के आर्थिक विकास में इस तथ्य की उपेक्षा नही* की जा सकती । **संक्षेप में बड़े अल्पविकसित देशों मे अधिकाश पूँजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था घरेलू स्रोतों से ही की जानी चाहिए** । यहाँ सक्षेप मे यह भी जान लेना चाहिए कि 'पूँजी-निर्माण' से क्या अभिप्राय है ।

'पूँजी-निर्माण' वह राशि है जो वर्ष के दौरान (१) सकल स्थायी परिसम्पत्ति अर्थात् भूमि, इमारतों, सयत्रो व मशीनरी तथा (२) कच्चे माल, तैयार माल तथा प्रक्रियाधीन काम के स्टाक मे निवेशित की जाती है । सयुक्त *राष्ट्र साख्यिकी कार्यालय के अनुसार* **देशीय पूँजी निर्माण देश के वर्तमान उत्पादन तथा आयात का वह भाग है जिसका लेखा-अवधि में उपभोग या निर्यात नहीं किया जाता और जिसे पूँजीगत माल के स्टॉक में वृद्धि के लिए पृथक् रखा जाता है ।**

नेट पूँजीनिर्माण भावी उत्पादन के लिए उपलब्ध अचल पूँजी (इमारतो, निर्माण कार्यों, उपस्करो व मशीनरी) तथा कार्यशील पूँजी (उत्पादकों के स्टॉक) मे वृद्धि को व्यक्त करता है ।

पूँजी निर्माण में इस बात की आवश्यकता होती है कि समाज अपनी वर्तमान उत्पादक सक्रियता का एक भाग तात्कालिक उपभोग के लिए प्रयोग मे लाए तथा एक भाग वास्तविक (वस्तुरूप) पूँजीगत माल के बनाने में लगाया जाए ।

संक्षेप में पूँजी निर्माण भावी उपयोग के लिए आय को बचाना तथा निवेशित करना है ।

यदि अल्प-आय वाले देश विदेशी सहायता सभावित राजनीतिक तथा आर्थिक दबावों के कारण *नही लेना* चाहते *या विदेशी* निवेश को प्रोत्साहन नही देना चाहते तो उन्हें अपने ससाधनो पर ही टेक रखनी पड़ेगी । इन देशो मे पूँजी निर्माण के लिए घरेलू बचत तथा

निवेश-दरो को बढाने की आवश्यकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सवृद्धि के लिए बचत तथा निवेश की आवश्यकता है। बचत चालू आय का वह भाग है जिसका उपभोग नहीं किया जाता बल्कि जिसका भावी आय के उच्च स्तर का निर्माण करने के लिए निवेश किया जाता है। सक्षेप मे अधिकतम संवृद्धि का अर्थ है—बचतों तथा निवेश का अधिकतमकरण।

१३.२ निवेश तथा बचत

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सवृद्धि की दर तथा इसके स्वरूप मे सुधार करने के लिए अनेक उपाय करने पड़ेंगे।

प्रथम अनिवार्यता निवेश के उच्च स्तर को सुनिश्चित करने की है विशेष करके सार्वजनिक क्षेत्रक में ऐसा करना बड़ा ही जरूरी है। निवेश-प्रयास के अस्फीतिकारी वित्तीयन (नॉन इनफ्लेशनरी फाईनैन्सिग)को बढावा देने के लिए अग्रताप्राप्त क्षेत्रकों(प्रायरिटी सैक्टर) मे प्रतिष्ठापित क्षमताओं (इनस्टाल्ड कैपैसिटीज) के अधिकतम उपयोग को सुनिश्चित करना जरूरी है। उद्योग के अतर्गत अग्रणी क्षेत्रकों के विकास द्वारा ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि को रोका जा सकता है जिनकी बाजार लाभकारिता तो अधिक है परन्तु सामाजिक मूल्य अधिक नही है। कृषि मे धान्य-उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ दालो, गन्ना, कपास तथा पटसन जैसी अन्यान्य फसलो के उत्पादन में भी काफ़ी वृद्धि करने की आवश्यकता है। अततः पण्य उपजाने वाले क्षेत्रको मे तेज प्रगति के अनुरूप शक्ति तथा परिवहन जैसी अनिवार्य सेवाओं में भी विस्तार करना पडेगा।

सवृद्धि की प्रथम आवश्यकता निवेश-दर को बढाने की है। निवेश-दर बाज़ार कीमतो पर निवल(नेट)निवेश तथा निवल(नेट)आतरिक(देशीय)उत्पाद के बीच अनुपात को कहते हैं।

$$\text{निवेश दर} = \frac{\text{नेट निवेश (चालू कीमतो पर)}}{\text{नेट आतरिक उत्पाद (चालू कीमतो पर)}}$$

घरेलू ससाधनों के जुटाव के आधार पर निवेश दर में वृद्धि करने के लिए बचत दर मे वृद्धि करना नितात आवश्यक है। इसलिए बचत-प्रयासों का मुख्य लक्ष्य सार्वजनिक बचत-दर की वृद्धि करना होना चाहिए। सार्वजनिक बचतो के स्तर मे वृद्धि दो शर्तों के अधीन सम्भव है—

(i) नेट देशीय उत्पाद मे नेट सार्वजनिक प्रयोज्य आय (नेट पब्लिक डिसपोजेबल इनकम) के भाग मे वृद्धि होनी चाहिए।

(ii) नेट सार्वजनिक प्रयोज्य आय में सार्वजनिक उपभोग के भाग मे कमी होनी चाहिए।

पहली शर्त को पूरा करने के लिए निम्न तरीके अपनाये जा सकते हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय मे कर राजस्व के अनुपात को बढाया जाए।

(२) सार्वजनिक क्षेत्र उपादान-आय मे वृद्धि हेतु उपयुक्त उपाय किए जाएँ।

तथा(३)निजी क्षेत्रक को दी जाने वाले उपदानो(सबसिडीज)की सीमा को कम किया जाए।

दूसरी शर्त को पूरा करने के लिए अनावश्यक सार्वजनिक उपभोग मे वृद्धि को कम करना होगा।

नेट देशीय उत्पाद मे सार्वजनिक प्रयोज्य आय के अनुपात में वृद्धि समग्र बचत दर को तभी बढा सकती है यदि सार्वजनिक क्षेत्रक की सीमांत बचत-दर निजी क्षेत्रक की अपेक्षा अधिक हो। **अत: सार्वजनिक क्षेत्रक में बचत की उच्च सीमांत दर बचत व्यूहरचना का अनिवार्य तत्त्व है।**

सार्वजनिक बचत घरेलू बचतों को बढ़ाने का ज़रूरी तथा वाञ्छनीय साधन है। इसके अनेक लाभ हैं।

(क) यदि निजी से सार्वजनिक प्रयोज्य आय की ओर अंतरण समाज मे धनी वर्गों की कीमत पर हो और यदि ऐसी मदों पर सार्वजनिक उपभोग पर प्रतिबंध लगाये जाएँ जिनका लोगों की भलाई मे कोई योगदान नही है तो उस दशा मे सार्वजनिक बचत अर्थव्यवस्था के बचत-दर को बढाने की सबसे न्यायसंगत तथा सम्यक् युक्ति होगी।

(ख) निजी बचतो मे निजी परिसम्पत्ति का निर्माण होता है और अधिकाश बचत समृद्ध वर्गों द्वारा की जाती है इसलिए इससे आय तथा धन की असमानता बढ़ती है। दूसरी ओर सार्वजनिक बचत समुदाय की सामूहिक आय तथा धन को बढ़ाती है और इस प्रकार संवृद्धि तथा सामाजिक न्याय का महत्त्वपूर्ण साधन है।

(ग) सार्वजनिक बचत में नियोज्य निधियों का सृजन तथा जुटाव साथ-साथ होता है। बचतों का उच्च अग्रताप्राप्त निवेश मे लगाना कोई समस्या उत्पन्न नही करता। निजी बचतों विशेषकर परिवार बचतों का जुटाव तथा निवेश कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करता है। सार्वजनिक बचत के निम्न दर का परिणाम यह होगा कि सार्वजनिक निवेश के वित्तीयन हेतु सार्वजनिक क्षेत्रक को निजी बचतो से काफी राशि लेनी पडेगी। जबकि सार्वजनिक बचत की उच्च दर से सार्वजनिक क्षेत्रक अपने निवेश के अधिकाश के लिए स्व-वित्त की व्यवस्था कर सकेगा।

सार्वजनिक बचतें सार्वजनिक निगमित बचत (पब्लिक कॉरपोरेट सेविंग) तथा सामान्य सरकारी बचत से निर्मित हैं। भारत मे यद्यपि सार्वजनिक निगमित क्षेत्र का तेज़ी से विस्तार हुआ है परन्तु सार्वजनिक निगमित बचतें नगण्य ही रही हैं।

सार्वजनिक बचत पर बल देने का अर्थ निजी बचत के महत्व को कम करना नही है। वास्तव में निजी बचत कुल बचत का वृहत्तर भाग है और भविष्य में भी निजी बचत कुल बचत का प्रमुख भाग रहेगी। इस सदर्भ मे समस्या के दो पहलू हैं (१) निजी उपभोग की कीमत पर निजी बचत के प्रवाह को बढाना तथा (२) इस प्रवाह का स्वीकृत निवेश-प्राथमिकताओं के उद्देश्यपूर्ति के लिए पुनः उपयोग करना।

निजी बचत निगमित बचत (कॉरपोरेट सेविंग), सहकारी बचत तथा परिवार बचत से निर्मित है। इसमे भी निगमित क्षेत्र तथा सहकारी क्षेत्र का अंशदान बहुत ही कम है और परिवार-बचत ही निजी बचत का प्रमुख भाग है। भविष्य मे भी यही क्षेत्र अधिकतम अंशदान देने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है।

अन्तिम विश्लेषण में हम कह सकते है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की निवेश-बचत-समस्या वास्तव मे नेट देशीय उत्पाद के विन्यास की पुनर्रचना (रिस्ट्रक्चरिंग) की समस्या है। पर्याप्त संवृद्धि प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि नेट देशीय उत्पाद का अधिक भाग नेट

निवेश के उपयोग मे लाया जाए। वर्तमान अवस्था मे हमें काफ़ी सेवाओ तथा वस्तुओं का आयात करना पडता है और इससे तथा भुगतान संतुलन के अन्य घटकों से होने वाले घाटो को विदेशी सहायता से पूरा करना पडता है। आत्मनिर्भरता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह ज़रूरी है कि इस घाटे को पूरा करने के लिए अपने नेट देशीय उत्पाद मे से अधिक से अधिक वस्तुओ तथा सेवाओं का निर्यात किया जाए तथा विदेशों की पूंजी परिशोधन-अदायगियों (कैपिटल अमोर्टिजेशन पैमेंट्स) तथा बढ़ती हुई निवेश-आय की अदायगियों को अदा किया जा सके। नेट देशीय उत्पाद के अधिक अनुपात को नेट निवेश में निविष्ट करने के लिए तथा पदार्थों व सेवाओं के नेट आयात को पर्याप्त निर्यात अधिशेष में बदलने के लिए सार्वजनिक तथा निजी उपभोग में निविष्ट होने वाले नेट देशीय उत्पाद के अनुपात में कमी करनी होगी। यही निवेश-बचत समस्या का सार है।

भारत मे निवेश-दर, बचत-दर तथा कर-राजस्व के नेट देशीय उत्पाद के साथ अनुपात के आंकड़े सारणी १३.१ में दिए गए हैं।

सारणी १३.१ भारत मे निवेश, बचत तथा कर-राजस्व अनुपात
(नेट देशीय उत्पाद की प्रतिशतताओं मे)

वर्ष	निवेश दर	बचत दर	कर-राजस्व अनुपात
	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
१९६०–६१	१२	८.९	९.६
१९६५–६६	१३.४	११.१	१३.३
१९६८–६९	९.५	८.४	—
१९६९–७०	९.२	८ ४	—
१९७०–७१	९.६	८.३	१२.८
१९७१–७२	९ ६	८.२	—
१९७३–७४*	१३:१/१३.७	११.९/१२.२	
१९७८–७९*	१६.३	१५.७	
१९८०–८१*	१५ ९/१७	१६.५/१८	१८.५

* प्रक्षेप (प्रोजेक्शन्स)

स्रोत : चतुर्थ योजना—मध्यावधि समीक्षा, फरवरी, १९७२ चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (ड्राफ्ट आउट लाइन) मार्च, १९६६. पांचवी योजना का प्रारूप

उपरोक्त अध्ययन को ध्यान में रखते हुए हम सारणी १३.१ मे दिए गए आंकड़ो का इस प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं :

(१) निवेश-दर—१९६०–६१ मे निवेश दर १२ प्रतिशत था। १९६५–६६ मे अर्थात् तीसरी योजना के अन्तिम वर्ष मे यह १३.४ प्रतिशत के चरम स्तर पर पहुंच गया। अगले तीन वर्षों में यह गिर कर १९६८–६९ मे ९.५ प्रतिशत तथा १९६९–७० मे ९ २ प्रतिशत हो गया। चौथी योजना के प्रक्षेपानुसार १९७३–

७४ मे नेट निवेश-दर ११.१ प्रतिशत होगा। यहाँ १६७३–७४ तथा १६८०–८१ में नेट देशीय उत्पाद के विन्यास का उल्लेख करना उपयोगी होगा।

सारणी १३.२ नेट देशीय उत्पाद का विन्यास (भारत)

क्रमांक मद	१६७३–७४ प्रक्षेप	१६७३–७४ प्रत्याशित	१६८०–८१ प्रक्षेप	वांछित वृद्धि या न्यूनता (+/—)
	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
१. नेट-निवेश	१३.१	११.१	१५.६	+४.८
२. सार्वजनिक उपभोग	६.८	१०.७	८३.८	—५.५
३. निजी उपभोग	७७.६	७८.६		
४. नेट निर्यात	—(०.५)	—(०.४)	+(०.३)	+०७
कुल	१००.०	१००.०	१००.०	

स्रोत : चतुर्थ पचवर्षीय योजना मध्यावधि मूल्याकन, फरवरी, १६७३.

१६७४–७५ से १६८०–८१ की अवधि मे नेट देशीय उत्पाद के विन्यास के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए नेट देशीय उत्पाद में नेट-निवेश तथा पदार्थों व सेवाओ के निर्यात के अश में क्रमशः ४.८ तथा ०.७ प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी जबकि सार्वजनिक तथा निजी उपभोग मे ५.५ प्रतिशत की कमी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चौथी योजना की शेष अवधि के अन्तर को भी पाटना होगा। यह इस दशक के दौरान अभीष्ट निवेश-बचत प्रयास का परिमाण है।

(ii) बचत दर—बचत दर भी १६६५–६६ मे चरम स्तर पर थी। १६६५–६६ में बचत दर ११.१ प्रतिशत थी जबकि १६६८–६६ मे यह कम होकर ८.४ प्रतिशत हो गई। चौथी योजना के प्रक्षेपानुसार १६८०–८१ के अन्त तक घरेलू बचत-दर निवेश-दर से अधिक हो जाएगी। लक्ष्य यह है कि १६८०–८१ के बाद विदेशी सहायता की आवश्यकता न पडे तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सके। १६७१ ७२ मे बगला देश के शरणार्थियो व सूखा तथा बाढ़ राहत कार्यों पर काफी अतिरिक्त राशि व्यय होने के कारण बचत-दर गिर गई परन्तु विदेशी सहायता के कारण निवेश-दर मे कोई कमी नही आई।

१६७३–७४ मे ४ १ प्रतिशत की सार्वजनिक बचत-दर नियत की गई थी, परन्तु चौथी योजना के पहले दो वर्षों मे इस दिशा मे कोई सुधार नही हुआ। १६७०–७१ में सार्वजनिक बचत की दर १.१ प्रतिशत थी। १६८०–८१ के अन्त तक सार्वजनिक बचत के अशदान को नेट देशीय उत्पाद के ६.२ प्रतिशत के तुल्य करना होगा।

निजी बचत मे निगमित बचत नेट देशीय उत्पाद का केवल १.१ प्रतिशत है। इसमे वृद्धि करने के लिए निगमित क्षेत्र का विस्तार करना होगा। मध्यम उद्यमियो को उचित प्रोत्साहन मिलना चाहिए तथा सयुक्त क्षेत्र-सकल्पना की पूर्ण सभावनाओ का विदोहन करना चाहिए। यद्यपि ऋण तथा ऋणेतर सहकारी क्षेत्रक तेजी से बढ रहा है परन्तु सहकारी बचत बहुत कम है। सहकारी क्षेत्र का विकास भी प्रभावी बचत व्यूहरचना का महत्वपूर्ण अग हो सकता है।

निजी बचतों मे प्रमुख योगदान परिवार-बचतो का है। परिवार-बचत की वर्तमान दर परिवार-प्रयोज्य-आय का केवल ७–८ प्रतिशत है। १९८०-८१ तक नेट देशीय उत्पाद में परिवार बचत की दर ८ ९ प्रतिशत रखी गई है। परिवार बचत-दर में वृद्धि करने के लिए सतत प्रयासों की आवश्यकता है परन्तु यह काम आसान नही है। बचत करने वालो की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए व्यापक रूप मे वित्तीय संस्थाओ तथा उपयुक्त साधनों की व्यवस्था जरूरी है।

(iii) कर राजस्व का अनुपात—१९६५–६६ में कर राजस्व-नेट देशीय उत्पाद अनुपात १३.३ प्रतिशत था। १९७०–७१ मे १२ ८ प्रतिशत का अनुमानित अनुपात १९६५–६६ के स्तर से कम था। १९६५–६६ के स्तर से राष्ट्रीय आय में वृद्धि को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कर-राजस्व के गिरते हुए अंशदान का कारण यह है कि वे क्षेत्रक जिन पर हल्का कर है अपेक्षाकृत तेज़ी से बढ रहे हैं। इन क्षेत्रकों मे सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि है। चालू कीमत पर कृषि से प्राप्त होने वाला राष्ट्रीय आय का अंश १९६०–६१ की कीमतों पर इसके अंश से अधिक है जिससे नेट देशीय उत्पाद मे कर राजस्व का अनुपात और भी अधिक कम हो गया है। साराश यह है कि ऐसे क्षेत्रको से काफ़ी अतिरिक्त संसाधन जुटाने के लिए प्रभावी उपाय करने होंगे। कहना न होगा कि कृषि क्षेत्रक इस दिशा मे प्रचुर सभावनाएँ प्रस्तुत करता है।

१३.३ कृषि का पूँजी निर्माण में योगदान

अल्प आय अर्थव्यवस्थाओ मे कृषि प्रमुख क्षेत्रक है और यह पूँजी-निर्माण के स्वरूप तथा इसकी गति को मुख्य रूप मे प्रभावित करता है। ऐसी अर्थव्यवस्थाओ मे राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कृषि से प्राप्त होता है। अतः कृषि-उत्पादन मे परिवर्तन (चाहे ये नवीन निवेश के कारण हो या तकनीकी परिवर्तनो या मौसम में परिवर्तनो के कारण) कुल राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते है और परिणामस्वरूप बचत तथा निवेश-दरें भी प्रभावित होंगी।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन तथा पूर्ति-माँग सतुलन कृषि मे निवेश की लाभकारिता तथा उस आय-पुंज के परिमाण को प्रभावित करते हैं जिसमे से बचत व निवेश किये जाते हैं। सारणी १३.३ मे कृषि से प्राप्त आय के राष्ट्रीय आय से सम्बन्ध के आंकडे दिए गए हैं।

सारणी १३.३ कृषीय तथा राष्ट्रीय आय

वर्ष	(१९६० ६१ कीमतो पर) राष्ट्रीय आय	(१९६० ६१ कीमतो पर) कृषीय आय	कृषि आय-राष्ट्रीय आय अनुपात	कृषि उत्पादन १९६०–६१ =१००	राष्ट्रीय आय सूचकाक १९६०-६१=१००
	करोड रु०	करोड़ रु०	प्रतिशत		
१९६०–६१	१३३०८	६८२२	५१.३	१००	१००
१९६४–६५	१५९८३	७५४०	४७.२	११२.२	११९.७
१९६५–६६	१५०४५	६४२१	४२.७	९३.६	११३.७

१९६६–६७	१५१७३	६४११	४२.२	६२.५	११४.७
१९६७–६८	१६५२५	७५६०	४५.७	११३.३	१२५.३
१९६८–६९	१६८३०	७४७७	४४.४	११२.२	१२८.३
१९६९–७०	१७६५५	७८४६	४३.७	११६.५	१३५.१

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण १९७०–७१ पर आधारित

कृषीतर क्षेत्रक में, लागत सरचनाएँ कृषि मे उत्पादित कच्चे माल की कीमतो और आधारिक खाद्य पदार्थों की (जिन पर औद्योगिक श्रम-शक्ति के उपभोग व्यय का मुख्य भाग खर्च होता है) कीमतों द्वारा प्रभावित होती हैं। अतः कृषि-क्षेत्रक औद्योगिक संवृद्धि तथा पूँजी-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। पूँजीगत माल के उत्पादन मे लगी हुई नगरीय श्रम-शक्ति के लिए खाद्यान्न की सप्लाई कृषि-क्षेत्रक द्वारा पूँजीमूलक योगदान का ही एक रूप है। औद्योगिक विकास से अनाज समेत सब मजदूरी पदार्थों की माँग मे वृद्धि होती है और इससे कृषि की संवृद्धि-दर तेज हो जाती है।

कृषि बढ़ते हुए औद्योगिक क्षेत्रक के लिए कच्चा माल भी प्रदान करती है जो कि कुल औद्योगिक लागतों का मजदूरी तथा वेतन से भी बड़ा अश है। सरकारी तथा सेवा-क्षेत्रक भी विकास-प्रक्रम मे महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। इन सेवा-क्षेत्रको की लागत-सरचनाओं मे भी मजदूरी तथा वेतन अधिक महत्त्व के हैं। इस प्रकार कृषि-उत्पादन औद्योगिक कच्चे माल की कीमतों तथा मजदूरी पर अपने प्रभाव द्वारा उद्योग-निवेशों को प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करती है। कृषि पूँजी के निर्माण में निम्न माध्यमों द्वारा योगदान देती है :

(१) कृषको द्वारा अन्य क्षेत्रको मे प्रत्यक्ष निवेश के रूप में।
(२) व्यापार अर्घ (टर्म्स ऑफ ट्रेड) मे परिवर्तन अर्थात् कीमत तंत्र से।
(३) कृषि कराधान द्वारा।
(४) कृषि मे न्यूनतम निवेश द्वारा अर्थात् अपने वर्तमान संसाधनों के दक्ष उपयोग द्वारा।

१३.४ कृषकों द्वारा अन्य क्षेत्रकों में निवेश

कृषि क्षेत्रक को उर्वरक, यंत्र, जल आदि निविष्टियाँ अन्य क्षेत्रकों से प्राप्त करनी होती हैं। कृषि इन क्षेत्रको के विकास मे प्रत्यक्ष अदायगियों तथा प्रत्यक्ष निवेशो द्वारा अपना योगदान दे सकती है।

कृषि-उत्पादन में वृद्धि करके ग्राम्य क्रय शक्ति को बढाया जा सकता है जिससे ग्रामो मे औद्योगिक माल की माँग बढ़ेगी और उपभोक्ता पदार्थ उद्योगों का तेज विस्तार होगा। औद्योगिक माल के लिए ग्राम्य बाजार का विस्तार उद्योगो के विकास के लिए उतना ही लाभकारी है जितना कि कराधान या पूँजी अतरण।

कृषको द्वारा प्रत्यक्ष निवेश वित्तीय मध्यस्थो द्वारा किया जा सकता है। जापान में डाक-खानो (बचत बैंको) ने इस सदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

भारत मे सहकारी चीनी मिलों और अन्य परिष्करण उद्योगों की स्थापना कृषि द्वारा

प्रत्यक्ष निवेश के उदाहरण है। संक्षेप मे कृषि-क्षेत्रक की उपभोक्ता पदार्थों की मांग और तदनन्तर ग्रामीणों द्वारा लघु उद्योगो मे निवेश पूंजी-निर्माण मे काफी प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। हमारे पास इससे सम्बन्धित आँकड़े उपलब्ध नही हैं और सूचना के अभाव मे इस विषय पर अधिक अध्ययन करना सभव नही है। मुख्यत यह निवेश लघु उद्योगो में ही हुआ है जो कि कुल औद्योगिक क्षेत्रक का १० या १५ प्रतिशत भाग ही हैं।

कृषि-क्षेत्रक मे आय मे वृद्धि से उद्योग क्षेत्रक मे पूंजी निर्माण को लाभ हो सकता है यदि कृषक अधिक बचत करें तथा इन बचतो को प्रत्यक्ष निवेश के रूप मे उद्योगो मे लगा दे। परन्तु अभी तक ऐसा कम ही हुआ है।

१३ ५ व्यापार-अर्घ मे परिवर्तन अर्थात् कीमत-तत्र द्वारा पूंजी निर्माण

हम अध्याय १० के परिच्छेद १०.२ तथा १०.३ में कृषि कीमतों के (पूंजी-निर्माण के उद्दीपक के रूप मे तथा व्यापार-स्थिति के आर्थिक विकास मे) महत्त्व का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि पिछले १० वर्षो मे कृषि-पण्यो की सापेक्ष कीमतो मे काफी वृद्धि हुई है जिससे औद्योगिक क्षेत्रक मे मजदूरी तथा लाभो पर काफ़ी दबाव पड़ा है तथा व्यापार स्थिति उद्योग की तुलना में कृषि के अधिक अनुकूल रही है। उद्योग क्षेत्रक मे ऊँची लागतो का परिणाम यह होता है कि वहाँ लाभ तथा निवेश-सम्भाव्यताएँ कम हो जाती हैं। इस विषय का अध्याय १० मे विस्तृत अध्ययन किया गया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि औद्योगिक क्षेत्रक का विकास कृषि-उत्पादन पर निर्भर है। कृषि-उत्पादन राष्ट्रीय आय को प्रभावित करता है तथा औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति का स्रोत है।

कृषि-उत्पादन मे कमी से कच्चे माल समेत कृषि-पण्यो की कीमतो मे वृद्धि हो जाती है और लागतो के बढ़ने से उद्योग मे पूंजी-निर्माण कम हो जाता है और इस प्रकार से आर्थिक विकास की गति मद हो जाती है। अतः कृषि-उत्पादन मे वृद्धि औद्योगिक पूंजी-निर्माण तथा आर्थिक विकास-प्रक्रम के लिए ज़रूरी है।

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि कीमतो मे कमी करके पूंजी-निर्माण मे योगदान कर सकती है। कीमतो मे कमी वास्तविक आय का कृषीतर-क्षेत्रक मे अतरण करती है क्योकि नगरीय श्रम शक्ति का निर्वाह-व्यय अपेक्षाकृत कम हो जाता है और बिना जीवन-स्तर कम किए मजदूरी सरचना अपेक्षाकृत निम्न रहती है। इसके व्यापार-अर्घ (व्यापार की स्थिति) कृषीतर-क्षेत्रक के पक्ष मे हो जाता है। परिणामस्वरूप नगरीय उद्योगो मे लाभ अधिक होंगे जो कि पूंजी-निर्माण के आधार हैं।

१३.६ कृषीय कराधान

प्रत्यक्ष निवेश के अतिरिक्त पूंजी का कृषि-क्षेत्रक से कृषीतर-क्षेत्रक को अतरण कृषि-क्षेत्रक मे अधिक कराधान द्वारा भी किया जा सकता है। कृषि-क्षेत्रक मे अधिक कराधान की मांग प्राय. अन्तर-क्षेत्रक तथा अन्तर-क्षेत्रक समता तथा न्याय, सार्वजनिक व्यय के सापेक्ष लाभ तथा बचत जुटाव के आर्थिक सिद्धातों पर आधारित है। कृषि पर कर मुख्यतः भूमि, आय तथा सम्पत्ति के आधार पर लगाया जाता है।

(क) भूमि कर (लैंड टैक्सेज)—भू-राजस्व (लैंड रेवेन्यू) एक प्रत्यक्ष कर है जो भूमि

के क्षेत्रफल पर आधारित है। यह सब भूमिजोतो पर प्रति एकड़ एक समान दर के हिसाब से लगाया जाता है, चाहे जोत बड़ी हो या छोटी हो। ये कर एक प्रकार के नेट उपज पर कर हैं और साधारणत: प्रत्याशित सामान्य उपज स्तर के आनुपातिक होते हैं।

भू-कर अदा करने की क्षमता से सम्बन्धित किये जा सकते हैं और सामान्यत. ये ऐसे नियत कर हैं जो उत्पादन को अनुत्साहित नही करते। वर्तमान भू-राजस्व का भूमि की उत्पादिता या भूमि के उपयोग के साथ कोई सबंध नही है। भू-राजस्व के दर सामान्यत: मूल्यांकन मे 'नेट परिसम्पत्ति' की प्रतिशतता मे व्यक्त किये जाते हैं। परन्तु पिछले ३०–४० वर्षों मे ये दरें निश्चित रही है यद्यपि इन वर्षो मे जमीदारी उन्मूलन, जोतो की निम्नतम सीमा-निर्धारण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कृषि-क्षेत्रक मे हो चुके हैं। इस प्रकार ये कर समय के साथ मेल नही खाते हैं। आभ्यतरिक दृढताओ के कारण ये कर आय, उत्पादन या कीमत मे परिवर्तन से परिवर्तित नही हुए।

यदि भूमिकर नकदी मे वसूल किये जाएँ तो वे कृषि-उत्पादन मे वाणिज्यीकरण को प्रोत्साहित करते हैं। निर्वाहमात्री कृषको को अदा करने के लिए अधिक उपज बेचनी पड़ेगी और वे बाजार की माँग तथा सभाव्यताओं के अनुरूप कार्य करेंगे। नियत करारोप का वास्तविक मूल्य विकास के स्फीति दबाव के अधीन कम हो जाता है। इसलिए कर दरों मे वृद्धि तर्कसगत है। यदि कर उपज में लिया जाए तो उसका मुद्रा-मूल्य कीमत परिवर्तनों का परिचायक होगा। इससे सरकार अनाज का पर्याप्त भडार कर सकेगी और इस प्रकार विपणन, भडारण तथा कीमतो को स्थिरता प्रदान की जा सकेगी। इन करों का सबसे बडा लाभ यह है कि इन्हे एकत्र करना अपेक्षकृत सरल तथा सस्ता है।

जापान निम्न आय तथा घने आबाद देश का एक ऐसा विशुद्ध उदाहरण है जो विकास के आरम्भिक चरणो मे पूँजी के लिए कृषक-क्षेत्रक पर बहुत अधिक निर्भर रहा है। आरमिक अवधि में कृषि पर भारी कर लगाए गए। यहाँ तक कि १८८८–१८९२ की अवधि के दौरान कुल कर-राजस्व का ८५ प्रतिशत भाग कृषि से प्राप्त हुआ। भूमि-करो मे सुधार के बाद भी कृषि पर कर-भार बहुत अधिक था। भूमि कर भूमि के अवरुद्ध मूल्य का नियत भाग था तथा नकदी मे दिया जाना था। भूमि सुधार (१८७३) के समय कुल उत्पाद का लगभग ३४ प्रतिशत सरकार के पास कर के रूप मे चला जाता था। कर-सुधार के प्रथम वर्ष मे कुल कर सामान्य फसल मूल्य के २५ प्रतिशत के बराबर थे। जैसे ही विकास तेज होता गया, कृषि के योगदान का महत्व भी कम होता गया। जापान सरकार ने परिवहन, संचार, शक्ति तथा विनिर्माण उद्योगों आदि मे निवेश मे विशेष रुचि दिखाई। जापान मे १८८७ तक आयकर नही लगाया जाता था और उसकी भी दर बहुत निम्न थी। १९०५ से पहले उत्तराधिकारी तथा स्थावर-सपदा-कर भी अनुपस्थित थे।

जापान मे कर का भारी भार दो तरह से कृषि-क्षेत्रक के पुनर्गठन मे परिणत हुआ। प्रथम बहुत से लघु कृषकों को अपनी भूमि की अनार्थिक इकाइयों को बेचना पड़ा। लघु कृषक को कर अदा करने के लिए उपज के एक बड़े भाग को बाजार मे भेजना पड़ा जिस पर बड़े कृषको का नियत्रण था। उनके लिए एक मात्र विकल्प यह था कि वे ऋण ले जो बड़े कृषको से ही प्राप्त हो सकता था। अतिम परिणाम वही था क्योकि ऋण अल्पकालिक तथा

उच्च दर पर उपलब्ध होता था। भूमि की बिक्री का फल यह था कि पट्टेदारो की सख्या मे और नए कारखानों में रोज़गार तलाश करने वालो की सख्या में काफ़ी वृद्धि हो गई। इस प्रकार जापान मे भारी कर लगा कर अदक्ष कृषको को कृषि से हटा दिया गया। दूसरी ओर वे लोग जो कृषि मे रह गए उन पर भारी करों के कारण उनके फार्मों पर उत्पादिता में वृद्धि हुई। क्योकि भूमि कर भूमि के अवरुद्ध मूल्य का अनुपात था और नकदी मे अदा करना था, इसलिए कर-भार को भूमि की उत्पादिता बढ़ा कर या उपज की कीमत बढ़ा कर या दोनो तरीको द्वारा ही कम किया जा सकता था। मुख्य राहत उत्पादन में वृद्धि से ही प्राप्त हुई। उत्पादिता मे वृद्धि फसलो के हेर फेर, जल-निकास-सुविधाओ, उन्नत बीजों उर्वरको तथा सघन प्रविधियो को अपना कर प्राप्त की गई। जापान का जमीदार काफी प्रगतिशील था और उत्पादिता बढाने में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। नवक्रियाएँ ऐसी थी जो छोटे खेतो पर भी प्रभावी ढग से अनुप्रयुक्त की जा सकती थीं। इस प्रकार कृषि ने जापान के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यह ध्यान रहे कि जापान मे १६६० मे जोत का औसत क्षेत्रफल केवल १.१८ हैक्टर (अर्थात् २.६२ एकड़) था।

भूराजस्व का राजकीय वित्त मे महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योकि यह राजकीय राजस्व का एक मुख्य स्रोत है। सारणी १३.४ मे हमने राजकीय करों से प्राप्त कुल राजस्व, भू-राजस्व कृषि-आय-कर तथा देश की कृषि राष्ट्रीय आय तथा सम्बद्ध आँकड़े दिए हैं।

निम्न सारणी १३ ४ से निम्न बातो का पता चलता है :—

(i) १६६६-७० मे सब राज्यों में भूमिकर से प्राप्त राजस्व की ११७.५ करोड़ रुपये की राशि काफी प्रभावक दिखाई देती है परन्तु सारणी से यह भी पता चलता है कि पिछले कुछ वर्षों मे भू-राजस्व का कुल राजस्व में सापेक्ष योगदान कम ही रहा है। पहली, दूसरी तथा तीसरी योजनाओ की अवधि मे भू-राजस्व कुल राजस्व का क्रमश: २५ ६, २४ ० तथा १७ प्रतिशत था परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे यह अनुपात लगभग ७ प्रतिशत रह गया है।

(ii) सारणी मे यह भी देखा जा सकता है कि विभिन्न वर्षों में भूमि कर से वसूली की राशियों मे काफ़ी उतार-चढ़ाव है। इस अंतर के अनेक कारण हैं। प्रथम, सूखाग्रस्त तथा बाढग्रस्त वर्षों मे राज्य सरकारें सहायतार्थ भू-राजस्व क्षमा कर देती हैं या इसके सग्रह का स्थगन कर देती हैं। इसी प्रकार युद्ध के समय दर बढ़ा दिये जाते हैं या भू-करों से सबधित करारोप (लिवीज) लगा दिये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों मे कुछ राज्यो मे छोटी जोतो को भू-राजस्व से छूट दे दी गई है।

(iii) सारणी से यह भी पता चलता है कि कुल कृषि कर (भू-राजस्व तथा कृषि आय-कर) कृषि से प्राप्त राष्ट्रीय आय के १ प्रतिशत से भी कम है। स्पष्ट है कि ससाधनो के जुटाव के सदर्भ में इस क्षेत्र का योगदान अतिन्यून है।

भू-राजस्व की समाप्ति तथा इसकी पद्धति मे सुधार के बारे में समय-समय पर अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं जैसे कि भू-राजस्व कृषि-आयकर द्वारा प्रतिस्थापित किया जाए या कृषि आयकर भूराजस्व के एक समान निम्न दरो से सम्बद्ध किया जाए या उपज के बिक्री स्थान पर बिक्री कर लगाया जाए इत्यादि।

सारणी १३.४ कुल राजकीय राजस्व, भू-राजस्व, कृषि-आय-कर, कृषि राष्ट्रीय आय

अवधि/वर्ष	राजकीय राजस्व १ (करोड़ रुपयों में)	भू-राजस्व २ (करोड़ रुपयों में)	कृषि आयकर ३ (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशतता % ४ (२)–(१)	प्रतिशतता % ५ (३)÷(१)	कृषि से रा. आय ६ (करोड़ रुपयों में)	७ (५)÷(६)	प्रतिशतता % ८ (३)÷(६)
पहली योजना (१९५१–५२ से १९५५–५६)	१२५७.१	३२६.७	२४.६	२५.९	२.०	—	—	—
दूसरी योजना (१९५६–५७ से १९६०–६१)	१८६६.६	४५५.०	४२.५	२४.०	२.०	—	—	—
तीसरी योजना (१९६१–६२ से १९६५–६६)	३३३९.९	५७०.३	४८.९	१७.०	१.४	—	—	—
१९६०–६१	—	९७.२१	९.५	—	—	६८२२	१.४	०.१४
१९६५–६६	—	१११.९	९.९	—	—	९८४६	१.१	०.१०
१९६६–६७	१३२७.४	९४.९	१०.३	७.१	०.८	११७५५	०.८	०.०८
१९६७–६८	१५१४.४	१०७.७	१२.१	७.१	०.८	१४९७३	०.७	०.०८
१९६८–६९ (संशोधित)	१६९५.४	११६.८	११.९	६.९	०.७	१४५३०	०.८	०.०८
१९६९–७० (बजट)	१७६८.१	११७.५	१२.४	६.६	०.७	१५६००	०.८	.०८

स्रोत : १. मुद्रांक एवं वित्त प्रतिवेदन पर आधारित
२. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन (विभिन्न वर्ष)

भूराजस्व का कृषि आयकर द्वारा प्रतिस्थापन भारत जैसे अल्पविकसित देश के वर्तमान आर्थिक ढांचे और ग्रामीण प्रशासनिक व्यवस्था में उपयुक्त तथा विवेकपूर्ण नही है क्योंकि कृषि आयकर की राशि संदिग्ध है और राज्य भूराजस्व से प्राप्त आय की क्षति का जोखिम नही उठा सकते। साथ ही कृषि आयकर छोटे कृषकों पर, जिनकी संख्या कुल के लगभग ७५ प्रतिशत है, नही लग सकेगा। इसी प्रकार यदि इसकी दर को कम कर दिया जाए और साथ में कृषि आयकर लगा दिया जाए तो इससे अधिक असमता उत्पन्न होगी। परन्तु यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि करापात (करवाह्यता) (इन्सीडेन्स आफ टेक्सेशन) वाणिज्यिक फसलों की अपेक्षा खाद्यान्नों पर, सिंचित भूमि के कृषकों की अपेक्षा असिंचित भूमि के कृषकों पर, बड़ी जोतों की अपेक्षा छोटी जोतों पर अधिक है। यह भी ठीक है कि विभिन्न राज्यों में भूराजस्व की दरों में बड़ा अंतर है। उड़ीसा में यह २ रु० प्रति एकड़ है जहाँ बिहार में ७ ८० रुपये प्रति एकड़ है। वास्तव में भू-राजस्व दरों क विभिन्न राज्यों म उत्पादिता तथा उत्पादन से कोई संबंध नही है।

इसमे कोई शक नही कि भू-राजस्व मे प्रगतिशीलता के तत्वो का अभाव है क्योंकि समानुपातिक दर से लगाये जाने के कारण छोटे और निर्धन किसानों पर इसका भार अधिक पड़ता है। यह भी ठीक है कि चिरकाल से शोषित किसानो को इस अधोगामी कर से छुटकारा मिलना चाहिए। कराधान जाँच आयोग (१९५३–५४) ने विषय का गहन अध्ययन करने के बाद ये विचार दिए हैं "न तो भूराजस्व को आय और मूल्य सापेक्ष बनाने के लिए इसमें आमूल चूल परिवर्तन ही संभव है और न ही इसे अन्य किसी प्रगतिशील कर द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है।" आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि सारे देश मे भूराजस्व का मानकीकरण कर दिया जाए तथा इसे उस स्तर पर अवरुद्ध कर दिया जाए।

वास्तव में भू-राजस्व की समाप्ति की बजाय इसके पुनर्निर्धारण की आवश्यकता है। एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि भू-राजस्व समंजनीय अर्थात् विसर्पी (स्लाईडिंग स्केल) दर से लगाया जाए जो कीमतों से संबधित हो और जिसका साल या दो साल बाद पुनर्निर्धारण किया जाए। इससे भूमि कर का युक्तीकरण होगा और उसमे लोच तथा कीमतों व आय के सापेक्षता के तत्त्व सम्मिलित हो जाएँगे। छोटी जोतो को छोड कर शेष सब जोतों पर भू-राजस्व की दरों मे वृद्धि करने की भी आवश्यकता है। बहुत छोटी जोतो को कर से मुक्त किया जा सकता है।

आयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह है कि सब राज्यों द्वारा उच्च कृषि-आय-वर्ग पर कर लगाने की आवश्यकता है और कृषि-आय-कर और आय-कर को मिला कर एक कर दिया जाना चाहिए। ससाधनो के उचित जुटाव के लिए कृषि-आय पर कर लगाना अत्यावश्यक है।

(ख) कृषि-आय-कर (एग्रीकल्चरल इनकम टेक्स)—सिद्धांत रूप में कृषि-आय-कर, प्रगतिशील तथा मूल्य और आय के सापेक्ष होने के कारण भू-राजस्व से अधिक उपयुक्त हैं। ये कर अदा करने की शक्ति पर उचित बल देते हैं। विकास के दौरान मुद्रा प्राप्ति तथा वास्तविक आय में वृद्धि होती है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति की आय का मापन करना पड़ेगा और रिकार्ड तथा प्रशासन संबंधी अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी हो सकती हैं।

भारत मे कृषि आय कर की स्थिति का विश्लेषण करने से पहले कृषि की संवैधानिक स्थिति का ज्ञान हो जाना चाहिए। भारतीय सविधान की सातवी अनुसूची के अनुसार कृषि एक राज्य विषय है और भारत की सरकार को कृषि आय पर कर लगाने का कोई अधिकार नही है। केवल राज्य सरकारें ही ऐसा कर सकती हैं। परन्तु यदि दो या अधिक राज्य चाहे तो ससद कुछ सीमाओ के अतर्गत उन राज्यों मे लागू करने के लिए कुछ नियम बना सकती है। इसी धारा के अतर्गत बहुत सी राज्य विधान सभाओ ने सघ सरकार को कृषि-भूमि पर संपदा-शुल्क लगाने का अधिकार दे दिया है। अत: यह राज्य विधान सभाओं की शक्ति मे है कि वे अपने राज्यो मे कृषि-आय-कर का प्रबन्ध करने का अधिकार केन्द्र को दे दें। परन्तु अभी तक ये अधिकार राज्य-सरकारों के पास ही हैं।

भारत मे सबसे पहले कृषि-आय कर १९३८ मे बिहार मे लागू किया गया। आय मे से ५००० रुपये तक की छूट दी गई। न्यूनतम कर-दर ६ पाई प्रति रुपया थी। अधिकतम कर-दर ३० पाई प्रति रुपया थी जो १५ लाख रु० वार्षिक से अधिक आय के लिए थी। पजाब, हरियाणा तथा गुजरात को छोड कर अन्य सब राज्यो ने कृषि-आय कर लगा दिया है। परन्तु इसके बावजूद भी कृषि-आय कर से प्राप्त राशि बहुत कम है (सारणी १३.४ देखे)। अतः कृषि-आय कर के अतर्गत कर-भार नगण्य है। इसके मुख्य कारण अनावश्यक छूट सीमाएँ, निहित स्वार्थ वाले तत्वो का विरोध तथा प्रशासको की राजनैतिक अवसरवादिता है। यहाँ कृषि-आय कर के पक्ष तथा विपक्ष का विवेचन करना उपयोगी होगा।

अतिरिक्त ससाधनो को जुटाने के लिए अधिक कृषि-कराधान की समस्या पिछले कुछ समय से विवाद का विषय रही है। अधिक कृषि कराधान के अलोचको का मुख्य तर्क यह है कि कृषि चिरकाल से अर्थव्यवस्था का निर्धन तथा अवनत क्षेत्रक रहा है। कृषि राष्ट्र की ७० प्रतिशत जनसख्या को आजीविका प्रदान करती है, इसलिए कृषि को अधिक कर भार से मुक्त रखा जाना चाहिए। एक मत यह है कि उस निजी श्रम तथा देखरेख की, जो खाद्य फसलो को उगाने में लगाया जाता है, लागत का अनुमान लगाना कठिन है। फार्मों पर आय कर लगाने से उन्हे बहुत कष्ट होगा। यह तर्क इस भावनात्मक विचार पर आधारित है कि कृषक अन्नदाता है, उसे पुरस्कार मिलना चाहिए न कि उस पर कर लगाया जाए। कई आलोचक लोगो की निर्धनता की दुहाई देते हैं। उनका तर्क यह है कि ८० प्रतिशत कृषक छोटे जोतदार हैं जिनके पास ५ एकड से भी कम भूमि है और यदि उन्होने हाल के वर्षों में कुछ लाभ कमाया है तो उचित यह होगा कि उन्हे अपने निम्न जीवन-स्तरो को बढ़ाने दिया जाए। परन्तु विचित्र बात यह है कि किसी ने भी यह नही कहा है कि इन पर आय-कर अवश्य लगाया जाए। तर्क तो यह है कि उच्च कृषि-आय कर-मुक्त नही होनी चाहिए, विशेषकर उन क्षेत्रो मे जहाँ सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

वे लोग जो 'ग्रामीणों की निर्धनता' का तर्क देते है, वास्तव मे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति आय अंतरण का अधिमूल्य करते हैं क्योकि राष्ट्रीय आय विवरण ग्रामीण आय का अल्प मूल्यन करते हैं और नगरीय आय मे उपयोगी अनुरक्षण लागतों का हिसाब नही करते। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रक मे भी विभिन्न वर्गों मे काफी आय-अतर है और गावों में भी ऐसे धनी लोग हैं जो पूँजीगत योगदान की पर्याप्त क्षमता

रखते हैं और उन से कोई कर न लेना न्यायसगत नही है ।

कृषि-कराधान के पक्ष मे यह तर्क है कि क्योकि कृषि-क्षेत्रक भारी सरकारी आर्थिक सहायता का पात्र है और लगभग आधी राष्ट्रीय आय का स्रोत है, इसलिए वर्तमान की अपेक्षा इसे अधिक कर-भार सहन करना चाहिए । इस संदर्भ मे योजना आयोग (चौथी पचवर्षीय योजना ड्राफ्ट) ने सुझाव दिया है :

'आयोजन के आरम्भ से ही कृषि क्षेत्रक में सार्वजनिक निवेश के फलस्वरूप कृषि-आय राशियों मे काफ़ी वृद्धि हुई है । परन्तु कृषि क्षेत्रक द्वारा सरकारी खजाने मे अंशदान में इसके अनुरूप वृद्धि नही हुई । इसलिए कृषि-क्षेत्रक से अधिक ससाधन जुटाने की आवश्यकता है ताकि इसके विकास के लिए धन लगाया जा सके । इसके लिए अच्छे खाते-पीते कृषको पर अतिरिक्त भार डालना पडेगा' । पिछले २३ वर्षों मे कृषि व सामुदायिक विकास पर व्यय इस प्रकार हुआ है :–

पहली योजना (१९५१–५६)............२९० करोड़ रुपये
दूसरी योजना (१९५६–६१)............५२९ ,, ,,
तीसरी योजना (१९६१–६६)..........१०८९ ,, ,,
वार्षिक योजनाएँ (१९६६–६९)........२७१९ ,, ,,
चौथी योजना (१९६९–७४)...........२७२८ ,, ,,

इतने अधिक निवेश के बावजूद कृषि का देश की बचतों, वित्तीय संसाधनों या कर-राजस्व मे अशदान इसके परिमाण या महत्त्व के अनुरूप नहीं है । कृषि को अन्य क्षेत्रको का बोझ नही बनना चाहिए । कम से कम इसे अपने विकास के लिए वित्त का पर्याप्त भाग तो जुटाना ही चाहिए ।

नवीन कृषि-व्यूहरचना, जिसने प्रति एकड़ अधिक उत्पादिता को संभव बनाया है, ने ग्रामीण क्षेत्रो मे आय-असमानताओ को बढ़ाया है क्योकि नवीन तकनीकें अधिकतर धनी कृषको को ही उपलब्ध थी । इसमे कोई शक नही कि कृषि-जनसख्या के एक विशेष वर्ग की आय बहुत अधिक है और यही वह वर्ग है जिसे कर जाल मे अधिक से अधिक पकडने की जरूरत है । इसके अतिरिक्त जैसे कि हमने पिछले परिच्छेद में देखा है, पिछले कुछ वर्षों मे व्यापार की स्थिति कृषीतर-क्षेत्रक की अपेक्षा कृषि-क्षेत्रक के अनुकूल रही है जिससे कृषि-क्षेत्रक की कर अदा करने की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक है । इसलिए कृषि आय पर कर लगाना पूरी तरह उचित ही है ।

धीरे-धीरे भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण हो रहा है । सारी जलक्षमता का उपयोग करने के लिए, अधिक उपज देने वाले बीजो के उपयोग का विस्तार करने के लिए, सम्बद्ध नवीन निविष्टियो के उपयोग को बढ़ावा देने के लिए तथा अन्य सुविधाओ को जुटाने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता है । कृषि के रूपातरण के लिए इससे पहले भी काफ़ी राशि व्यय की जा चुकी है । काफी काम बाकी हैं । इसमे कृषको को भी अपना अशदान देना होगा जिसके लिए एक प्रभावी कर की आवश्यकता है ।

अान्तर-क्षेत्रक समता (इन्ट्रा सेक्टोरल इक्विटी) के आधार पर भी कृषि-आय कर लगाने की आवश्यकता है । ग्रामीण क्षेत्रक मे भी निर्धन कृषक पर धनी कृषक की अपेक्षा करापात

अधिक है। वर्तमान कर-प्रणाली में वाणिज्यिक फसलों के कृपको पर खाद्यान्न उपजाने वालों की अपेक्षा करापात कम है। इसी प्रकार बड़े कृपकों की अपेक्षा छोटे कृपको पर, सिंचित क्षेत्र वालों की अपेक्षा असिंचित क्षेत्र वालों पर करवाह्यता अधिक है। आन्तर-क्षेत्रक समता सुनिश्चित करने के लिए यह जरूरी है कि बड़े कृपको पर कर आरोही हो। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कृषि-क्षत्रक में आय-वितरण में बड़ी असमानता है।

हमारी कृषि-नीति भी चयनात्मक रही है। उदाहरणतः सघन कृषि-जिला-कार्यक्रम तथा सघन कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम (आई. ए. डी. पी. एण्ड आई. ए. ए. पी.) उन क्षेत्रो तक सीमित रहे हैं जहाँ जल, बीज, उर्वरक, कीटनाशी पदार्थ तथा अन्य निविष्टियों की सप्लाई आश्वस्त थी। ये कार्यक्रम कृष्य भूमि के केवल १० प्रतिशत क्षेत्र मे चालू किये गये हैं। स्वाभाविक ही है कि इन क्षेत्रो के कृपक सरकार की कृषि-नीतियो से सीधे लाभान्वित हुए हैं यद्यपि इन्हें कर का कोई अतिरिक्त बोझ सहन नहीं करना पड़ा। कहने का अभिप्राय यह है कि ६० प्रतिशत निर्धन कृपक १० प्रतिशत धनी कृपको को आर्थिक सहायता देते रहे हैं और ये १० प्रतिशत लोग ६० प्रतिशत लोगो के हितों की उपेक्षा के कारण विकास के लाभ प्राप्त करते रहे हैं। इस बात का कोई औचित्य नहीं है कि इन कार्यक्रमों ने लाभान्वित लोगो की अतिरिक्त आय कर से मुक्त रखी जाए। इस आन्तर क्षेत्रक असमता का निवारण अतिरिक्त कर लगा कर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार देश के विभिन्न राज्यो मे प्रति एकड़ भू-राजस्व दरो मे काफी अन्तर है। बिहार, उत्तर प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश मे कर-वाह्यता अधिक है। पंजाब, तमिलनाडु, मैसूर (कर्नाटक) में उत्पादिता सर्व भारत औसत की अपेक्षा अधिक है परन्तु प्रति एकड़ भू-राजस्व दरें बहुत कम हैं। इसी प्रकार अनेक राज्यों मे कृषि-आय कर लगाया गया है जबकि पंजाब, हरियाणा व गुजरात मे ऐसा कोई कर नहीं है। महाराष्ट्र मे यह कर केवल बागानों पर लगाया गया है। इस प्रकार कर के स्वरूप तथा संरचना मे समानता का अभाव है। इसी संदर्भ में चौथी योजना में यह सुझाव दिया गया है कि 'कृषि-क्षेत्रक से अधिक धनराशि प्राप्त करने के लिए उन राज्यों में जहाँ कृषि आयकर लागू है, इसे विकसित करने की आवश्यकता है जबकि जहाँ अभी तक कृषि-आयकर लागू नहीं है, इसे लगाने की आवश्यकता है। यह भी जरूरी है कि कर की दर केवल सब राज्यो मे ही एक समान न हो बल्कि कृषीतर-आय पर संघीय कर दर के भी समान हो। एक विकल्प यह भी हो सकता है कि भू-राजस्व पर आरोही दरो से अधिभार(सरचार्ज)लगाया जाए जो जोत के क्षेत्र या उपजाई गई फसल की किस्म के अनुरूप हो'।

इसमे कोई शक नहीं है कि ग्रामीण क्षेत्रक अव-करारोपित (अन्डर टैक्स्ड) है परन्तु अन्तर-क्षेत्रक असमता (इन्टरसेक्टोरल) का विश्लेपण करने से पहले अप्रत्यक्ष करों के बारे में जान लेना चाहिए क्योंकि अप्रत्यक्ष करो की दृष्टि से भी कृषि क्षेत्र पर करापात कम है।

(ग) अप्रत्यक्ष कर (इनडाइरेक्ट टैक्सेज)—विकासशील अर्थव्यवस्था में कराधान केवल राजस्व-प्राप्त करने के लिए ही आवश्यक नहीं बल्कि अन्य आर्थिक ध्येयो की पूर्ति हेतु भी महत्वपूर्ण है। उपभोक्ता-सामान पर कर लगा कर समाज के धनी वर्गों द्वारा बहुत अधिक मात्रा में वस्तुओं की खपत को रोका जा सकता है, निर्यात योग्य अधिशेषों को प्राप्त किया

जा सकता है और उत्पादक ससाधनों का वाछनीय आवटन किया जा सकता है। कुछ क्षत्रो मे इसका उपयोग उत्पादकों के अधिशेष को जमा करने के साधन के रूप मे किया जा सकता है और इस प्रकार यह उत्पादको की आय पर कर के समान कार्य करता है।

अप्रत्यक्ष कर वे परिवर्ती कर हैं जो कृषि पदार्थों के स्वामित्व मे परिवर्तन के समय लगाये जाते है। इनका प्रबन्ध करना बडा आसान है परन्तु ये उत्पादन मे वृद्धि को अनुत्साहित करते हैं। निर्यात करो के रूप मे ये निर्यात मूल्य का एक अश होते हैं तथा कीमतो को स्थिर करने के लिए उपयोग किये जा सकते हैं। बर्मा, घाना, युगाडा तथा थाईलैंड कृषि-पण्यो के प्रमुख निर्यात करने वाले देश हैं और वे अप्रत्यक्ष निर्यात करों का उपयोग करते हैं। आतरिक अर्थव्यवस्था मे ये उपभोग पर बिक्री करो के रूप मे या कृषि-वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने लेजाने पर लगाए जा सकते हैं। भारत मे बिक्री कर तथा अन्त-र्राज्य बिक्री कर अप्रत्यक्ष कर हैं।

यद्यपि इन करो का निर्वाह-मात्री खेती करने वाले कृपको (सबसिस्टैंस फार्मर्स) पर प्रभाव अधिक नही है परन्तु निम्न आय वाले नगरीय उपभोक्ता इनसे काफी दुखी होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बिक्री-दरों मे अन्तर-राज्य एकसमानता लाई जाए और वर्तमान कर प्रणाली की जटिलताओ को दूर किया जाए।

कराधान जांच आयोग ने १९५३–५४ मे ग्रामीण तथा नगरीय परिवारों के लिए अप्रत्यक्ष करो के भार का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचा कि केन्द्रीय तथा राज्य करो की कर-वाह्यता ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगर-क्षेत्रों मे अधिक है। व्यय के सदर्भ मे अप्रत्यक्ष करो की कर-वाह्यता कुल व्यय मे कर की प्रतिशतता द्वारा व्यक्त की जाती है। सारणी १३.५ मे व्यय अनुसार कर-वाह्यता के आँकड़े दिए गए है।

सारणी १३.५ सर्व भारत व्यय स्तर अनुसार अप्रत्यक्ष कर-वाह्यता (१९५३–५४)
(कुल व्यय के प्रतिशत मे कर)

व्यय वर्ग (मासिक व्यय) रुपयों में		नगरीय परिवार	ग्राम परिवार	सर्व भारत
१–५०	....	३.३	२.२	२.४
५१–१००	....	४.४	२.३	२.७
१०१–१५१	....	५.१	२.७	३.१
१५१–३००	....	५.१	२.८	३.३
३०० से अधिक	....	८.३	४.४	५.६
सर्व वर्ग	....	५.९	२.९	३.६

स्रोत : टेक्सेशन इनक्वायरी कमीशन्स रिपोर्ट भाग १, अध्याय ५, इनसिडेन्स

वित्त मत्रालय के कर अनुसधान एकक के अनुसार १९५८–५९ में कुल व्यय मे अप्रत्यक्ष कर का अनुपात ५.७ प्रतिशत था जो वित्त मत्रालय के ही एक अध्ययन अनुसार १९६३–६४

में बढ़कर १०.१ प्रतिशत हो गया। ग्रामीण परिवारों में कर-वाह्यता व्यय के ८ प्रतिशत थी जबकि नगरीय क्षेत्रो के लिए कर-वाह्यता १६.६ प्रतिशत थी।

इसी प्रकार अप्रत्यक्ष कराधान की राज्यवार कर-वाह्यता मे भी बड़ा अन्तर है। १९६३-६४ में उडीसा मे प्रति व्यक्ति मासिक कर पजाब की अपेक्षा आधे से भी कम था। सर्व भारत औसत मासिक कर २.६८ रु० प्रति व्यक्ति था तथा आध्र प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान मे औसत से कम था। इससे सिद्ध होता है कि कृषि कराधान प्रणाली समता तथा न्याय के सिद्धान्त पर आधारित नही है। अब हम इस स्थिति मे हैं कि कर-प्रणाली को अन्तर-क्षेत्रक असमता के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देख सकें।

यह एक सत्यापित तथ्य है कि ग्रामीण-क्षेत्रक अव-करारोपित (अन्डर टैक्स्ड) है। कृषि आय तथा कृषीतर-आय पर कराधान दरों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय आयकर-पद्धति अत्यधिक अव्यवहार्य है।

एक अध्ययन के अनुसार १९५०–५१ से १९६४–६५ की अवधि के दौरान कृषि-क्षेत्रक औसतन अपनी आय का ३.५ से लेकर ७ प्रतिशत तक कर के रूप मे देता रहा है जबकि कृषीतर क्षेत्रक अपनी आय का इस प्रतिशतता मे दुगुना कर देता रहा है।

भारत मे अन्तर-क्षेत्रक (अन्डर सैक्टोरल) कर भारो का अनुमान लगाने के लिए अनेक गहन अध्ययन किये गये हैं जिनमे से कुछ एक का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। डा. एस. एल. शेट्टी. ने अपने अनुसधान अध्ययन "टैक्स बर्डन आन फार्म एण्ड नान-फार्म सैक्टर्स इन इडिया (एन इन्टरसैक्टोरल एण्ड इन्टर क्लास एनालिसिस), १९७०" मे कर भार के अनुमान लगाए है। उनके अनुसार १९५१–१९६९ के १८ वर्षों में फार्म क्षेत्रक पर प्रति व्यक्ति औसत कर भार ९ रु० से ३५ रु० के बीच रहा जबकि फार्मेतर-क्षेत्रक पर इसी अवधि में कर भार प्रतिव्यक्ति ३८ रु० से १४३ रु० के बीच रहा। फार्म क्षेत्रक पहली योजना, दूसरी योजना, तीसरी योजना तथा वार्षिक योजनाओ (१९६६–६९) की अवधि मे अपनी आय का क्रमशः ५ १, ६ ७, ९.१ तथा ७ ९ प्रतिशत कर के रूप मे दे रहा था। जबकि फार्मेतर क्षेत्रक का अशदान अपनी आय का क्रमशः ८.२, १०.९, १६ ० तथा १८.४ प्रतिशत था। कृषि-क्षेत्र मे प्रयक्ष करों का भार आय के क्रमशः १.५, १.७, १.६ तथा ०.९ प्रतिशत था जबकि कृषीतर क्षेत्रक मे यह भार ढाई से सात गुना तक था।

महेश पाठक तथा अरुण पटेल ने अपने अध्ययन 'एग्रीकल्चरल टैक्सेशन इन गुजरात' (एशिया पब्लिशिंग हाउस बाम्बे, १९७०) मे अनुमान लगाया है कि गुजरात मे कृषि-क्षेत्रक का कुल कराधान-भार (प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर) प्रतिव्यक्ति आय का १२ प्रतिशत है जबकि कृषीतर-क्षेत्रक में यह प्रतिव्यक्ति आय का लगभग २० प्रतिशत है। वेद. पी. गाँधी तथा ई. टी. मैथ्यू ने भी अन्तर-क्षेत्रक तथा अन्तर-क्षेत्रक असमता का विश्लेषण किया है।

वेद गाँधी ने अपने अध्ययन 'टैक्स बर्डन आन इन्डियन एग्रीकल्चर' (इन्टरनेशनल प्रोग्राम टैक्सेशन हार्वर्ड लॉ स्कूल कैम्ब्रिज, मास १९६६) में असमानताओ को दर्शाने के लिए सीमात कर भार (मार्जिनल टैक्स बर्डन) का प्राक्कलन किया है। क अवधि में **अतिरिक्त करों का अतिरिक्त आय से अनुपात सीमांत कर-भार को व्यक्त करता है।** वेद गाँधी के अनुसार १९५०-५१ से १९६४–६५ की अवधि मे कृषि क्षेत्रक के लिए सीमात कर भार केवल ७.५

प्रतिशत था। जबकि कृपीतर-क्षेत्रक के लिए यह ४४ प्रतिशत था। इससे पता चलता है कि कृपीतर-क्षेत्रक आर्थिक विकास के प्रक्रम के वित्तीयन के लिए लगाये गये अतिरिक्त करों के भार को कितने असमानुपाती तरीके से सहन करता रहा है ?

गांधी, मैथ्यू तथा शेट्टी ने कृषि तथा कृपीतर क्षेत्रको मे सापेक्ष कर भारों के अनुमान लगाए हैं। उनकी तुलना सारणी १३.६ मे की गई है। गांधी के अनुमान १९५०–५१ से १९६४–६५ की अवधि के लिए हैं जबकि मैथ्यू के केवल एक वर्ष १९५८–५९ के लिए है।

सारणी १३.६ सापेक्ष कर-भार के विभिन्न अनुमानो की तुलना

(करोड़ रु०)

अवधि/वर्ष	प्रत्यक्ष कर			अप्रत्यक्ष कर		
	कृषि क्षेत्र	कृपीतर-क्षेत्र	सापेक्ष भार	कृषि क्षेत्र	कृपीतर क्षेत्र	सापेक्ष भार
वेद गांधी के	(१)					
प्रथम योजना (औसत)	७६.७६	१९७.२७	२.५७	१४७.२३	२४९.३२	१.६९
दूसरी योजना (औसत)	१०९.६२	२८१.२९	२.५७	२४५.०१	४५३.२२	१.८५
तीसरी योजना (औसत)	१३९.००	५१४ ०९	३.७०	३९६.२०	९२९.३९	२.३६
मैथ्यू के अनुमान	(२)					
१९५८–५९	११३.४६	२१२ ६१	१.८७	३१०.९९	३६२.१६	१ १६
शेट्टी के अनुमान	(३)					
प्रथम योजना (औसत)	७७ १२	१९८ ४६	२.५७	१७८.४०	२०९.१३	१.१७
दूसरी योजना (औसत)	१०८.२७	२८२ २६	२.६१	३१०.८७	३९५.२०	१.२७
तीसरी योजना (औसत)	१३७.५६	५५६ ८५	४.०५	६६८.७७	८७४.५	१.३१
१९६६–६९ (औसत)	१२९.३८	७४२ ९३	५.७४	१०५६.७४	१४०८.६८	१.३३

स्रोत: १. वेद पी० गांधी के 'टैक्स बर्डन ऑन इण्डियन एग्रीकल्चर' पूर्वोक्त पृष्ठ ५३

२. ई० टी० मैथ्यू के एग्रीकल्चरल टैक्सेशन एण्ड इकोनोमिक डेवलपमेंट इन इण्डिया, १९६८ (एशिया)

३. शेट्टी—पूर्वोक्त

वेद गांधी, मैथ्यू तथा शेट्टी के कर भार के अनुमानो मे अन्तरो का मुख्य कारण धारणाओं और विधि की भिन्नता है। जहां तक गांधी और शेट्टी के अनुमानो की तुलना का सबंध है, प्रत्यक्ष करो के सापेक्ष कर भार में कोई विशेष अन्तर नही है परन्तु अप्रत्यक्ष करों के सापेक्षभार मे काफ़ी अंतर है। यह अंतर इसलिए है कि दोनो द्वारा विभिन्न अप्रत्यक्ष करों को कृषि तथा कृपीतर क्षेत्रक मे विभाजन के लिए भिन्न-भिन्न विधियाँ अपनाई गई हैं। विशेषकर केन्द्रीय उत्पादन शुल्क तथा आयात शुल्क के बटवारे मे दोनो मे काफी अन्तर है।

परन्तु विभिन्न अनुमानों से एक बात स्पष्ट है कि सापेक्ष प्रत्यक्ष कर-भार अनुपात अप्रत्यक्ष कर भार-अनुपातो की तुलना मे बहुत अधिक हैं जिसका अर्थ यह है कि कृषि तथा कृपीतर-क्षेत्रो मे अप्रत्यक्ष करो के भार में उतनी असमानता नही है जितनी कि प्रत्यक्ष करो

के भार मे है। गांधी के अध्ययन के अनुसार पहली तीन पचवर्षीय योजनाओं की अवधि मे सापेक्ष कर भार-अनुपात २.५७ से ३.७० के बीच मे रहे हैं जबकि शेट्टी के अनुसार ये अनुपात २.५७ से ४.०५ के बीच रहे हैं। १९६६–६९ की अवधि के लिए शेट्टी के अनुसार यह अनुपात ५.७४ था। दोनो अध्ययनो से स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र के लिए प्रत्यक्ष कर भार कृषीतर क्षेत्र-पर प्रत्यक्ष कर भार की अपेक्षा बहुत कम है अर्थात् कृषि-क्षेत्रक प्रत्यक्ष करो के सदर्भ मे अव-करारोपित है। भारत के भू-राजस्व तथा कृषि-आयकर दो मुख्य प्रत्यक्ष कर हैं और उपरोक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि कृषि-क्षेत्रक पर और अधिक कर लगाना उचित ही होगा। इस दिशा मे कृषि-क्षेत्रक विस्तृत सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है।

मैथ्यू, गांधी तथा शेट्टी ने फार्म तथा फार्मेतर-क्षेत्रको मे प्रति व्यक्ति प्रत्यक्ष करों तथा अप्रत्यक्ष करो के सापेक्ष भार के भी अनुमान लगाए है। अध्ययनो से यह पता चला है कि दोनो क्षेत्रको मे अप्रत्यक्ष करो के सापेक्ष प्रति व्यक्ति भार (रिलेटिव पर कैपिटा बर्डन) मे इतनी अधिक असमानता नही है जितनी कि प्रत्यक्ष करो के सापेक्ष प्रति व्यक्ति भार मे है। **वास्तव में दोनों क्षेत्रकों मे कर भार में अन्तर प्रत्यक्ष करों के सापेक्ष भार के अत्यधिक अंतरो के कारण है।** कृषि-क्षेत्रक पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर भूमि कर है। भूमि कर जिलो, गांवो और यहाँ तक कि व्यक्तिगत कृषको के बीच बडी असमता से लागू है। इसलिए कृषि-कराधान मे सुधार करने को परमावश्यकता है ताकि इसे न्याय-सगत तथा लोचशील बनाया जा सके। **संक्षेप मे कृषि-आय पर कर लगाने से खजाने के लिए केवल राजस्व ही प्राप्त नहीं होगा बल्कि इससे कराधान-पद्धति को अधिक समता भी प्राप्त होगी।**

इस सम्बन्ध में ये बातें भी उल्लेखनीय हैं:—

(i) समृद्ध कृषको का सार्वजनिक व्यय के वित्तीयन मे अंशदान समृद्ध अकृषको की तुलना मे बहुत कम रहा है।

(ii) कृषि-कराधान कई दशाओ मे अवरोही है जबकि कृषीतर-क्षेत्रक मे कराधान आरोही है।

(iii) अनेक राज्यो मे कृषि-आय कर नही लगाया गया है। जहाँ लगाया भी गया है, वहाँ भी ग्रामीण क्षेत्रक का उच्चतर आय वर्ग अवकरारोपित (अन्डर टैक्स्ड) है।

(iv) इस समय अधिकाश कर-भार कर्मचारियो (वेतन-प्राप्तकर्ताओ), लाभ तथा अन्य फार्मेतर आय कमाने वालों पर है। कराधान के व्यापकीकरण की आवश्यकता है और कृषि आय को इसमे छूट देने का कोई औचित्य नही।

(v) राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण अपनी आय का केवल २.७ प्रतिशत बचाते हैं जबकि वे ब्याह-शादियो, नशीले पदार्थों (शराब आदि), तम्बाकू, पान, मनोरजन पर अपनी आय का १० प्रतिशत से भी अधिक खर्च करते है। कर लगाकर इन अनावश्यक खर्चों से बचा जा सकता है और इससे उन्हे कोई विशेष कष्ट नही होगा।

(vi) कृषि-आय पर कर लगाने का एक लाभ यह होगा कि अधिक कृषि-अधिशेष

(माल)मंडियो मे आएगा और सरकार अपनी खाद्य और कीमत-नीतियों को अच्छी प्रकार से कार्यान्वित कर सकेगी। इससे अधिक आर्थिक स्थिरता प्राप्त होगी।

अंतत हम कह सकते हैं कि अल्प विकसित देशों मे आर्थिक विकास हेतु पूँजी निर्माण के लिए यदि कृषि से कृषीतर क्षेत्रक में पूँजी का अन्तरण जरूरी है, तो कृषि आय पर अतिरिक्त कर इसका एक दक्ष साधन है।

कई बार यह संदेह प्रकट किया जाता है कि कृषि-आय पर कर एक प्रकार से कृषकों की दक्षता पर दंड होगा और इससे उत्पादन पर कुप्रभाव पड़ेगा परन्तु जापान जैसे देशो के अनुभवो से यह सिद्ध हो गया है कि कृषि-कर उत्पादिता तथा दक्षता बढ़ाने मे प्रेरक सिद्ध हुए है और यह संदेह मिथ्या है। कृषक, कर से छुटकारा पाने मे इतनी रुचि नही रखते जितनी कि रुचि वे अपनी आय को बढ़ाने मे रखते है।

औद्योगीकृत देशो मे प्राप्त अनुभव विकासशील देशो की नीतियों के निर्धारण में काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकते है। जापान, इंगलैंड तथा फ्रांस में प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कृषि-क्षेत्रक से पूँजी अंतरणों का (चाहे ये राजकोषीय उपायों से हों या संस्थानिक प्रबन्धो द्वारा अथवा व्यापार-अर्घ (व्यापार-स्थिति) के माध्यम से हो) इन विकसित देशो में लागत कम करने तथा उत्पादन बढ़ाने की दक्षता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। बहुत से विकासशील देशो मे कृषि के अन्तर्गत क्षेत्र मे विस्तार सम्भव नही है। इसलिए कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करने हेतु वहाँ दक्षता को बढ़ाना बहुत जरूरी है। कृषि-कराधान कृषि-क्षेत्रक के विकास की गति को मंद नही करेगा। वास्तव मे इसके फलस्वरूप दक्षता-वृद्धि हेतु पड़ने वाला दबाव तथा नवीन टैक्नॉलोजी व निविष्टियों का उपयोग उत्पादन को बढ़ाने मे सहायक होंगे।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कृषि कराधान की वर्तमान प्रणाली असमीचीन तथा लोचहीन है और धन तथा आय के संकेद्रण को बढ़ावा देती है। चौथी योजना के पहले दो वर्षों मे वास्तविक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का ५२ प्रतिशत कृषि-क्षेत्रक को प्राप्त हुआ है। इसके काफ़ी भाग को विकास के लिए जुटाया जा सकता है। राज्यों को इस कार्य मे महत्व-पूर्ण भूमिका निभानी है।

कृषि-क्षेत्र अल्प-करारोपित है और कृषि-आय को केन्द्रीय आय कर के व्यापक ढांचे से अलग रखना काफी कर-वंचन (टेक्स इवेजन) का एक स्रोत है। कृषि आय को प्रत्यक्ष आय-कराधान के व्यापक ढांचे के अंतर्गत लाने की उपयुक्त विधि यह है कि कृषि तथा कृषीतर दोनो प्रकार की आय पर कर की एकीकृत प्रणाली (यूनीफाईड सिस्टम ऑफ टैक्स) लागू की जाए। संविधान की धारा २५२ के अधीन राज्य केन्द्रीय सरकार को शक्ति सौंप सकते हैं ताकि केन्द्रीय सरकार कृषीतर-आय के साथ-साथ कृषि-आय पर भी कर लगा सके। कृषि आय से प्राप्त होने वाला कर परस्पर सहमति के आधार पर राज्यो मे बाँटा जा सकता है।

१३.७ कृषि-कराधान मे वृद्धि हेतु सुझाव

हमारे अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत मे कृषि-कराधान का विकास नहीं हुआ। वास्तव

मे भू-राजस्व तथा कृषि-आय का भार कम होता जा रहा है। कृषि-क्षेत्रक के राजकोषीय अंशदान मे वृद्धि करने के लिए निम्न सुझाव विचारयोग्य हैं।

(i) **भू-राजस्व सुधार संबंधी सुझाव**—हम भू-राजस्व के स्वरूप तथा इसकी कर-वाह्यता का अध्ययन कर चुके हैं। हम इस बात का उल्लेख कर चुके है कि किसी भी दृष्टि से देखा जाए भू-राजस्व न्यायसगत तथा सम्यक् नही है। उत्पादिता के विचार से भी भू-राजस्व का निष्पादन आशा के अनुकूल नही। इसके अतिरिक्त भू-राजस्व मे लचक भी नही है। जहाँ तक कर के आर्थिक प्रभावो का प्रश्न है यह ठीक है कि भू-राजस्व अधिक उपजाने की प्रेरणाओं को कुप्रभावित नही करता और न यह संसाधन उपयोग की दिशा में कोई परिवर्तन लाता है परन्तु राजस्व के स्रोत के रूप मे या फार्म-आय के कराधान के साधन के रूप मे यह असफल रहा है। भू-राजस्व से कृषि आय के १ प्रतिशत से भी कम की आय प्राप्त होती है। इसलिए इस राशि को बढाने की बडी आवश्यकता है। इस सबंध मे अनेक सुझाव रखे गये हैं जिनमें से कुछ एक का वर्णन हम कर चुके हैं। ये सुझाव इस प्रकार हैं:

(१) अत्यधिक अनार्थिक जोतों पर भू-राजस्व समाप्त कर दिया जाए।

(२) वर्तमान भूमि जोतों को मानक एकडो के अनुसार पुनः वर्गीकृत किया जाए।

(३) अनार्थिक जोतो को छोड कर शेष जोतो पर आरोही दर से भू-राजस्व लगाया जाए और ऐसा सभाव्य नेट आय पर किया जाए।

(४) कृषि कीमतो मे परिवर्तनो के अनुरूप भूराजस्व-दरो में आवधिक सशोधन किये जाएँ।

(५) जहाँ तक संभव हो विभिन्न राज्यो मे भू-राजस्व दरो मे एक समानता लाई जाए आदि-आदि।

भारत में भू-राजस्व से प्रतिवर्ष ११७ करोड रुपये प्राप्त होते है जबकि नेट फसल क्षेत्र लगभग ३४ करोड एकड़ है। इस प्रकार भू-राजस्व की औसत दर ३ ५० रु० प्रति एकड़ बनती है। इस समय ७२ प्रतिशत कृषक ऐसे हैं जिनकी जोतें ५ एकड (२.०२ हैक्टर) से कम की हैं। यदि इन छोटी जोतो पर भू-राजस्व को समाप्त कर दिया जाए, तो ७२ प्रतिशत छोटे कृषकों को इस कर के भार से मुक्ति मिलेगी परन्तु ये ७२ प्रतिशत कृषक केवल २० प्रतिशत भूमि के स्वामी हैं। इससे भू-राजस्व की प्राप्ति मे लगभग २३–२४ करोड़ रुपये की हानि होगी। भूमि की जोत की अधिकतम सीमा १८ एकड (सिंचित क्षेत्र) से ५४ एकड़ (शुष्क क्षेत्र) के बीच रखी गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिन लोगों के पास १८ एकड़ से जितनी भी अधिक भूमि होगी उनके पास असिंचित क्षेत्र का अनुपात उतना ही अधिक होगा। इसलिए यदि २० एकड तक की जोतो पर आरोही दर से भू-राजस्व लगाया जाए तो २० एकड से अधिक की जोतों पर उच्चतम सीमा पहुँचने के बाद कर की दर अवरोही होनी चाहिए। विशेषकर, भूमि-सीमा के नियमो के लागू होने के बाद तो यही उचित है। कहने का अभिप्राय यह है कि भू-राजस्व समजनीय दर (स्लाईडिंग स्केल) से लगाया जाए।

प्रस्ताव इस प्रकार हैं:-

जोत का आकार	राजस्व दर पर अधिभार	अनुमानित भू-राजस्व
०— ५ एकड	कर मुक्त	—
५—१० एकड	५० प्रतिशत	३६ करोड़ रुपये
१०—१५ एकड	१०० प्रतिशत	३२ ,, ,,
१५—२० एकड	२०० प्रतिशत	३६ ,, ,,
२०—३० एकड ३०—५४ एकड	सीमान्त समायोजन (मार्जिनल एडजस्टमेंट)	८६ ,, ,,
	कुल	१९० करोड़ रुपये

कराधान जांच आयोग ने भी यह सिफारिश की थी कि सारे देश मे भू-राजस्व का मानकीकरण किया जाए। दूसरे शब्दो मे वर्तमान भूमि जोतो का मानक एकड़ों मे पुनः वर्गीकरण करने तथा समाव्य नेट आय पर भू-राजस्व के आरोही दर लगाने की जरूरत है। यदि इस सुझाव को कार्यान्वित कर लिया गया होता तो इससे भूमि-कराधान के युक्तीकरण मे काफी सहायता मिलती, परन्तु इस पर कोई घ्यान नही दिया गया। अब समय अनुकूल है। विभिन्न राज्यो मे भूमि-जोतो की उच्चतम सीमा-निर्धारण सबधी नियमो का कार्यान्वयन इस सदर्भ मे भू-जोतो के पुनर्वर्गीकरण का स्वर्णिम अवसर प्रदान करता है। भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(i) 'क वर्ग भूमि'—वह भूमि जहां सिचाई सुविधाएँ आश्वस्त हों और जिसमें वर्ष मे दो फसलें उपजाने की क्षमता हो (सरकारी नहरो तथा नल कूपो द्वारा सिंचित)

(ii) 'क क वर्ग भूमि'—वह भूमि जिसमे आश्वस्त सिचाई सुविधाओं के अधीन वर्ष मे दो फसलें उपजाने की क्षमता हो परन्तु जिसे निजी नल कूपो द्वारा सिंचित किया जाता हो।

(iii) 'ख वर्ग भूमि'—आश्वस्त सिंचाई के अतर्गत वर्ष मे एक फसल देने वाली भूमि

(iv) 'ग वर्ग भूमि'—उपरोक्त किस्म की भूमियो को छोड़ कर बागान समेत शेष हर प्रकार की भूमि।

जोत की भूमि का मूल्याकन विभिन्न वर्गों की भूमि को 'ग वर्ग की भूमि' मे निम्न सूत्र अनुसार परिवर्तन कर किया जा सकता है :

क वर्ग की १ इकाई = क क वर्ग की १.२५ इकाइयां = ख वर्ग की १.५ इकाइयां = ग वर्ग की ३ इकाइयां

क्योंकि 'ग वर्ग की भूमि' की जोत की उच्चतम सीमा २१.८ हैक्टर (५४ एकड़) निर्धारित की गई है। इसलिए जोतो पर 'ग वर्ग की भूमि' के आधार पर भू-राजस्व लगा कर भू-राजस्व का मानकीकरण किया जा सकता है, इससे भू-राजस्व मे आय तथा कीमत के अनुसार लोचशीलता के गुण का समावेश किया जा सकता है। हमारे उपरोक्त १९० करोड़ के अनुमानित भू-राजस्व के अनुमान मे सीमात-समायोजन का आशय यही था कि भू-

राजस्व भूमि की उत्पादिता तथा उपज सभाव्य के आधार पर लगाया जाना चाहिए। तभी इसका युक्तीकरण किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भी भू-राजस्व प्राप्तियों के सवर्धन के लिए अनेक सुझाव दिये जाते रहे हैं जिनमें से महत्त्वपूर्ण ये हैं—

(क) वाणिज्यिक फसलों पर उपकर (सेस ऑन कामशियल क्रॉप्स)—हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि वाणिज्यिक फसलो के उत्पादको पर कर-वाह्यता अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि इनके उत्पादन मे पिछले कुछ वर्षों मे अधिक वृद्धि नही हुई परन्तु इनकी कीमतो में तेजी से वृद्धि हुई है। इसलिए आन्तर-क्षेत्रक न्याय का तकाज़ा है कि इन फसलो के उत्पादकों पर भू-राजस्व के साथ-साथ अतिरिक्त कर लगाया जाए। कॉफ़ी, तम्बाकू तथा चाय केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क के अंतर्गत आते हैं और उन पर अधिक कर लगाने का क्षेत्र सीमित है। भारत मे गन्ना, मूँगफली, कपास तथा पटसन कुल फसल क्षेत्रफल के लगभग १२ प्रतिशत भाग मे उपजाई जाती हैं अर्थात् इन चार फसलो का कुल क्षेत्र लगभग ४.१ करोड़ एकड़ है। यदि इन पर सारे भारत मे ५ रुपये प्रति एकड़ उपकर लगाया जाए तो २० करोड रुपये की अतिरिक्त प्राप्ति हो सकती है।

(ख) सिंचाई-दरों या जल-दरों में वृद्धि (एनहैन्समेंट ऑफ इरीगेशन, और वाटर रेट्स)—राज्य-सरकारें वाणिज्यिक सिंचाई निर्माण-कार्यों तथा बहुमुखी परियोजनाओं पर लगभग प्रति वर्ष ८१ करोड़ रुपये की वार्षिक हानि उठा रही हैं। सिंचाई-परियोजनाओ से वित्तीय प्रतिफलो मे सुधार हेतु उपाय सुझाने वाली निर्जिलिंगप्पा समिति ने यह सिफारिश की थी कि सिंचाई-दर सिंचित फसलों से कृषकों को प्राप्त अतिरिक्त नेट लाभ के २५ से ४० प्रतिशत तक होने चाहिएँ और जहाँ इस नेट लाभ का अनुमान न लगाया जा सके, वहाँ ये दर सिंचित फसलों से कुल आय का ५ से १२ प्रतिशत तक होने चाहिएँ। समिति ने अनुरक्षण तथा सचालन व्यय को पूरा करने हेतु अनिवार्य अधिभार तथा खुशहाली-कर का सुझाव दिया था। अधिकांश भार कृषि-क्षेत्रक पर पड़ेगा क्योंकि वह इनसे प्रत्यक्षतः लाभान्वित होता है। इन दरों मे वृद्धि कर के भी कुछ अतिरिक्त उगाही प्राप्त की जा सकती है।

भू-राजस्व से प्राप्ति के सवर्धन हेतु पिछले वर्षों मे अनेक राज्यो मे स्थानीय सस्थाओं द्वारा या स्थानीय सस्थाओ के लिए भू-राजस्व पर अनेक प्रकार के उपकर लगाए गए हैं। कई बार यह सुझाव दिया जाता है कि राज्य कर के रूप मे भू-राजस्व को समाप्त कर देना चाहिए तथा स्थानीय सस्थाओ को अपनी आवश्यकताओ तथा परिस्थितियों के अनुसार कर लगाने की छूट होनी चाहिए। इससे स्थानीय वित्त-व्यवस्था को सुदृढ किया जा सकता है। साथ ही कृषक इन करों के देने मे आना कानी नही करेंगे क्योंकि इनसे स्थानीय लाभ प्राप्त हो सकेंगे। उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भू-राजस्व को चाहे यह राज्य द्वारा इकट्ठा किया जाए अथवा स्थानीय सस्थाओ द्वारा, समाप्त करना आवश्यक नही। यह किसी न किसी रूप मे रहेगा। कई राज्य भू-राजस्व के एक भाग को या इस पर उपकरों की राशि को विशेष या सामान्य उद्देश्यो के लिए स्थानीय सस्थाओ को दे देते हैं। वैसे भी भू-राजस्व एक उत्तम स्थानीय कर है और यह स्थानीय स्वशासन-सस्थाओं द्वारा ही इकट्ठा किया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

अत. उपरोक्त अध्ययन मे स्पष्ट है कि भूमि पर अधिक कर होने चाहिए। उपरिलिखित सुझावो के अनुसार भू-राजस्व से प्रतिवर्ष १०० से १२५ करोड़ रुपये तक की प्राप्ति की जा सकती है। एक सुदृढ कर नीति के तीन सिद्धान्त होते हैं: (१) सामाजिक न्याय (२) प्रशासनिक व्यावहारिकता तथा (३) आर्थिक दक्षता।

कर निर्धारण मुख्यत भूमि की क्षमता तथा आर्थिक दक्षता पर आधारित होना चाहिए न कि उत्पादन पर। इससे कृषक लोग अधिक उत्पादन करने के लिए उद्यत तथा बाध्य होगे। हमारे भू-राजस्व के सवर्धन-सम्बन्धी सुझाव सामाजिक न्याय, प्रशासनिक व्यावहारिकता तथा आर्थिक क्षमता व दक्षता के सिद्धान्तो पर खरे उतरते हैं और इन्हें अदा करने मे कृषको को कोई कष्ट नही होगा।

(ii) **कृषि-आय-कर सम्बन्धी सुझाव**—भारतीय कराधान-जाँच समिति ने १६२५ मे अपनी रिपोर्ट मे कहा था 'कि कृषि से प्राप्त आयो की आयकर से लगातार छूट का कोई ऐतिहासिक तथा सैद्धातिक औचित्य नही है। परन्तु इसमे पूर्व कि हम इस विषय का आगे विवेचन करे, हमे कृषि-आय की परिभाषा का ज्ञान होना चाहिये।

भारतीय आयकर नियम, १६२२ के परिच्छेद २ (२) के अनुसार 'कृषि-आयो' से अभिप्राय है—

(क) कोई भी किराया या आय जो ऐसी भूमि मे प्राप्त हो जो कृषि-उद्देश्यो के लिए प्रयोग की जाती है और जिस पर या तो भारत में भू-राजस्व निर्धारित किया गया है या जिस पर सरकारी अधिकारियो द्वारा स्थानीय दर निर्धारित की गई है और इस प्रकार कर एकत्र किया गया है;

(ख) ऐसी भूमि से कोई भी आय जो

(i) कृषि द्वारा या (ii) कृषक अथवा जिन्स किरायाग्राही द्वारा साधारणतः अपनाये गये परिष्करण के सहारे जिससे उगाई गई या प्राप्त की गई उपज को बाजार के योग्य बनाया जाता हो, के निष्पादन से या (iii) कृषक अथवा जिन्स किरायाग्राही द्वारा बिना किसी परिष्करण के उपजाई गई या प्राप्त की गई उपजाई गई बिक्री से, प्राप्त हो।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि भारत में कुल कृषि-आयकर कृषि-आय के ०.१ प्रतिशत से भी कम है और यह भू-राजस्व से प्राप्त राशि का केवल दसवाँ भाग है। कृषि-आयकर के इस नगण्य-तुल्य अशदान का मुख्य कारण यह है कि यह कर सब राज्यो मे लागू नही किया गया और जिन राज्यो मे लागू भी किया गया है वे राज्य इसको प्रभावी ढग से लागू करने मे हिचकिचा रहे हैं। उदाहरणतः गुजरात, पजाब, तथा हरियाणा जैसे समृद्ध राज्य कृषि-आयकर लगाने से हिचकिचा रहे हैं। आध्रप्रदेश मे इसे लगाकर समाप्त कर दिया गया है। कृषि-आयकर के सबध मे एक विशेष बात यह है कि कुल आयकर का लगभग ७० प्रतिशत भाग तीन राज्यो असम, केरल तथा तामिलनाडु से प्राप्त होता है जहाँ बागानों की अधिकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-आयकर का अधिकाश भाग बागानो से प्राप्त होता है। राज्यो मे कृषि-आयकर की दरें प्रायः बहुत निम्न हैं। जम्मू व कश्मीर मे यह कर केवल वाणिज्यिक फसलों पर लागू है। कुछ राज्यो मे कृषि-आयकर के

लिए आय की छूट की सीमा बहुत ऊँची रखी गई है और उसमें काफी भिन्नता है विशेषकर के उस स्थिति मे जबकि सीमा का आधार जोत का क्षेत्रफल हो। कई राज्यों मे छूट की सीमा वहाँ निर्धारित उच्चतम सीमा से अधिक या इसके करीब रखी गई है, जिसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी कृषक पर कर नही लग सकेगा। उदाहरणार्थ पश्चिमी बगाल मे छूट की सीमा ८२ बीघा (२६.२४ एकड़) रखी गई। जबकि वहाँ उच्चतम सीमा ७५ बीघा (लगभग २५ एकड) थी। इसी प्रकार छूट की सीमा मैसूर मे निम्नतम वर्ग की भूमि के ५० एकड तथा मध्यप्रदेश मे ट्रैक्ट्रीकृत भूमि के लिए ५० एकड तथा अट्रैक्ट्रीकृत भूमि के लिए १०० एकड रखी गई। महाराष्ट्र मे कृषि-आय मे छूट सीमा ३६००० रुपये है। उत्तर-प्रदेश में छूट की सीमा ३६०० रुपये तथा ३० एकड भूमि है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि **अनेक राज्यों में छूट की अत्यधिक उच्च सीमाएँ वर्तमान कृषि-आयकर-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।** इसके कारण कृषि-आयकर का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर कोई आर्थिक प्रभाव नहीं पड सका। इसलिए इस दिशा मे सुधार की अत्यधिक गुंजायश है।

अनेक राज्यो में भू-राजस्व को प्रगतिशील व न्यायसंगत बनाने के लिए कदम उठाए जा रहे हैं और यह तर्क दिया जा रहा है कि भू-राजस्व के युक्तीकरण तथा सुधार के बाद कृषि-आय पर कर लगाने की कोई आवश्यकता नही है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कृषि-क्षेत्रक मे ऐसे लोग विद्यमान हैं जिनकी आय संशोधित भू-राजस्व देने के बाद भी इतनी अधिक होगी कि उन पर कर लगाया जा सके और क्या ऐसे समृद्ध वर्ग की आयकर से मुक्ति का परिणाम विषमताओ को बढ़ावा देना नही होगा ? कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि-क्षेत्रक मे मौजूद धनीवर्ग को कर से मुक्ति का कोई दैवीय अधिकार प्राप्त नही है और सामाजिक न्याय तथा आर्थिक दक्षता की दृष्टि से *उनकी आय पर उचित कर लगाना न्यायसगत है।*

कृषि-आयकर के आलोचकों को यह नही भूलना चाहिये कि भू-राजस्व मे सुधार, सशोधन व संवर्धन के बाद भी वर्तमान प्रत्यक्ष करो का कृषि-क्षेत्रक पर भार कृषि-आय के १.५ प्रतिशत से अधिक नही होगा जबकि कृषीतर-क्षेत्रक पर प्रत्यक्ष करो का भार आय के ६-७ प्रतिशत के बराबर है। इस सदर्भ मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कुल करों का कृषीतर-क्षेत्रक पर भार कृषि-क्षेत्रक की तुलना मे दुगुना या तिगुना है। इसलिए यह परमावश्यक है कि कृषि-क्षेत्रक मे भी समृद्ध कृषको की कृषि-आय पर कर लगाकर अधिक से अधिक ससाधनो का जुटाव किया जाए, यद्यपि इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि कृषि-क्षेत्रक मे कर-आधार अधिक विस्तृत तथा व्यापक नही है और इसे लागू करने मे अनेक प्रशासी तथा तकनीकी कठिनाइयाँ आ सकती हैं। यहाँ कृषीतर तथा कृषि-क्षेत्रक के कर-आधारों में अतर को समझ लेना चाहिए।

हाल ही मे किये गये कुछ अध्ययनो से पता चलता है कि फार्मेतर परिवार क्षेत्र मे *लगभग ७५ प्रतिशत प्रत्यक्ष कर भार ऐसे परिवारों को सहन करना पड़ता है जिनकी आय* १५००० रुपये प्रतिवर्ष से अधिक है। दूसरी ओर *आय-वितरण के अनुमानों से पता चलता* है कि फार्म-क्षेत्र में इतनी ऊँची आय वाले परिवारों की संख्या न के बराबर है (अर्थात् बहुत कम है)। इसलिए फार्म-क्षेत्र मे उच्च सीमात कर-दरों के लागू होने का क्षेत्र सीमित

है। इनके अतिरिक्त भूमि सुधार-उपायों के कार्यान्वयन, विशेषकर भूमि जोतो की उच्चतम सीमाओं के लागू होने से भू-उपविभाजन को बढ़ावा मिला है और इससे कृषि-आय-कर के कर-आधार पर दुष्प्रभाव पडा है। कहने का अभिप्राय यह है कि भूमि सीमा सम्बन्धी नियमो के प्रभावी ढग से लागू होने के बाद किसी भी परिवार की कृषि से प्राप्त आय को २५-३० हजार रुपये प्रतिवर्ष से अधिक होने की सम्भावना नही है। इस प्रकार कृषि आय-कर का क्षेत्र काफी सकीर्ण है। कृषि-क्षेत्र मे सारे कर का भार मध्य आय वर्ग को सहन करना पड़ेगा जबकि कृषीतर-क्षेत्रक में कर का बहुत बड़ा भाग उच्च आय वर्ग से प्राप्त होता है।

कृषि-आय की कर से मुक्ति फार्मेतर-क्षेत्र मे कर-वंचन (टैक्स इवेजन) का एक बड़ा साधन रही है। फार्मेतर-क्षेत्र मे कई लोग जो अपने व्यवसाय के साथ-साथ कृषि का काम भी करते रहे है, फार्मेतर-क्षेत्र मे प्राप्त आय को कृषि-आय के रूप मे दिखाते रहे हैं जिसके कारण उन्हे इस राशि पर आयकर से छट मिल रही है और इस प्रकार काफी फार्मेतर-आय कर से वचित रही है। इसलिए अच्छी बात तो यह है कि आय-कराधान के लिए कृषि तथा कृषीतर-आय को मिला दिया जावे। निस्सदेह इसके लिए सविधान मे सशोधन करना पडेगा। पाँचवे वित्त आयोग ने भी १६६६ मे इस सदर्भ मे तर्क दिया था कि 'कृषि तथा कृषीतर-आय दोनों पर एक ही आय कर लगाने से एक एकीकृत व्यवस्था के लाभ प्राप्त होंगे और अधिकाश आय को न्यून करारोपित या अ-करारोपित भागो मे दिखा कर लोगो को कर-वचन का अवसर प्राप्त नही होगा। ससार के उन्नत देशों मे भी ऐसी ही प्रथा है"। परन्तु सब राज्यो का इस व्यवस्था से सहमत होना सभव नही है। अनेक राज्य सम्वत: अपनी वित्तीय स्वायत्तता को छोड़ने के लिए तैयार नही होंगे। इसलिए सविधान-सशोधन को छोडकर वर्तमान परिस्थितियो मे सर्वोत्तम मार्ग यह है कि कृषि-आय-कर मे, जहाँ तक सम्भव हो सके, केन्द्रीय आयकर की अधिकाश विशेषताओ का समावेश किया जाए। यह ध्यान रहे कि कृषि-आय पर कृषीतर-आय की अपेक्षा कर-दर कम होने चाहिएँ क्योंकि भू-राजस्व तथा जल-दर आदि अधिभारो के कारण कृषको की करदान-क्षमता (टैक्सेबिल कैपेसिटी) कम हो जाती है। विकल्प मे इन करो तथा अधिभारो को कर योग्य राशि से घटाया जा सकता है। नेट कर योग्य आय प्राप्त करने के लिए उचित निर्वाह राशि की छट देनी पड़ेगी।

राज-समिति ने अक्तूबर, १६७२ मे दी गई अपनी रिपोर्ट मे अनेक सुझाव दिए हैं, उनमे से कुछ महत्वपूर्ण मुद्दो का विवेचन नीचे किया जा रहा है।

समिति ने सिफारिश की है कि कृषि तथा कृषीतर आयो के कर-निर्धारण के लिए कर अदा करने वाली इकाई 'परिवार' होनी चाहिए। यह तर्क बिल्कुल उचित है क्योंकि भूमि-जोतो की उच्चतम सीमाएँ परिवार-जोतो पर लागू होंगी इसलिए कृषि-जोत-कर भी परिवार जोत पर ही लागू होना चाहिए।

ऐसी जोतो के बारे मे जिन पर एक से अधिक फसलें उगाई जाती हैं राज-समिति का सुझाव है कि एक जिले या क्षेत्र की फसलो का थोड़े से फसल वर्गों मे वर्गीकरण कर लेना चाहिए और प्रत्येक ऐसे वर्ग के लिए औसत दर-योग्य मूल्य (रेटेबिल वैल्यू) निकाल लेना

चाहिए । तब सापेक्ष फसल वर्गों के दर-योग्य मूल्यो के आधार पर कृषि-जोत का दर-योग्य मूल्य निर्धारित किया जा सकता है । इस सम्बन्ध मे दो समस्याएँ हो सकती हैं । एक समस्या एक ही वर्ष मे एक से अधिक फसलो (अर्थात् बहु फसलों) की है या फसलों के हेर-फेर की है । दूसरी समस्या मिश्रित फसलों की है । इनके कारण दर योग्य मूल्य ज्ञात करने की प्रविधि काफ़ी समय लेने वाली तथा खर्चीली होगी। दर-योग्य मूल्य कुल उपज मे से कृषि लागतें तथा सिंचाई-व्यय घटाने से प्राप्त होता है ।

समिति ने कर के लिए वास्तविक आय पर सभाव्य आय (पोटेन्सियल इनकम) के आधार को वरीयता दी है । वास्तव मे अल्पविकसित देशो मे सभाव्य आय पर आधारित कृषि-कराधान प्रेरणा-कराधान का प्रभावी रूप ले सकता है । वे लोग जो अपनी भूमियो की ओर ध्यान नही देंगे दडित होगे जबकि वे जो अपनी भूमि का ध्यान रखेंगे, लाभान्वित होंगे क्योंकि सभाव्य आय औसत निष्पादन पर आधारित है ।

समिति ने यह भी सिफ़ारिश की है कि कृषि जोत कर (एग्रीकल्चरल होल्डिंग टैक्स) अर्थात् कृषि आयकर सचालन-जोतो पर लागू होना चाहिए न कि निजी स्वामित्व की जोतो पर। इसको मान्य आर्थिक तर्क के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है । यदि कृषि से आय ही को कर-आधार बनना है तो संचालन-जोत का महत्त्व है न कि स्वामित्व-जोत का, क्योंकि भूमि से आय प्राप्त करने के लिए यह जरूरी नही है कि कृषक भूमि का स्वयं स्वामी हो ।

प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि कर-उद्देश्यो के लिए कृषि तथा कृषीतर-आयों के पृथक्करण से केवल सरकार को राजस्व की ही हानि नही होती बल्कि विभिन्न करदाताओं के बीच समस्तर समता के सिद्धान्त का भी उल्लघन होता है । समिति का विचार था कि दोनो वर्गों की आयो का सम्पूर्ण एकीकरण असमता तथा कर-वचन की समस्याओं का सतोष-जनक हल नही है । अतः समिति ने कृषीतर-आय पर कर-दर निर्धारण हेतु दोनो प्रकार की आय के आशिक एकीकरण (पारशियल इन्टीग्रेशन) की सिफारिश की है । समिति द्वारा सुझाई गई आशिक एकीकरण की योजना के अनुसार एक करदाता की आय के दोनों कृषि तथा कृषीतर-घटक को इकट्ठा कर लिया जाएगा और कृषीतर-घटकों पर समस्त आय के उच्चतम खड कर-दर से कर लगाया जाएगा । यद्यपि एकीकरण का विचार सराहनीय है परन्तु इसके कार्यान्वयन मे अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमे से कुछ एक का उल्लेख पहले हम कर चुके हैं ।

हमने पिछले अध्याय मे रोज़गार अवसर प्रदान करने हेतु ससाधनो को प्राप्त करने के लिए समृद्ध कृषको पर आयकर लगाने के सुझाव का सक्षिप्त वर्णन किया था । कच्चे अनुमानो के अनुसार लगभग ६४० करोड रुपये प्रतिवर्ष कृषि आयकर से प्राप्त हो सकते हैं । यह अनुमान विभिन्न राज्यों की कृषि परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए सशोधित किया जा सकता है । नीचे हम उपरोक्त अध्ययन के आधार पर कृषि-आय कर का अनुमान लगाने का प्रयत्न करेंगे ।

भारत मे १६७२-७३ में कृषि-क्षेत्रक से चालू कीमतो पर कुल आय १६०३३ करोड़ रुपये थी और नेट फसल क्षेत्र ३४ करोड़ एकड़ था । इस प्रकार प्रति एकड़ औसत कृषि-आय लग-

भग ५६० रुपये है । यदि १० एकड तक की सब सचालन जोतो को (अर्थात् ५६०० रु० की वार्षिक आय को) कृषि-आयकर से छूट दे दी जाए और १० एकड से अधिक की जोतो पर आय कर लगाया जाए, तो लगभग ६० लाख कृषको पर जो कि लगभग २० करोड एकड़ भूमि पर खेती कर रहे है, कृषि-आयकर लगेगा । उनकी कुल कृषि आय का अनुमान ११२०० करोड़ रुपये है ।

राज-समिति की सिफारिश के अनुसार एक जोत का दर योग्य मूल्य कुल उत्पादन मे से सिचाई व्यय समेत कृषि-लागतो को घटाकर प्राप्त किया जाता है । समिति ने सुझाव दिया था कि ये लागते कुल उत्पादन का सामान्यत: ४० प्रतिशत होगी परन्तु यह स्पष्ट नही है कि पट्टे वाली भूमि का किराया इस कसौटी मे सम्मिलित है या नहीं । यदि हम ४५ प्रतिशत भी छूट दे दे तो शेष ६१६० करोड रु० की कृषि आय कर-योग्य होगी । क्योकि उच्चतम सीमा के निर्धारण के बाद कृषि मे उच्च आय वर्ग शून्य के बराबर होगा और आयकर का भार मध्य आय वर्ग पर पड़ेगा जो कि पहले ही कुछ भू-राजस्व दे रहा है, इसलिए कृषि-आय पर कर दर कम होनी चाहिए । यदि कृषि आय पर एक समान कर की दर १० प्रतिशत हो (जो कि सामान्य कर के निम्नतम आय खड पर लगती है) तो कृषि आयकर से लगभग ६१६ करोड रुपये प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकेंगे । यह ध्यान रहे कि १० एकड तक की जोतों को आयकर से छूट देने के फलस्वरूप ८० प्रतिशत से अधिक कृषको को कृषि-आय पर कोई कर नही देना पडेगा । यहाँ एकड का मानकीकरण दर-योग्य मूल्य निर्धारित कर के किया जा सकता है । आय के विभिन्न खडो (स्लेब्स) पर कर की दरें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं परन्तु कृषि आय को दो या तीन खडो मे ही बांटा जाना चाहिए ।

यह ध्यान रहे कि प्रशासनिक तथा वैधानिक प्रतिबन्धो के कारण फार्म-क्षेत्रक मे राजस्व विभव कम हो सकता है । विशेषकर के (१) भूमि सुधारो तथा भूमि वितरण में परिवर्तनों, (२) परिवार के बडे आकार के कारण एक से अधिक कमियो के होने और फलस्वरूप एक से अधिक कर-विवर्णों के प्रस्तुतीकरण की सभावना तथा (३) कृषि प्रविधियों मे निहित आय को कम-बताने की सभावना के कारण राजस्व विभव कम होने की सभावनाएँ अधिक हो सकती हैं ।

सक्षेप मे आय तथा धन पर करारोपण का उद्देश्य केवल अधिक राजस्व प्राप्त करना ही नही बल्कि इसके द्वारा आय तथा धन मे असमानताओ को भी बढने से रोका जा सकता है । हमारे सुझावो के अनुसार ५ एकड से भी कम की जोतो पर कोई भू-राजस्व नहीं होगा और १० एकड से कम की जोतो वाले कृषको पर जिनकी सख्या ८० प्रतिशत है, कोई आय कर नही लगेगा और उन्हें कर से छूट होगी । यह बहुत आवश्यक है कि सब कर योग्य आयो तथा सम्पदा को कर के घेरे मे लाया जाए, उपहार द्वारा आय तथा परि-सम्पत्ति के विभाजन को रोका जाए, जीवन भर के संचयनो पर सम्पदा-कर लगाया जाए और पूँजीगत अभिलाभो पर अधिक कडाई से कर लगाये जाएँ । आर्थिक विकास की गति को तेज करने के लिए यह ज़रूरी है कि उपलब्ध संसाधनो का पूर्ण विदोहन किया जाए ।

अध्याय १४

कृषि-अनुसंधान और शिक्षा

१४.१ अनुसंधान का महत्त्व

अर्थव्यवस्था के त्वरित विकास के लिए यह जरूरी है कि कृषि का वाणिज्यिक आधार पर विकास किया जाए और इसका प्रबन्ध दक्षता से हो। इसके लिए उत्पादन के सब कारकों की उत्पादन-दक्षता मे समग्र सुधार करने की आवश्यकता पड़ती है। अतः कृषि-विकास वर्तमान ससाधनों की उत्पादिता मे वृद्धि पर निर्भर करता है। आधुनिक कृषि की उच्च उत्पादिता के मुख्य साधन पुनरुत्पादनीय ससाधन हैं। इन ससाधनो में भौतिक निविष्टियाँ तथा उनको सफलतापूर्वक प्रयोग करने हेतु अभीष्ट कौशल और क्षमताएँ सम्मिलित हैं। कृषि-विकास तभी सम्भव है यदि इन ससाधनो के न्यूनतम उपयोग से अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके अर्थात् कृषि-विकास को तेज करने के लिए ऐसी प्रविधियो के अपनाने की आवश्यकता है जिनसे अधिकतम उत्पादिता प्राप्त हो। कहने का अभिप्राय यह है कि तकनीकी परिवर्तन व सुधार आर्थिक प्रगति की जड़ हैं। कृषक उस समय तक उच्च प्रतिफल प्राप्त नही कर सकते जबतक कि कृषि-क्षेत्रक मे प्रभावी अनुसधान नही किया जाता। वास्तव मे कृषि का विकास नवीन विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी पर निर्भर है। **संक्षेप में सुव्यवस्थित अनुसधान वह आधार है जिस पर आधुनिक कृषि का निर्माण किया जा सकता है।**

वैज्ञानिक अनुसधान तथा तकनीकी सुधार निविष्टि-उत्पत्ति गुणाक (इनपुट-आउटपुट कोऐफीसिएन्ट) मे न्यूनता लाते हैं। फलस्वरूप ससाधनो की माँग के वर्तमान स्तर मे कमी हो जाती है। इसमे जहाँ एक ओर उत्पाद-पूर्ति फलनों (प्रोडेक्ट सप्लाई फकशन) मे वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर कारक माँग फलनो (फेक्टर डिमाड फंकशन) मे सापेक्ष कमी होती है। कहना न होगा कि उत्पाद-पूर्ति-फलनो मे वृद्धि और कारक-माँग फलनो मे सापेक्ष सकुचन कृषि-प्रगति का परिचायक तथा मापदड है। अमरीका तथा जापान जैसे विकसित देश इस सदर्भ मे सर्वोत्तम उदाहरण हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी कृषि निविष्टियो का लगातार विकास तथा परीक्षण किया जाए जो अधिक लाभ प्राप्त कराने वाली हो। तेज कृषि विकास के लिए सतत परिवर्तनशील टैक्नॉलोजी की आवश्यकता है। जब तकनीकी परिवर्तन रुक जाता है, कृषि स्वत. ही गतिहीन हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि मे क्राति के लिए अनुसधान मे क्राति की आवश्यकता है।

जननिक तथा रासायनिक टैक्नॉलोजी के कारण (अर्थात् अधिक उपज देने वाले बीजों और उर्वरको के प्रयोग के फलस्वरूप) उत्पादन की संभावनाएँ बढ़ गई हैं और इस प्रगति के कारण अन्य क्षेत्रों जैसे यन्त्रीकरण, सिंचाई, अर्थशास्त्र, विपणन, जल-प्रयोग व प्रबन्धन

आदि मे भी नए अनुसधान तथा टैक्नॉलोजी की आवश्यकता अनुभव होने लगी है। कृषि मे सतत सवृद्धि-दर को बनाए रखने के लिए इन क्षेत्रो मे सुधार के नए साधनों की सद तलाश में रहना होगा। कृषि-विकास मे लगातार प्रगति बनाए रखने के लिए प्रशासको अनुसधानकर्ताओ, तकनीकज्ञो, शैक्षाणिको तथा कृषको सबको लगन से अपना-अपना काम करना होगा। तकनीकी सुधार के लिए अनुसंधान तथा शिक्षा मे सार्वजनिक निवेश कृषि-नीति का मुख्य अग होना चाहिए। जहाँ नए अनुसधान द्वारा भौतिक ससाधनो की उत्पादिता मे वृद्धि होगी वहाँ शिक्षण व प्रशिक्षण द्वारा मानव ससाधनो की दक्षता व क्षमता मे वृद्धि होगी और वर्तमान तथा नवीन निविष्टियो का अधिकतम लाभ उठाया जा सकेगा।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थव्यवस्था मे व्याप्त विषमताओ तथा असमानताओ को दूर करने के लिए या तो उत्पादन के साधनो का पुनर्वितरण करना होगा अथवा आय के सम्यक् वितरण की आवश्यकता होगी। परन्तु केवल भूमि का पुनर्वितरण मात्र ही काफी नही है। लघु कृषक तबतक उच्च प्रतिफल प्राप्त नहीं कर सकते जबतक कि इन उपायो के साथ-साथ प्रभावी अनुसधान की सहायता प्रदान नही की जाती। लघु कृषको की दशा में सुधार लाने के लिए यह जरूरी है कि सरकार की ओर से उन्हे उद्देश्यपूर्ण तथा सुव्यवस्थित समाजीकृत सेवाएँ और सुविधाएँ प्राप्त कराई जाएँ। सहायक सार्वजनिक कार्यों मे सिंचाई तथा भूसरक्षण मे निवेश तथा उधार सुविधाएँ सम्मिलित हैं। ये सुविधाएँ पूँजी की लागत को कम करती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि ससाधनों की वास्तविक कीमत को कम करने के लिए तथा इनकी गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा सचालित अनुसधान तथा शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है। ये सामाजिक तथा अविक्रेय क्रियाएँ कृषि-ससाधनों की उत्पादिता में वृद्धि करने, कृषि पूर्ति-फलन के सवर्धन तथा कृषि के विकास मे अत्यधिक प्रभावी सिद्ध हो सकती हैं। कृषि-विकास नवीन विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी पर निर्भर है। वास्तव मे देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का (चाहे वे वर्षा पर निर्भर हो या सिंचित हो) सतुलित विकास अनुसधान पर निर्भर है। इसी प्रकार कृषि जनसख्या के विभिन्न वर्ग (बृहत्, मध्यम या लघु) अपनी उन्नति के लिए अनुसधान पर निर्भर हैं। पिछले ५० वर्षों मे अमरीका तथा जापान में कृषि-क्षेत्रक मे तकनीकी सुधार के लिए अनुसधान तथा शिक्षा मे भारी सार्वजनिक निवेश किए गए हैं।

निम्न आय वाले देशो मे प्रशासनिक न्यूनताओ तथा शिक्षा मे अभाव के कारण प्रौद्योगिकीय परिवर्तनो का कार्यान्वयन पूर्णतः सफल नही हो सकता। इसलिए इन देशो मे जहाँ आधुनिक निविष्टियो के अनुप्रयोग के लिए आधारभूत अनुसधान को प्राथमिकता देनी होगी वहाँ इन्हे आवश्यक कौशल व क्षमताएँ प्राप्त करने के लिए अपने ही लोगो के शिक्षण व प्रशिक्षण मे भारी निवेश करना होगा। तकनीकी अनुसधान से समाज को अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है। कहना न होगा कि लगातार तकनीकी उन्नति व सुधार का कृषि-विकास के प्रक्रम मे विशेष महत्त्व है। वैज्ञानिक प्रगति आर्थिक विकास की कुंजी है। अल्प विकसित देशो मे निम्न जीवन-स्तर और निर्धनता के कारण लोगो के लिए अनुसधान तथा विकास कार्यक्रमो के लिए पूँजी जुटाना सभव नही है। इसलिए यह सरकार का उत्तरदायित्व है कि वह इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ मे ले। निर्धन देशो की आर्थिक सवृद्धि के लिए

सार्वजनिक अनुसधान व शिक्षा एक कालिक उपादान है। सार्वजनिक अनुसधान तथा शिक्षा के अनेक लक्ष्य हो सकते हैं जिनमे से कुछ एक का सक्षिप्त वर्णन यहां किया जा रहा है :

१४.२ सार्वजनिक अनुसधान के लक्ष्य

(i) **फार्म आय में वृद्धि करना**—सार्वजनिक अनुसधान व शिक्षा का मुख्य लक्ष्य फार्म आय मे वृद्धि प्राप्त करना है। कृषि-अर्थव्यवस्थाओं में प्रति व्यक्ति आय अति निम्न होती है, जनसख्या तेजी से बढ़ती है और मांग लोचों के स्तर ऐसे है कि अधिक सकल फार्म-आय प्राप्त करने के लिए उत्पादन को बढाने के सिवाय कोई चारा नही है। निम्न आय वाले देशो मे अधिक उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए अनुसधान तथा विकास-सुविधाओं का सामाजीकरण जरूरी है। ये लक्ष्य सार्वजनिक अनुसधान तथा शिक्षा-व्यवस्थाओ द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं।

(ii) **भुखमरी को रोकना**—कृषि-प्रधान देशो मे भूमि सीमित है तथा जनसख्या तेजी से बढ़ती है। भू-जन-अनुपात बहुत कम है। कृषि अविकसित होती है और उत्पादन इतना कम होता है कि लोगो को पेट भर रोटी भी नसीब नही होती। भुखमरी को रोकने के लिए दूसरे देशों से भारी मात्रा मे अन्न का आयात करना पड़ता है जिसके लिए विदेशी मुद्रा जुटाना कठिन है। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय ऐसी विधियां अपनाना हैं जिनसे उत्पादन में वृद्धि हो। भूमि की मात्रा सीमित होने के कारण भूमि का क्षेत्र नही बढ सकता। कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करने का एक मात्र विकल्प उचित टैक्नॉलोजी का प्रयोग रह जाता है। ऐसी स्थिति मे **प्रौद्योगिकीय सुधार ही भूमि का स्थानापन्न (सबस्टीट्यूट फोर लैंड) बन जाता है।** *निम्न आय वाले देशों मे सार्वजनिक अनुसधान व शिक्षा* सहायता की अनुपस्थिति मे तकनीकी उन्नति की कल्पना भी नही की जा सकती। अन्नाभाव को अनुसधान की सहायता से ही दूर किया जा सकता है।

(iii) **अंतर-क्षेत्रीय व अंतर-राज्य असमानताओं को कम करना**—एक देश के विभिन्न खडो की जलवायु, भूमि, (मृदा), उन्नयन (एलीवेशन) आदि उपादानों मे बड़ा अतर होता है। ये अन्तर पौधो की उर्वरक, जल तथा अन्य कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। वास्तव मे कृषि की जैविक आवश्यकताएँ (बाइलोजीकल रिक्वायरमैंट) विशेष महत्त्व की हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे कृषि की प्रविधियाँ व आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होगी। एक विशेष क्षेत्र की आवश्यकताओ के अनुरूप उपयुक्त कृषि विधियो के निर्धारण के लिए अनुसधान की आवश्यकता होती है। अत अनुसधान व शिक्षा की सहायता मे कृषि का विकास कर अंतर-क्षेत्रीय तथा अन्तर-राज्य असमानताओ और विषमताओ को कम किया जा सकता है। सार्वजनिक अनुसधान केवल पिछड़े क्षेत्रों *के विकास मे ही महायक नही होगा* बल्कि इसकी सहायता से विभिन्न राज्य व क्षेत्र अपनी प्रतियोगी स्थिति को भी बनाये रख सकेंगे। अतः सार्वजनिक अनुसधान व शिक्षा का एक लक्ष्य राज्यो की प्रतियोगी व प्रतिस्पर्धी स्थिति को

बनाये रखना है।

(iv) ज्ञान वृद्धि—सार्वजनिक अनुसधान व शिक्षा नवीन विधियों के उपयोग तथा ज्ञान प्रसार को तेज करने मे सहायक हो सकते है। लाभदायक ज्ञान और कौशल के कारण ही उन्नत देश अपने उपयोग के लिए ऐसे उपादानो का सृजन कर सके हैं जो तकनीकी रूप मे अन्य देशो मे उपयोग किये जाने वाले उपादानों से बेहतर होते हैं। निर्धन देश ज्ञान द्वारा ही जैवीय तथा अन्य परिस्थितियों के उपयुक्त नवीन उपादानो का विकास कर सकते हैं। अल्प विकसित देशो की कृषि की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नए उपादानो और नवीन विधियों का सृजन तथा विकास अनुसंधान द्वारा ही किया जा सकता है। पौधों, पशुओं, मृदा, यत्रों आदि से संबंधित मान्य वैज्ञानिक सिद्धांतों और नियमो का ज्ञान अत्यावश्यक है। ज्ञानवर्धन व प्रसार अनुसधान व शिक्षा के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य हैं। वास्तव मे ज्ञान-उपार्जन अतिम उद्देश्य है और यह एक प्रकार का अर्ध-उपभोग पदार्थ (सेमी कन्जम्पशन गुडस्) है।

(v) आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा (प्रमोशन ऑफ इकोनोमिक ग्रोथ)—अनुसधान की सफलता आर्थिक विकास तथा तकनीकी प्रगति मे परिणत होती है। कृषि अनुसधान की सहायता से निम्न आय वाले देश केवल खाद्यान्नों के उत्पादन मे ही आत्मनिर्भर नही होंगे बल्कि निर्यात के लिए कृषि पदार्थों और उद्योगो के लिए कच्चे माल की भी प्रचुर मात्रा उपलब्ध हो सकेगी। अल्प विकसित देशो में कृषि विकास द्वारा ही लोगो के जीवन स्तर को ऊँचा किया जा सकता है और आर्थिक सवृद्धि की गति को तेज किया जा सकता है। अनुसधान आर्थिक सवृद्धि को बढावा देने के लिए अत्यावश्यक है।

१४.३ अनुसंधान-प्रक्रम का स्वरूप तथा विकासशील देशों की अनुसंधान-आवश्यकताएँ—

यह सर्वविदित है कि कृषि-क्षेत्रक मे कारको की उत्पादन-दक्षता को बढाने के लिए निरतर अनुसधान की आवश्यकता है। इसलिए अनुसधान-प्रक्रम के स्वरूप तथा इसकी जटिलता को भलीभांति समझ लेना चाहिए। अनुसधान के अनेक रूप होते हैं—

(i) मूलभूत अनुसंधान (बेसिक रिसर्च)—मूलभूत अनुसधान पौधो, पशुओ, मृदा, यत्रो आदि से सबधित मान्य वैज्ञानिक सिद्धातो तथा नियमों का वह ज्ञान-भडार है जिसकी सहायता से तकनीकी रूप मे बेहतर उपादानो का सृजन किया जा सकता है और जो कृषि की विशिष्ट जैवीय तथा अन्य परिस्थितियो के उपयुक्त नवीन उपादानो के विकास मे सहायक होता है।

पिछले वर्षों मे हुई जननिक तथा रासायनिक तकनीकी प्रगति के कारण उत्पादन की सभावनाओ मे भी काफी वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप अन्य क्षेत्रों-यंत्रीकरण, सिंचाई, जल-उपयोग व प्रबन्धन, विपणन, मृदा अर्थशास्त्र आदि मे भी नवीन अनुसधान तथा टैक्नॉलोजी की जरूरत अनुभव होने लगी है। कहने का अभिप्राय यह है कि मूलभूत अनुसधान का अनु-

प्रयोग कर अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मूलभूत अनुसधान ही अनुप्रयुक्त अनुसधान (अप्लाइड रिसर्च) का स्रोत है। परन्तु मूलभूत अनुसधान काफी खर्चीला होता है और इसके लिए अनेक कृत्रिम सुविधाओं की आवश्यकता होती है। मूलभूत अनुसधान काफ़ी अधिक समय लेता है और इसका फल अनिश्चित होता है। परन्तु इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि तकनीकी प्रगति तथा अनुप्रयुक्त अनुसधान का आधार मूलभूत अनुसधान है और अनुसधान मे किये गये निवेश का प्रतिफल बहुत अधिक होता है।

परन्तु यह जरूरी नही कि एक देश की कृषि के लिए उपयुक्त निविष्टियाँ तथा विधियाँ अन्य देशों मे भी लाभदायक सिद्ध हो। भिन्न-भिन्न देशो व क्षेत्रो की जलवायु, मिट्टी की रचना, उन्नयन व अन्य अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती है और एक देश या क्षेत्र मे किये गये अनुसंधान का अन्य देशों व क्षेत्रों मे सफल अतरण सभव नही है। आधुनिक निविष्टियाँ तैयार माल नही जिन्हें जहाँ चाहे, जब चाहें, इच्छा के अनुसार प्रयोग किया जा सके। कृषि की जैवीय आवश्यकताओं मे महत्त्वपूर्ण अतर हैं। एक स्थान के उपयुक्त सकर बीज की किस्म शायद दूसरे स्थान के उपयुक्त न हो। फसलों की वे किस्में जो शुष्क क्षेत्रों के लिए उपयुक्त हैं, उनके सिंचित होने पर उपयुक्त नहीं रहेंगी। सिंचित क्षेत्रो के उपयुक्त नई किस्मो के लिए नई जुताई-रीतियों की आवश्यकता होगी। उर्वरक-दर और फसल-स्वरूप में भी परिवर्तन होगा और एक प्रकार नये प्रबन्ध की व्यवस्था करनी होगी। कई बार वे विधियाँ जो एक वातावरण में बहुत उत्पादक हैं दूसरे वातावरण मे अनुत्पादक सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार शीतोष्ण खडों में अधिक दूध देने वाली डेयरी गायो की नस्ल ऊष्ण कटिबधीय खडो में उतना दूध नहीं देती। सीमांत कृषक तथा कृषि श्रमिक विकास एजेंसी के अतर्गत भैंसो के लिए दिए जाने वाले ऋण की एक शर्त यह है कि खरीदी जाने वाली भैंस की नस्ल अच्छी हो। क्योंकि इस प्रकार की भैंसें विशिष्ट क्षेत्रो मे पाई जाती हैं, इसलिए इन्हे जब उन क्षेत्रों मे लाया जाता है जहाँ यह स्कीम चालू है, तो वे जलवायु की भिन्नता के कारण कम दूध देती हैं। इसी प्रकार मिट्टी की रचना मे अतर पादप, उर्वरक, जल तथा जुताई आवश्यकताओं को प्रभावित करते हैं। बहुत कम पुनरुत्पादनीय कारक ऐसे हैं जो अन्य स्थानो मे कम सफलतापूर्वक काम में लाये जा सकते हैं। केवल छोटे यत्र, उपस्कर तथा छोटी मशीनों के अनुसंधान का सफलतापूर्वक अल्पविकसित देशो मे अतरण किया जा सकता है। अनुसंधान का अधिकतम लाभ तभी उठाया जा सकता है, यदि इसके परिणामस्वरूप प्राप्त नवीन निविष्टियाँ व विधियाँ क्षेत्र के वातावरण के अनुकूल हो। उदाहरणार्थ सभव है प्रयोगात्मक केन्द्र पर काफी अधिक उपज देनी वाली नवीन विधि कृषक के खेत पर लाभप्रद सिद्ध न हो। हो सकता है केन्द्रो पर अपनाई जाने वाली रीतियाँ और अनुप्रयोग की जाने वाली निविष्टियाँ किसान के खेतो मे आर्थिक दृष्टि से पुनरुत्पादनीय न हों। अत. बहुत से क्षेत्रो में खेत-प्रधान अनुकूली अनुसधान की तुरन्त आवश्यकता है।

(ii) **अनुकूली अनुसंधान (एडेप्टिव रिसर्च)**—अनुकूली अनुसधान वह अनुसधान है जिसमे मूलभूत सिद्धातो तथा सामान्य रीतियों का विशिष्ट स्थानीय क्षेत्र या अवस्था के अनुसार अनुकूली अनुसधान का उद्देश्य इसके परिणामस्वरूप प्राप्त

नवीन विधियों व निविष्टियो का किसान के खेतों पर उत्पादक उपयोग है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप ज्ञात आधुनिक कृषि कारको का अनुकूलन करने के लिए भी अनुसंधान व विकास जरूरी है।

जापान एक ऐसा देश है जिसने विकास के आरम्भिक चरणों में एक सफल अनुसंधान-कार्यक्रम का विकास किया। जापान ने अन्य देशो से प्राप्त मूलभूत तथा अनुप्रयुक्त अनुसधान का अपनी अवस्था के अनुरूप अनुकूलन कर अधिकतम लाभ उठाया। जापान मे आदर्श स्तर के प्रयोगात्मक केन्द्रो का निर्माण किया गया। इन केन्द्रो से परीक्षण तथा निदर्शन (टेस्ट एण्ड डिमोन्सट्रेशन फार्म्स) फार्मों का ऐसा जाल बिछाया गया जिससे हर प्रकार की विशेष भौतिक परिस्थितियो की आवश्यकताओ की जाँच व पूर्ति की जा सके। इन नवीन विधियो व परीक्षणो के आधार पर कृषको के शिक्षण व प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई।

सक्षेप मे, वर्तमान समय के विकासशील देश मूलभूत विज्ञान ज्ञान के असीम भडार से बहुत लाभ उठा सकते हैं। और अधिक अनुसधान द्वारा वे इस ज्ञान-भडार को ऐसी आधुनिक कृषि-व्यवस्था मे समेकित कर सकते हैं जो कि आर्थिक सवृद्धि मे भरपूर योगदान दे सकती है। अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए कोई अकेला सरल तरीका नही है। इसके लिए निरन्तर अनुसधान तथा प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के एक स्वधारित प्रक्रम का विकास करना होगा ताकि नवीन विधियो और नवीन टैक्नॉलोजी द्वारा उपलब्ध समाधनो और मानव-शक्ति का अधिकतम लाभ उठाया जा सके।

यह ध्यान रहे कि उन्नत कृषि-प्रविधियाँ, नव क्रियाएँ तथा नवीन निविष्टियाँ विलगन मे बहुत अधिक लाभकारी सिद्ध नही हो सकतीं। विभिन्न कृषक वर्गों तथा विभिन्न स्थितियो के लिए रीतियो तथा निविष्टियो के भिन्न-भिन्न सयोजनो की आवश्यकता होती है। इन विधियो तथा निविष्टियों का अनुप्रयोग एकमुश्त होना चाहिए। भिन्न-भिन्न स्थितियो तथा वर्गों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न सयोजनो के पैकेज का निर्धारण समन्वित अनुसधान द्वारा ही किया जा सकता है और इस उद्देश्य हेतु एक सुबद्ध तथा समन्वित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। उदाहरणतः हाल के वर्षों मे अधिक उपज देने वाले बीजों ने अपनी अत्यधिक अनुकूलनशीलता, उच्च उपज-समर्थता, उर्वरण के प्रति उच्च अनुक्रिया, प्रकाश अग्राहिता व असवेदिता, बौनी पौध-ऊँचाई आदि गुणो के कारण उपज बढाने की अत्यधिक समावनाओं को जन्म दिया है। यहाँ तक कि विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी पर आधारित 'बीज-उर्वरक उपयोग' की इस नवीन व्यूहरचना को हरित क्रांति का नाम दिया गया है। परन्तु इन किस्मो की पूर्ण समर्थता या संभाव्यताओं को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि इनके उपयोग के साथ-साथ उत्पादन टैक्नॉलोजी के अन्य घटकों जैसे उर्वरक तथा कीटनाशी पदार्थों का उपयोग, सुनियत्रित जल प्रबन्धन, भू-तैयारी, बेहतर घासपात-नियत्रण व अन्य नवीन रीतियो व सेवाओ आदि की व्यवस्था भी हो। कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न क्षेत्रों मे विलगित अनुसधान उत्पादन-दक्षता मे वृद्धि करने मे इतना सहायक सिद्ध नही होगा। इस उद्देश्य हेतु एक सुबद्ध, एकीकृत, समन्वित तथा सुव्यवस्थित अनुसधान-कार्यक्रम को चालू करने की आवश्यकता है। कृषि-सबधी अनुसधान तथा विकास कार्यक्रम के लिए

नव चेतना, नवीन विचार, प्रगतिशील आयोजन तथा गम्भीर व दक्ष कार्यान्वयन की आवश्यकता है।

एक विकासशील देश मे अनुसधान-आयोजन त्वरित आर्थिक सवृद्धि की जरूरी शर्त है। सकल्पना और सचालन मे अनुसधान का आयोजन एक विलगित प्रक्रम नही है, वास्तव मे यह कृषि-विकास सबधी समग्र आर्थिक निर्णयों का एक भाग है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसधान मे समय-विस्तार तथा पक्वनावधि का विशेष महत्त्व है। प्रश्न केवल यही नही है कि अनुसधान का लाभकारी फल प्राप्त होगा या नहीं बल्कि यह भी है कि अनुसधान का फल कब प्राप्त होगा। देखा जाए तो अनुसधान के परिणाम सबधित क्षेत्र मे वर्तमान ज्ञान के विकास की अवस्था पर भी निर्भर होते है। उदाहरणत. मैक्सीको मे गेहूँ व अनाज की लाभ प्रद किस्मों का विकास करने के लिए दस वर्ष लगे परन्तु भारत मे मैक्सीको के अनुभव से लाभ उठाते हुए अधिक उपज देने वाली किस्मों का केवल चार वर्ष मे ही विकास कर लिया गया।

सबंधित आयोजन-प्रक्रियाओ और परिणामो के मूल्याकन के बिना अनुसधान-आयोजन अपूर्ण रहेगा। मूल्याकन-अध्ययन इस बात पर प्रकाश डाल सकते हैं कि अनुसधान एवं विकास-कार्यक्रमों मे निवेशित राशि का उपयोग कैसे किया गया है और उनका लागत-हित-लाभ-अनुपात क्या है? लागत-हितलाभ-अनुपातों को परिकलित करते समय अनेक बातो का ध्यान रखना होगा जैसे कि अनुसधान परियोजनाओ के चयन मे अपनायी गई विधियाँ, सबधित क्षेत्र मे ज्ञान के विकास की अवस्था, अनुसधान-परियोजना की सफलता की सभावना, अनुसधान-परियोजना के कार्यान्वियन की समय-अवधि, अनुसधान के लिए अभीष्ट सुविधाओं को प्राप्त करने की रीति, नवक्रिया या नवीन निविष्टि के अन्वेषण और अनुप्रयोग के बीच की अवधि और अनुसधान निर्गम (रिसर्च अन्डरपुट) की माग तथा पूर्ति लोचें आदि-आदि। अनुसधान की विस्तृत राष्ट्रीय योजना की रचना आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य मे की जानी चाहिए तथा इसमे विभिन्न अनुसधान-क्षेत्रो मे प्राप्त किये जाने वाले लक्ष्यो का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।

वैज्ञानिक अनुसधान की खोज मानव-क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। परन्तु मूल रूप मे उपयोगितावादी होने के कारण यह कला व साहित्य से भिन्न है। एक ओर यह मानव की अज्ञात की गवेषणा की अभिलाषा को सतुष्ट करता है और आर्थिक व सामाजिक-सवृद्धि के स्तर व इसकी गति को प्रभावित करता है तो दूसरी ओर वैज्ञानिक विचार व रीति स्वयं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनो द्वारा प्रभावित होती है। अनुसधान-प्रक्रिया अनिवार्यत. मानव-ज्ञान व योग्यता की उपज है। टैक्नालोजी वास्तव मे भूमि, श्रम तथा पूँजी-समेत आर्थिक संवृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। टैक्नॉलोजी, विज्ञान-ज्ञान तथा व्यावहारिक अनुभव से प्राप्त वह समस्त ज्ञान-भडार है जिसका आर्थिक विकास के लिए अनुप्रयोग किया जा सके।

अल्प विकसित देशो तथा विकसित देशो के विकास-स्तरो मे अन्तर का एक मुख्य कारण यही है कि जहाँ विकसित देशो मे विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी के क्षेत्र में काफी पहले क्रांति आ चुकी है, अल्प विकसित देशों मे अनुसधान सुविधाओ के अभाव के कारण टैक्नॉलोजी व विज्ञान के अनुप्रयोग मे विलम्ब होता आया है।

यह सर्वविदित है कि भूमि, श्रम तथा पूँजी की दी हुई पूर्ति से प्राप्त होने वाला परिमाण वर्तमान प्रौद्योगिकीय ज्ञान स्तर द्वारा सीमित होता है। विकसित देशों मे प्रौद्योगिकीय प्रगति, आर्थिक सवृद्धि तथा सार्वजनिक नीति के बीच सम्बन्ध को आँकने के लिए अनेक अध्ययन किए गए हैं परन्तु आर्थिक सवृद्धि पर टैक्नॉलोजी के प्रभाव को अन्य उपादानो के प्रभावो से विलग करना सरल काम नही है। यह समस्या कार्यविधि सबधी अवरोधो के कारण काफी कठिन है। हाल ही के समय मे अनुसधान-लागतो और प्राप्त सामाजिक व आर्थिक प्रतिफलो से सम्बन्धित कुछ व्यक्तिगत अध्ययन किए गए हैं जिनके फलस्वरूप कार्यविधि-सबंधी रुकावटें काफी हद तक दूर हो गई हैं और नीति-निर्धारक उनसे लाभान्वित हो सकते है। अमरीका मे 'अनुसधान के प्रतिफल' से सम्बन्धित जॅड ग्रिलिशिज़ द्वारा किये गये एक अध्ययन मे यह अनुमान लगाया गया है कि १६५५ तक सकर मक्का की अवस्था मे अनुसधान की प्रतिफल दर प्रतिवर्ष ७०० प्रतिशत रही है और इसके अतिरिक्त 'सकरण' पर काफी आधारभूत अनुसधान-ज्ञान उपार्जित हो चुका है जिसके दोहराने की आवश्यकता नही होगी। अतः सकर बीजो के अन्य देशो मे अनुकूलन के उद्देश्य से किये जाने वाले अनुसधान के प्रतिफल दर की इससे भी अधिक होने की सम्भावना है। अल्पविकसित देशों के लिए अनुकूली अनुसधान (एडेप्टिव रिसर्च) कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। प्रयोग-केन्द्रो मे किये गये कृषि-अनुसधान का किसान के खेतों पर परीक्षण तथा सफल प्रदर्शन ही कृषि-विकास मे सहायक सिद्ध हो सकता है। कृषक उस समय तक किसी नवीन निविष्टि या नवक्रिया को स्वीकार नही करेगा जबतक उसे यह पूर्ण विश्वास न हो जाए कि इससे प्राप्त होने वाली उपज गुणवत्ता व मात्रा दोनो मे पहले से अधिक होगी और नवीन निविष्टियो का अनुप्रयोग उसके लिए अधिक लाभदायक होगा।

वस्तुतः भावी कृषि-सवृद्धि व विकास अधिकाधिक उन्नत टैक्नॉलोजी पर निर्भर होगा और इसके लिए नवीन उत्पादिता-निविष्टियो के सतत प्रवाह की आवश्यकता होगी जो निम्न पर आधारित होगी :

(क) अनुकूली अनुसधान ताकि नवक्रियाओं को विशिष्ट स्थितियो व वातावरणों के अनुरूप ढाला जा सके।

(ख) परिरक्षी अनुसधान (प्रोटेक्टिव रिसर्च) जिसका उद्देश्य व्यापक हानि पहुँचाने वाले कीड़ो तथा रोगो की महामारी को कम करना या इनकी पेशबदी करना है,

तथा (ग) नवक्रिया अनुसधान जिसका उद्देश्य अधिक उपज देने वाले पदार्थों तथा रीतियों की लगातार सप्लाई को सुलभ कराना है।

कहने का अभिप्राय यह है कि नवीन निविष्टियो के साथ-साथ फसल-उत्पादन तथा कीट-नियंत्रण रीतियों पर भी अनुसधान की आवश्यकता होगी।

अगले अनुच्छेदों मे हम भारत मे कृषि अनुसधान पर निवेश तथा इसकी पिछले दो दशको मे हुई प्रगति का वर्णन करेंगे।

१४.४ कृषि-अनुसंधान एव विकास मे निवेश तथा अनुसधान-अनुपात

सारणी १४.१ मे कृषि-क्षेत्रक मे कुल सरकारी निवेश तथा अनुसधान व विकास

(रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट) पर कुल परिव्यय के बीच सबंध की तुलना की गई है। सारणी में कृषि-अनुसंधान व विकास पर निवेश-सवृद्धि तथा सकल राष्ट्रीय-उत्पाद (ग्रोस नेशनल प्रोडक्ट) सवृद्धि के बीच रूढ़ मात्रात्मक सम्बन्ध को दर्शाने का भी प्रयत्न किया गया है। 'अनुसधान-अनुपात' (जो अनुसधान व्यय और सकल राष्ट्रीय उत्पाद के बीच प्रतिशत मे अनुपात है) इस क्षेत्र को संसाधन-आवटन के निर्धारण हेतु प्रमुख नीति चर है।

सारणी १४.१ कृषि-क्षेत्रक में सार्वजनिक निवेश व अनुसधान परिव्यय मे सम्बन्ध तथा अनुसधान-अनुपात

(चालू कीमतो पर)

१	२	३	४	५	६
अवधि	सार्वजनिक निवेश	अनुसधान व्यय	अनुसधान व्यय कुल निवेश का प्रतिशत [(३)–(२)]	*राष्ट्रीय उत्पाद उत्पाद जोड (कृषि क्षेत्र)	अनुसधान-अनुपात (३)–(५)
	करोड रुपये	करोड रुपये	%	करोड रुपये	%
१९५६–६१	५४६	१४.४२	२.६	३१५००	·०५
१९६१–६६	१०८६	३२.३६	३.०	४२७७०	·०८
१९६६–६९	११६७	५१.००	४.४	४१६१०	·१२
१९६९–७४	२७१९	८५ ००	३ १	८६८८०	·१०

स्रोत : १ सी एम. ओ.
२. आर. बी. आई. बुलेटिन, १९६९
* कुल जोड।

सारणी १४.१ से निम्न लिखित बातो का पता चलता है :

(१) चौथी पचवर्षीय योजना (१९६९–१९७४) की अवधि मे कृषि-अनुसधान एवं विकास पर कुल निरपेक्ष परिव्यय दूसरी योजना की तुलना मे लगभग ६ गुना बढ गया है।

(२) दूसरी (१९५६–६१), तीसरी (१९६१–६६) तथा चौथी (१९६९–७४) योजना की अवधि मे कृषि-अनुसधान पर व्यय कुल निवेश का क्रमश. २.६, ३ ० तथा ३.१ प्रतिशत रहा है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इन योजनाओं मे कृषि-क्षेत्रक में अनुसधान व विकास पर व्यय समग्र अनुसधान व विकास पर कुल व्यय का २५ से ३० प्रतिशत रहा है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी जरूरी है कि भारत मे इन योजनाओ के दौरान समग्र अनुसंधान एवं विकास पर व्यय कुल निवेश का लगभग १ प्रतिशत रहा है।

(३) सारणी मे विभिन्न योजनाओ मे कृषि-क्षेत्रक मे अनुसंधान-अनुपातो की तुलना भी की गई है। अनुसंधान-अनुपात देश मे विज्ञान हेतु जुटाए गए सापेक्ष प्रयासों के स्तर का निरूपण करता है। पिछली चार योजनाओं मे भारत में सब क्षेत्रको के

लिए समग्र अनुसंधान-अनुपात आधे प्रतिशत से भी कम रहा है जबकि अमरीका, जापान, जर्मनी जैसे विकसित देशों मे अनुसधान-अनुपात भारत की तुलना मे तीन या चार गुना अधिक है। जैसे कि सारणी से स्पष्ट है दूसरी तथा तीसरी योजनाओं में कृषि-क्षेत्रक मे अनुसधान-अनुपात ०.१ प्रतिशत से भी कम रहा है जबकि योजना मे यह अनुपात ०.१ प्रतिशत के लगभग था। कहने का अभिप्राय यह है कि भारत कृषि-क्षेत्रक मे विज्ञान के प्रोत्साहन तथा विकास पर कृषि से प्राप्त कुल राष्ट्रीय उत्पाद का ० १ प्रतिशत से भी कम व्यय कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान की उन्नति तथा इसके विकास हेतु ससाधन जुटाने के लिए भरमक प्रयत्न किए जाएँ। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि भारत एक बहुसख्यक देश है और यदि हम प्रतिव्यक्ति अनुसधान-व्यय का अनुमान लगाएँ तो यह व्यय जर्मनी की अपेक्षा १/१०० वाँ भाग तथा जापान की तुलना मे १/३० वाँ भाग है। सक्षेप मे भारत में अनुसधान एवं विकास का समर्थन-स्तर ससार मे निम्नतम मे से है।

यह ध्यान रहे कि किसी भी देश मे विज्ञान तथा टैक्नॉलोजी की प्रगति के लिए सुशिक्षित व प्रशिक्षित मानव शक्ति महत्त्वपूर्ण निविष्टि है। अमरीका मे लगभग ४.७ लाख वैज्ञानिक तथा तकनीकी कार्मिक (साइन्टिफिक एण्ड टैक्नीकल परसनल) अनुसधान एव विकास कार्य मे लगे हुए है, जबकि भारत मे १९६८–६९ मे यह सख्या केवल ६२ हजार थी। जर्मनी अमरीका व जापान मे प्रत्येक दस हज़ार की जनसंख्या पर क्रमश ३०, २४ व १४ वैज्ञानिक तथा तकनीकी (रिसर्च एण्ड डेवलपमैंट) कार्मिक हैं जबकि भारत मे प्रति १०००० व्यक्ति के पीछे यह सख्या केवल १.२ है। अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे प्रति वैज्ञानिक लागत अत्यधिक कम है जिससे पता चलता है कि भारतीय वैज्ञानिक कार्मिको को काफी तनाव व दबाव के अधीन अपना काम करना पडता है क्योंकि उनकी सेवा-शर्तें तथा अनिवार्य सुविधाओं की सप्लाई निकृष्ट होती है। अभी इस दिशा मे बहुत कुछ करना बाकी है।

१४.५ कृषि-अनुसधान, शिक्षा तथा जनशक्ति

भारत सरकार ने विज्ञान-नीति-प्रस्ताव (१९५८) मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि आधुनिक युग मे टैक्नॉलोजी राष्ट्रीय समृद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है परन्तु प्रौद्योगिकी (टैक्नॉलोजी) केवल विज्ञान के अध्ययन तथा अनुप्रयोग से ही उत्पन्न हो सकती है। आधुनिक कृषि की नींव एक सुव्यवस्थित कृषि अनुसधान तथा शिक्षा प्रणाली ही पर रखी जा सकती है।

भारतीय कृषि-अनुसधान-परिषद् (आइ.सी.ए.आर) जो कृषि मे अनुसधान तथा उच्च शिक्षा का पथ प्रदर्शन तथा समन्वय करने वाली सर्वोच्च राष्ट्रीय एजेंसी है, जिसकी स्थापना १९२९ मे हुई। परिषद् का १९६५ मे पुनर्गठन किया गया और सब केन्द्रीय तथा पण्य-अनुसधान सस्थान इसके प्रशासनिक नियत्रण के अधीन हो गये। इस समय परिषद् के नियंत्रण के अधीन पच्चीस अनुसधान-सस्थाएँ तथा आठ भू-सरक्षण अनुसधान तथा प्रशिक्षण-केन्द्र हैं। समन्वित मक्का-प्रजनन योजना (१९५७) तथा त्वरित सोर्घम (ज्वार) सुधार-योजना (१९६१)

की प्रारम्भिक सफलताओं के परिप्रेक्ष्य में परिषद् ने मिट्टी, सस्य-विज्ञान, इंजीनियरिंग, पशु-विज्ञान तथा प्रमुख फसलों के लिए क्षेत्र या राज्य स्तर की अपेक्षा राष्ट्रीय स्तर पर अखिल भारत समन्वित परियोजनाओं की रचना की है।

केन्द्रीय तथा राज्य-संस्थाओं तथा कृषि विश्वविद्यालयों मे काम कर रहे अनुसंधान-वैज्ञानिक परिषद् द्वारा नियुक्त संयोजक के अधीन एक टीम के रूप मे कार्य करते हैं। समन्वित अनुसधान-परियोजनाओ ने भारत में अनुसन्धान की गति को काफी तेज़ किया है। पिछले १५ वर्षों से परिषद् द्वारा संचालित अखिल भारत समन्वित फसल-सुधार अनुसन्धान-कार्यक्रमो में प्रमुख फसलो की अनेक अधिक उपज देने वाली किस्मों का विकास या सुधार किया गया है। इन्होंने कृषि-उत्पादन की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

कृषि विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय कृषि विकास की गति को तेज करने मे बढ़ चढ कर भाग ले रहे हैं। इस समय लगभग प्रत्येक राज्य मे एक कृषि विश्वविद्यालय है। इस समय भारत में १८ कृषि विश्वविद्यालय, ७३ कृषि कालेज, २२ पशु चिकित्सा-महाविद्यालय, २ डेयरी महाविद्यालय तथा ८ कृषि-इंजीनियरिंग कालेज हैं जो कृषि, पशु-विज्ञान तथा कृषि-इंजीनियरिंग के पाठ्यक्रमों मे शिक्षण व प्रशिक्षण देते है। इनके अतिरिक्त भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान भी एक स्नातकोत्तर विद्यालय चला रहा है। अभी कुछ वर्ष पहले तक कृषि-महाविद्यालय केवल शिक्षा केन्द्र थे और उन पर व्यापक शिक्षा की बहुत कम जिम्मेदारी थी। भारत में कृषि विश्वविद्यालयों को अपने शिक्षा, अनुसन्धान तथा विस्तार कार्यक्रमो को समन्वित तथा सुदृढ करने के लिए अमरीकन वित्तीय सहायता के अन्तर्गत अनेक अमरीकी विश्वविद्यालयों से सहायता मिलती रही है। विश्वविद्यालय कृषि-शिक्षा के शिक्षण, अनुसन्धान तथा प्रसार पक्षों मे समन्वित दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते हैं।

इनके अतिरिक्त ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन के अविराम अध्ययन के लिए तथा अन्य महत्त्वपूर्ण तदर्थ अध्ययन करने के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों मे अनेक कृषि-अर्थशास्त्र अनुसधान-केन्द्र (एग्रो इकोनोमिक रिसर्च सेन्टर्स) स्थापित किये गये हैं।

इस प्रकार की व्यापक अनुसधान प्रणाली मे बहुत सख्या मे वैज्ञानिक व तकनीकी कार्मिकों की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण सब-अनुसधान केन्द्रों का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। निम्न आय वाले देशों मे प्रशिक्षित जनशक्ति का अभाव होता है और आवश्यकता इस बात की होती है कि सर्वोत्तम प्रशिक्षित कार्मिक क्षेत्रीय अनुसधान तथा मूलभूत अनुसधान- कार्य के लिए लगाये जाएँ। विकास के आरम्भिक चरणो मे विदेशी प्रौद्योगिकीविद् आवश्यक कौशल तथा क्षमताओं का विकास करने मे सहायक सिद्ध हो सकते हैं। नवीन टैक्नॉलोजी के निर्माण और उपयोग की प्रक्रिया में जहाँ अधिक उत्पादक नवीन निविष्टियों का विकास करना जरूरी है वहाँ इस बात का ज्ञान सुलभ कराना भी बडा ज़रूरी है कि उनका उपयोग कैसे किया जाए। शिक्षण व प्रशिक्षण के साथ-साथ अनुसंधान कार्य भी जारी रहना चाहिए। भारत मे प्रशिक्षित वैज्ञानिक तथा तकनीकी कार्मिको की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है:

पिछले वर्षों में कृषि-विकास के लिए प्रशिक्षित मानव-शक्ति आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कृषि तथा पशुचिकित्सा-स्नातकों के प्रशिक्षण हेतु सुविधाओ मे तेज़ी से विस्तार हुआ है। १९६०-६१ मे कृषि तथा पशुचिकित्सा स्नातको की सख्या क्रमशः १४००० तथा

५००० थी जो १९६५-६६ मे बढ़कर क्रमशः ३२००० तथा ९३०० हो गई। १९६८-६९ में वार्षिक प्रवेश तथा उत्तीर्ण स्नातक तथा स्नातकोत्तरो की संख्या सारणी १४.२ मे दिखाई गई है -

सारणी १४.२ कृषि-तथा पशुचिकित्सा-शिक्षा-सुविधाएँ
(१९६८–६९)

महाविद्यालय	स्नातक		स्नातकोत्तर	
	प्रवेश	बाहर निकलने वाले	प्रवेश	बाहर निकलने वाले
(१) कृषि	८५९२	५८१०	१७०४	१६३२
(२) पशु चिकित्सा व पशुपालन	११६७	१०७६	३१२	१९२
(३) कृषि इंजीनियरिंग	२५०	२३०	६०	४०
कुल	१०००९	७११६	२०७६	१८६४

उपरोक्त सारणी के आधार पर १९७३-७४ के अंत मे कृषि तथा पशुचिकित्सा-स्नातको तथा स्नातकोत्तरों की सख्या क्रमशः ७०००० तथा १५००० के करीब हो गई है। पिछले कुछ वर्षों से इस क्षेत्र मे भी बेकारी होने लगी है। ऐसा अनुमान है कि १९७३-७४ के अंत मे फालतू कृषि-स्नातको तथा स्नातकोत्तर व्यक्तियों की सख्या क्रमशः ९००० व ४९६० थी जबकि पशु-चिकित्सा विज्ञान मे ये सख्याएँ क्रमशः १९१५ व ६०० हैं। कृषि इंजीनियरिंग के क्षेत्र मे १९७३-७४ के अन्त मे लगभग ७०० स्नातक बेरोजगार थे। इस प्रकार लगभग १६००० स्नातको व स्नातकोत्तरो को नौकरी देने की आवश्यकता है। इन्हे रोजगार के नये अवसर सुलभ कराने होगे। फार्मों के अतिरिक्त कृषि उद्योगों, ग्रामीण बैंकिंग, सहायक सेवाओं, निविष्टि-सेवाओ, कृषि-प्रसार तथा स्व-नियोजन योजनाओं मे भी रोजगार के अवसर प्रदान करने होंगे।

अनुमान है कि पाँचवी योजना के दौरान कृषि, पशुचिकित्सा तथा कृषि इंजीनियरिंग मे क्रमश ४०००, ४२०० तथा १४०० विद्यार्थी स्तानक की उपाधि प्राप्त करेंगे। अतः पाचवी योजना के दौरान सस्थाओ की सख्या या प्रवेश सख्या मे वृद्धि करने की इतनी आवश्यकता नही है। आवश्यकता इस बात की है कि नवीन वर्धमान आवश्यकताओं के अनुरूप तकनीको, कुशलताओ, व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य-अनुभव, स्तर, गुणवत्ता तथा उत्कृष्टता पर अधिक बल दिया जाए।

१९५६ से सरकार ने ग्रामीण युवकों को ग्राम्य वातावरण मे माध्यमिक स्तर के बाद उच्च शिक्षा देने के लिए तेरह ग्राम सस्थान (रूरल इन्स्टीट्यूट्स) स्थापित किए हैं। इन ग्राम सस्थानों का उद्देश्य ऐसे कृषि-विद्यार्थियों का निर्माण करना है जो खेती के काम या प्रबन्ध मे प्रसन्नता अनुभव करें या सरकार के विकास-कार्यक्रमो में स्थान ले सकें। कृषको के शिक्षण व प्रशिक्षण के लिए भी अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

१४.६ अनुसंधान-सक्रियता के क्षेत्र

हम कृषि माधुनिकीकरण हेतु नवीन व्यूहरचना के विभिन्न घटकों से सम्बन्धित अध्यायों

मे अनुसधान के महत्त्व तथा इसकी आवश्यकता का उल्लेख कर चुके हैं। जल-प्रबन्ध व सिचाई, उर्वरकों तथा अधिक उपज वाली किस्मों के विकास तथा उपयोग, पादप-रक्षण, यत्रीकरण तथा कृषि-विपणन आदि क्षेत्रों मे अनुसंधान का कार्यक्षेत्र बडा विस्तृत तथा व्यापक है। हम विभिन्न क्षेत्रों में यथा सदर्भ अनुसंधान के कार्यक्षेत्र तथा सभावनाओं का अध्ययन कर चुके हैं। परन्तु पिछले वर्षों मे एक बात स्पष्ट रूप से सामने आई है वह यह है कि जैव-**विज्ञानों में अनुसंधान प्रौद्योगिकीय प्रगति का मुख्य आधार है।**

सक्षेप मे नवीन टैक्नॉलोजी के निर्माण तथा उपयोग की प्रक्रिया में निविष्टियो के ऐसे नवीन समुच्चय या पैकेज का विकास करना होगा जो बहुत अधिक उत्पादक हो। नवीन निविष्टियाँ उर्वरकों की अधिक मात्रा के प्रति अधिक अनुक्रियाशील नयी फसल किस्मों का रूप भी ले सकती हैं और पशुओ या मुर्गियो की नयी नस्लो का भी या वे ऐसी नई मशीनों या सशोधित पुरानी मशीनो का रूप भी ले सकती हैं जो मानव तथा पशु-शक्ति की दक्षता को काफ़ी बढ़ा सकें। तकनीकी परिवर्तन की स्वधारित प्रक्रिया कृषि-सवृद्धि मे तभी योग दे सकती है यदि (१) पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक तथा अधिक उत्पादक नवीन टैक्नॉलोजी उपलब्ध कराई जा सके तथा (२) नवीन टैक्नॉलोजी के विकास की प्रक्रिया लगातार जारी रहे और साथ-साथ वैज्ञानिक जन-शक्ति का निर्माण भी किया जाए ताकि अनुप्रयुक्त टैक्नॉलोजी से अधिकतम आर्थिक लाभ उठाया जा सके।

साराश यह है कि कृषि हेतु अनुसधान-कार्य के विकास की गति को तेज़ करने के लिए नव चेतना, नवीन विचार, गत्यात्मक आयोजन तथा अविराम अन्वेषी अनुसंधान (एक्सप्लो-रेटरी रिसर्च) की आवश्यकता है। अन्वेषी अनुसधान उन योजनाओ तथा कार्यक्रमो से निर्मित है जिनका उद्देश्य भावी विकास को प्रभावित करना होगा। कृषि मे सवृद्धि के सतत दर को बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि सुधार की नवीन संभावनाओ की तलाश जारी रखी जाए। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि दीर्घकालिक तथा क्रातिकारी अनुसधान पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

आधुनिक कृषि निविष्टि-प्रधान है और इसका विकास व आधुनिकीकरण उर्वरक, कीट-नाशक तथा मशीनरी जैसे औद्योगिक पदार्थों पर निर्भर है। यह जरूरी है कि इन कीमती व मँहगी निविष्टियों की दक्षता मे वृद्धि की जाए। अतः कृषि-टैक्नॉलोजी भी उत्पादन मे वृद्धि के लिए एक अनिवार्य निविष्टि है और इसमे सुधार के लिए अन्वेषी अनुसधान का विशेष महत्त्व है। भावी अनुसंधान-नीति की रचना इसी आधार पर की जानी चाहिए।

पारिभाषिक-शब्दावली

अंकित चौड़ाई	Rated width
अंतर–फसल	Inter-Crop
अंतर–क्षेत्र	Inter-regional
अखाद्य	Non-food grains
अग्रणी खरीदार	Priority Buyer
अचल पूंजी	Fixed Capital
अतिरिक्त	Additional
अधि प्राक्कलन	Over estimation
अधिकरण	Authority
अधिशेष	Surplus
अनार्थिक जोत	Uneconomic holding
अनिवार्य उगाही/वसूली	Levy
अनुकूलित	Adapted
अनुक्रिया	Response
अनुप्रयोग	Application
अनुमेय आय	Permissible Income
अनुसंधान	Research
अपनयन	Removal
अपेक्षाकृत	Relatively
अभिकरण	Agency
अर्जक रोजगार	Gainful employment
अलाभ कर	Uneconomic
अल्प–उपयुक्त	Under utilised
अल्प विकसित	Under developed
अंतः स्पंदन	Infiltration
अंतर–राज्य	Inter-state
अंतर क्षेत्रक	Inter-sectoral
अगुआ बैंक	Lead Bank
अग्रता प्राप्त क्षेत्रक	Priority Sector
अतिदेय	Over due
अधान्य	Noncereal
अधिक उपज देने वाली किस्म	High Yielding variet
अधिभार	Surcharge
अधोगामी कर	Regressive Tax
अनियत श्रमिक	Casual worker
अनुकूल	favourable
अनुकूली अनुसंधान	Adaptive Research
अनुप्रयुक्त अनुसंधान	Applied Research
अनुमति प्राप्त	Licensed
अनुरक्षण	Maintenance
अन्वेषी अनुसंधान	Exploratary Research
अपवाह	Run off
अप्रत्यक्ष कर	Indirect Tax
अभिविन्यस्त	Oriented
अर्थ व्यवस्था	Economy
अल्प-अवधि	Short-term
अल्प रोजगार	Under employment
अवकरारोपण	Under taxation

अवकरारोपित	Under taxed
अवनत	Depressed
अवसीमांत	Submarginal
अविराम	Continuous
असमानताएँ	Inequalities
अस्फीतिकारी	Non-inflationary
आंतर क्षेत्रक	Intra-sectoral
आंशिक एकीकरण	Partial Integration
आत्मविकासी	Self developmental
आधुनिकीकरण	Modernization
आनुभविक प्रमाण	Empirical Evidence
आभ्यंतरिक	Inbuilt
आयकर क्षेत्र	Ayacut
आय सुरक्षा	Income Security
आरोपित मूल्य	Imported value
आर्थिक क्रियात्मकता	Economic Feasibility
आर्थिक दक्षता	Economic Efficiency
आर्थिक विकास	Economic Development
आर्थिक संवृद्धि	Economic Growth
आर्थिक स्थिरता	Economic Stability
आवंटन	Allocation
आश्वासित सिंचाई	Assured Irrigation
इकाई	unit
इष्टतम	optimum
उगाहक	Collector

अवधि	Period, term, duration
अव प्राक्कलन	Under estimation
अविकसित	Undeveloped
असमता	Inequity
असम्यक् वितरण	Inequitable Distribution
अक्षत भूमि	Virgin Land
आंतरिक उत्पाद	Domestic Product
आत्मनिर्भरता	Self sufficiency
आधार भूत जोत	Basic holding
आनुपातिक परिवर्तन	Proportional change
आनुवंशिक	Genetic
आय	Income, Earning
आयकर	Income Tax
आयात	Imports
आरोही कर	Progressive Tax
आर्थिक जोत	Economic holding
आर्थिक प्रगति	Economic Progress
आर्थिक शक्ति	Economic Power
आर्थिक सहायता	Economic Assistance, subsidy
आवंटक	Allocator
आवास	Housing
इच्छिता	willingness
उच्चवर्षण	High precipitation

उच्चतम सीमा	Ceiling	उतार-चढ़ाव	Fluctuations
उत्पत्ति-निविष्टि अनुपात	*Output-input ratio*	उत्पादक	*Productive*
उत्पादन	Production	उत्पादन अभि-विन्यस्त	Production oriented
उत्पादन कर	Excise Duty	उत्पादन दक्षता	Production Efficiency
उत्पादन लागत	Cost of Production	उत्पादन क्षमता	Production Efficiency
उत्पादिता	Productivity	उधार	Credit
उधार स्थिरीकरण निधि	Credit stabilization Fund	उन्नत बीज	Improved seeds
उन्नयन	Elevation	उन्मूलन	Abolition
उपकर	Cess	उपज	Yield, produce
उपज अनुक्रिया	Yield response	उपज विभव	Yield potential
उपदान	Subsidy	उपनति	Trend
उपभोक्ता व्यय	Consumer's expenditure	उपभोग	Consumption
उपभोग उधार	Consumption Credit	उपभोग व्यय	Consumption expenditure
उपविभाजन	Subdivision	उपस्कर	Equipment
उपादान	Factor	उपादान असतुलन	Factor imbalance
उर्वरक	Fertilizer	उर्वरण	Fertilization
उर्वरता	Fertility	उष्ण कटिबन्धीय जलवायु	Tropical climate
ऋण	Debt	ऋण-ग्रस्तता	Indebtedness
ऋणदाता	Creditor	ऋण-पत्र	Debentures
ऋणी	Debtor		
एकक	Units	एक समान	Uniform, unified, flat
एकीकरण	Integration	एकीकृत प्रणाली	Unified or integrated system
कमाई	Earnings	कमाऊ रोजगार	Gainful employment
कर	Tax	करदान क्षमता	Taxable capacity

कर-भार	Tax burden
कर राजस्व	Tax revenue
कर वाह्यता करापात	Incidence of Taxation
कराधान जाँच आयोग	Taxation Enquiry Commission
कर्षक पशु	Draught animal
कर्षण नियन्त्रण	Cultural control
कारक	Factors
कार्मिक	Personal
कार्यान्वयन	Inplementation
कीमत	Price
कीमत-निर्धारण	Price Determination
कीमत-माग लोच	Price Demand elasticity
कीमत-सरचना	Price structure
कीमतेतर	Non-Price
कृषक-कृषि	Peasant Agriculture
कृषि-आय	Agricultural Income
कृषि-कराधान	Agricultural Taxation
कृषि-लागत	Cost of cultivation
कृषि-विपणन	Agricultural Marketing
कृषि-श्रम/श्रमिक	Agricultural Labour
कृषि-क्षेत्रक	Agricultural Secrtor
कृषीतर-आय	Non agricultural Income
कृष्ट अवस्था	Cultivated condition
कृत्रिम सिचाई	Artificial irrigation
कोटि सहसंबंध	Rank correlation
क्रीत निविष्टि	Purchased input
कर योग्य	Taxable
कर वंचन	Tax evasion
कराधान	Taxation
कर्ज	Loan
कर्षण	Traction
कसौटी	Criterion
कारक असतुलन	Factors inbalance
कार्य शील पूँजी	Working capital
किराएदार	Tenant
कीमत-तंत्र	Price mechanism
कीमत-पूर्ति लोच	Price supply elasticity
कीमत-विभेद	Price descrimination
कीमत-समर्थन	Price support
कृषक	Farmers, Peasants
कृषि-अर्थव्यवस्था	Agricultural economy
कृषि-उत्पादिता	Agricultural productivity
कृषि कीमत आयोग	Agricultural Price Commission
कृषि-विकास	Agricultural Development
कृषि-व्यवसाय	Farm Business
कृषि-संवद्धि	Agricultural Growth
कृषिक अधिकता	Agrarian excess
कृषीतर-श्रम-शक्ति	Non-agricultural Labour force
कृष्य भूमि	Cultivable land
केंद्रीय सहकारी बैंक	Central cooperative Bank
क्रियात्मकता	Feasibility

खंड	Block, Parcel, Zone, Slab	खनिज निष्कर्षण	Mineral extraction
खपाना	Absorb	खाद्य	Cereals
खाद्यान्न	Foodgrains	खाद्येतर	Nonfood
खुद काश्त	owner cultivation	खुशहाली कर	Betterment Levy
गुणवत्ता	Quality	गुणांक	Coefficient
गैर मौरूसी काश्तकार	Tenants at will	गोदाम व्यवस्था	Warehousing
ग्राम श्रमिक	Rural Labour	ग्रामीण निर्माण कार्य	Rural works
जाँच	Enquiry		
ग्रामीण क्षेत्रक	Rural sector	ग्राम्य/ग्रामीण	Rural
ग्राम्य रोजगार	Rural Employment	ग्रामोद्योग	Rural Industries
घटक	Components	घरेलू बचतें	Domestic Savings
चकबन्दी	Consolidation	चयन स्वातंत्र्य	Freedom of choice
चयनात्मक	Selective	चालू कीमत	Current price
चालू पूंजी	Working capital		
छिड़काव सिंचाई	Sprinkler irrigation	छूट	Exemption
जनसख्या-प्रस्फोट	Population Explosion	जननिक	Genetic
		जनाधिक्य	over population
जमीदार	Land Lord	जल-आवश्यकता	Water requirement
जल-निकास	Drainage	जल-निस्सरण	Water delivery
जल-प्रबधन	Water management	जल, भूपृष्ठ	Surface water
जल, भूमिगत	Ground water	जल विन्यास	Water Disposal
जलाश	Moisture content	जान बूझकर बकाया रखने वाला बाकीदार	willing defaulter
जिन्स आय	Income in kind	जिंस मजदूरी	Wages in kind
जीवन-प्रत्याशा	Life expectancy	जीवन-स्तर	Standard of Living
जीवन क्षम	Viable	जुटाव	Mobilisation
जैव नियत्रण	Biological control	जोखिम	Risk
जोत	Holding		
टेक कीमत	Support Price	ट्रैक्टरीकरण	Tractorisation
ट्रैक्टरीकृत	Tractorised		

तकनीकी परिवर्तन Technical change
दर Rate
दिक् परिवर्तन Diversion
देशीय उत्पाद Domestic product
धारणीय Sustainable
नकद आय Income in cash
नल Pipe line
नव क्रियाएँ Innovations
निगम Corporations
निगमित बचतें Corporate Saving
निजी बचत Private Saving
निम्न आय अर्थ-व्यवस्था Low income economy
नियत लागत Fixed cost
निरंतरता Perenniality
निर्जलित पदार्थ Dehydrated Products
निर्धनता रेखा Poverty line
निर्यात Exports
निर्वाहमात्री फसलें Subistence crops
निविष्टियां Inputs
निवेश Investment
निवेश, वाणिज्यिक Commercial investment
निस्यदन Seepage
पंक अपवाह Muddy run off
पट्टेदार किराएदार Tenant
परस्पर क्रियाशील Interacting
परिवर्ती लागत Variable Cost

तीव्रता Intensity
त्वरित योजना Crash programme
दक्षता Efficiency
दीर्घ अवधि Long term
द्विधा यातायात Two way traffic
धारित Sustained
नगरीय क्षेत्र Urban area
नलकूप Tube well
नाशक जीवनाशी पदार्थ Pesticides
निजी उपभोक्ता व्यय Private consumers expenditure
निजी क्षेत्रक Private Sector
निम्नतम सीमा कीमत Floor Price
नियतन Fixation
निरपेक्ष Absolute
निर्देश अवधि Reference Period
निर्माण कार्य Works
निर्वाह जीवी Subistence
निवल Nett, Net
निविष्टि-उत्पत्ति अनुपात Input-output ratio
निवेश दर Investment rate
निष्कर्ष Conclusion
निष्पादन Performance
नौकरी Job
पट्टा Tenure
परंपरागत Traditional
परती भूमि Fallow Land
परिमाप Size
परिमित Moderate
परिवहन Transport

परिवार	Household, Family	परिव्यय	outlay
परिष्करण उद्योग	Processing industry	परिष्कृत	Processed
		परिसंपत्ति	Assets
पशु धन	Live stock	पादप रक्षण	Plants protection
पारंपरिक	Traditional	पारिवारिक जोत	Family holding
पास्चुरीकरण	Pasturisation	पुनरावृत्त सर्वेक्षण	Repeat Survey
पुनर्गठन	Reorganization	पुनर्वास	Resettlement
पुनर्वितरण	Redistribution	पुराना बाकी	Overdue
पूँजी, अचल	Fixed capital	पूँजी, कार्यशील	Woking capital
पूँजीगत आवश्यकताएँ	Capital Requirements	पूँजीगत माल	Capital Stock
		पूँजी प्रयोगी	Capital using
पूँजी मूलक	Capitalistic	पूर्ण बेरोजगारी	Complete unemployment
पूर्ण रोजगार	Full employment		
पूलन	Pooling	पेश बंदी	Hedging
पैमाना	Scale	पोषक पदार्थ	Nutrients
पौध सरक्षण	Plant Protection	प्रक्रम/प्रक्रिया	Process
प्रच्छन्न अल्प रोजगार	Disguised underemployment	प्रच्छन्न बेरोजगारी	Diguised unemployment
प्रतिदान	Repayment	प्रतिधारित लागतें	Retained costs
प्रतिफल	Returns	प्रतिबध	Restrictions, Restraints
प्रतियोगी	Competitor		
प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय	Percapita National Income	प्रतिशतता	Percentage, Proportion
प्रतिष्ठापित क्षमता	Installed capacity	प्रत्यक्ष कर	Direct Tax
		प्रथम मडी/प्राथमिक बाजार	Primary market
प्रदत्त पूँजी	Paid up capital		
प्रबध/प्रबधन	Management	प्रभावी मांग	Effective Demand
प्रयोज्य आय	Disposable Income	प्रवरण	Grading
प्रशासी, प्रशासनिक	Administrative	प्रशिक्षण	Training
		प्रशीतन	Refugeration
प्रसार	Extension	प्रस्फोट	Explosion
प्रायोगिक परियोजना	Pilot Project ғ	प्रेरणाएँ	Incentives
		प्रौद्योगिकीय परिवर्तन	Technological change
फलोद्यान	Orchards	फसल-प्रतिशतता	Crop intensity

फसल समय चक्र	Crop calendar	फसल क्षेत्र	Cropped area
		फसलोत्तर	Post harvest
फार्म आकार/	Farm size	फार्म का क्षेत्रफल	Farm size
फार्म परिमाप		फार्म क्रियाएँ	Farming operations
फार्म व्यवसाय आय	Farm Business Income	फार्मेत्तर आय	Non-farm Income
बकाया कर्ज	Outstanding loan	बाकीदार	Defaulter
बागान	Plantations	बाज़ार कीमत	Market Price
बाज़ार संगठन	Market organization	बाज़ार समाकलन	Market Integration
बारानी क्षेत्र	Dry area	बिक्री कर	Sales tax
बिचौलिया	Middleman, intermediary	बीमा	Insurance
		बेकारी/बेरोज़गारी	Unemployment
बेदखली	Eviction	ब्याज	Interest
ब्याज, निरपेक्ष	Interest, inelastic		
भंडारण	Storage	भार	Weights
भारतीय खाद्य निगम	Food corporation of India	भू-जन अनुपात	Man land ratio
		भू-पृष्ठ जल	Surface water
भू-राजस्व	Land Revenue	भू-रूपांतरण	Land Trans formation
भू-संरक्षण	Land conservation		
भू-स्वामित्व	Land ownership	भू-स्वामी	Land owner
भू-क्षरण	Soil erosion	भूमि कर	Land Tax
भूमिगत जल	Ground water	भूमि जोत, सचालन	Land holding, operational
भूमि जोत, निजी	owned land holding	भूमि बंधक बैंक	Land Martgage Bank
भूमि की उच्चतम सीमा	Land ceiling	भूमि की निम्नतम सीमा	Land floors
भूमि समतलन	Land levelling	भूमि सुधार	Land Reforms
मडलन	Zoning	मंडी, प्रथम	Primary Market
मडी, सीमात	Terminal Market	मजदूरी दर	Wage Rate
मध्य अवधि	Medium term	मध्यवर्ती	Middle man intermediarys
मलहरण	Desilting		
मानकीकरण	Standardization	मानव-दिन/मानव वर्ष	Man day/Man year
मिट्टी	Soil		
मुआवज़ा	Compensation	मुक्त बहाव	Gravity flow

मुज़ारा Tenant
मृदा Soil
मूल्यांकन Evaluation
मौरूसी काश्तकार Occupancy tenant

यंत्र Implements, tools, machines
यांत्रिक संवाहक Mechanical conveyers
योजना आयोग Planning commission
यंत्रीकरण Mechanisation
यंत्रीकरण की कोटि Degree of mechanisation
युक्तीकरण Rationalization

राजकीय राजस्व State Revenue
राष्ट्रीय सैंपल सर्वेक्षण National Sample Survey
रोज़गार Employment
रोज़गार अल्प Under employment
राजकोषीय Fiscal
राष्ट्रीय आय National Income
रासायनिक Chemical
रियायत, आर्थिक Sabsidy
रोजगार, अर्जक Gainful employmenent
रोजगार अवसर Fmployment opportunitis

लगान Rent
लघु उद्योग Small scale industry
लवन पूर्व Precharvest
लागत Cost
लागत, परिवर्ती Variable cost
लागत, प्रदत्त Paid out cost
लागत हितलाभ विश्लेषण Cost benefit Analysis
लाभकारिता Profitability
लेवी Levy
लगानदारी Tenancy
लघु सिंचाई Minor irrigation
लवनोत्तर Post harvest
लागत, आरोपित Imputed cost
लागत प्रतिधारित Retained cost
लागत संरचना Cost structure
लाभ Profit
लाभ अलाभ स्थिति Break even point
लाभकारी/लाभप्रद Profitable

वन Forests
वरणात्मक Selective
वयस्क Adults
वातन Aeration
वायदा बाज़ार Forward market
वाष्पोत्सर्जन Evapotranspiration
विक्रय अधिशेष Marketed surplus
विखंडन Fragmentation
वित्त Finance
वन-रोपण Afforestation
वसूली कीमत Procurement Price
वाणिज्यीकरण Commercialization
वायदा Future
वायु मिश्रण Aeration
विकास Development
विक्रेय अधिशेष Marketable surplus
वितरण Distribution
वित्तीय निवेश Financial investment

वित्तीयन/वित-पोषण	Financing
विन्यास	Disposal
विपणन	Marketing
विपणन लाभ	Marketing margins
विभाज्य	Divisible
विविधीकरण	Diversification
विवृत अल्प रोजगार	Open under employment
विषमताएँ	Disporities
व्यवस्था संबंधी परिवर्तन	Organizational change
व्यापार अधिग्रहण	State taking over of Trade
व्यावहारिकता	Practicability
व्यूहरचना	Strategy
विद्युतीकरण	Electrification
विनिर्माण उद्योग/पदार्थ	Manufacturing industry/Manufactured goods
विभव	Potential
विभेदक दर	Differential rates
विवेक पूर्ण	Rational
विशाल फार्म	Gigantic Forms
विशुद्धता	Purity
विसर्पी मान	Sliding scale
व्यापार अर्घ व्यापार स्थिति	Terms of Trade
व्यापार सरकारीकरण	State Trading
व्युत्क्रमानुपाती	Inversally proportional

शक्य उत्पादन	Potential Production
शीत संग्रह भंडार	Cold storage
शुष्क क्षेत्र	Dry area
श्रम घंटा/दिन/वर्ष	Man hour/day/year
श्रम प्रधान	Labour oriented
श्रम शक्ति	Labour force
श्रम स्थानापन्न	Labour substitution
श्रेणीकरण	Grading
शस्य स्वरूप	Cropping Pattern
शीतोष्ण जलवायु	Temperate climate
शुल्क	Levy
श्रम अभिविन्यस्त	Labour oriented
श्रम जीवी जनसंख्या	Working population
श्रम प्रतिशतता	Labour intensity
श्रम योग्य पशु	Working cattle
श्रम समय विन्यास	Labour Time Disporation

सकल्पना	Concept
संचयी प्रक्रिया	Cumulative process
संचालन लागत	Operational cost
संभाव्य आय	Potential Income
संयुक्त स्वामित्व	Joint ornership
संरचनात्मक	Structural change
संक्रमण अवस्था	Transitional stage
संचालन जोत	Operational holding
संपदा कर	Estate duty
संयुक्त कर्ज	Joint Loan
संयोजन	Combination
संरचना	Structure
संसाधन	Resources

परिवर्तन	
संस्थागत उधार	Institutional credit
सघनता	Intensiveness
समता	Equity, parity
समन्वयन	Coordination
समय पश्चता	Time lag
समयांतराल	Time gap
समर्थित कीमत	Support price
समानुपाती	Proportional
समुदाय विकास	Community Development
सम्हाल	Handling
सस्य सबंधी	Agronomical
सहकारी विपणन समिति	Co-operative Marketing society
सास्थानिक उधार	Institutional Credit
सामान्य उपनति	General trend
सार्वजनिक क्षेत्र/क्षेत्रक	Public sector
सीमांत कृषक	Marginal Farmer
सीमांत समायोजन	Marginal adjustment
सूक्ष्म पोषक तत्त्व	Micro nutrients
स्थानिक/स्थानीय	Local
स्नेहक	Lubricant
स्फीति	Inflation
स्वजनक	Self generating
संसाधन-आवंटन	Resource allocation
सघन कृषि	Intensive Agriculture
समजीमान	Sliding scale
समता कीमत	Parity price
समय चक्र	Calendar
समय समंजन	Scheduling
समर्थन स्तर	Level of support
समाज-कल्याण	Social welfare
समाहार कीमत	Procurement price
सम्यक् वितरण	Equitable Distribution
सर्वेक्षण	Survey
सहकारी उधार समिति	Cooperative Credit society
सहभागिता दर	Participation rate
सापेक्ष कीमत	Relative price
सामाजिक प्रगति	Social Progress
सार्थक सह संबंध	Significant correlation
सिंचाई विभव	Irrigation Potential
सीमांत उत्पाद	Marginal Product
सीमांत प्रतिफल	Marginal Return
सुरक्षित भंडार	Buffer stock
सूचकांक	Index Numbers
स्थल रूपण	Land Farming
स्थानापन्न पदार्थ	Substitution goods
स्थिरता	Stability
स्थिरीकरण	Stabilization
स्फीत अनुमान	Inflated estimate
स्फीतिकारी	Inflationary
स्वनियोजन	Self employment

स्वनियोजित	Self emyloyed	स्व परिपोषक	Self Liquidating
स्वामित्व	Ownership		
हरित क्रांति	Green Revolution	हितलाभ	Benefit
क्षमता	Capacity	क्षमता, अनुमति प्राप्त	Licensed capacity
क्षमता, प्रतिष्ठापित	Installed capacity		

हमारे अर्थशास्त्र विषयक अन्य प्रकाशन

1. कराधान : एक सैद्धान्तिक विवेचन	अनु. लक्ष्मीनारायण नाथूरामका
2. आर्थिक विश्लेषण	ले. के. इ. बोल्डिंग अनु. धर्मपाल पाण्डे
3. द्रव्य, व्यापार और विनियोग	ले. जी. डी. एच. कोल अनु. शंकरसहाय सक्सेना, प्रेमनारायण माथुर
4. केन्सीय अर्थशास्त्र	कु. मीना गुप्ता